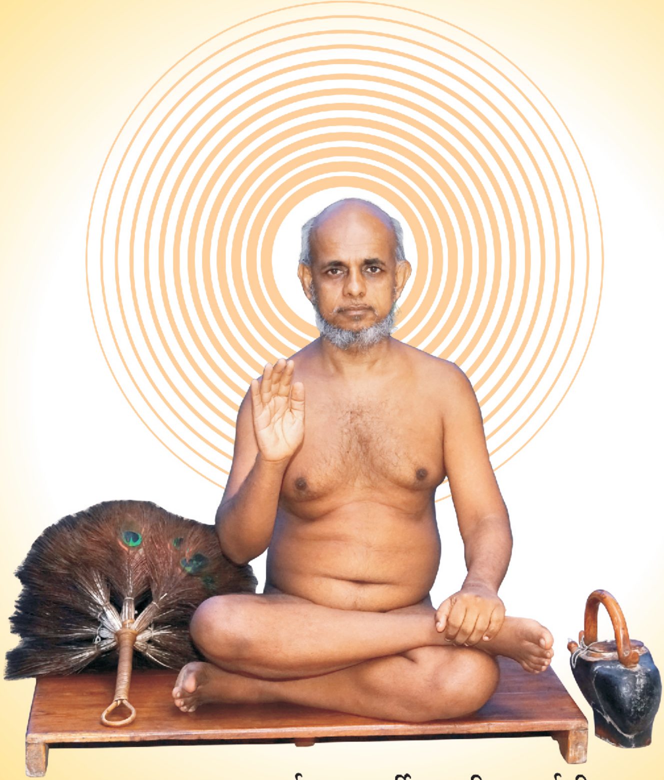

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग 1

लेखक
डॉक्टर शितिकण्ठ मिश्र

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

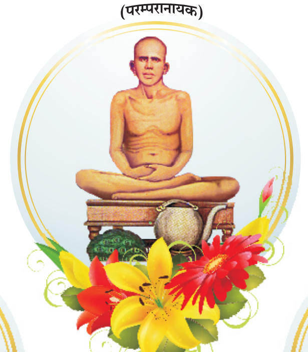

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५३

सम्पादक
प्रो. सागरमल जैन

हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग १

(मरु–गुर्जर)

डॉ० शितिकण्ठ मिश्र

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–२२१००५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५३

ग्रन्थमाला सम्पादक

प्रो० सागरमल जैन

Parshvanath Vidyashram Series : 53
Hindi Jain Sahitya ka Brihad Itihas
Dr. Shitikantha Mishra

Published by :
P. V. Research Institute
Varanasi-221005

First Edition 1989
Price Rs. 80.00

©

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-२२१००५

प्रथम संस्करण – १९८९
मूल्य – ८०.००

डिवाइन प्रिंटर्स
वाराणसी-१

प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैन साहित्य के बृहद् इतिहास के निर्माण की योजना के क्रियान्वयन में विगत २५ वर्षों से निरन्तर संलग्न है। प्राचीन भारतीय भाषाओं—प्राकृत और संस्कृत साहित्य के अंग आगम, अंगबाह्य आगम, आगमिक व्याख्यायें, कर्म साहित्य, प्रकरण साहित्य, काव्य साहित्य ऐसे विभिन्न पक्षों को समेटते हुए ६ भाग प्रकाशित किये गये, साथ ही प्राचीन कन्नड़ और तमिल साहित्य की जैन कृतियों के विवरण को प्रस्तुत करने की दृष्टि से तमिल, कन्नड़ और मराठी जैन साहित्य नामक सातवाँ भाग प्रकाशित किया गया। इसका आठवाँ भाग अपभ्रंश भाषा में निबद्ध जैन साहित्य से सम्बद्ध है, परन्तु योग्य लेखकों की उपलब्धि के अभाव एवं जिन्हें यह कार्य दिया गया था, उनके अत्यन्त वृद्ध अथवा स्वर्गवासी हो जाने के कारण अभी तक रुका हुआ है। इसका अगला भाग यथावत् चलता रहे इसलिये हमने यही सोचा कि इस योजना के अन्तर्गत हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास एक अलग सिरीज के रूप में प्रकाशित हो।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दी भाषा का प्राचीनतम स्वरूप जो जैन साहित्य के रूप में सुरक्षित है उससे हिन्दी विद्वत् जगत् आज भी अपरिचित है। इसके लिये जैन परम्परा भी उत्तरदायी है क्योंकि उसने अपना साहित्य विद्वानों को उपलब्ध ही नहीं कराया। अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी भाषा के उद्भव के मध्य जो अन्तराल है उसकी पूर्ति प्राचीन मरु-गुर्जर भाषा में निबद्ध जैन साहित्य करता है। यहाँ मरु-गुर्जर से हमारा तात्पर्य राजस्थानी और गुजराती भाषा के पूर्व एवं संयुक्त रूप से है। जैन परम्परा की दृष्टि से मरु-गुर्जर वह कड़ी है जो अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी भाषा को जोड़ती है।

मरु-गुर्जर के जैन कवियों पर श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई और श्री अगरचन्द नाहटा ने ग्रन्थ तैयार किये थे। श्री देसाई जी के ग्रन्थ यद्यपि मरु-गुर्जर कवियों से सम्बद्ध हैं परन्तु वे गुजराती भाषा में निबद्ध हैं। श्री अगरचन्द जी नाहटा ने लगभग १०० पृष्ठों में राजस्थानी जैन कवियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। देसाई जी के ग्रन्थ अपने विवरण और शोध दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विस्तृत होते हुए भी

हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए सुग्राह्य नहीं हो पाये क्योंकि वे गुजराती भाषा और गुजराती लिपि में प्रकाशित हैं। श्री नाहटा जी का ग्रन्थ लघु-काय होने के कारण सभी मरु-गुर्जर कवियों और उनकी रचनाओं को स्पर्श नहीं कर पाया है। विद्याश्रम ने पूर्व में उनसे हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास के राजस्थानी खण्ड को लिखने का अनुरोध भी किया था, किन्तु वे उसे पूरा न कर सके और उन्होंने **राजस्थानी जैन कवि** नामक अपने लघु ग्रन्थ को इस खण्ड के लेखन में आधार बनाने के लिये हमें प्रेषित किया, अत: अन्त में निर्णय किया गया कि श्री देसाई और श्री नाहटा जी के ग्रन्थों को आधार बनाते हुए हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास के प्रथम खण्ड के रूप में मरु-गुर्जर जैन साहित्य का इतिहास लिखवाया जाये। यद्यपि हमने इस कार्य के सन्दर्भ में कुछ जैन विद्वानों से भी चर्चा की थी, किन्तु हमें उत्साहजनक सहयोग नहीं मिल पाया। अन्त में मैंने संस्थान के निकट निवास कर रहे हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० शितिकण्ठ मिश्र से निवेदन किया। पहले तो उन्होंने भी गुजराती भाषा का ज्ञान न होने तथा जैन परम्परा से परिचित न होने के कारण इस कार्य को करने में संकोच किया, परन्तु हमारे विशेष आग्रह पर इस दायित्वपूर्ण कार्य को पूरा करने का वचन दिया और आज हमें यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि उन्होंने अल्पावधि में ही इस विशाल कार्य को पूर्ण भी कर दिया। इसके लिये हम निश्चय ही डॉ० शितिकण्ठ मिश्र के आभारी हैं।

इस खण्ड में हमने मरु-गुर्जर या प्राचीन हिन्दी के आदिकाल से लेकर १६वीं शती के अन्त तक के कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। वस्तुत: इस युग के जैन कवि और उनकी रचनायें इतनी अधिक हैं कि उन सबका सम्पूर्ण और समीक्षात्मक विवरण दे पाना ऐसे दो-चार ग्रन्थों में भी सम्भव नहीं है। दूसरी कठिनाई यह भी है कि अभी तक सम्पूर्ण जैन भण्डारों का सर्वेक्षण भी नहीं हो पाया है अत: सम्भव है कि इस युग के अनेक कवि और उनकी रचनाओं के उल्लेख इसमें छूट गये हों। यदि विद्वानों से इस सम्बन्ध में हमें सूचना मिलेगी तो हम अगले संस्करण में उसे जोड़ देंगे। यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं कि इस ग्रन्थ की अधिकांश सामग्री श्री देसाई और श्री नाहटा के ग्रन्थों से ली गयी है, किन्तु इसके साथ ही हमें अन्य स्रोतों से जो कुछ भी मिल सका है, उसे भी विद्वान् लेखक ने इसमें समाहित करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत कृति के लेखन के लिये हम डॉ० शितिकण्ठ मिश्र के आभारी हैं ही, साथ ही अपने शोध संस्थान के डॉ० अशोक कुमार, डॉ० शिव प्रसाद एवं बाबू श्री महेश कुमार जी के भी आभारी हैं कि उन्होंने इसके मुद्रण, प्रूफ संशोधन आदि में रुचिपूर्वक कार्य किया है। ग्रन्थ का मुद्रण कार्य त्वरा में होने के कारण प्रूफ संशोधन में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जिन्हें आगामी संस्करण में हम अवश्य ही दूर कर देंगे। अन्त में इसके शीघ्र एवं सुन्दर मुद्रण के लिये हम डिवाइन प्रिंटर्स के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

आज हमें हिन्दी विद्वत् जगत् को यह कृति समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। हम यह अपेक्षा करेंगे कि वे इसका सम्यक् मूल्यांकन करें और भविष्य में जब भी हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जाये, उसमें जैन कवियों की समर्थ रचनाओं को भी उचित स्थान देने का प्रयत्न करें।

डॉ सागरमल जैन
निदेशक

भूपेन्द्रनाथ जैन
मंत्री

लेखकीय निवेदन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में 'जैन विद्या-शोध एवं प्रकाशन समन्वय समिति' की बैठक में निर्णय लिया गया था कि 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' योजना के अन्तर्गत 'मरु-गुर्जर जैन साहित्य का इतिहास' लिखवाया जाये और इसे तैयार करने में श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई के ग्रन्थ 'जैन गुर्जर कविओ' और स्व० श्री अगरचन्द नाहटा के लघु ग्रन्थ 'राजस्थानी जैन कवि' का उपयोग किया जाये। संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन ने प्रस्तावित ग्रन्थ के लेखन कार्य के लिए मुझसे कहा तो कार्य मनोनुकूल होने के कारण मैं प्रसन्न भी हुआ और जैन विद्या में अपनी अल्पज्ञता के कारण सशंक भी। किन्तु डॉ० सागरमल जैन ने मुझे निरन्तर उत्साहित किया, अध्ययन सामग्री सुलभ कराई और आवश्यकतानुसार गुजराती ग्रन्थों को पढ़ने-समझने में मेरा मार्गदर्शन भी किया। फलतः तीन-चार वर्षों के परिश्रम का यह परिणाम ग्रन्थरूप में पाठकों के सामने है। ग्रन्थ कैसा है यह निर्णय करना सुधी पाठकों का काम है किन्तु कार्य किस प्रकार किया गया है यह मुझे अवश्य निवेदित करना है।

'मरु-गुर्जर' शब्द हिन्दी के सामान्य पाठकों के लिए अपेक्षाकृत अल्प परिचित है। जैन साहित्य के लेखक प्रायः जैन मुनि हुए हैं जो प्रायः राजस्थान गुजरात और मध्यप्रदेश में परिभ्रमण करते रहते थे, अतः इनकी भाषा प्रादेशिकता की संकीर्ण सीमा के बाहर अन्तर्प्रान्तीय स्वभाव की रही है, जिसमें हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती के पुराने प्रयोग मिले-जुले हैं। वस्तुतः १२वीं शती से १५वीं शती तक इन भाषाओं में कोई बड़ा भाषा-वैज्ञानिक भेद नहीं रहा है। इसी भाषा को गुलेरी जी ने पुरानी हिन्दी कहा है और इसे ही जैन विद्वान् मरु-गुर्जर कहते हैं। सच कहिये तो दोनों समानार्थक हैं। जैन लेखक जनसामान्य की प्रचलित बोलचाल की भाषा का ही सदैव प्रयोग करते रहे हैं इसलिए मरु-गुर्जर राजस्थान एवं गुजरात में प्रचलित जन-भाषा का ही एक नाम है।

१०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच स्थानीय अपभ्रंशों से आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव प्रारम्भ हुआ किन्तु इनका वास्तविक अलगाव १५वीं शताब्दी के बाद ही हुआ। इस सन्धिकाल की भाषा में संक्रमण-कालीन भाषा की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं जिसमें अपभ्रंश की क्रमशः

क्षीण होती हुई प्रवृत्ति के अवशेषों के साथ नवोदित देश्यभाषाओं के प्रयोग मिले-जुले हैं। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध बड़ा प्राचीन और घनिष्ठ रहा है। इन भाषाओं और इनके साहित्य में १५वीं शताब्दी तक अद्भुत साम्य दिखाई देता है।

सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान केन्द्रीय महत्त्व का है। १२वीं से १५वीं शताब्दी की अवधि को हिन्दी साहित्येतिहासों में आदिकाल कहा गया है। इस युग के निर्माण में विद्यापति के अवहट्ट से लेकर जैनाचार्यों के मरु-गुर्जर तक का योगदान है। यद्यपि इसमें बौद्धों, सिद्धों, नाथों और चारणों का साहित्य सम्मिलित है किन्तु परिमाण और प्रामाणिकता की दृष्टि से जैन साहित्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओं की प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की लिखी प्रामाणिक हस्तप्रतियाँ प्रचुर मात्रा में जैन ज्ञान-भाण्डारों में उपलब्ध हैं जिनसे पाठ शोधन, निर्धारण, भाषा वैज्ञानिक अध्ययन और साहित्यरूपों की परम्परा का सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है। भारतीय साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति 'धर्म' रही है। जैन साहित्य तो पूर्णतया धर्माश्रित है, किन्तु इसी आधार पर उसे साम्प्रदायिक साहित्य की संज्ञा देकर इतिहास से उसे खारिज करना आत्मघाती कार्य सिद्ध हुआ है। धर्म की सामाजिक मान्यता का जितना प्रामाणिक वर्णन जैनाचार्यों ने किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण घटनाओं का बिना किसी अतिरंजना के यथातथ्य निरूपण करके इन लोगों ने देश के इतिहास एवं समाज की संस्कृति के अध्ययन का ठोस आधार प्रस्तुत किया है। दुर्भाग्यवश इस विशाल एवं प्रामाणिक साहित्य का अपेक्षित अध्ययन करने के स्थान पर इसकीउपेक्षा की गई। इस उपेक्षा का रचनात्मक प्रतिकार करने के लिए इस पुस्तक की नितान्त आवश्यकता थी। इसके बिना हिन्दी भाषा और साहित्य का विकासक्रम भंग हो रहा था, इस ग्रन्थ के लेखन से वह कड़ी जुड़ जाती है। जैन साहित्य हमारी संस्कृति की विविधता में एकता का पोषक है और कर्म सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के पुरुषार्थ का विजय-उद्घोष करके कर्म की प्रेरणा देता है। अनेकान्त द्वारा यह ऐकान्तिक दुराग्रह का निषेध तथा सहिष्णुता का संदेश देता है। इतने उत्तम और विशाल जैन साहित्य का इतिवृत्त हिन्दी में आया है, इससे हिन्दी साहित्य का भण्डार समृद्ध हुआ है और हिन्दी पाठकों को हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का समग्र पूर्ववृत्त जानने तथा उसकी परम्परा को समझने का अवसर मिला है, यही इसकी चरितार्थता है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जिन वीरकथाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था, वे प्रायः जाली, क्षेपक, परवर्ती और अप्रामाणिक सिद्ध होती जा रही हैं इसलिए प्रामाणिक जैनसाहित्य का महत्त्व दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है और भविष्य में 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' जैन साहित्य के अभाव में अपूर्ण समझा जायेगा। मरु-गुर्जर जैन साहित्य के शिल्प, छन्द विधान, काव्यरूपों आदि का हिन्दी, गुजराती आदि के साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है किन्तु इसका अब तक हिन्दी भाषा में कोई इतिहास उपलब्ध नहीं था। अतः इस कार्य द्वारा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है, एतदर्थ संस्थान के निदेशक एवं प्रबन्धक धन्यवाद के पात्र हैं।

समस्त जैन साहित्य में धर्म की प्रधानता के कारण प्रवृत्ति के आधार पर भिन्न भिन्न युगों का बँटवारा संभव नहीं था। प्रमुख लेखकों के आधार पर भी युगों का नामकरण करना एक जटिल प्रश्न था अतः समस्त मरु-गुर्जर जैन साहित्य को शताब्दियों के आधार पर बांटकर प्रत्येक शताब्दी के लेखकों को अक्षरानुक्रम से प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम का कई कारणों-वश कहीं-कहीं पूर्णतया पालन नहीं हो पाया है, अतः पाठकों से निवेदन है कि वे थोड़ा आगे-पीछे देख लें उनका वांछित कवि कुछ इधर-उधर अवश्य मिल जायेगा, इस इतिवृत्त ग्रन्थ में प्रायः पांच सौ कवियों और उनकी सहस्रों कृतियों का विवरण दिया गया है। इसलिए कहीं कुछ भूल हो जाना असंभव नहीं है। पुनरुक्ति भी हो गई है। असायत, डुंगरु, वच्छ भंडारी-वस्तिग, लाखू आदि कुल सात-आठ कवियों को दुहराया गया है, इसका कारण है उपजीव्य ग्रन्थों में उन नामों में पुनरुक्ति या पारस्परिक मतभेद। यह मतभेद गुरु-परम्परा, रचनाकाल या रचयिता को लेकर है। इसलिए पुनरुक्ति हो गई है। किसी कवि के बारे में अन्तिम समय पर कुछ आवश्यक नवीन सामग्री मिल जाने पर भी ऐसा करना पड़ा है। प्रूफ पढ़ने में असावधानी के कारण अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। एक शुद्धिपत्रक लगा दिया गया है, पाठक इससे सहायता लेकर शुद्ध पढ़ने की कृपा करें और कष्ट के लिए क्षमा करें। अशुद्धियों को अगले संस्करण में सुधार दिया जायेगा।

पुस्तक छह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में मरु-गुर्जर के प्रारम्भ अर्थात् १३वीं शताब्दी से पूर्व की अपभ्रंश भाषा उसके साहित्य की संक्षिप्त उद्धरणी पीठिका के रूप में दी गई है। इसी अध्याय में मरु-गुर्जर शब्द की निरुक्ति और उसकी पुरानी हिन्दी से एकरूपता पर भी प्रकाश

डाला गया है। जैन साहित्य में रस-भक्ति और काव्यरूपों की विविधता की एक झलक भी इसी अध्याय के अन्त में मिलेगी क्योंकि हिन्दी साहित्य को इन विषयों में मरु-गुर्जर से बड़ा अवदान मिला है। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में क्रमशः १३वीं, १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी के जैन काव्य और कवियों का इतिवृत्त दिया गया है। प्रायः प्रकाशित साहित्य और उसके ज्ञात कवियों को ही अपनी समय-स्थान की सीमा के कारण ग्रन्थ में स्थान दिया गया है। जिन रचनाओं का रचनाकाल, स्थान और रचयिता या उसकी गुरु-परम्परा आदि का प्रश्न विवादास्पद है उन्हें शोधार्थियों के लिए छोड़ दिया गया है। छठें अध्याय में १३वीं से १६वीं शताब्दी के उपलब्ध गद्य साहित्य और उसके लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में प्राप्त गद्य साहित्य का संकेत भी पूर्व सन्दर्भ के रूप में कर दिया गया है। इस प्रकार १३वीं से १६वीं शताब्दी तक के गद्य और पद्य का संक्षिप्त इतिहास देने की यथासंभव चेष्टा की गई है।

इसमें जो कमियाँ रह गई हैं, उनके लिए आपके सुझावों का सदैव स्वागत है और हम तदनुसार संशोधन करने का प्रयत्न करेंगे। नये और अल्पज्ञात लेखकों को प्रोत्साहन देने की बातें तो खूब की जाती हैं पर जब वास्तविक अवसर आता है तो हमारे साहित्यिक मसीहा मुकर जाते हैं। डॉ० सागरमल जैन ने मेरी अल्पज्ञता के बावजूद भी यह कार्य मुझे सौंपा, आवश्यक सुविधा प्रदान की, इसके लिए मैं उनके प्रति पुनः आभार व्यक्त करता हूँ। इस अवसर पर मैं अपने पूज्य पिता श्री शत्रुघ्न प्रसाद मिश्र का सादर स्मरण करता हूँ जिनकी प्रतिभा अवसर की तलाश में अपनी सही पहचान भले न बना पाई किन्तु मेरे लिऐ अजस्र प्रेरणा का स्रोत अवश्य बन सकी। संस्थान के अन्य अधिकारियों, कार्यकर्त्ताओं विशेष रूप से डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० शिव प्रसाद, श्री मोहनलाल एवं श्री महेन्द्र यादव का भी अनुगृहीत हूँ क्योंकि इन लोगों की समय-समय पर अयाचित सहायता के बिना मेरे लिए यह कार्य दुष्कर ही था। प्रूफ शोधन, अनुक्रमणिका और पुस्तक सूची तैयार करने में चि० असीम ने काफी श्रम किया, उसे साधुवाद के साथ यह ग्रन्थ लोकार्पित करता हूँ।

नवरात्रारम्भ वि० सं० २०४६
वाराणसी ३०–९–८९

डॉ० शितिकण्ठ मिश्र

विषय-सूची

अध्याय १—मरु-गुर्जर का प्रारम्भ और प्राचीन परम्परा, मरु-गुर्जर की निरुक्ति १, मरु-गुर्जर का विकास २, मरु और गुर्जर भाषा की एकता ३, मरु-गुर्जर की उत्पत्ति : मरु १०, गुर्जर १२, मरु-गुर्जर की एकता का आधार १३, मरु-गुर्जर शब्द की उपयुक्तता १४, मरु-गुर्जर जैन साहित्य का काल-विभाजन १५, मरु-गुर्जर के प्रति उदासीनता १६, जैन साहित्य का प्रथम परिचय १७, मरु-गुर्जर साहित्य का संरक्षण १८, मरु-गुर्जर का उद्भव २०, मरु-गुर्जर के स्वतन्त्र विकास का कारण २१, जैन साहित्य में प्राकृत २२, जैन प्राकृत साहित्य की विशेषतायें २४, अपभ्रंश : अपभ्रंश का शब्दार्थ और इतिहास २५, अपभ्रंश भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ २९, अपभ्रंश की प्रमुख विशेषतायें ३०, अपभ्रंश साहित्य की संक्षिप्त उद्धरणी ३४, अपभ्रंश जैन साहित्य ३४, स्वयंभू ३६, पुष्पदन्त ३८, धनपाल प्रथम, द्वितीय और तृतीय ४१, वीरकवि ४३, नयनन्दि ४४, मुनि कनकामर ४४, साहिल ४५, पद्मकीर्ति ४६, श्रीधर ४६, देवसेनगणि ४७, सिंह और सिद्ध कवि ४८, हरिभद्र ४८, पं० लाखू या लक्खण ४९, यशःकीर्ति ४९, रइधू ५०, जैन रास साहित्य ५२, साधारण ५३, देवचन्द्र ५४, योगीन्दु ५४, मुनिरामसिंह ५५, सुप्रभाचार्य ५६, देवसेन ५६, रूपककाव्य ५८, कथा साहित्य ५८, हरिषेण ५८, जैनेतरअपभ्रंश काव्य ५९, बौद्ध अपभ्रंश साहित्य ६०, शैवों की अपभ्रंश रचनायें ६१, आदिकालीन जैन साहित्य की पृष्ठभूमि ६२, राजनीतिक स्थिति ६३, आर्थिक स्थिति ६५, धार्मिक स्थिति ६६, प्रमुख राजवंशों की धार्मिक नीति ६७, बुन्देलखण्ड, मालवा में जैनधर्म की स्थिति ६८, गुजरात में जैनधर्म की स्थिति ६८, जैन धर्म का परिचय ७०, जैन-दर्शन ७१, जैनदेवमंडल तथा पूजन ७२, मरु-गुर्जर भाषा का विकास ७२, मरु-गुर्जर साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव: भाषा ८२, चरित ८३, कथावस्तु ८३, कथानक रूढ़ियां ८४, अभिव्यन्जना ८४, शैली ८४, छन्द ८५, काव्यरूप ८७, रस ९७, भक्ति १०२।

अध्याय २—मरु गुर्जर जैन साहित्य (सं० १२०१-१३००)

आदिकाल का निर्धारण १०७, गुजरात-राजस्थान से जैनधर्म का सम्बन्ध १०९, १३ वीं शताब्दी की सांस्कृतिक पीठिका : अभयदेवसूरि

(नवांगीवृत्तिकार) ११०, जिनवल्लभसूरि १११, आ० दिनदत्त सूरि ११२, तत्कालीन राजनीतिक स्थिति ११५, साहित्यक गतिविधि ११७, मरु-गुर्जर जैन साहित्य की कतिपय विशिष्टतायें ११९, मरु-गुर्जर जैन साहित्य का विवरण (सं० १२०१-१३००) : अभयदेवसूरि १२०, अमरप्रभसूरि १२०, आसिगु (श्रावक आसिग) १२०, श्रावक जगडू १२२, जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) १२४, जयमंगलसूरि १२५, जयदेवगणि १२५, देल्हड़ १२५, धर्म १२५,नेमिचन्द्र भण्डारी १२८, पृथ्वीचन्द्र १२९, पाल्हण १२९, पुण्य-सागर १३१, भत्तउ १३२, यशःकीर्ति (प्रथम) १३२, रत्नप्रभ या रत्नसिंह सूरि १३३, शाहरयण १३३, श्रावक लखण (लक्ष्मण) १३५, पण्डित लाखू १३६, श्रावक लखमसी १३७, वरदत्त १३७, वज्रसेनसूरि १३७, वादिदेव सूरि १३८, विजयसेनसूरि १३९, वीरप्रभ १४१, शालिभद्र या सालिभद्र सूरि १४२, सिरिमा महत्तरा १४५, सुमतिगणि १४५, सुप्रभाचार्य १४६, सोमप्रभ १४६, हरिभद्रसूरि १४७, हरिदेव १४८, १३ वीं शताब्दी के अज्ञात कवि १४९।

अध्याय ३—मरु-गुर्जर जैन साहित्य सं० १३०१-१४००

राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति १५३, धार्मिक स्थिति १५५, अभयतिलक गणि १५७, अमरप्रभसूरि १५८, आनन्दतिलक १५९ अम्ब-देवसूरि १६१, उदयकरण १६४, उदयधर्म १६५, गुणाकरसूरि १६७, चारित्रगणि १६८, छल्हु १६९, जयदेवमुनि १७०, जयधर्म १७०, 'दादा' जिनकुशलसूरि १७१, जिनपद्मसूरि १७२, जिनप्रभसूरि १७५, देवचन्द्र-सूरि १७९, धर्मकलश १७९, धर्मसूरि १८१, मन्त्री धारीसिंह १८१, पद्म या पउम १८२, प्रज्ञातिलक १८४, फेरु ठक्कुर १८६, महेश्वरसूरि १८७, मेरुतुङ्ग १८७, मोदमन्दिर १८९, मण्डलिक १८९, रल्ह (राजसिंह) १९०, मुनि राजतिलक १९२, राजकीर्ति १९३, राजवल्लभ १९३,रामभद्र १९३, श्रावक लखमसी १९४, लाखम (लक्ष्मणदेव) १९४, लक्ष्मीतिलक उपाध्याय १९५, वरित्तग १९६, विनय चन्द्रसूरि १९८, वीरप्रभ १९९, श्रीधर २००, शान्तिभद्र २००, शान्तिसूरि २०१, सहजसान २०१, सारमूर्ति २०२, सुधाकलश २०३, सोममूर्ति २०३, सोलणु २०५, हेमभूषणगणि २०६, अज्ञात कवि कृत रचनायें २०६।

अध्याय ४—मरु-गुर्जर जैन साहित्य (१५ वीं शताब्दी)

१५ वीं शती के मरु-गुर्जर जैन साहित्य की पीठिका : राजनैतिक पृष्ठभूमि २१९, सांस्कृतिक पीठिका २२२, साहित्यिक पीठिका २२३,

असवाल २२५, आसायत २२५, उदयकरण २२६, उदयवंत २२६, कर्णसिंह २२६, कवियण २२७, कान्ह २२७, गुणचन्द्रसूरि २२९, गुणरत्नसूरि २३०, चाँप-चंप २३१, जयकेशर मुनि २३२, जयतिलकसूरि २३३, जयमित्रहल्ल २३३, जयमूर्तिगणि २३४, जयवल्लभगणि २३४, जयशेखरसूरि २३५, जयसागर उपाध्याय २३८, जयसिंहसूरि २४०, जयानन्दसूरि २४२, जिनभद्रसूरि २४३, जिनरत्नसूरि २४४, जिनवर्द्धनसूरि २४४, जिनवर्द्धमानसूरि २४४, जिनशेखरसूरि २४५, जिनोदयसूरि २४६, डूंगरू २४६, तरुणप्रभसूरि २४७, तेजवर्द्धन २४७, दयासागरसूरि २४७, देवदत्त २४८, देवप्रभगणि २४८, देवरत्नसूरिशिष्य २४८, देवसुन्दर २५०, देवसुन्दरसूरि-शिष्य २५०, धनप्रभ २५०, धनपाल २५१, धनराज २५१, नयचन्द्र २५२, नरसेन २५२, पद्मतिलक २५३, पद्मानन्दसूरि २५३, परमानन्द २५४, प्रसन्नचन्द २५४, पृथ्वीचन्द २५५, पहुराज २५५, बच्छ भण्डारी २५६, भावसुन्दर २५८, भीम २५९, भैरइदास २६०, माउण सेठ २६१, माणिक्यसुन्दरसूरि २६१, माणिक्यसूरि २६२, मालदेव २६३, मुनिमहानन्दि २६३, मुनिसुन्दरसूरि २६४, मेरुतुंग २६४, मेरुनन्दनगणि २६४, मेघो (मेहो) २६८ मंडलिक २६९, यशःकीर्ति २६९, रत्नमण्डनगणि २६९, रत्नवल्लभ २७१, रत्नाकर मुनि २७१, रत्नशेखरसूरि २७३, राजतिलक २७३, राजलक्ष्मी २७४, राजशेखरसूरि २७५, वस्तिग (वस्तो) २७७, विजयभद्र २७८, श्रावक विद्धणु २८०, भ० विनयचन्द्र २८०, विनयप्रभ २८१, वीरनन्दन २८५, शान्तिसूरि २८५, शिवदास २८६, शालिभद्रसूरि २८६, शालिसूरि २८६, भ० सकलकीर्ति २८७, सघारु २९०, समधर २९०, समयप्रभ २९१, समरा २९२, सर्वानन्दसूरि २९३, साधुकीर्ति २९४, साधुहंस २९५, सिद्धसूरि २९६, सोमकुंजर २९६, सोमतिलकसूरि २९७, सोमसुन्दरसूरि २९७, सोमसुन्दरसूरि आदि शिष्य २९९, हरसेवक ३००, हरिकलश ३०१, हलराज ३०२, हीरानन्दसूरि ३०३, ज्ञानकलशमुनि ३०५, अज्ञात कविकृत (रचनायें) ३०६।

अध्याय ५—मरु-गुर्जर जैन साहित्य का इतिहास (सं. १५०१-१६००)

मध्ययुग का प्रारम्भ ३१३, मध्ययुगीन मरु-गुर्जर जैन साहित्य की सामान्य विशेषतायें ३१३, भाषा सम्बन्धी सामान्य विशेषतायें ३१५, छंद विधान ३१६, काव्य रूप ३१७, मरु-गुर्जर की जैनेतर रचनायें ३१७, लोक साहित्य ३१८, १६ वीं शताब्दी की राजनीतिक पृष्ठभूमि ३१८,

सामाजिक परिस्थितियाँ ३२०, धार्मिक स्थिति : धार्मिक सुधार आन्दोलन ३२१, लोकाशाह और स्थानकवासी परम्परा ३२२, साहित्यिक गतिविधि ३२३, १६ वीं शताब्दी के कवियों का विवरण : अनन्तहंस ३२५, अनन्तहंस के अज्ञात शिष्य ३२६, अमीपाल (श्रावक) ३२७, आगममाणिक्य ३२७, आणंद ३२८, आनन्दप्रमोद ३२८, आनन्दमुनि ३२९, आनन्दमेरु ३३०, आसायत (असाइत) ३३१, आज्ञासुन्दर ३३२, ईश्वरसूरि ३३२, उदयधर्म ३३४, उदयभानु ३३५, उदयवंत ३३६, कडुआ (कडुवो ३३७, कनककवि ३३८, कक्कसूरि शिष्य (१) ३३९, कक्कसूरि शिष्य (२) ३४०, कमलधर्म ३४०, कमलमेरु ३४१, कल्याणचन्द्र ३४१, कल्याणजय ३४२, कल्याणतिलक (उपाध्याय) ३४३, कवियण ३४४, करमसी ३४५, कीरति ३४६, कीर्तिहर्ष ३४६, कुशलसयम ३४७, कुशलहर्ष ३४८, कोल्हि ३५०, खेमराज ३५०, खीमो या खीमा ३५३, क्षमाकलश ३५४, क्षान्तिरंग गणि ३५५, गजराज (पंडित) ३५६, गजलाभ ३५६, गजेन्द्रप्रमोद ३५८, गणपति ३५८, गुणकीर्ति ३५९, गुणमाणिक्य-शिष्य ३६०, गौरवदास ३६०, घणचन्द ३६३, चतरुमल ३६३, चउहथ ३६५, चउआ ३६५, चतुर्भुज ३६६, चन्द्रप्रभसूरि ३६७, चन्द्रकीर्ति ३६८, चन्द्रलाभ ३६८, चारुचन्द्र ३६८, छीहल ३६९, भ० जयकीर्ति ३७२, मुनि जयलाल ३७३, जयमंदिर ३७३, जयराज ३७४, जयवल्लभ ३७४, जयविजय ३७६, जयानन्द ३७६, जयहेम-शिष्य ३७७, भ० जिनचन्द्र ३७८, ब्रह्मजिनदास ३७८, जिनवर्द्धन ३८५, जिनसाधु सूरि ३८६, आ० जिनसेन ३८६, जिनहर ३८७, (ब्रह्म) जीवंधर ३८८, जीवराज ३८९, डुंगर ३८९, ठकुरसी ३८९, दल्ह ३९२, दामोदर (डामर) ३९३, दामोदर ३९४, देपाल ३९४, देवकलश ३९८, देवकीर्ति ३९९, देवप्रभगणि ३९९, देवरत्न ४००, देवसुन्दर ४००, दौलतविजय ४०१, धनदेव गणि ४०१, धनसार (पाठक) ४०३, धर्मदास ४०४, धर्मदेव ४०५, धर्मरुचि ४०६, ब्रह्म धर्मरुचि ४०७, वाचकधर्मसमुद्र ४०८, धर्मसागर ४१०, धर्मसिंहगणि ४११, धर्मसुन्दर ४११, नन्नसूरि ४११, नन्दिवर्द्धनसूरि ४१४, नयसिंहगणि ४१४, नरपति ४१४, नरशेखर ४१६, न्यायसुन्दर उपाध्याय ४१६, नेमिकुंजर ४१७, पद्मनाभ ४१८, पद्ममंदिरगणि ४१८, पद्मसागर ४१९, पद्मश्री ४२०, पातो (पातु, परबत) ४२०, परबत भावसार ४२१, प्रतिष्ठासोम ४२२, पार्श्वचन्द्रसूरि ४२२, पुण्यनन्दि ४२७, पुण्यरत्न ४२८, पुण्यलब्धि ४२९ भ० प्रभाचन्द ४३०, ब्रह्ममुनि (विनयदेवसूरि) ४३०, ब्रह्मबूचा (बूचराज) ४३४, बुधराज ४३९, भक्तिलाभ ४३९, भक्तिविजय ४४०, भानुचन्द्र ४४१, भाव

उपाध्याय ४४१, भावो ४४३, भावकलश ४४३, भावप्रभ ४४४, भाव-सागरसूरि-शिष्य ४४४, भीम ४४६, भीमराज ४४६, भ० भुवनकीर्ति ४४७, भुवनकीर्ति ४४७, मतिसागर ४४८, मतिशेखर ४४९, मलयचन्द ४५१. महिन्दु या महाचन्द्र ४५३, महीचन्द्र ४५३, माणिक्यराज ४५४, माणिकसुन्दरगणि ४५५, मुनिचन्द्रसूरि ४५५, मूलप्रभसाधु (भावप्रभ), ४५५, साधुमेरुगणि ४५६, मेलिग ४५७, मेरुसुंदर उपाध्याय ४५७, मंगल धर्म ४५८, अज्ञातकवि कृत मंगलकलशरास ४५८, यशोधर ४५९, रत्नमंडल गणि ४६२, रत्नसिंहसूरि शिष्य, ४६३, रत्नसुन्दर ४६४, रत्नशेखर ४६५ रत्नाकरसूरि ४६६, राजतिलकगणि ४६७, राजरत्नसूरि ४६७, राजशील ४६८, लखमण (लक्ष्मण) ४६९, लखमसीह ४७१, ललितकीर्ति ४७१, लक्ष्मी रत्नसूरि ४७२, लक्ष्मीसागर ४७२, लक्ष्मीसागरसूरि-शिष्य ४७२, लक्ष्मी कल्लोल ४७२, लब्धिसागरसूरि ४७३, लाभमंडन ४७४, लावण्यदेव ४७५, लावण्यरत्न ४७६, लावण्यसमय ४७७, लावण्यसिंह ४८४, लीधो ४८४, वच्छ-वाछो ४८', वच्छभण्डारी ४८७, वरसिंह-वीरसिंह ४८८, वासण ४८९, विजयसिंह ४९०, भ० विजयकीर्ति ४९०, विजयगणि ४९०, विजय-देवसूरि ४९१, विद्याभूषण ४९२, विद्याधर ४९३, विद्यारत्न ४९३, विनय चन्द (२) ४९४. विनयचूला गणिनी ४९५, विनयभाव ४९६, विनयरत्न ४९७, वाचक विनयसमुद्र ४९७, विशालसुन्दर-शिष्य ५००, भ० वीरचन्द ५०१. शांतिसूरि ५०३, शिवसुन्दर ५०४. भ० शुभचन्द्र ५०५, शुभशील गणि ५०७, शुभवर्द्धन-शिष्य ५०७, समरचन्द्र (समरसिंह) ५०८, समरचन्द्र शिष्य ५०९, सर्वाङ्गसुन्दर ५१०, सहजसुन्दर ५१०, सर्वसुन्दरसूरि ५१४, सारविजय ५१४, साधुकीर्ति ५१५, साधुमेरु ५१५, साधुरत्नसूरि ५१५, सालिग ५१६, सिद्धर (श्रीधर) ५१६, सिंहकुशल ५१७, सिंहकुल ५१८, सिंहदत्तसूरि ५१९, सीहा ५१९, सुन्दरराज ५२०, मुनिसुन्दरसूरि ५२०, मुनिसुन्दरसूरि आदि शिष्य ५२०, सूरहंस ५२१, सेवक ५२१, सेवक (२) ५२२, आ० सोमकीर्ति ५२३, सोमकुंजर ५२५, सोमचन्द्र ५२६, सोमचरित्र गणि ५२७, सोमजय ५२७, सोमविमलसूरि ५२७, सौभाग्यसागरसूरि शिष्य ५३१, संघकलश ५३२, संघविमल ५३२, संघमाणिक्य शिष्य ५३३, संयम मूर्ति ५३३, संवेगसुन्दर ५३४, हर्षकलश-हर्षकुल (१) ५३५, हर्षकुल (२) ५३५, हर्षप्रिय उपाध्याय ५३६, हर्षमूर्ति ५३७. पं० हरिश्चन्द्र ५३८, हेम विमलसूरि ५३८, हेमहंसगणि ५३९, हेमकान्ति ५३९, हेमध्वज ५४०, हंसधीर ५४०, हंससोम ५४१, श्रुतकीर्ति ५४२. ऋषिवर्द्धनसूरि ५४२, ज्ञान (ज्ञानचन्द्र) ५४३, भ० ज्ञानभूषण ५४५, ज्ञानसागर ५४७, ज्ञानाचार्य

५४९, अज्ञातकवि कृत रचनायें ५५१, लोक साहित्य ५६९, जैनेतर कवि ५७० ।

अध्याय ६—मरु-गुर्जर जैन गद्य-साहित्य (१३ वीं--१६ वीं शती तक)

मरु-गुर्जर जैन गद्य साहित्य (सामान्य परिचय) ५७२, वचनिका ५८१, दवावैंत ५८२ बात-ख्यात ५८३, मरु-गुर्जर जैन गद्य ५८४, १३वीं और १४ वी शताब्दी की गद्य रचनायें ५८६, श्रीसंग्रामसिंह ५८६, नरचन्द्रसूरि ५८९, १५वीं शताब्दी का गद्य साहित्य ५९०, कुलमंडन सूरि, जयशेखरसूरि ५९१, तरुणप्रभसूरि ५९२, दयासिंहगणि ५९३, माणिकसुन्दरसूरि ५९३, पद्मनाभ ५९५, मुनिसुन्दरसूरि ५९६, मेरुतुंगसूरि ५९६, साधुरत्नसूरि ५९६, सोमसुन्दरसूरि ५९७, हेमहंसगणि ५९९, मरु-गुर्जर जैनसाहित्य (१६वीं शताब्दी) : अभयधर्म उपाध्याय ६००, आसचन्द ६००, उदयधवल ६००, उदयवल्लभसूरि ६००, कमलसंयम उपाध्याय ६००, कुशलभुवनगणि ६००, गुणधीरगणि ६००, जयचन्दसूरि ६०१, जयवल्लभ ६०१, जिनसूरि ६०१ धर्मदेवगणि ६०१, नन्नसूरि ६०१, उपा० महिमासागर ६०३, महीरत्न ६०३ पार्श्वचन्द्र ६०३, माणिकसुन्दरसूरि ६०४, मेरुसुन्दर ६०५, रंगरत्नोपाध्याय ६०६, राजशील ६०६, राजहंस ६०६, विद्याकीर्ति ६०६, विशालराज ६०६, शिवसुन्दर ६०६, समरचन्द्र ६०७, साधुसुन्दरगणि ६०७, संवेगदेवगणि ६०७, सुन्दरहंस ६०७, हरिकलश ६०८, हेमविमलसूरि ६०८ ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ६१२

अनुक्रमणिका ६१९

प्रथम अध्याय

मरु-गुर्जर का प्रारम्भ और प्राचीन परम्परा

मरु-गुर्जर की निरुक्ति

भाषाओं के आविर्भाव और तिरोधान की तिथि निश्चित कर पाना सम्भव नहीं होता क्योंकि प्रत्येक भाषाएँ पूर्ववर्ती भाषा के आधार पर विकसित होकर परवर्ती भाषा का रूप ग्रहण करती हैं। यह एक अनवरत प्रक्रिया है। विकास प्रक्रिया किसी नियत तिथि को घटित होने वाली घटना नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में निश्चित तारीख और महीने का उल्लेख सम्भव नहीं होता, अपितु हमें दशकों और शताब्दियों की सीमा मर्यादित करनी पड़ती है। प्रायः सभी भाषा-वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि विक्रम की बारहवीं शताब्दी तक शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश उत्तर भारत के बड़े भूभाग की साहित्य-भाषा रही। वि० सं० की ११वीं शताब्दी में रचित 'प्राकृतपैंगलम्' की हस्तलिखित टीका पर टिप्पणी करते हुए सर भंडारकर ने स्पष्ट किया है कि ११वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा का विकास काल था और यह न केवल साहित्यरचना का माध्यम, बल्कि जनता द्वारा बोली भी जाती थी।[1] इसके कुछ ही समय बाद १२वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन द्वारा इसे व्याकरण के नियमों में बांध दिया और इसका एक साहित्यिक रूप रूढ़ हो गया जिसका प्रयोग साहित्य में सैकड़ों वर्षों तक भविष्य में भी होता रहा, किन्तु जनता की बोली बदलती रही और वह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती आदि के रूप में क्रमशः विकसित होने लगी। यह परिवर्तन की प्रक्रिया वि० की १२वीं से १४वीं शताब्दी

1. The last two forms (the Apabhraṁśa and the vernacular) must represent the vernacular speech of period when the poets wrote... The forms of the language used by them were the form current about the time of Karṇa i e. in the first half of the Eleventh cent. श्री मो० द० देसाई द्वारा उद्धृत "जैन गुर्जर कविओ" भाग १ पृ० ३२।

तक चलती रही। इस अवधि में उपलब्ध साहित्य की भाषा को श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया है। इसे ही राजस्थानी के विद्वान् पुरानी राजस्थानी और गुजराती के पंडित पुरानी या जुनी गुजराती कहते आये हैं। किन्तु सच पूछा जाय तो इस अवधि में हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषाओं का इतना स्पष्ट विकास नहीं हो सका था कि उनमें अलगाव किया जा सके। वस्तुतः इस काल में जो भाषा साहित्य का माध्यम थी वह सर्वत्र एक ही थी। केवल लेखकों की स्थानीय विशेषताओं का अन्तर उसमें कहीं-कहीं दृष्टिगोचर है जिसके आधार पर एक ही रचना को कभी गुजराती, कभी हिन्दी और कभी राजस्थानी घोषित किया जाता रहा है।

'निरुक्ति—'मरु-गुर्जर' शब्द का प्रयोग यहां दो अर्थों में किया जा रहा है। एक तो उस सन्धिकालीन साहित्य-भाषा के अर्थ में, जो अपभ्रंश के बाद और आधुनिक हिन्दी-गुजराती के पूर्व की मध्यवर्ती या संक्रान्तिकालीन भाषा है, जिसकी कालावधि ११वीं-१२वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर आधुनिक आर्य-भाषाओं के उदयकाल अर्थात् १५-१६वीं शताब्दी तक विस्तृत है। दूसरे अर्थ में मरु-गुर्जर शब्द का प्रयोग एक भाषा के लिए नहीं बल्कि १६वीं से १९वीं शताब्दी के बीच मरु प्रदेश एवं गुर्जर प्रदेश की भाषाओं में लिखे गये उस समग्र बृहद् जैन साहित्य के लिए है जो धार्मिक, सांस्कृतिक और अन्य अनेक समानताओं के कारण इन भाषाओं के साहित्येतिहास के ग्रंथों में प्रायः समान रूप से वर्णित होता रहा है।

मरु-गुर्जर का विकास—'मरु गुर्जर' या पुरानी हिन्दी का विकास शौरसेनी या महाराष्ट्री से हुआ जो विगत कई शदियों से समस्त उत्तर भारत की साहित्य-भाषा थी। इसके व्यापक प्रसार एवं प्रयोग के कारणों पर यथास्थान विचार किया जायेगा किन्तु यहां इतना निवेदन करना आवश्यक है कि मध्ययुग में राजपूतों का उत्थान, उनके द्वारा विभिन्न राजवंशों की स्थापना और उनके दरबारों में शौरसेनी अपभ्रंश का सम्मान इसकी वृद्धि का एक प्रमुख कारण था।

राजस्थान एवं गुजरात में जैन धर्म का भी यथेष्ठ प्रचार एवं सम्मान था अतः १२वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक अधिकांश जैन साहित्य मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी में लिखा गया जिसे भाषा की दृष्टि से हम चाहें तो मरु-गुर्जर काल कह सकते हैं। यह मरु-गुर्जर जैन साहित्य

का आदि काल है। इसके पश्चात् १६वीं से १९वीं शती की अवधि में लिखे गये राजस्थानी और गुजराती भाषा के जैन साहित्य को विद्वानों ने 'मध्य-युग' के नाम से अभिहित किया है। गुर्जर जैन साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास लेखक श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई और राजस्थानी के विख्यात विद्वान् श्री अगरचन्द नाहटा दोनों इस काल-विभाजन से सहमत हैं। अतः प्रस्तुत ग्रंथ में मरु-गुर्जर जैन साहित्य का अभिप्राय १३वीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी के बीच लिखे गये मरु-गुर्जर भाषा के समग्र जैन साहित्य से है जिसका इतिवृत्त प्रस्तुत करना इस रचना का अभीष्ट है।

मरु और गुर्जर भाषा की एकता—मरु-गुर्जर के लिए विभिन्न विद्वानों ने अनेक नाम सुझाये हैं जिनमें पुरानी हिन्दी, पश्चिमी राजस्थानी, जुनी गुजराती और मरु-सौरठ आदिनाम उल्लेखनीय हैं किन्तु इन सभी शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थ में ही हुआ है। मूलतः १२वीं से १५वीं शताब्दी तक इनमें भाषा सम्बन्धी कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस अवधि में मरु और गुर्जर दोनों भाषायें मूलतः एक ही थीं। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री ग्रियर्सन ने लिखा है कि इनका अलगाव आधुनिक काल की बात है, ये दोनों एक ही भाषा की दो बोलियां हैं[1]।'

पुरानी हिन्दी और मरु तथा गुर्जर भाषाओं की तत्कालीन एकता पर डॉ० एल० पी० टेस्सीतोरी और डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषा-विदों ने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। डॉ० चाटुर्ज्या ने इसे प्राचीन मरु या राजस्थानी कहा है।[2] उन्होंने इसकी प्रशंसा में कहा है कि इसका साहित्य, विशेषतः मारवाड़ी का बड़ा सम्पन्न है।' उनका यह कथन कि राजस्थानी और गुजराती का उद्गम स्रोत एक ही प्राचीन पश्चिमी राज-

---

1. The differentiation of Gujarati from modern dialect of Rajasthani is quite modern. Gujarati and Rajasthani are hence very closely connected and are infact little more than variant dialects of one and same language'. George Grierson—Linguistic Survey of India, Vol. I p. 170.
2. Gujarati and Rajasthani are derived from and onethe same source dialect to which the name old western Rajasthani has been given'' Dr. Suniti Chatterjee 'Origin and Development of Bengali Language,' p. 9.

स्थानी है, अंशतः ही सत्य और स्वीकार्य है। इतना तो शत-प्रतिशत सही है कि दोनों का उद्गम स्रोत एक है किन्तु वह स्रोत पश्चिमी राजस्थानी है इससे सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं बल्कि दोनों को पश्चिमी शौरसेनी या महाराष्ट्री अपभ्रंश से विकसित बताते हैं।

डॉ० एल० पी० टेस्सीतोरी भी पुरानी पश्चिमी राजस्थानी और पुरानी हिन्दी में निकट सम्बन्ध स्वीकार करते हैं क्योंकि वे दोनों का मूल स्रोत शौरसेनी को मानते हैं। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और इससे एक ओर हिन्दी की बोलियां—ब्रजभाषा, खड़ी बोली आदि तथा दूसरी ओर उसके एक प्रादेशिक रूप नागर या महाराष्ट्री अपभ्रंश से गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी का विकास हुआ है।[1]

इससे जाहिर है कि राजस्थानी और हिन्दी का मूलस्रोत भी एक ही है।[2] प्रायः अधिकतर साहित्येतिहास के ग्रंथों में राजस्थानी को हिन्दी के साथ ही गिना जाता रहा है। राजस्थानी, हिन्दी और गुर्जर की इसी एकरूपता के कारण इनकी प्राचीन रचनाओं को पुरानी हिन्दी, जुनी-गुजराती या मरु-गुर्जर नाम दिया गया है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि १५वीं शताब्दी तक हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती जैसा विभाजन नहीं था। उस समय की भाषा को पुरानी हिन्दी ही कहना उचित है।[3] श्री मो० द० देसाई ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मरु-गुर्जर कविओ' में लिखा है "जुनी हिन्दी, जुनी गुजराती, जुनी राजस्थानी शब्द कृत्रिम और भेदबुद्धि को बढ़ाने वाले हैं। कविता की भाषा इस क्षेत्र की प्रायः एक ही रही है। जिस तरह नानक से लेकर दक्षिण के हरिदास की भाषा कभी ब्रजभाषा कहलाती थी उसी प्रकार अपभ्रंश के पश्चात् की साहित्य-भाषा को पुरानी हिन्दी या जुनी गुजराती कहा गया। मीरा की भाषा को गुजराती, हिन्दी और मारवाड़ी तीनों कहा जाता है। यदि छापेखानों का प्रचार, प्रान्तीयता का अतिरिक्त मोह और मुस्लिमों द्वारा फारसी अक्षरों के थोपने का आग्रह न होता तो हिन्दी स्वाभाविक रूप से समस्त देश की भाषा बन चुकी होती।'[4]

---

१. डॉ० एल० पी० टेस्सीतोरी 'पुरानी राजस्थानी' पृ० ७
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ पृ० ४११ (ना० प्र० सभा०)
३. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग १, पृ० ७९
४. श्री मो० द० देसाई 'मरु-गुर्जर कविओ' भाग १ पृ० १४

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने कहा है कि १२वीं से १५वीं शताब्दी तक का जैन साहित्य मरु-गुर्जर साहित्य कहा जाता है। भाषा की दृष्टि से यह काल मरु-गुर्जर काल और उस काल का साहित्य मरु-गुर्जर साहित्य है।[1]

आचार्य चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने आचार्य हेमचन्द्र के 'सिद्धहैम' से एक दोहा उद्धृत करके उसे पुरानी हिन्दी का नमूना बताया है जिसके प्रचलित राजस्थानी रूप से तुलना करने पर उसे हम राजस्थानी का दोहा आसानी से कह सकते हैं। वह दोहा इस प्रकार है—

'वायसु उड्डावन्तिअ अं, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अध्या वलय महिहि गया, अद्धा फुट्ट तडत्ति।

इसका प्रचलित राजस्थानी रूप देखिये—

काग उडावण जावती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल आधि टूटि तडत्ति॥

गुलेरी जी ने व्यंग्य-विनोदपूर्ण अपनी शैली में इसका अर्थ बताते हुये लिखा है कि चूड़ी के कागगल में जाने से अशुभ का भय भी खत्म हो गया और निशाना भी ठीक बैठ गया।[2] सारांश यह कि प्राचीन राजस्थानी या मरु-गुर्जर का एक ही उद्गम स्रोत और एक ही प्रसार-क्षेत्र होने के कारण उनमें एक निश्चित अवधि तक पर्याप्त समानता रही है। अपभ्रंश से उद्भूत इस संक्रमणकालीन भाषा को पुरानी हिन्दी या मरु-गुर्जर अथवा राजस्थानी या जुनी-गुजराती आदि नाम देने से कुछ तात्त्विक अन्तर नहीं आता। गुलेरी जी ने वहीं लिखा है "अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं थी। कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों किन्तु वह देशभर की भाषा थी जो नहरों के समानान्तर बहती चली जाती थी। वैदिकभाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, हिन्दी, देश की एक ही भाषा रही है। पंडितों की संस्कृत, वैयाकरणों की या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती सब इसकी side-shadow's हैं, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकायें हैं।'[3]

---

१. डा० हीरालाल माहेश्वरी—राजस्थानी साहित्य का सामान्य परिचय

२. आ० गुलेरी 'पुरानी हिन्दी' पृ. ७६

३. वही

आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में मरु-गुर्जर भाषा और जैन साहित्य के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है 'उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं था जितना आजकल है। यदि कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी।' वे आगे लिखते हैं कि राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हिन्दी से है तो दूसरी ओर उसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से भी है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे जुनी गुजराती कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जुनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत-अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है।'[1]

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने 'हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास' में लिखा है कि हम जुनी गुजराती और राजस्थानी की कृतियों को जिनमें देशी भाषा का प्रयोग सर्वप्रथम हुआ हिन्दी की आद्यकृतियां मानना चाहेंगे। अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'अखिल उत्तरीभारत की तत्कालीन साहित्यिक भाषा पश्चिमी अपभ्रंश मूलतः शौरसेनी का वह परवर्ती रूप है, जो गुजरात और राजस्थान में बोली जाने वाली बोलियों से मिश्रित हो गया था। इसी को वैयाकरणों ने नागर अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया है।[2] उनका मत है कि जुनी गुजराती और पुरानी राजस्थानी का पूर्व रूप गौर्जर अपभ्रंश है जो शौरसेनी का एक स्थानीय स्वरूप है। इसी गौर्जर या नागर अपभ्रंश (पश्चिमी शौरसेनी) से गुजराती, राजस्थानी और पश्चिमी हिन्दी का अपने-अपने क्षेत्रों में विकास हुआ और पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत ही पुरानी राजस्थानी, जुनी गुजराती और पुरानी महाराष्ट्री का समावेश मानना चाहिए। इसी संक्रमणकालीन भाषा का नाम मरु गुर्जर रखा गया है।

श्री कामता प्रसाद जैन ने 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं वह पहले देशभाषा अथवा भाखा के नाम से प्रसिद्ध थी।' भाषा भक्तामर कहने से प्रत्येक जैनी 'भाषा' का अर्थ हिन्दी समझ जायेगा। आदिकाल में

१. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' पृ. ९, ११
२. डॉ० भोलाशंकर व्यास, हिन्दी सा० का बृ० इ०, भाग १ पृ २३७

अपभ्रंश मिश्रित पुरानी हिन्दी की रचनायें मिलती हैं; धीरे-धीरे अपभ्रंश पुरानी हिन्दी या जुनी गुजराती के रूप में परिणत हो रही थी। धर्मसूरि कृत जम्बू स्वामी रासा की भाषा को स्व० दलालजी ने जुनी गुजराती और श्री नाथूराम प्रेमी ने पुरानी हिन्दी कहा है, और दोनों ही ठीक हैं क्योंकि जुनी गुजराती और पुरानी हिन्दी दो भाषायें नहीं हैं बल्कि एक ही हैं जिन्हें हम मरु-गुर्जर कह रहे हैं।'[1]

जैन गुर्जर साहित्य के आधुनिक अध्येता डॉ० हरीश का कथन है कि नागर अपभ्रंश से विकसित हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दी (विक्रम) में तो ऐक्य है ही आगे १६वीं, १७वीं शताब्दियों में भी इन तीनों भाषाओं में साधारण प्रान्तीय भेदों को छोड़कर कोई बड़ा भाषावैज्ञानिक अन्तर नहीं मिलता, इसलिए आगे भी इनके साहित्य का इतिहास एक जैसा ही है और इनका एकत्र वर्णन संगत है।'[2] वे आगे लिखते हैं कि अपभ्रंश का प्रयोग राजस्थान, गुजरात, मगध और महाराष्ट्र में अधिक हुआ। इसमें से राजस्थान, मालवा और गुजरात में व्यवहृत अपभ्रंश आगे चलकर (१२वीं शताब्दी) 'मरु-गुर्जर' भाषा के रूप में विकसित हुई और इसी में अधिकांश जैन साहित्य रचा गया। धनपाल कृत 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' (११-१२वीं) इस भाषा की प्राचीनतम रचना है। यह एक उल्लासप्रधान गीत है जिसे हम अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी मानते हैं। श्री अगरचन्द जी नाहटा इसे प्राचीन मरुभाषा की रचना बताते हैं और श्री मो० द० देसाई इसे जुनी गुजराती की प्राचीन कृति घोषित करते हैं। मुनि जिनविजय जी ने इसे गुजराती की सबसे प्राचीन रचना बताया है। इससे स्पष्ट है कि यह न केवल हिन्दी, राजस्थानी या अकेले गुजराती की प्राचीनतम रचना है बल्कि तीनों की समान रूप से पूर्वज है जिसे 'मरु-गुर्जर' की प्राचीन रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है। यह कृति सांचौर में स्थित महावीर की उस मूर्ति पर आधारित है जिसके आक्रमणकारियों के हाथों नष्ट होने से बच जाने पर भक्तों का उत्साह उभड़ पड़ा था। इसीलिए इसे उत्साह की संज्ञा दी गई है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है और यह परवर्ती अपभ्रंश तथा आधुनिक देशी भाषाओं को जोड़नेवाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

---

१. श्री कामता प्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

२. डा. हरीश, आदिकालीन हिन्दी-साहित्य-शोध

श्री मो० द० देसाई ने हेमचन्द्र के सन्दर्भ में लिखा है कि उन्होंने अपनी वृत्ति में उदाहरणस्वरूप छंद-दोहा आदि देकर तत्कालीन साहित्य-भाषा का नमूना जीवित बचा रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्हें अपभ्रंश का उदाहरण कहा जाता है 'किन्तु ते ते समयनी जुनी हिन्दी गुजराती ना ज छे।'[1] इससे उस समय की पुरानी हिन्दी 'मरु-गुर्जर, साहित्य के प्रचार-प्रसार का और मरु-गुर्जर भाषा के वास्तविक रूप का पता चलता है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर जबलपुर में अपने भाषण के दौरान कहा था कि पुरानी हिन्दी, पश्चिमी अवहट्ट या जुनी गुजराती तो प्रान्तभेद से एक ही भाषा के अलग-अलग पर्यायवाची नाम हैं। इसलिए १५वीं-१६वीं शताब्दी तक का जैन साहित्य इन तीनों प्रान्तों का एक ही है। आगे चलकर श्वेताम्बरी साहित्य मुख्य रूप से राजस्थानी और गुजराती में तथा दिगम्बरी साहित्य हिन्दी में लिखा गया।'[2] दिगम्बर सम्प्रदाय में अधिकतर लेखक गृहस्थ या श्रावक हैं जो अपने को नवीन रचना का अधिकारी नहीं मानते, अतः इनका अधिकांश साहित्य अनूदित है। मौलिक साहित्य की विपुल सामग्री श्वेताम्बर जैनाचार्यों द्वारा लिखित है।

अन्त में राजस्थानी के प्रसिद्ध लेखक श्री अगरचन्द नाहटा का विचार उद्धृत करके यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि 'मरु-गुर्जर शब्द का प्रयोग पुरानी हिन्दी, प्राचीन राजस्थानी और जुनी गुजराती के अर्थ में ही हुआ है। श्री नाहटा जी का मत है कि तत्कालीन राजस्थानी मालवा-गुजरात तक प्रचलित थी इसलिए उसे मरु-गुर्जर कहना अधिक उपयुक्त है। इसे ही पुरानी हिन्दी और जुनी गुजराती भी कहते हैं।'[3] १३वीं शताब्दी की रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में नाहटा जी ने लिखा है कि कुछ की भाषा अपभ्रंश प्रभावित राजस्थानी है और कुछ की बोलचाल की राजस्थानी है। इनमें से कुछ राजस्थान के अलावा गुजरात में रची गई है, परन्तु दोनों स्थानों में रची गई रचनाओं में भाषा का कुछ अन्तर नहीं है।'[4]

---

१. श्री मो० द० देसाई — जैन गुर्जर क० भाग १ पृ० १०३
२. श्री नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास
३. श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा पृ० १८-१९
४. श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी साहित्य का आदिकाल परम्परा पृ० १६७

इस कालावधि के तमाम लेखकों--शालिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि और विनयचन्दसूरि आदि को डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी का कवि बताया है जबकि हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य-इतिहास ग्रंथ 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इनकी भाषा को पुरानी हिन्दी बताया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब एक ही रचना को भिन्न-भिन्न विद्वान् हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती की रचना बताते हैं तो इससे निष्कर्ष निकलता है कि परोक्षरूप से वे लोग इनकी एकता स्वीकार करते हैं। यह स्थिति १३वीं से १६वीं शताब्दी के कुछ बाद तक भी बनी रही और इनमें इतना कम अन्तर है कि प्रायः एकता का आभास होता है। उदयवन्त मुनि कृत 'गौतम-रासा (वि० सं० १४१२) की भाषा उतनी ही हिन्दी है जितनी गुजराती। इसी प्रकार कल्याणमुनिकृत 'देवराज वच्छराज चउपइ' (वि० सं० १६४३) और मालकवि कृत 'पुरन्दर कुमार चउपइ' बहुत काल तक गुजराती की रचनायें मानी जाती रहीं परन्तु बाद में मुनिजिनविजयजी ने इन्हें हिन्दी का ग्रन्थ घोषित किया है। अतः १३वीं से १९वीं शताब्दी तक की समस्त जैन रचनाओं को मरु-गुर्जर जैन साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणित करना उचित है।

१२वीं-१३वीं शताब्दी में अपभ्रंश से विकसित यह मरु-गुर्जर भाषा एक नवजात शिशु के समान थी जिसका कोई स्थिर रूप नहीं था। इसके अनेक स्थानीय और परिवर्तनशील रूप प्रचलित थे। यह जनभाषा साहित्य की सूक्ष्म अभिव्यक्तियों का भारवहन करने में उस समय असमर्थ थी अतः इसमें अपभ्रंश की शैलियों का अनुगमन होता था। यही कारण है कि आगे भी बहुत समय तक मरु-गुर्जर के साथ अपभ्रंश का समानान्तर प्रयोग प्रचलित रहा। सारांश यह कि इस काल की भाषा में प्राचीन काल से आती हुई अपभ्रंश के साथ मरु और गुर्जर तथा पुरानी हिन्दी के रूप एक साथ प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। फलतः एक ही रचना को कोई अपभ्रंश की, कोई राजस्थानी, कोई गुजराती और कोई हिन्दी की रचना घोषित कर देता है। जेकोबी ने भविष्यदत्त कथा और नेमिनाथचरित की भाषा को गुर्जर अपभ्रंश कहा है, किन्तु कुछ दूसरे विद्वान् इसे अवहट्ट, अवहंस, प्राकृत और षट्मंजरी आदि नाम भी देते हैं। विद्यापति ने अवहट्ट को देसिल बयना, और 'सब जन मिट्ठा' कहा है। लगता है कि स्थानभेद के अनुसार अपभ्रंश से आगे की देशी-भाषाओं के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप और नाम प्रचलित होने लगे थे।

मरु-गुर्जर की उत्पत्ति—'मरु-गुर्जर' शब्द यौगिक है जो मरु और गुर्जर के योग से बना है। अतः इन शब्दों का यहीं पर परिचय देना भी समीचीन होगा। ये दोनों शब्द प्रदेश, भाषा और साहित्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं अतः इनका परिचय उपरोक्त तीनों आयामों में दिया जायेगा।

मरु—राजस्थान का सबसे बड़ा भाग मरु प्रदेश या मारवाड़ है। इस प्रदेश की भाषा का प्राचीन नाम मरुभाषा या मरुवाणी प्राप्त होता है। टेस्सीतोरी की डिंगल यही मरुभाषा है। यह एक महत्त्वपूर्ण भाषा थी। जैनाचार्य उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला (वि० सं० ८३५) में प्रादेशिक भाषाओं के नमूनों के साथ मरुभाषा का भी उल्लेख मिलता है। अबुल-फजल ने 'आईन-ए-अकबरी में मारवाड़ी भाषा को तत्कालीन भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसका साहित्य प्राचीन और समृद्ध है किन्तु यह समस्या भी है कि राजस्थान की किस बोली को राज-स्थानी कहा जाय। राजस्थान में सामन्ती-स्थिति बहुत दिनों तक बनी रही, पूँजीवाद का विकास यहां बाद में हुआ, अतः भिन्न-भिन्न राजस्थानी रियासतों में वहां की स्थानीय बोली-भाषा को प्रोत्साहन दिया गया, समग्र राजस्थान में किसी एक बोली को साहित्यिक गौरव नहीं दिया गया। फलतः समूचे राजस्थान में बहुत समय तक पुरानी हिन्दी या डिंगल-पिंगल में काव्य रचना होती रही।

स्वतन्त्रतापूर्व राजस्थान के विभिन्न प्रदेशों के अलग-अलग नाम थे जिनमें जांगल, सपादलक्ष, मत्स्य, मेदपाट, बागड़, गुर्जरत्रा और मरु विशेष प्रसिद्ध थे। अंग्रेजों ने तमाम छोटे-छोटे राज्यों को एक राजनीतिक इकाई में बांधकर इस समूह का नाम राजपूताना रखा। सन् १९०० ई० में जार्ज टामस ने 'मिलिट्री मेमॉयर्स' में राजस्थान शब्द का प्रयोग किया है। इसके उपरान्त कर्नल टॉड ने राजस्थान का इतिहास लिखा जो अति प्राचीन और गौरवशाली है। प्राचीन मंदिरों, मूर्तियों और शिलालेखों की प्राप्ति यहां सर्वाधिक संख्या में हुई है। यहां के राजदरबारों में देशी भाषा-साहित्य, संगीत और कलाओं को पर्याप्त प्रश्रय मिला। यहां अतिप्राचीनकाल से साहित्य सृजन का कार्य प्रारम्भ होने का प्रमाण प्राप्त होता है। यहीं सर-स्वती नदी के किनारे ऋषियों ने ऋचायें लिखीं, महर्षि कपिल ने यहीं सांख्य मत का प्रवर्त्तन किया। यहां पुस्कर, श्रीमाल आदि अतिप्राचीन तीर्थ हैं। यहां संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी एवं राजस्थानी में

रचित विशाल साहित्य की समृद्ध परम्परा है जो जीवन के सभी पक्षों से सम्बद्ध है।

इस साहित्य के सर्जक मुख्यतया जैन साधु, विद्वान् एवं आचार्य हैं। इनके अतिरिक्त राजाश्रित भाटों, चारणों और सभापंडितों के द्वारा भी प्रभूत साहित्य लिखा गया है जिसमें गद्य और पद्य दोनों विधायें उपलब्ध हैं। यह तो पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में गुर्जरत्रा भी मारवाड़ में सम्मिलित था। राजस्थान के कौड़ीडवाने और श्रीमाल-पुर से प्राप्त शिलालेखों से इस कथन की पुष्टि होती है। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आबू को लेकर विवाद खड़ा हुआ। तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल के प्रभाव से यह भाग उस समय गुजरात में सम्मिलित कर दिया गया। किन्तु बाद में राजस्थान सरकार ने अनेक प्राचीन प्रमाणों के आधार पर इसे राजस्थान का अंग सिद्ध किया और यह पुनः राजस्थान में सम्मिलित कर दिया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजस्थान एवं गुजरात की विभाजक रेखा चाहे वह राजनीतिक, भाषिक या भौगोलिक हो बहुत काल तक मिली जुली थी, दोनों की एकता के प्रमाण अधिक सुलभ हैं।

पूर्वी राजस्थान के ढूंढाड़ और हड़ौती क्षेत्रों का ब्रज-भूमि से सामीप्य होने के कारण यहां की भाषा पर आगे चलकर ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव पड़ा, इसलिए यहां की साहित्य-भाषा ब्रज और राजस्थानी की मिली जुली मिश्र भाषा रही है। इस साहित्य को मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का साहित्य ही कहा जाता रहा है। इस प्रकार राजस्थान के एक ओर हिन्दी क्षेत्र से और दूसरी ओर गुजराती क्षेत्र से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा होने के कारण राजस्थानी साहित्य की भाषा पर हिन्दी और गुजराती का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसलिए इसके कई नाम भी मिलते हैं। टेस्सीतोरी ने जिसे डिंगल कहा था वह वीररसात्मक साहित्य के लिए चारणों द्वारा प्रयुक्त विशेष ओज-गुणसम्पन्न भाषा-शैली थी और मधुरगुण सम्पन्न शृंगार-करुण आदि रसों की रचना के लिए इसी की दूसरी कोमल शैली पिंगल कही जाती थी। हम उसे डिंगल, पिंगल, राजस्थानी, पुरानी हिन्दी आदि जिस भी नामसे पुकारें, सबका मतलब 'मरु-गुर्जर' से है। राजस्थानी की निजी विशेषतायें पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी में ही सुरक्षित है; उदाहरणार्थ भोजप्रबन्ध का निम्न दोहा द्रष्टव्य है।[1] इसमें युद्ध में परा-

१. बनते बन छिपतउ फिरउ, गह्वर बनह निकुंज।
भूखउ भोजन मांगिबा, गोवलि आयउ मूंज। उद्धृत जैन गु. क. भाग १ पृ. ८८

जित मुंज की दयनीय दशा का वर्णन है। इसकी भाषा को अपभ्रंश, मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी भी कहा जाता है।

गुर्जर—यह खेती और पशुपालन करने वाली जाती थी। ह्वेनच्यांग ने (७वीं शती) गुर्जर देश के वर्णन में भीनमाल या श्रीमाल को उसकी राजधानी बताया है। सातवीं से नवीं शताब्दी के बीच जोधपुर राज्य से सटा प्रदेश गुर्जर, गुर्जरत्रा या गुजरात कहा जाने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रदेश का यह नाम गुर्जर जाति के आधार पर ही पड़ा होगा। इस प्रकार के अन्य नामकरणों के उदाहरण मौजूद हैं, जैसे मालव जाति के नाम पर मालवा, राजपूतों के नाम पर राजपूताना या शेखावत के आधार पर शेखावती आदि नामकरण उल्लेखनीय हैं। कनिंघम ने गुर्जरों को यूची या कुशाणवंशी बताया है। विन्सेन्ट स्मिथ इनकी गणना हूणों में करते हैं। जो हो, इन्हीं गुजरों के नाम पर यह प्रदेश गूजरात कहलाया। इसका मध्यकालीन इतिहास देखने से मालूम होता है कि पहले चावड़ावंश, तत्पश्चात् चालुक्य या सोलंकी वंश, फिर बघेला वंश के बाद यहां मुसलमानों का शासन स्थापित हुआ।

गुर्जर भाषा—यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि हेमचन्द्राचार्य के समय तक इस प्रदेश में अपभ्रंश (नागर) भाषा बोली जाती थी। इसके बाद १३वीं से १६वीं शताब्दी के बीच यहां भी मरु-गुर्जर भाषा में जैन साहित्य लिखा जाने लगा। गुजराती भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् ब्रजलालजी झावेरी का कथन है कि गुजराती का सम्बन्ध विशेषतः पुरानी हिन्दी से है। गुजरात के इतिहास-लेखक फार्बस ने लिखा है कि गुजरात के लोग उत्तर भारत से इधर आये। अतः जुनी गुजराती पुरानी हिन्दी का ही नामान्तर सिद्ध होती है। श्री प्राणशंकर जी उपाध्याय नामक एक गुजराती विद्वान् को उद्धृत करते हुए श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने अपने लेख 'गुजरात का हिन्दी साहित्य' में लिखा है "एमा कशो शक नथी के गुजराती भाषा पर ब्रजभाषानो प्रभाव पड्यो न होत, तो आजे गुजराती भाषानुं काईं बीजूं ज स्वरूप बधायो होत।"[1]

वि० १३वीं शताब्दी से मरु-गुर्जर भाषा गुजरात में अपना आधुनिक रूप ग्रहण करने लगी जिसके कारणों पर आगे प्रकाश डाला जायेगा। संस्कृत के तत्सम शब्द भाषा में बढ़ने लगे। जैन लेखक यथाशक्ति ऐसे

१. माधुरी, वर्ष ५ खण्ड २

शब्दों के प्रयोग बचते अवश्य थे किन्तु वे सहज रूप से आते ही गये। भक्ति आन्दोलन के कारण इस प्रवृत्ति को बड़ा बल मिला; अतः काव्यभाषा में कुछ काल तक तत्सम और तद्भव रूप एक साथ चलते रहे जैसे विधुबैनी और चन्द्रवदनि, लोयन और लोचन; मैन और मदन, चरिउ और चरित आदि। श्री गुलेरी जी ने लिखा है कि ७वीं से ८वीं शताब्दी में अपभ्रंश के दो रूप थे; एक परिनिष्ठित, जिसका साहित्य में प्रयोग होता था, दूसरी लोकभाषा, रचनायें इसमें भी होती थी और इस लोकभाषा में ही मरु-गुर्जर (पुरानी हिन्दी) के बीज प्राप्त होते हैं और यही आज की हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती की जननी है।'[1] गुजरात में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया, साथ ही जैनेतर विशेषतया वैष्णव साहित्य भी कम नहीं लिखा गया। हिन्दी के विकास में तो स्वामी दयानन्द, लल्लू जी लाल और म० गांधीजी के योगदान को कभी भुलाया ही नहीं जा सकता।

मरु-गुर्जर की एकता का आधार—वैवाहिक सम्बन्ध, व्यापार, तीर्थ-यात्रा आदि के द्वारा एक स्थान की भाषा दूसरे स्थान तक फैलती है। गुर्जर और राजस्थानी व्यापारी वर्ग तथा जैन धर्मावलम्बी साधुसमाज ने भाषा-एकता को सुदृढ़ किया। जैन मुनि दोनों प्रदेशों में निरन्तर विहार करते थे। राजस्थानी जैनश्रावक भी व्यापार और आजीविका के लिए अधिकाधिक संख्या में गुजरात जाकर बसे। वैसे भी मालवा की बोली राजस्थानी का ही एक रूप है। इसलिए दोनों प्रदेशों की भाषा में पर्याप्त साम्य स्वाभाविक है। गुजरात और मारवाड़ की सीमायें मिली हुई हैं। इसलिए दोनों प्रदेशों की भाषा रचना में १३वीं शताब्दी तक स्पष्ट भेद नहीं दिखाई पड़ता। जैनधर्म के कुछ गच्छों का प्रभाव गुजरात और राजस्थान में समान रूप से पाया जाता है अतः ऐसे गच्छों के लेखकों की भाषा में स्वभावतः राजस्थानी और गुजराती के प्रयोग समान रूप से प्राप्त होते हैं। इसलिए मरु-गुर्जर के आदिकाल (१३वीं से १५वीं वि०) की रचनाओं में भाषा के आधार पर स्थानभेद कर सकना असम्भव है। मध्यकाल (१६वीं से १९वीं वि०) की भी उन तमाम रचनाओं को, जिनमें रचना-स्थान का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, राजस्थानी या गुजराती भाषा की रचना घोषित करना कठिन कार्य है। १५वीं शताब्दी के बाद जनभाषायें अपने-अपने प्रदेशों में अपना स्वतन्त्र विकास अवश्य करने लगी थीं परन्तु उनमें शब्द एवं प्रयोग साम्य इतना अधिक है कि उनकी स्पष्ट पहचान नहीं

१. श्री च० श० गुलेरी—पुरानी हिन्दी पृ० १२

बन पाती। अतः दोनों भाषाओं के साहित्येतिहास के ग्रन्थों में प्रायः एक ही कवि को दोनों ने अपना-अपना लेखक घोषित किया है। स्व० अ० च० नाहटा इसलिए स्पष्ट कहते हैं कि राजस्थानी जैन साहित्य को गुजराती साहित्य से पृथक् करने में बड़ी कठिनाई है।[1] यह स्थिति आदिकाल में ही नहीं वरन् मध्यकाल में भी बहुत कुछ बनी रही।

इन दोनों कालों में दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के आधार परभाषाई,एकता मजबूत हुई, साथ ही इन प्रदेशों की भाषाओं का मूलस्रोत भी एक ही भाषा-पश्चिमी शौरसेनी होने के कारण उनमें मौलिक ऐक्य स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। सं० १२२५ के आसपास लिखित वज्रसेनसूरिकृत ४५ पद्यों की रचना 'भरतेश्वरबाहुबलि घोर' के आधार पर रचित वज्रसेन के पट्टधर शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वरबाहुबलिरास' की भाषा स्पष्ट मरु-गुर्जर का प्राचीन उदाहरण है। जिसे गुजराती राजस्थानी या पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध और मध्ययुगीन (जहाँगीरकालीन) जैनाचार्य भानुचन्द्र आदि की भाषा के नमूने 'तुम पासिथिइं मोहि सुख बहुत होइई' आदि इस प्रकार की भाषा ऐक्य के अन्य उदाहरण हैं। मालदेव ने भोज-प्रबन्ध का निम्न दोहा प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया है कि यह रचना हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती तीनों भाषाओं की है—

"गोकुल काई ग्वारिनी ऊँची बइठी खाटि,
सात पुत्र सातउ बहू दही विलोवति माटि।'

इस प्रकार तीनों भाषाओं की एकता का पुष्ट आधार हमें अनेक साक्ष्यों से प्राप्त होता है।

'मरु-गुर्जर' शब्द की उपयुक्तता—इसके लिए पूर्व प्रचलित शब्द 'पुरानी हिन्दी' में अतिव्याप्ति दोष प्रतीत होता है क्योंकि श्री गुलेरी जी और श्री राहुल जी जैसे विद्वान् मरु-गुर्जर प्रदेश में रचित १० वीं शताब्दी तक की समस्त रचनाओं को पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत परिगणित कर लेते हैं। आधुनिक विद्वान् डॉ० मोतीलाल मेनारिया भी इन प्रदेशों के समस्त जैने-तर साहित्य (डिंगल, पिंगल काव्य साहित्य) को हिन्दी का साहित्य मानते हैं जिससे इन प्रदेशों के विद्वान् सहमत नहीं हो पाते, अतः श्री देसाई जी और श्री नाहटा जी जैसे विद्वान् इसे मरु-गुर्जर कहना ही अधिक समीचीन

१. श्री अ० च० नाहटा—'मध्यकालीन राजस्थानी जैन साहित्य परम्परा', पृष्ठ ५३

मानते हैं। 'आदिकालीन राजस्थानी जैनसाहित्य' में स्व० अ० च० नाहटा का स्पष्ट अभिमत है कि १३ वीं से १९ वीं शताब्दी के बीच राजस्थानी और गुजराती में लिखा गया समस्त जैन साहित्य मरु-गुर्जर जैनसाहित्य है। पुरानी हिन्दी नामकरण कुछ थोड़ी सी जैनेतर रचनाओं जैसे 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', 'प्राकृतपैंगलम्' और कीर्तिलता आदि के आधार पर किया गया था, किन्तु इनके बाद जैन भांडारों से अपार जैन साहित्य प्राप्त हुआ है जो मरु और गुर्जर या मरु गुर्जर भाषा में रचित है अतः इस समस्त साहित्य का सर्वाधिक उपयुक्त नाम 'मरु-गुर्जर' ही है।

मरु-गुर्जर जैनसाहित्य का काल-विभाजन—

वैसे तो कुवलयमालाकथा में ही मरु और गुर्जर का उल्लेख मिलता है किन्तु वस्तुतः मरु गुर्जर में काव्य रचना १३ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। वि० १३ वीं से १५ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश के साथ या अपभ्रंश प्रभावित मरु-गुर्जर का साहित्य भाषा के रूप में प्रयोग होता रहा। अतः मरु-गुर्जर का आदिकाल सं० १२०१ से सं० १५०० तक मान्य है। इसके पश्चात् सं० १५०१ से सं० १९०० तक मरु-गुर्जर का मध्यकाल माना जाता है क्योंकि इस कालावधि में रचित मरु और गुर्जर जैनसाहित्य में बहुतेरी समानतायें हैं। कालविभाजन के सम्बन्ध में अधिकतर विद्वान् इस मत के समर्थक हैं। श्री नरोत्तमदास ने 'किसनरुक्मिणी री वेलि' की प्रस्तावना में राजस्थानी साहित्य का आदिकाल सं ११५० से सं० १५५० तक माना है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी साहित्य' में आदिकाल सं० १०५० से १४५० तक माना है। डॉ० जगदीश प्रसाद ने 'डिंगल साहित्य' में सं० १३०० से १६५० तक आदिकाल की अवधि बताई है जो अधिकतर विद्वानों को मान्य नहीं है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने भी प्राचीन या आदिकाल सं० १५०० तक ही माना है। अतः आदिकाल १५ वीं शताब्दी तक और १६ वीं से १९ वीं तक मध्यकाल प्रायः सर्वमान्य है। २० वीं शताब्दी से इन भाषाओं का साहित्य सर्वथा भिन्न रूप ग्रहण करता है अतः आधुनिक कालीन साहित्य को एक 'मरु-गुर्जर' शीर्षक के अन्तर्गत समेटना न तो संगत है और न संभव। यह उल्लेखनीय है कि यह काल विभाजन किसी युग की किसी विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण नहीं किया गया है क्योंकि जैनसाहित्य सर्वत्र शान्तरस प्रधान और धर्मभावना प्रवण है जिसमें महापुरुषों के चरित्रों के माध्यम से धर्मोपदेश की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है। अतः कालविभाजन का आधार प्रवृत्ति नहीं

भाषा ही है। श्री देसाई ने जै० गु० क० में गुर्जर साहित्य का काल विभाजन प्रमुख लेखकों के आधार पर सोमसुन्दर युग, हीरविजय युग और यशोविजय युग आदि नामों से किया है किन्तु यह निर्विवाद नहीं है। इस प्रसंग में एक उदाहरण पर्याप्त होगा। हीरविजय जी के समकालीन आचार्य जिनचन्द्र को खरतरगच्छीय युग प्रधान मानते हैं और उस काल के जैन साहित्य का नामकरण उनके नाम पर करना चाहें तो अनुचित नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी कारण हैं। अतः कालक्रमानुसार ही इस पुस्तक में इतिहास का वर्णन किया गया है और उसी के आधार पर कालविभाजन स्वीकार किया गया है।

मरु-गुर्जर के प्रति उदासीनता—हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्लने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ में इस साहित्यको उपदेशप्रधान मान कर छोड़ दिया, परन्तु इसमें कोरी उपदेशपरक रचनायें ही नहीं हैं बल्कि साहित्यिक सरसता भी भरपूर प्राप्त होती है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस साहित्य को अनेक कारणों से साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में सम्मिलित किया जाना चाहिये; कोरा धर्मोपदेश समझ कर छोड़ नहीं देना चाहिये।

"धर्म वहाँ केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो उससे वह साहित्य निश्चित रूप में भिन्न है जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो।"[1] इस दृष्टि से मरु-गुर्जर जैन साहित्य धर्म भावना से प्रेरित होते हुए भी उत्तम काव्य है और इसे साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में सम्मानित स्थान मिलना चाहिये। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए, अन्यथा हमारे साहित्य की विपुल सम्पदा चाहे वह स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल की हो या जायसी, सूर और तुलसी की हो, साहित्य के क्षेत्र से अलग कर दी जायेगी। इसलिए धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य-कोटि से पृथक् नहीं की जा सकती। लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। यह न तो जैनों की निजी विशेषता है और न सूफियों की। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म साधना ही रही है और धर्म बुद्धि के कारण ही आज तक प्राचीन साहित्य सुरक्षित भी रह सका है। जैन साहित्य के सन्दर्भ में तो यह कथन शत प्रतिशत सही है।

---

१. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ९

भाव की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मरु-गुर्जर में प्राप्त समस्त जैन साहित्य निश्चय ही एक श्रेणी का है। उसमें सर्वत्र एक विशिष्ट धार्मिक वातावरण मिलता है। जैन कवियों ने धर्म का साहित्य से समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यह सच है कि जिस समय जैन कवि काव्यरस की ओर झुकता है उस समय उसकी कृति सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब धर्मोपदेश का प्रसंग आता है तो वह पद्य-बद्ध उपदेशात्मक कृति बन जाती है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, योगीन्दु, रामसिंह आदि की रचनाओं में निश्चय ही भाव और रस की प्रवणता है किन्तु मरु-गुर्जर जैन साहित्य में ऐसी भी अनगिनत पद्यबद्ध रचनायें हैं जिनमें श्रावकों के लिए आचार, नियम, व्रत आदि की व्याख्या ही की गयी है। देवसेन कृत सावयधम्म दोहा, जिनदत्तसूरि कृत उपदेशरसायनरास आदि ऐसी तमाम रचनाओं का नामोल्लेख किया जा सकता है। जैन साहित्य विपुल और बहुआयामी है। जैनाचार्यों ने न केवल धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर रचनायें कीं बल्कि साहित्य-शास्त्र, काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोष, व्याकरण, गणित, राजनीति, पुराण तथा अन्यान्य विषयों पर विपुल साहित्य-काव्य की नाना विधाओं में नाना छंदों और देसियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

जैन साहित्य का प्रथम परिचय—यह विशाल साहित्य बहुत काल तक बाहरी दुनियाँ के लिए अनजाना था। इसका प्रथम परिचय देने का श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है। सर्वप्रथम सन् १८४५ में अंग्रेज विद्वान् कावेल ने वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया। सन् १८७७ में जर्मन विद्वान् पिशेल ने हेमचन्द्र के व्याकरण का विधिवत् सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया जिससे प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन की दृढ़ नींव पड़ी। पिशेल ने ही सन् १९०० ई० में प्राकृत व्याकरण पर अपना विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रकाशित कर के दुनियाँ के तमाम पाठकों का ध्यान इधर आकृष्ट किया। जर्मनी के दूसरे विद्वान् हर्मन जेकोबी ने विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं के साथ समराइच्चकहा, पउमचरिय आदि का सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। सन् १९१८ में भविस्सयत्तकहा और सन् १९२१ में सनत्कुमार के सम्पादित संस्करणों के प्रकाशन के साथ इस क्षेत्र में अध्ययन की विपुल संभावनाओं का लोगों को अनुमान हुआ।

भारतीय विद्वानों में जैन-प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण कार्य म० म० हरप्रसाद शास्त्री, श्री पी० डी० गुणे, प्रो० हीरालाल जैन, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० बाबूराम सक्सेना, महापंडित राहुल सांकृ-

स्यायन के अलावा सर्वश्री बागची, भायाणी, देसाई, दलाल, उपाध्ये, नाहटा और मुनि जिनविजय आदि मनीषियों ने किया है। अब तो इधर तमाम शोधार्थी कार्यरत हो गये हैं और जैनभांडारों में भी पुरानी रूढ़िवादिता कम होती जा रही है। वे लोग प्रतियाँ प्रसन्नतापूर्वक उपलब्ध कराते हैं तथा अनेक विद्वान् निरन्तर नये नये ग्रन्थों की खोज करके उनका सम्पादन-प्रकाशन कर रहे हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र में अध्ययन का विस्तृत क्षितिज अनुदिन उद्घटित हो रहा है।

मरु-गुर्जर साहित्य का संरक्षण—वैसे तो १२ वीं शताब्दी में समूचे भारत में शैवमत का प्रभाव था किन्तु पूर्वी भारत में तंत्र-मंत्र बहुल बज्रयानी सम्प्रदाय का और पश्चिमी भारत में जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव था। धर्म के नाम पर कोई असहिष्णुता न थी और न कोई उपद्रव। वस्तुतः सर्वधर्मसमभाव की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता रही है जो आजकल खतरे में है परन्तु उस समय कहीं भी धार्मिक विद्वेष नहीं था। दुर्भाग्यवश इसी समय देश पर धर्म के नाम पर मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ हुए और देशवासियों को सताया जाने लगा। इस अशान्ति के समय मध्यदेश का आदिकालीन हिन्दी साहित्य अरक्षित होने के कारण प्रायः नष्ट हो गया किन्तु अधिकांश जैन साहित्य जो अपभ्रंश और उसके बाद मरु-गुर्जर में लिखा गया, जैनशास्त्र भांडारों में सुरक्षित रह गया क्योंकि प्रभावशाली जैनाचार्यों ने मुसलमान शासकों के साथ भी अच्छा सम्बन्ध रखा और उन्होंने तमाम शास्त्र भांडार स्थापित किए। जैनधर्म के सप्त-क्षेत्रों में तृतीय क्षेत्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक साधु एवं श्रावक के लिए पुस्तक लेखन एवं उसका संरक्षण आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है। अतः जैन मन्दिरों और भांडारों में प्रतियों का लेखन तथा संरक्षण प्रधान रूप से होता रहा। इसी क्षेत्र में जैनसंघ द्वारा स्थापित-संचालित सैकड़ों भांडार हैं। जिनमें लाखों प्रतियाँ संग्रहीत हैं। इनमें जैसलमेर का ज्ञानभंडार, बीकानेर ज्ञानभंडार, अभय जैन ग्रंथालय, अनूप पुस्तकालय, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन भांडारों में सुरक्षित हस्तप्रतियों में समस्त उत्तर भारत का महत्त्वपूर्ण इतिहास सुरक्षित है। इतिहास केवल राजाओं और शासकों का ब्यौरा नहीं बल्कि सन्तों, साहित्यकारों तथा सामान्य जनता और उसकी संस्कृति का प्रमाणिक अभिलेख है जो इन प्रतियों में प्रामाणिक रूप से संग्रहीत है। यहाँ अप्रामाणिकता का प्रश्न इसलिए नहीं उठता क्योंकि ये प्रतियाँ धर्म-बुद्धि से प्रेरित अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सत्य तथ्यों पर आधारित हैं।

इस साहित्य द्वारा हम राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी का सही विकास-क्रम जान सकते हैं। हिन्दीप्रदेश में हिन्दू नरेशों के संरक्षण में प्रायः संस्कृत में जो साहित्य लिखा गया वह मुस्लिम आक्रमण के समय नष्ट हो गया किन्तु जैन शास्त्र-भांडारों में प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक दशक की प्राचीनतम प्रतियाँ सुरक्षित बच सकी हैं। इसलिए इनके आधार पर विभिन्न स्थानों में समय-समय पर ज्यों-ज्यों भाषा-बोलियों का क्रमिक विकास हुआ उसकी सटीक जानकारी प्राप्त हो जाती है, जबकि अन्य साहित्य की उतनी प्राचीन एवं प्रामाणिक प्रतियाँ उपलब्ध न होने के कारण मूलग्रन्थ के वास्तविक पाठ और उसकी भाषा का मूल स्वरूप निर्धारित करना कठिन है।

कोई भाषा और साहित्य तीन प्रकार से सुरक्षित रह सकता है, (१) राज्याश्रय, (२) धर्माश्रय और (३) जनाश्रय द्वारा। तत्कालीन हिन्दीप्रदेश में हिन्दी को न राज्याश्रय और न धर्माश्रय प्राप्त था; उसे केवल जनाश्रय पर रहना पड़ा। अतः मध्यदेश या हिन्दीभाषी प्रदेशों का तत्कालीन प्रामाणिक साहित्य बहुत कम उपलब्ध है, जबकि धर्माश्रय और राज्याश्रय के कारण मरु-गुर्जर साहित्य प्रभूत मात्रा में और अविकृत रूपमें सन्, संवत्वार उपलब्ध है। हिन्दी क्षेत्र पर उन दिनों गहड़वालों का आधिपत्य था. वे इस क्षेत्र के बाहर से आये थे; यहाँ की भाषा-बोली से प्रारम्भ में उनका लगाव कम था। उन्होंने संस्कृत कवियों को प्रश्रय दिया। बाद में जब दामोदर भट्ट जैसे भाषाकवियों का आदर शुरू हुआ तभी उनका शासन समाप्त करके मुसलमानों ने सत्ता हथिया ली। दूसरी ओर राष्ट्रकूट, परमार, सोलंकी राजा गुजरात, मालवा और राजस्थान में लगातार अपनी भाषा और साहित्य को संरक्षण देते रहे।

जैन धर्माचार्यों ने भी देशभाषा को विकसित-संवर्धित करने में अनुपम योगदान दिया। इसलिए मरु-गुर्जर की कहानी अन्य देशी भाषाओं की कहानी से सर्वथा भिन्न है। गुजरात और राजस्थान में जैनधर्म और जैन साहित्य को पनपने-फैलने का सुअवसर राज्याश्रय के कारण मिला। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं के मंत्री प्रायः जैन श्रेष्ठि-श्रावक हुआ करते थे। इनके यहां जैन मुनियों और कवियों का सम्मान होता था। बरार में जैनवैश्यों की बहुलता थी। उन्होंने अपभ्रंश और मरु-गुर्जर के प्रचार-प्रसार का भरसक प्रयत्न किया। जब राष्ट्रकूटों का पतन हुआ तो गुजरात में सोलंकी शासकों के राज्यकाल में जैनधर्म और देशीभाषा में लिखित जैन

साहित्य के लिए बड़ा अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ। यदि स्वयंभू और पुष्पदंत राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में पनपे तो हेमचन्द्र को सोलंकी, सिद्धराज और कुमारपाल का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। इस प्रकार राज्याश्रय और धर्माश्रय में मरु-गुर्जर जैन साहित्य का लेखन और संरक्षण बड़े यत्नपूर्वक पूज्यभाव से किया गया। यही कारण है कि इसका प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण का क्रमबद्ध साहित्य अपने मूलरूप में सुरक्षित मिलता है जिसके आधार पर देश-भाषाओं का विकास और अपनी संस्कृति के विभिन्न आयामों—साहित्य, धर्म, दर्शन एवं रीति-रिवाज—आदि का अध्ययन हम सुविधापूर्वक कर सकते हैं। इस भाषा में लिखा हुआ विशाल-साहित्य विविध काव्यरूपों में प्राप्त होता है जिसकी प्रशंसा पं० मदनमोहन मालवीय, विश्वकवि रवि ठाकुर और डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या आदि मनीषियों ने किया है। ग्रियर्सन ने इसकी प्रशंसा में कहा था कि इसमें विपुल ऐतिहासिक महत्त्व का साहित्य भरा पड़ा है।[1]

मरु-गुर्जर का उद्भव—जैन विद्वानों का लक्ष्य धर्म को जनसाधारण तक पहुँचाना था अतः उन्होंने साहित्य का माध्यम प्राकृत एवं अपभ्रंश और उसके पश्चात् मरु-गुर्जर को बनाया। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपने-अपने क्षेत्र में अपभ्रंशों से ही हुआ माना जाता है। अपभ्रंश भाषा १२वीं शताब्दी के बाद देशभाषाओं के रूप में परिवर्तित होने लगी थी। वि० सं० ८६५ में जालौर में जैनाचार्य उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ लिखा और १६ प्रादेशिक भाषा-भेद बताये। इससे प्रकट होता है कि ९वीं-१०वीं शताब्दी से ही प्रादेशिक भेद उल्लेखनीय हो गये थे, फिर भी यह निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश कहाँ समाप्त हुई और पुरानी हिन्दी, मरु-गुर्जर कहाँ से प्रारम्भ हुई। अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन्हें अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी या मरु-गुर्जर का उदाहरण भी माना जा सकता है। संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत होने के कारण इनके मूलस्वरूप की बहुत कुछ सुरक्षा हो सकी अन्यथा मुख-सुख के लिए बदलते-बदलते इनका ऐसा रूप बन जाता कि इनके प्राचीन मूलरूप को जानना असम्भव हो जाता जैसे संस्कृत का 'उत्पद्यते' शब्द प्राकृत में उप्पजइ और घिसते-घिसते मरु-गुर्जर में 'उप्पजए' हो गया। इस 'उप्पजइ' को अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी, मरु-गुर्जर का रूप आसानी से घोषित किया जा सकता है जिससे हिन्दी 'उपजै' और गुजराती 'उपजे' रूप इस समय पर चल रहा है।

1. There is enormous mass of literature in various forms in Rajasthani of considerable historical importance—G. A. Grierson.

मरु-गुर्जर के स्वतन्त्र विकास का कारण—वि० सं० की १२वीं शताब्दी के बाद अपभ्रंशों से देशीभाषाओं का अलग-अलग विकास प्रारम्भ हो गया। हेमचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के कुछ ही दशकों पश्चात् भारत में राजनीतिक उथल पुथल प्रारम्भ हो गयी। राष्ट्रीयस्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप विभिन्न प्रदेशों का पारम्परिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया। जनता का पारस्परिक मिलना-जुलना, अन्त-र्प्रान्तीय व्यापार-कारोबार क्रमशः कम होने लगा। इसलिए अलग-अलग प्रदेशों की राजनीतिक सीमा के भीतर वहाँ की जनभाषाओं का एकान्तिक विकास प्रारम्भ हो गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में तत्कालीन भाषा के पद्यों का नमूना दिया है। उनको देखकर हम तत्कालीन भाषा का स्वरूप जान सकते हैं; एक दोहा उदाहरणस्वरूप यहाँ दिया जा रहा है—

विट्टीए मइ भणिय तुहुँ मां कुरु वंकी दिट्ठि।
दुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हियइ पइट्ठि।'

इसमें अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी सभी के पूर्वरूप ढूँढ़े जा सकते हैं। यह विकास-प्रक्रिया १५वीं शताब्दी तक अपना चक्र पूराकर लेती है और राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी के नये शब्दरूप-प्रयोग सामने आ जाते हैं जैसे प्राचीन रूप अइ, अउ के स्थान पर नवीन रूप ऐ, औ प्रतिष्ठित हो गये थे। इसका भाषावैज्ञानिक दृष्टि से संक्षिप्त परिचय हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

मरु-गुर्जर की उत्पत्ति का इतिवृत्त हृदयंगम करने के लिए हमें इससे दो पीढ़ी पहले की पूर्वज भाषाओं से परिचित होना पड़ेगा। उत्तरभारत की आर्यभाषा-परम्परा में सबसे प्राचीन भाषा वैदिकछान्दस् की भाषा मानी जाती है। इसका प्रवाह प्राकृत भाषाओं में गतिमान रहा किन्तु संस्कृत में आकर पाणिनि के व्याकरण द्वारा वह प्रवाह मर्यादित हो गया। वैदिक भाषा में देवाः और देवासः दोनों रूप मिलते हैं किन्तु संस्कृत (लौकिक) में केवल देवाः स्थिर हो गया। इसी प्रकार अधिकरण स्मिन्, संस्कृत के सर्व-नाम तक सीमित हो गया किन्तु प्राकृत में 'म्मि', 'म्हि' से होता हुआ हिन्दी के में और गुजराती के मां तक पहुँचा है।

प्राकृत

जैसा पूर्वोल्लिखित है कि ऋग्वेद में छान्दस् भाषा के साथ प्राकृत रूप भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर इनकी परम्परा जैनसूत्रों

की मागधी, बौद्ध ग्रन्थों की पालि, अशोककी धर्मलिपियों, ललितविस्तर की गाथाओं, शिलालेखों और सिक्कों में फैलती-फूलती मिलती है। जैनसूत्रों की भाषा को मागधी या अर्धमागधी प्राकृत कहा गया है। प्राकृत के अन्य कई प्रादेशिक रूप भी बताये गये हैं जैसे शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि। बौद्धसाहित्य की पालि-प्राकृत में संस्कृत का सहारा अधिक लिया गया। इसी प्रकार की भाषा शिलालेखों और सिक्कों पर भी मिलती है अतः शुद्ध प्राकृत का नमूना जैनसूत्रों में ही प्राप्त होता है। संस्कृत नाटकों में यत्र-तत्र जो सामान्य पात्रों द्वारा प्राकृत के संवाद कहलाये गये हैं श्री गुलेरी आदि विद्वानों ने उसे बनावटी बताया है। प्राकृत भाषा की प्रकृति को ठीक प्रकार से समझे बिना ही कुछ थोड़े से हेर-फेर करके संस्कृत के आधार पर ही प्राकृत का व्याकरण भी गढ़ा गया है। व्याकरणबद्ध होकर यह प्राकृत भी आगे चल कर केवल साहित्यिक भाषा के रूप में रूढ़ हो गई। वह पंडितों की शिष्ट भाषा बन गई जिसे बहुत मधुर ललित भाषा भी कहा गया है किन्तु वह जनता के बोलचाल की भाषा से कट गई थी। जैनाचार्यों ने प्राकृत में धर्म-ग्रन्थ एवं साहित्य-ग्रन्थ लिख कर इसे बड़ा सम्मान दिया।

जैन साहित्य में प्राकृत

डॉ० हीरालाल जैन का कथन है कि प्राकृत को शोध कर संस्कृत बनाई गई।[1] आगे चलकर प्राकृत में जो साहित्य लिखा गया, उस पर संस्कृत का बहुत प्रभाव पड़ा किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि प्राकृत-संस्कृत से उत्पन्न हुई है। पाणिनि के समय विद्वानों पर संस्कृत का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे लोग अपने बोलचाल की भाषा की परवाह न करके हजारों वर्षों तक संस्कृत में ही पठन-पाठन एवं साहित्य सृजन करते रहे। कभी-कभी तो ये पंडितजन प्राकृत के प्रति अनादरपूर्वक यहाँ तक कह दिया करते थे कि 'भाषा रंडायाः किम् प्रयोजनम्', किन्तु आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व बौद्ध और जैन समाज ने इसमें साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया। जैनाचार्यों ने प्राकृत को धर्म-प्रचार का वाहन बना कर इसमें प्रचुर साहित्य लिखा। प्राकृत का प्रकृत रूप इन्हीं रचनाओं में सुरक्षित है। वे बनावटी प्राकृत के स्थान पर बोलचाल की प्राकृत को अधिक महत्त्व देते थे। उनका प्राकृत के प्रति विशेष उत्साह इसलिए था कि वह आम जनता के बोलचाल की भाषा थी जिसे बाल, स्त्री, मन्द सभी समझ सकते थे—

---

१. हीरालाल जैन—जैन साहित्य में हिन्दी की जड़, प्रथम भाग

'बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणं।
अनुग्रहार्थतत्त्वज्ञैः सिद्धान्त प्राकृत कवः ॥'[1]

कहा जाता है कि उक्त छन्द विक्रमादित्य के आश्रित विद्वान् तर्कवादी सिद्धसेन को लक्ष्य करके उसे वाद में पराजित करने वाले 'वृद्धवादि' ने कहा था और उन्हें जैन सिद्धान्तग्रन्थों को संस्कृतबद्ध करने से विरत किया था वि० सं० पूर्व छठी से पहली शताब्दी तक की प्राकृत भाषा का प्रकृत-स्वरूप हम जैनसूत्रों और जैनागमों में उपलब्ध होता है। उस समय की मागधी, अर्द्धमागधी का ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सूत्रग्रन्थों से अधिक प्रामाणिक अन्य कोई साधन नहीं है। कुछ सहायता बौद्ध पालि साहित्य और अशोक की धर्म लिपियों से भी मिल सकती है किन्तु विक्रम संवत् की पहली शताब्दी से छठीं शताब्दी तक की भाषाओं के ज्ञान के लिए पुनः हमें जैनाचार्यों की शौरसेनी-महाराष्ट्री मिश्रित प्राकृत की रचनाओं का ही अवलम्बन लेना पड़ेगा। विक्रम की नवीं से १२ वीं शती तक की जन भाषाओं का नाम अपभ्रंश प्रचलित हो गया और इनका अध्ययन करने के लिए तो एकमात्र जैन साहित्य ही सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत सिद्ध हो चुका है। आचार्य कुन्दकुन्द, विमलसूरि (पउमचरिय), हरिभद्रसूरि (समराइच्चकहा), उद्योतन सूरि (कुवलयमालाकहा) आदि कुछ प्राचीन प्रामाणिक लेखकों की रचनायें तत्कालीन भाषा का सही स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। इसीलिए डॉ० जेकोबी ने लिखा है "जैनाचार्यों ने प्राकृत को यदि न अपनाया होता तो इसका आज हमें पता भी न चलता।"[2]

मो० द० देसाई भी प्राकृत को संस्कृत का पूर्ववर्ती मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि हेमचन्द्र ने किसी आधार का अनुगमन करके 'प्रकृतिः संस्कृतम् तत्रभवं गतं आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्राकृत का मूलाधार संस्कृत है और उससे जो उत्पन्न हुई या निकली वह प्राकृत है, यह लिख कर एक स्थायी भ्रम उत्पन्न कर दिया है। वस्तुतः संस्कृत शब्द स्वयं संस्कार का सूचक है। जनसाधारण की प्रकृत भाषा प्राकृत को संस्कारित करके शिक्षितों ने संस्कृत को साहित्य का माध्यम बनाया होगा। जैनसूत्रों में तो अर्धमागधी, मागधी

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० २१।
2. Had in not been for the Jainas, we would never have known, what 'Prakrit Literature was'

उद्धृत—जै० गु० क०, भाग १ पृष्ठ १९..

को ही सर्वप्रथम और सर्वप्रधान भाषा बताया गया है किन्तु प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रमुख प्राकृत बताया है। इसमें भी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। पद्यात्मक साहित्य सट्टक, नाटक आदि साहित्यरूपों में शौरसेनी में भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, गुणाढ्य की बृहतकथा पैशाची में मिली है किन्तु प्राकृत का सर्वाधिक सम्बन्ध जैन लेखकों से ही है। धर्म के आधार पर इस भाषा का जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी नामकरण इसके जैन धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का ही द्योतक है।

जैन प्राकृत साहित्य की विशेषतायें—जैन प्राकृत साहित्य की धारा अखंड और अटूट है। यह प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में उपलब्ध है। इसका सातत्य कभी खंडित नहीं होता। यह प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के पश्चात् मरु गुर्जर में निरन्तर प्रवाहमान है। इसके प्रमुख रचनाकारों में विमलसूरि (पउमचरिय ३री शताब्दी), पादलिप्ताचार्य (५वीं शती, तरंगवती), संघदासगणि (वसुदेवहिंडी) आदि उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक प्राकृत में प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों काव्यरूपों में प्रचुर साहित्य लिखा गया है। हालसातवाहन कृत गाथासप्तशती शृंगार रस की अनुपम कृति है। जयवल्लभकृत वज्जालग्ग, प्रवरसेनकृत सेतुबन्ध, वाक्पतिराजकृत गौड़वहो, कौतूहलकृत लीलावती आदि कुछ उल्लेखनीय प्राकृत रचनायें हैं। वरांगचरित, प्रबन्धचिन्तामणि आदि कुछ ग्रन्थों में प्राकृताभास संस्कृत मिश्रित एक विशेष भाषा-शैली पाई जाती हैं।

प्राकृत-व्याकरणग्रन्थों में मागधी और महाराष्ट्री की तुलना में शौरसेनी का विवेचन कम हुआ है किन्तु हिन्दी और उसकी प्रमुख बोलियों—ब्रज, खड़ी तथा राजस्थानी से शौरसेनी का ही ज्यादा निकट का सम्बन्ध है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (१० वीं शती) में भाषाओं का क्षेत्र बताते हुए लिखा है कि मध्यदेश का कवि सर्वभाषाविद् होता है। कुरु प्रदेश से प्रयाग तक, पांचाल-शूरसेन और मरु तथा अवंती तक शौरसेनी का प्रचार-प्रसार था। इसी शौरसेनी प्राकृत का विकास आगे चल कर शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में हुआ जिससे हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती का या तो सीधे या किसी प्रादेशिक रूप से विकास हुआ है।

चाहे शौरसेनी प्राकृत हो या अपभ्रंश हो इसका प्रचार-प्रसार व्यापक क्षेत्र में रहा। कहा जाता है कि द्वापर में श्री कृष्ण अपने तमाम यदुवंशियों के साथ मथुरा से द्वारका (गुजरात) जाकर बस गये थे, यदि यह आख्यान

सत्य हो तो शूरसेन से गुजरात की संस्कृति और भाषा में एक सीमा तक अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। इस प्राचीन आधार के अतिरिक्त आगे चल कर १६ वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप एक बार पुनः व्रजभूमि की भाषा वल्लभ सम्प्रदाय के साथ राजस्थान व गुजरात तक फैली। परिणामतः मथुरा से गुजरात तक कृष्णभक्तिकाव्य का एकमात्र माध्यम व्रजभाषा हो गई जो थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ स्थानीय भाषाओं के साथ दीर्घ कालतक प्रयुक्त होती रही। इसप्रकार प्राचीन काल से लेकर १५वीं १६ वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण मध्यदेश से लेकर राजस्थान, गुजरात तक की साहित्य भाषा या तो शौरसेनी प्राकृत रही या शौरसेनी अपभ्रंश रही अथवा आगे चल कर पुरानी हिन्दी या मरु-गुर्जर हो गई जिसे स्थानीय भेद और शैली के आधार पर डिंगल, पिंगल, अवहट्ट आदि नाम भी दिये गये हैं।

प्राकृतों का समय वि० की ६ ठीं शताब्दी तक समाप्त माना जाता है। उसके बाद उसका परिवर्तित-विकसित रूप अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुआ। इसके भी कई स्थानीय भेद थे। इन्हीं से मरु-गुर्जर और हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती का विकास हुआ है, अतः अपभ्रंश के सम्बन्ध में थोड़ा अधिक ध्यानपूर्वक विचार की आवश्यकता है।

अपभ्रंश

अपभ्रंश का शब्दार्थ और इतिहास

अपभ्रंश शब्द का अर्थ है भ्रष्ट, बिगड़ी या विकृत। इस अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग व्याकरण महाभाष्य के रचयिता पतंजलि ने ई० पू० दूसरी शताब्दी में किया है, "एकैकस्यहि शब्दस्य वहवोऽपभ्रंश तद्यथा। गौरिन्यस्य शब्दस्य गावी, गोवी, गोता, गापोतालिके त्येवमादयोऽपभ्रंशाः।" यहाँ अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं है बल्कि मूल भाषा में विकृति या भ्रष्टता का सूचक है। डॉ० नामवर सिंह ने बताया है कि पतंजलि से भी पूर्व इस शब्द का प्रयोग भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' में किया है। इसी अर्थ में भरत ने (२ री शती) में विभ्रंश या विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है किन्तु आगे उन्होंने 'आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडादिषु' कह कर आभीरोक्त विभाषा का भी संकेत किया है। उन्होंने इसका लक्षण और क्षेत्र भी बताया है। 'हिमवत् सिंधु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः, उकार बहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्।' यह उकार बहुला आभीरों की विभाषा हिमवत् सिन्धु सौवीर से बढ़ कर आगे चल कर अपभ्रंश भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई

और विस्तृत प्रदेश में फैल गई। वलभी के राजा धरसेन ने अपने शिलालेख में अपने पिता गुहसेन (छठीं शती) को संस्कृत, प्राकृत के साथ अपभ्रंश की प्रबन्ध रचना में भी निपुण बताया है अर्थात् छठीं शताब्दी तक अपभ्रंश में काव्य रचना भी प्रारम्भ हो गई थी। इसलिए अपभ्रंश साहित्य का प्रारम्भ छठीं शताब्दी से मानने के पक्ष में अधिकतर विद्वान् सहमत हैं। काव्योपयोगी भाषा के रूप में इसका उल्लेख छठीं शताब्दी में ही भामह ने भी किया था। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्विधं। संस्कृतं, प्राकृतं चान्यदपभ्रंशं इति त्रिधा।"[1] इसमें तीन प्रमुख भाषाओं की चर्चा है जिनमें गद्य, पद्य लिखा जा रहा था। इसके बाद ८वीं शताब्दी में दंडी ने चार भाषाओं के साथ अपभ्रंश को भी सम्मानपूर्वक स्थान दिया। ९ वीं में रुद्रट ने अपभ्रंश के प्रदेशों के आधार पर कई भेद भी गिनाये अर्थात् नवीं शताब्दी तक इसका विस्तार कई प्रदेशों में हो चुका था और वहाँ इसकी स्वतन्त्र प्रादेशिक शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं। यह इसके विकास की प्रौढ़ावस्था का सूचक है।

अपभ्रंश का पुष्कल उल्लेख १० वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य राजशेखर ने किया है। उन्होंने काव्य पुरुष का इसे जघन बताया है "शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहु जघनमपभ्रंशः।" साथ ही राजदरबार में संस्कृत, प्राकृत के कवियों के साथ अपभ्रंश के कवियों को राजवेदिका की पश्चिम दिशा में सम्मानित आसन प्राप्त होने का भी उल्लेख किया है। इन कवियों के आसन के पीछे चित्रकार, रंगकार, रत्नकार, कसबी, सोनी, सुनार, लुहार आदि कारीगरों के बैठने का उल्लेख इस बात का सूचक है कि यह भाषा वणिकों, कारीगरों और सामान्य जनता की भाषा थी और इनका इसे व्यापक समर्थन प्राप्त था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि परिचारक वर्ग अपभ्रंश भाषा प्रवीण होता है "अपभ्रंशप्रवीणः परिचारक वर्ग।" इससे स्पष्ट है कि जनता के मध्यम और निम्न वर्ग के बीच इसका व्यापक प्रचार था, अर्थात् यह जन भाषा थी। यह संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों की तरह कृत्रिम या किताबी भाषा नहीं थी बल्कि लोकप्रिय, जन-प्रचलित आम भाषा थी। इसका प्रसारक्षेत्र समस्त मरु, ढक्क और भादानक तक था। "सापभ्रंश प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।" इसके अलावा सौराष्ट्र और त्रवण (पश्चिमी राजस्थान) के कवि भी अपभ्रंश प्रयोग में पटु बताये गये हैं। इस प्रकार यह बहुत बड़े क्षेत्र की सामान्य

१. काव्यालंकार १, १६, २८

जनता में प्रचलित जनभाषा बन चुकी थी। रुद्रट के रुद्रालंकार—सूत्र की टीका करते हुए नमिसाधु ने ११ वीं शती में लिखा है कि इसका लक्षण लोक व्यवहार से जाना जाय 'तस्य च लक्षणं लोकादेवसम्यगवधेयम्' अर्थात् नमिसाधु के समय यह लोक प्रचलित जीवन्त भाषा थी। नमिसाधु ने इसके उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन भेद भी गिनाये हैं; वे यह भी बताते हैं कि यह अब तक सिन्धु, मुलतान से चल कर मगध तक फैल चुकी थी अर्थात् समस्त उत्तरभारत में प्रचलित भाषा थी।

व्याकरण ग्रन्थों में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग वररुचि (३री शती) के प्राकृत-प्रकाश मे नहीं मिलता। इससे यह स्पष्ट है कि ३री शती तक यह साहित्य की भाषा नहीं बन सकी थी अतः व्याकरणकारों को उसके विवेचन की आवश्यकता नहीं थी। छठीं शताब्दी में चण्ड ने इसका उल्लेख किया है इससे प्रकट होता है कि इस समय तक इसका साहित्य में प्रयोग होने लगा था, वाग्भट्ट ने अपने ग्रन्थ वाग्भट्टालंकार के दूसरे परिच्छेद में 'संस्कृतं, प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूत भाषितं' कह कर इसका संस्कृत, प्राकृत के समान ही महत्त्व घोषित किया है।

हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत दोहों से भी यह सिद्ध होता है कि ११वीं-१२वीं शताब्दी तक यह भाषा बड़े व्यापक क्षेत्र की साहित्यभाषा थी। हेमचन्द्र ने १२ वीं शताब्दी में जब इसे व्याकरण के नियमों में बाँध दिया तो यह मात्र साहित्य की भाषा रह गई तथा लोकभाषा के रूप में इसका प्रयोग अवरुद्ध हो गया। हेमचन्द्र के अतिरिक्त लक्ष्मीधर और मारकण्डेय ने भी इसका व्याकरण बनाया। प्रसिद्ध लेखक तारानाथ का अभिमत है कि बौद्ध त्रिपिटक के संस्करण पालि के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश में भी लिखे गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरी शताब्दी की यह आभीरादिगिरा[1]

१. अपभ्रंश के प्रभाव विस्तार के साथ आभीरों का नाम जुड़ा हुआ है, इनका उल्लेख महाभारत, कामसूत्र, विष्णुपुराण, पउमचरिय और प्रयाग तथा नासिक के शिलालेखों में मिलता है। जब अर्जुन, कृष्ण की विधवाओंको लेकर जा रहे थे तो पंचनद प्रवेश के समय आभीरों ने आक्रमण कर उन्हें लूट लिया था। इन्हें यवन, दस्यु और पराक्रमी कहा गया है। क्षत्रप रुद्र दामन के लेख (ई० १८१, नासिक गुंफा) में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा का उल्लेख है। लगता है कि ये ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास बाहर से आकर पश्चिमोत्तर प्रदेशों में फैलते हुए मथुरा तक आ पहुंचे थे। पशु-पालन इनकी प्रधान जीविका थी। कुछ विद्वान् आभीरादि गिरा में ऊकार

एक स्थानीय बोली से बढ़ कर १२ वीं शताब्दी तक एक लोक भाषा और काव्यभाषा की लम्बी यात्रा सफलतापूर्वक पूरा कर लेती है। छठीं से १२ वीं शताब्दी की अवधि को ग्रियर्सन और सुनीति कुमार आदि भाषाविदों ने आर्य भाषा का मध्यकाल कहा है। यही अपभ्रंश भाषा का युग है। १२ वीं शताब्दी इसके लोकप्रचलन का अन्तिम छोर है, उसके बाद अपभ्रंश से मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का विकास प्रारम्भ हो गया और विकास की यह प्रक्रिया १५ वीं शताब्दी तक चलती रही जिसके पश्चात् हिन्दी, राजस्थानी गुजराती आदि का स्पष्ट रूप प्रचलित हुआ। इस संक्रमण काल की भाषा का नाम मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी है। अतः मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी की भाषावैज्ञानिक विशेषताओं को जानने के लिए उसकी पूर्वज भाषा अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त करना भी अपेक्षित है। अपभ्रंश का व्याकरण हेमचन्द्र[1] ने बनाया और अपभ्रंश के सन्दर्भ में वे उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं जिस प्रकार संस्कृत के सन्दर्भ में पाणिनि।

बहुला आभीरी और गुर्जर को भी सम्मिलित करते हैं। गुर्जर भी पशुपालन करने वाली एक घुमक्कड़ जाति थी। पशुपालन और कृषि करने वाली इन जातियों—आभीर, गुर्जर, जाट आदि का सिन्धु से मथुरा तक विस्तार हो गया था। इनकी प्रभाव-वृद्धि के साथ इनकी भाषा भी विस्तृत क्षेत्र में फैल कर काव्यभाषा बन गई। समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले लेख में गुप्तसाम्राज्य के पश्चिम में बसी इन्हें एक प्रबल जाति कहा गया है। अहिरवार (झांसी) अहिरौरा (मिरजापुर), असीरगढ़ आदि नाम इनके प्रसार एवं प्रभाव के सूचक हैं। ये संस्कृत का उच्चारण अपने ढंग से करते होंगे इसी से आचार्यों ने इनकी भाषा का विशेष लक्षण 'ऊकार बहुला' बताया होगा।

१. आचार्य हेमचन्द्र का जन्म सं० ११४५ में उनकी दीक्षा सं० ११५४ में तथा उन्हें सूरिपद ११६६ में प्राप्त हुआ। आपका जन्म नाम चंगदेव, दीक्षानाम सोमचन्द्र और सूरिपद प्राप्ति के बाद हेमचन्द्र नाम प्रसिद्ध हुआ। आप चालुक्य शासक सिद्धराज जयसिंह द्वारा सम्मानित तथा कुमारपाल के गुरु थे। आपकी अगाध विद्वत्ता के कारण आपको 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्राप्त थी। आपने 'सिद्धहैम' नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ के अलावा, द्वयाश्रय काव्य और अन्य कई विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा। आपके व्याकरण के सात अध्यायों मे संस्कृत का, आठवें अध्याय में चतुर्थ पाद के ३२९वें सूत्र से लेकर अन्तिम ४४८वें सूत्र तक अपभ्रंश का व्याकरण लिखा गया है। अपने व्राचड को सिन्धु देश की भाषा

अपभ्रंश भाषा की सामान्य प्रवृत्तियां—भाषाओं के सम्बन्ध में यह आमधारणा है कि एक परिवार की भाषायें किसी एक आदिभाषा से उत्पन्न होती हैं। वह आदि या मूलभाषा जब अपने क्षेत्र से बाहर विशाल प्रदेश में फैलती है तब उसमें स्थानीयभेद उत्पन्न हो जाते हैं। अपभ्रंश के सम्बन्ध में भी ऐसी ही धारणा है कि इसका विकास प्राकृतों के आधार पर हुआ है और प्रत्येक प्राकृत को अपभ्रंश से होकर गुजरना पड़ा होगा किन्तु प्राचीन पंडितों ने अपभ्रंश के तीन भेद—नागर, उपनागर और ब्राचड़ का ही प्रायः उल्लेख किया है। डॉ० तगारे ने पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी अपभ्रंश की चर्चा अपभ्रंश-व्याकरण में की है। उन्होंने पूर्वी अपभ्रंश में सरह, कण्ह के दोहा-कोष तथा चर्यापदों को, दक्षिणी अपभ्रंश में पुष्पदंत और मुनि कनकामर आदि की रचनाओं को तथा पश्चिमी अपभ्रंश में जोगीन्दु, रामसिंह और धनपाल आदि की कृतियों को सम्मिलित किया है। पूर्वी अपभ्रंश को बंगला, मैथिली और भोजपुरी का पूर्वज कहा गया है किन्तु इनके काव्यसाहित्य पर मागधी अपभ्रंश की अपेक्षा शौरसेनी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है क्योंकि एक समय पश्चिम से पूर्व तक समूचे उत्तर भारत की काव्यभाषा शौरसेनी हो गई थी और प्राप्त साहित्य उसी भाषा का है इसलिए हेमचन्द्र की अपभ्रंश और दोहा-कोष की अपभ्रंश में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। रही दक्षिणी अपभ्रंश, वह तो डॉ० तगारे के अनुमान पर ही आश्रित है। सत्य तो यह है कि बरारवासी पुष्पदन्त और कनकामर की भाषा भी परिनिष्ठित पश्चिमी अपभ्रंश ही है। १२वीं शताब्दी तक काव्यभाषा के रूप में केवल शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश का ही प्रयोग गुजरात से बंगाल और शूरसेन से बरार तक होता रहा।

पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश तत्कालीन उत्तरी भारत की शिष्ट और साहित्यिक भाषा शौरसेनी प्राकृत का वह परवर्ती विकास है जो गुजरात और राजस्थान की बोलियों से मिश्रित था और जिसे नागर अपभ्रंश कहा जाता था। इस नागर अपभ्रंश की स्थानीय शाखा गौर्जर अपभ्रंश है जिसका परवर्ती विकास डा० तेस्सीटोरी के अनुसार जूनी गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी के रूप में हुआ था। इस प्रकार नागर अपभ्रंश से

और रेफयुक्त आभीरी कहा है। लगता है कि उस समय तक यह सिन्धु देश में ही बोलचाल की भाषा थी अन्यत्र परिनिष्ठित भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी थी।

मरुगुर्जर और इसी की एक प्रादेशिक शाखा 'अवंती' से मालवी बोली का विकास हुआ, नागर अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से पूर्वी राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली का विकास बताया गया है।[1] यहां यह उल्लेखनीय है कि आ० हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण बनाते समय शौरसेनी को ही आधार माना है। मारकण्डेय ने अपने व्याकरण में जिस नागर अपभ्रंश का उल्लेख किया है वह शौरसेनी का ही एक रूप है। इसका नाम नगर-वासी या गुजरात के नागर ब्राह्मणों या वृद्धनगर के आधार पर पड़ा, यह निर्विवाद नहीं है।

आ० हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के कहने पर अपभ्रंश की भाषा-वैज्ञानिक एवं व्याकरणिक विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' (सिद्ध हैम)[2] में किया है। इसके आठ अध्यायों में लगभग ४५०० सूत्र हैं। इसकी शैली 'कौमुदी' जैसी है। इसके सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का और आठवें में प्राकृत का विवेचन है जिसके अन्तर्गत इन्होंने अपने समय की प्रचलित भाषा का विवेचन किया है इन्होंने संस्कृत से प्राकृत का विकास माना है। प्रकृति 'संस्कृतं, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्'। 'देशीनाममाला' में इन्होंने देशी शब्दों की तालिका देकर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने द्वयाश्रय काव्य में शब्दानुशासन के आठवें अध्याय के व्याकरण के नियमों को कुमारपाल के चरित से सम्बद्ध करने की अच्छी चेष्टा की है। मो० द० देसाई ने कुमारपाल चरित को अपभ्रंश के साथ जूनी गुजराती का काव्य कहा है।[3] इससे लगता है कि इस समय तक अपभ्रंश में मरु-गुर्जर का विकास प्रारम्भ हो गया था और इस सन्धिकालीन भाषा में अपभ्रंश और मरु-गुर्जर के प्रयोग सम्मिलित थे।

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषतायें——अपभ्रंश ने न केवल प्राकृत से बल्कि संस्कृत के भी बहुत से शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया देशी बोलियों में कुछ शब्द और पद ऐसे मिले जिनके प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन करने में आ० हेमचन्द्र को कठिनाई प्रतीत हुई। देशीनाममाला में कहा है कि

---

1. Dr. Tagore—Historical Grammar of Apabhraṁśa.
२. मो० द० देसाई—'जैन गुर्जर नो इतिहास' पृ० १११
३. सन् १८७७ में जर्मन भाषा शास्त्री पिशेल ने हेमचन्द्र के व्याकरण का सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। इन्हें अपभ्रंश का पाणिनि कहा गया। मुनि जिन विजय जी इन्हें 'आपिशल' नामक वैयाकरण का पुनरावतार कहते हैं।

तत्सम, तद्भव के अलावा प्राकृत या अपभ्रंश में जो शब्द हैं उनकी प्रकृति प्रत्यय का विचार कठिन है। वे लोक प्रयोग में चले आ रहे हैं और वही प्रमाण है'। परिमाणतः अपभ्रंश में एक ही शब्द के अनेक रूप पाये जाते हैं। जिन शब्दों के समान रूप संस्कृत में नहीं मिले उनके देशज या रूढ़ रूपों का प्रयोग प्रचलित हुआ। विभक्तियां घिसने लगीं; एक ही विभक्ति 'हं' कई काम में आने लगी। व्यञ्जनों का लोप और स्वरों की प्रधानता इसकी अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है किन्तु इसका परिणाम यह भी हुआ कि गत और गज दोनों का रूप गय काच और काक तथा कार्य तीनों का एक रूप 'काय' स्पष्ट अर्थ बोध कराने में असफल भी रहा। कारक और क्रिया विभक्तियों की मन्दता तथा क्रिया पदों का रूप बनाने में प्रत्यय लगाने की मंदता इसकी अन्य परवर्ती विशेषता बन गई थी। प्रत्यय बिना ही भाषा आगे बढ़ने लगी। इसी अपभ्रंश या ग्राम्यापभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी-मरु-गुर्जर का विशेष सम्बन्ध है। हेमचन्द्र ने दोनों प्रकार के अपभ्रंशों की 'सिद्धहैम' में चर्चा की है। उन्होंने शिष्टजनों की अपभ्रंश का उन्होंने व्याकरण बनाया और ग्राम्यापभ्रंश को जन प्रचलित बोल बताया। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ग्राम्यापभ्रंश अधिक अग्रसर भाषा रही होगी जिसे ही अवहट्ट पुरानी हिन्दी आदि नाम भी दिया गया है। संदेशरासक की भाषा को अद्दहमाण ने न अधिक पंडितों और न मूर्खों की बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए लिखी भाषा बताया है अर्थात् वह बोलचाल की भाषा में है।

वि० १२वीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश और मरु-गुर्जर का मिला-जुला संक्रान्तिकालीन रूप व्यक्त होने लगा था। इसको समझने के लिए उनका तुलनात्मक रूप देखिये। हेमचन्द्र ने कुमारपाल चरित में अपभ्रंश का सूत्र समझाने के लिए निम्न उदाहरण दिया है 'जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु वि मित्तु वि कहे विहु आवहु।

जाहि विहुताहि विहु मग्गे लीणा, अेक्क अे दिट्ठिहि दोन्न विजोयहु।

इसका हिन्दी रुपान्तर देखिये—

'जो जहँ हो तो सो तहं होतो शत्रुभि मीतभि कोइहि आवो।
जहाँ भी तहाँ भी माणलीना। एकहि दीठिहि दोनहि जो हो।

इस दोहे में 'जहाँ होतउ — ज्यां हतो (वर्तमान धातुज कृदन्त)—ज्यांथी में स्पष्ट ही अपभ्रंश से देशी भाषा के क्रमिक विकास की कड़ी मौजूद है। एक अन्य उदाहरण लीजिए—

'अम्हे निन्दहु कोवि जणं अम्हइं वण्णइ कोवि
अम्हे निन्दहु केवि नवि, नम्हइं वण्णहुं केवि।'

इसका हिन्दी रूपान्तर कितना स्पष्ट है—

'हमें निन्दो कोई जन, हमें बरनो कोई।
हमें निंदे कोई (को) भी नहीं, न हम बरनै कोई।'

इसको गुजराती में इस प्रकार रखा जा सकता है—

'अमने निन्दो कोइ जन, अमने बखाणो कोइ,
अमे निन्दिअे कोइ ने पण नहीं, न अमे बखाणिये कोइ।'

यहाँ अम्हे—अम्हइ में पहला कर्म और दूसरा कर्त्ता का रूप है और अपभ्रंश तथा मरु गुर्जर की घनिष्ठता का परिचायक है।

हेमचन्द्र के उदाहरण नाना परिस्थितियों और रसों की मनोरम झलकियाँ प्रस्तुत करते हैं जैसे—

'विट्टिअे मइ भणिय तुहुं मां कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी मल्लि जिव मारइ हियइ पइट्ठि।'

इस दोहे में 'विट्टिअे' सम्बोधन का रूप है और पइट्ठि प्रविष्ट से बना है जिसका गुजराती और हिन्दी रूप 'पैठि' आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार 'अम्हइ' शब्द हिन्दी में हम, राजस्थानी में 'म्हे' और अमे रूप में मिलता है। इसी प्रकार कुछ मुहावरे भी अपभ्रंश से मरु-गुर्जर तक चले आये हैं जैसे 'निट्टन अेम्ब न तेम्ब' में अेम्ब—अेम और तेम्ब=तेम (तिमि, इमि) आदि रूपों में गुजराती और हिन्दी में प्रचलित है। प्रबन्ध चिन्तामणि के प्रसिद्ध दोहे 'नव जल मरिआ मग्गडा गयणि धड़क्कइ मेहु' में मरिया, मग्गडा आदि शब्द पूर्वापर सम्बन्ध के अच्छे सूचक हैं। प्राचीन सुभाषित से एक दो उदाहरण देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा कि किस प्रकार अपभ्रंशों से क्रमशः मरुगुर्जर की काव्य भाषा रूप निखरा था।

'लूणाह घूणाह कुमाणु सह अे त्रिहु अेक सहाव।
जिहि जिहि करउ अवासउ तिहि-तिहि भंजउ ठांव।'

अथवा— ताइ, तेली, तेरयो, तेबोली तलारु।
पंच तकारा परिहु से पछे करो विवहार॥' इत्यादि

इनकी भाषा निश्चय ही पुरानी हिन्दी के करीब है।

इस सामान्य विकासक्रम का एक छोटा चित्र प्रस्तुत करके अब हम अपभ्रंश के भाषा वैज्ञानिक विशेषताओं पर भी थोड़ा विचार करेंगे ताकि मरुगुर्जर के भाषा वैज्ञानिक विकास का सूत्र ढूंढ़ा जा सके। अपभ्रंश और मरुगुर्जर का प्राचीन साहित्य प्रायः पद्यबद्ध है। पद्य में कवियों को भाषा सम्बन्धी कुछ छूट होती है जिसका कहीं-कहीं दुरुपयोग भी मिलता है। इस छूट में लघु को गुरु और गुरु को लघु करके छन्द की मात्रा ठीक करना अर्थात् छन्द-पूर्ति के लिए मात्रा सम्बन्धी इस छूट को तो हेमचन्द्र ने नियम ही मान लिया है; जैसे ज्वाला > जाला > जाल आदि। इसी प्रकार स्वार्थक प्रत्यय लगाकर (अ, अल, इल्ल आदि) शब्द रूप बना लेना जैसे मुक्त > मुक्क > मुक्कओ और पंकित > पंकिय > पंकियउ आदि रूप भी चलते हैं।

स्वर और ध्वनियाँ—महाराष्ट्री प्राकृत की प्रायः सभी ध्वनियाँ और स्वर अपभ्रंश में मिलते हैं। जैन महाराष्ट्री में 'य' श्रुति का प्राधान्य है जैसे योजनम् (संस्कृत) का योअणं (प्राकृत) और योयणं (अपभ्रंश) रूप सिद्ध होता है। प्राकृत की सभी व्यञ्जन ध्वनियाँ भी अपभ्रंश में मिलती हैं। हेमचन्द्र ने इसकी कुछ निजी विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है जैसे अपभ्रंश में केवल 'ण्ह', 'म्ह', 'ल्ह' संयुक्त ध्वनियाँ ही आदि में आ सकती हैं इसलिए व्यास का व्रासु और दृष्टि का द्रेट्ठि रूप बनता है। इसी प्रकार 'म' का वं, जैसे ग्राम का गाँव रूप भी इसकी ध्वनि सम्बन्धी विशेषता से ही सिद्ध होता है।

अपभ्रंश में व्यञ्जनान्त (हलन्त) शब्द नहीं मिलते। संस्कृत के हलन्त शब्दों की अन्तिम व्यञ्जन ध्वनि या तो लुप्त हो जाती है या अं जोड़कर अकारान्त बना दी जाती है जैसे मण (मनस्), आउस (आयुष), अप्पण (आत्मन) आदि। इसी प्रकार अपभ्रंश के सभी शब्द स्वरान्त होते हैं।

व्याकरण—अपभ्रंश में तीन लिंग होते हैं। अ, इ, उ, स्वर ध्वनियों वाले (अन्त) शब्द तीनों लिंगों में होते हैं और आ, ई, ऊ, वाले (अन्त) स्त्रीलिंग होते हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के लिंग को अतंत्र बताया है। लिंग सम्बन्धी यह शिथिलता राजस्थानी और हिन्दी के दो लिंगों में सरलीकृत हो गई है। इसमें दो ही वचन होते हैं न कि संस्कृत की तरह तीन; अर्थात् व्याकरण सरलीकरण की ओर उन्मुख हो गया था जिसका प्रभाव मरु-गुर्जर के वचन पर भी पड़ा है। सरलीकरण की प्रवृत्ति प्राकृत से ही

प्रारम्भ हो गई थी। इसके चलते संस्कृत की सुप् तथा तिङ विभक्तियाँ प्राकृत में सरल हो गईं। द्विवचन घिसते-घिसते मिट गया। परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद मिटने लगा। उच्चारण सौकर्य (मुख सुख) के कारण वैदिक संस्कृत की जटिल ध्वनियाँ प्राकृत और आगे चलकर अपभ्रंश में और सरल हो गईं। नपुंसक लिंग का प्रयोग भी क्रमशः कम होने लगा। शब्दों के कई वैकल्पिक रूप प्रचलित हुए जैसे पुत्र के लिए प्राकृत का ओ वाला रूप पुत्तो और दूसरी ओर अपभ्रंश का उकार बहुल रूप पुत्त, पुत्तउ भी चलने लगा। कहीं पुत्र भी मिल जाता है। कुछ नई विभक्तियों का विकास भी हुआ जिनमें पुरानी हिन्दी के विकास के बीज मिलते हैं जैसे करउं > करहुं > करह > करहो से हिन्दी एकवचन कर तथा बहुवचन करो रूप विकसित हुआ होगा। कर्मणि प्रयोगों में 'इज्ज' (गणिज्जइ) के साथ तिङ् प्रत्यय जोड़ दिया जाता था। हि और हिं विभक्ति का प्रयोग प्रायः सभी कारकों में होने लगा था।

परसर्गों का उदय अपभ्रंश की निजी विशेषता बताई गई है। प्रमुख परसर्ग होन्त > होन्तउ > होन्ति > हिउ, केरअ, केर और तण आदि हैं। इनके साथ विद्वानों ने अपभ्रंश की तीन विशेषतायें बताई हैं (१) कारक और क्रिया विभक्तियों की मंदता का उल्लेख पहले हो चुका है। (२) संस्कृत मूल से भिन्न देशज और रूढ़ शब्दों का भाषा में प्रयोग की चर्चा भी कर दी गई है। तीसरी विशेषता भाषा सम्बन्धी न होकर काव्य सम्बन्धी है। अपभ्रंश में तुकबद्ध छंदों का प्रचलन हुआ। भाषा के स्वरूप निर्धारण में इसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है।

अपभ्रंश साहित्य की प्रसिद्ध रचनाओं का संक्षिप्त विवरण विषय-वस्तु को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी समझ कर आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपभ्रंश साहित्य की संक्षिप्त उद्धरणी

अपभ्रंश जैन साहित्य—संस्कृत और प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण अनेक शिलालेख उपलब्ध हो चुके हैं किन्तु अपभ्रंश में उत्कीर्ण शिलालेख दुर्लभ हैं। धारा से प्राप्त (बम्बई संग्रहालय में सुरक्षित) एकमात्र शिलालेख के अलावा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में एक अन्य शिलालेख (१३वीं शताब्दी) की चर्चा की है जिसमें राघो रावल के वंशज किसी राजकुमार के सौन्दर्य का वर्णन है। अतः शिलालेखों द्वारा अपभ्रंश भाषा और साहित्य को समझने में अधिक सहायता नहीं मिलती

किन्तु अपभ्रंश में विशाल जैन साहित्य अवश्य उपलब्ध हैं जिसे श्रावकों के आग्रह पर जैनाचार्यों ने साधारण जनता में धर्मप्रचारार्थ जनप्रचलित अपभ्रंश में लिखा है। इन रचनाओं में प्रायः किसी शलाकापुरुष (तीर्थंकर या महापुरुष) का चरित्र चित्रित किया गया है अथवा किसी व्रत-नियम का माहात्म्य बताया गया है। जैन लेखकों ने अपने मत का प्रतिपादन अवश्य किया है किन्तु इसी प्रकार के अन्य साम्प्रदायिक साहित्य से यह साहित्य इस अर्थ में पूर्णतया भिन्न है क्योंकि मत प्रतिपादन करते हुए कट्टरता के आवेश में जैन लेखकों ने सहिष्णुता और उदारता को तिलांजलि नहीं दी है।

इनकी साहित्य रचना का आधार कर्म-विपाक का सिद्धान्त है, इसके लिए कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाओं और महापुरुषों के जीवन चरित्र में कुछ तोड़-मरोड़ अवश्य किया गया है। पुनर्जन्मवाद के आधार पर कथा का निर्माण जैन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है। इस साहित्य में महापुराण, चरित काव्य, रूपक काव्य, कथाग्रंथ, सन्धिकाव्य, रासो और स्तोत्र-स्तवन आदि विविध रूप पाये जाते हैं। त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का वर्णन अथवा रामायण, महाभारत की कथाओं तथा उनके पात्रों का धर्मानुकूल चित्रण ही किया गया है। प्रायः चरित काव्यों में आश्चर्य तत्त्व, चमत्कार, अतिमानवीय पात्रों जैसे विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष और देव आदि का वर्णन मिलता है। तंत्र-मंत्र, स्वप्न-शकुन आदि को भी इनमें पर्याप्त स्थान दिया गया है।[1]

जैन चरित काव्य प्रायः पद्यबद्ध घटना-प्रधान उपन्यासों की तरह हैं जिनमें चमत्कार द्वारा धर्मोपदेश का विधान किया गया है। विद्याधरों आदि पात्रों को इच्छारूपधारी और चमत्कारी विद्याओं में पारंगत दिखाया गया है। वे प्रायः आकाश गमन करने, अदृश्य हो जाने और रूप बदलने में समर्थ होते हैं।[2]

जैनियों ने भी ब्राह्मणों की तरह पुराण लिखा है जिनमें पद्मपुराण और हरिवंशपुराण अधिक प्रसिद्ध हैं। पद्मपुराण में रामायण की कथा को

---

१. देखिये, श्रीकालीपदोमित्रकृत 'Magic and Miracle in Jain Antiquary.

२. रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के—रामकथा पृ० ६०-७१

और हरिवंशपुराण में महाभारत की कथा को आधार बनाया गया है किन्तु इन प्रसिद्ध उपजीव्य ग्रंथों की कथा को जैनमतानुकूल बनाकर प्रस्तुत किया गया है। राम, लक्ष्मण और रावण आदि को जैनधर्मावलम्बी बनाकर उनकी गणना शलाकापुरुषों में की गई है। महापुराण में तिरसठ[1] महापुरुषों की कथा होने से उन्हें महापुराण की संज्ञा दी गई है। स्वयंभू का पउमचरिउ, पुष्पदंत का महापुराण, यशःकीर्ति का पाण्डव-पुराण और रइधू का हरिवंशपुराण आदि इस प्रकार की प्रसिद्ध रचनायें हैं। पुराण शब्द प्राचीन कथा का सूचक है। इसमें एक ही महापुरुष का जीवन वर्णित होता है। इन पुराणों की परम्परा विक्रम की तीसरी शताब्दी में रचित विमलसूरि के 'पउमचरिय' से प्रारम्भ होता है। यह प्राकृत की रचना है। इसके आधार पर अपभ्रंश में स्वयंभू कृत 'पउमचरिअ' ऐसी रचनाओं में अग्रगण्य है। इसके पश्चात् पुष्पदन्त ने भी महापुराण लिखा किन्तु उन्होंने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण की परम्परा का अनुगमन किया।

स्वयंभू (वि० ९वीं शताब्दी) अपभ्रंश के निर्विवाद सर्वप्रथम महाकवि हैं। वे कोसलवासी थे किन्तु राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के मंत्री रयडा धनंजय द्वारा मान्यखेट ले जाये गये थे। इनके माता-पिता का नाम पद्मिनी और मारुत था। अमृताम्बा और आदित्याम्बा नामक इनकी दो पत्नियां थीं और इनके पुत्र का नाम त्रिभुवन था जिसने अपने पिता की अपूर्ण कृतियों को पूरा किया था। पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) स्वयंभू छंद इनकी प्रख्यात कृतियां हैं। पंचमीचरिउ, और सुद्धयचरिउ नामक ग्रन्थ भी इनके लिखे कहे जाते हैं। महापंडित राहुल इन्हें हिन्दी का प्रथम श्रेष्ठ महाकवि मानते हैं।

'पउमचरिउ' में पांच काण्ड हैं। महापंडित राहुल जी तुलसीदास को स्वयंभू से प्रभावित बताते हैं। जो हो पउमचरिउ एक उत्तम प्रबन्ध काव्य है जिसमें प्रबन्धकाव्य के सभी लक्षणों का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। इसके पांच काण्डों का नाम है :—

(१) विद्याधरकाण्ड, (२) अयोध्याकाण्ड, (३) सुन्दरकाण्ड,
(४) युद्धकाण्ड, (५) उत्तरकाण्ड।

---

१. त्रिषष्टिशलाका पुरुषों में २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ९ वासुदेवों, ९ प्रति-वासुदेवों और ९ बलदेवों की गणना होती है।

सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड के कारण कुछ लोग महाकवि स्वयंभू का प्रभाव रामचरितमानस पर देखते हैं किन्तु तुलसीदास के मानस में सात सोपान ही हैं काण्डों का उल्लेख नहीं मिलता। यह रचना भी दोहे-चौपाइयों में लिखी है। इसकी कुछ चौपाइयों की तुलना भी महापंडित राहुल ने मानस की चौपाइयों से की है और मानस पर पउम-चरिउ का प्रभाव दिखाने का प्रयास किया है जैसे :—

'वड्ढमाण-मुह-कुहर विणिग्गय, राम कहाणय एह कमनिय।
अक्खर वास जलोह-मणोहर, सुयलंकार-छंद-मच्छोदर।'

इसे तुलसीदास की इन पंक्तियों से मिलाया जा सकता है—

'आखर अरथ अलंकृति नाना, छंद प्रबन्ध अनेक विधाना', आदि। हो सकता है कि यह तुलसीदास के 'क्वचिदन्यतोपि' में समाविष्ट हो। डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी द्वारा सम्पादित सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा-पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से यह रचना तीन भागों में प्रकाशित हो चुकी है।

इसमें स्वयंभू ने रामकथा का रूपक नदी से बांधा है और राम कहाणइ एह कमांगय' कहा है। उन्होंने अपनी भाषा को देशीभाषा कहा है। वे लिखते हैं—

'दीह समास पवाहा वंकिय सक्कय पादप पुलिणालंकिय।
देशीभाषा उभय तड्ज्जल कवि दुक्खर घण सद्दसिलायल।' इत्यादि

इसमें सज्जनों से विनय करते हुए कवि ने अपनी अल्पज्ञता का बखान किया है। कवि ने खलों की भी अभ्यर्थना की है। तुलसी के मानस में रामकथा का सरोवर से रूपक, उनका विनय प्रदर्शन, सज्जनों और दुर्जनों की वन्दना आदि प्रसंग इससे काफी मेल खाते हैं जिसके आधार पर राहुल जी ने इसका प्रभाव 'मानस' पर स्वीकार किया है।[1] पहले के कवियों का परवर्ती काव्य पर प्रभाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि नयनंदि कृत 'सुदर्शनचरित' और लाखू कृत 'जिनदत्तचरिउ' आचार्य केशवदास की विविध छंदों और नाना अलंकारों से अलंकृत 'रामचन्द्रिका' का मार्गदर्शक हो सकती हैं। जिनदत्तचरिउ में भी पचासों प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है।

---

१. देखिये, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा

स्वयंभू ने चार विद्याओं, सन्धिविग्रह, अठारह तीर्थादि का संस्कृत बहुल भाषा में वर्णन किया है। स्थान-स्थान पर इसमें संस्कृत पद्यों का प्रयोग भी मानस के संस्कृत पद्यों की तरह किया गया है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'लीलोद्धूतैर्लताग्रैर्निज युवति करैः सेव्यमाना यथेष्टं,
यावन्नो कुंभि कुंभ स्थल दलन पटुः केसरी संप्रयाति।'

इनके दूसरे ग्रन्थ रिट्ठणेमिचरिउ' या हरिवंशपुराण में यादव, कुरु युद्ध और उत्तर नामक चार कांड हैं। इसका आधार महाभारत और हरिवंशपुराण हैं किन्तु जैनधर्म के अहिंसा सिद्धांत की रक्षा के लिए कुछ परिवर्तन किया गया है जैसे द्रौपदी स्वयंबर में मत्स्यवेध के स्थान पर धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा का ही उल्लेख मिलता है।[1] स्वयंभू संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं तथा काव्यशास्त्र और जैन सिद्धान्तों के धुरन्धर ज्ञाता प्रतीत होते हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी उनकी कृति 'पउमचरिउ' निस्सन्देह एक महान् काव्यकृति है। धर्म और साहित्य का इतना सुन्दर संगम वस्तुतः हिन्दी के महाकवि तुलसी में ही शताब्दियों के बाद फिर देखने को मिलता है।

पुष्पदन्त (१०वीं शताब्दी)—अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त काश्यप गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशव भट्ट और माता का नाम मुग्धा देवी था। पहले ये शैव थे पीछे जैन हो गये। आप मान्यखेट के राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज के मंत्री भरत के आश्रित थे। मान्यखेट में ही आपने भरत के पुत्र नन्न के आग्रह पर महापुराण, णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ नामक काव्य ग्रन्थ लिखे। ये शरीर से निर्बल और निर्धन थे पर बड़े प्रतिभाशाली थे और अपनी काव्यशक्ति पर इन्हें बड़ा स्वाभिमान था।

महापुराण के दो भाग हैं—आदिपुराण और उत्तरपुराण। इसके विशाल कथानक में अनेक अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाओं को कौशलपूर्वक गूँथा गया है, बीच-बीच में अनेक सरस एवं काव्यमय स्थल हैं। शृंगार, वीर और शान्त रसों की बड़ी उत्तम व्यञ्जना की गयी है। आप शास्त्रीय रीति से आचार्य की भांति सुलोचना के नखशिख का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

---

१. देखिये, डॉ० रामसिंह तोमर—"प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य और इसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव।"

'पायहुं कायं कमलु समु भणियउ खणतं भंगुरु कहहिं ण मुणियउं।
रिक्खइ वासरि कहिमण दिट्ठइं कण्णा णह पहाहिं णं णट्ठइं।''

अर्थात् उसके पैरों को कमल के समान कैसे कहूँ। वह क्षणभंगुर कहा गया है। उसके नखों की प्रभा से दिन में नक्षत्र नहीं दिखाई देते। पुष्पदन्त ने कृष्ण कथा का मनोहर वर्णन किया है। रामकथा में कवि का ध्यान कथा पर अधिक रहा, वर्णन विस्तार पर कम, किन्तु कृष्ण कथा में कवि का मन वर्णन सौन्दर्य में अधिक रमा है। इसकी शैली स्वयंभू की अपेक्षा अधिक अलंकृत, श्लिष्ट, रूढ़ और कहीं-कहीं कृत्रिम लगती है। स्वयंभू में सहज स्वाभाविकता है पर पुष्पदन्त में सायास अलंकृति है। डॉ० भोलाशंकर व्यास का विचार है कि इन पर त्रिविक्रम भट्ट का प्रभाव पड़ा होगा जो श्लेष और दूरारूढ़ कल्पनाओं के प्रेमी थे। डा० भयाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास और पुष्पदन्त को भवभूति कहा है किन्तु डा० भा० श० व्यास कहते हैं कि पुष्पदन्त की तुलना भवभूति के बजाय माघ से करना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसकी कथा में माघ का पांडित्य और चमत्कार है।[1] यह महापुराण पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित होकर माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत तीन खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। इसमें मात्रिक छंदों का प्रायः प्रयोग हुआ है। भाषा शिष्ट-जनोचित है किन्तु इसके अनेक शब्द प्रयोग आर्य भाषा के शब्दरूपों से मिलते-जुलते है। पुष्पदन्त का महापुराण महाभारत की शैली का विकसनशील महाकाव्य है और जैसे महाभारत के सम्बन्ध में कहा गया है 'यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' उसी प्रकार पुष्पदन्त ने स्वयम् लिखा है 'किंचा—यद्यदिहास्ति जैन चरिते नान्यत्र तद्विद्यते, द्वावेतो भातेश पुष्पदशनौ सिद्धं यथारीदृशम्।' अर्थात् जो यहां है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

आपकी णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित) और जसहरचरिउ नामक खण्ड काव्य भी प्रकाशित रचनायें हैं। प्रथम, प्रो० हीरालाल जैन द्वारा और द्वितीय, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा सम्पादित तथा कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हैं। नागकुमारचरित एक राजा की दो रानियों और उनके दो पुत्रों—श्रीधर और नागकुमार के पारस्परिक कलह की कहानी है। पुष्पदन्त ने इसमें अपनी बहुज्ञता के

1. डॉ० भोलाशंकर व्यास—हिन्दी सा० का बृ० इ० भाग १ पृ० ३४१

बल पर पौराणिक प्रसंगों, ज्योतिष, नक्षत्र विद्या और काव्यशास्त्र आदि का यथावसर प्रयोग किया है।

जसोहरचरिउ (यशोधरचरित) की रचना पुष्पदन्त ने अपने समकालीन सोमदेव कृत यशस्तिलकचम्पू (सं० १०१६) के आधार पर किया है। यह चार संधियों की रचना है। इस विषय पर संस्कृत, प्राकृत में अनेक जैन कवियों ने कई रचनायें की हैं जिनमें वादिराजकृत यशोधरचरित्र, सोमदेवकृत यशस्तिलकचम्पू, माणिक्यसूरिकृत यशोधरचरित्र आदि उल्लेखनीय हैं।

यशोधर उज्जयिनी का राजकुमार था जो अपनी रानी के दुराचरण के कारण विलासमय जीवन से विरक्त हो गया। इसमें उसके अनेक भवों की कथा कर्म विपाक के अनुसार दिखाई गई है। आगे उसके पुत्र जसहर तथा उसकी पत्नी चन्द्रमति के भवभ्रमण की कथा कही गई है। अवन्ति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

'गलकल केक्कारहि हंसहि मोरहि मंडिय जेत्थ सुहाइमहि।
जहिं चुमुचुमंति केयार कीरवर कमल सालि सुरहिय समीर।'
(जसहर चरित पृ० १६)

पुष्पदन्त की भाषा में मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग मिलता है। परम्परित उपमानों के आधार पर रानी के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि जिन शब्दों की योजना करता है उससे अनुप्रास का सौन्दर्य तथा 'ण' की आवृत्ति से एक झंकृति उत्पन्न होती है यथा :—

'घण कसण केस दीहर णयणा, सुललिय तणु सुअकर ससि वयणा।
णं सिय णव जुव्वण घण थणा, कलहंस कमल कोमल चलणा।'[1]

इसमें नयन, तन, बैन को नाहक णयणा, वयणा और तणु बनाया गया है। कवि को वैसे संस्कृत शब्दों से परहेज नहीं मालूम पड़ता और वह केश, दीर्घ, सुललित, यौवन, कलहंस, कमल, कोमल आदि का प्रयोग करता है।

धवल—आपके पिता का नाम सूर और माता का नाम सुल्ला था। ये भी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे, किन्तु बाद में जैन हो गये थे। इनका

१. डा० हरिवंश कोछड़, 'अपभ्रंश साहित्य' पृ० १०५ पर उद्धृत।

'हरिवंशपुराण' जो १८ हजार पद्यों का संकलन है अप्रकाशित है। इसका रचनाकाल अनिश्चित है किन्तु अनुमानतः १०वीं-११वीं शताब्दी के बीच की रचना होगी। यहां भी वही कथा है जो अन्य हरिवंशपुराणों में स्वीकृत है। इसमें प्रकृति चित्रण और अलंकृत भाषा में काव्यमय वर्णन प्राप्त होते हैं। शृंगार, वीर, करुण, मनोहर और शान्त रस का यत्र-तत्र अच्छा पुट मिलता है। इस ग्रंथ में १२२ संधियां हैं। संधियों में कड़वकों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। संधियों के अन्तिम धत्ता में धवल शब्द का प्रयोग मिलता है। इनके गुरु का नाम अम्बसेन था। इसमें देवनन्दि, वज्रसूरि, महासेन और रविषेण, जिनसेन तथा पद्मसेन आदि का उल्लेख है, इनकी भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"जंबू दीवहि सोहाणु असेसु, इहि भरन खेत्तिणं सुरणिवेसु।"[1]
इसमें महावीर के जन्मस्थान कुण्डग्राम का वर्णन किया गया है।

धनपाल—जैन साहित्य में धनपाल नाम के तीन विद्वान् प्रसिद्ध हैं। प्रथम धनपाल (दिगम्बर) १० वीं शताब्दी में 'भविसयत्तकहा' के लेखक थे। सन् १८१३-१४ ई० में जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी को अहमदाबाद के जैन ग्रन्थभण्डारों का अवलोकन करते समय इसकी प्रति प्राप्त हुई। उसे स्वदेश ले जाकर उन्होंने उसका गहन अध्ययन किया और सन् १९१८ में पांडित्यपूर्ण भूमिका के साथ इसे म्युनिख में प्रकाशित कराया। डॉ० जैकोबी के संस्करण के आधार पर सन् १९२३ में श्रीचिमनलाल दलाल और गुणे ने इसके अंग्रेजी संस्करण को गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज से प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन का मार्ग खुल गया।

धनपाल के पिता का नाम मयेश्वर या महेश्वर था। ये धक्कड़ वैश्य वंश में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम धनश्री था। इन्हें भी अपनी प्रतिभा पर अभिमान था और स्वयम् को सरस्वती पुत्र (सरसइ बहुल्लद्ध महावरेण) कहते थे। जैकोबी ने इनका समय १० वीं शती माना है। प्रो० भयाणी ने भविसयत्तकहा की भाषा के आधार पर इसे स्वयंभू के पश्चात् और हेमचन्द्र से पूर्व की रचना बताया है। आप शोभन मुनि के भ्राता थे।

---

१. डा० हरिवंश कोछड़ 'अपभ्रंश साहित्य' पृ० १०३

इस महाकाव्य की कथा लौकिक है। इसमें ख्यातवृत्त नायक पद्धति को छोड़कर लौकिक नायक की परम्परा का सूत्रपात किया गया है। भविष्यदत्त एक व्यापारी का पुत्र है। इसकी रचना श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित करने के लिए की गई है इसलिए इसका अपर नाम 'श्रुतपंचमीकहा' भी है। यह २० संधियों की रचना है। इसमें गजपुर के धनपाल नामक व्यापारी के पुत्र भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। धनपाल ने सरूपा नामक दूसरी सुन्दरी से शादी कर ली जिससे बंधुदत्त नामक पुत्र हुआ। धनपाल अब प्रथम स्त्री और पुत्र की उपेक्षा करने लगा। भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई से दो बार धोखा खाकर बहुत कष्ट पाता है किन्तु अन्त में उसे सफलता मिलती है। इसमें दो विवाह के दोष और दो प्रकार के अच्छे-बुरे चरित्रों वाले पात्रों का गुण-दोष कुशलता पूर्वक दिखाया गया है।

धनपाल (द्वितीय)—पूर्व में आप ब्राह्मण थे फिर जैन, फर्रुखाबाद निवासी श्री सर्वदेव के पुत्र थे। आप प्रसिद्ध परमार नरेश भोज के सभा-पंडित थे। संस्कृत-प्राकृत के प्रगाढ़ पंडित और सुकवि थे। आपकी रचना तिलकमंजरी प्रसिद्ध है। 'पाइयलच्छीनाममाला' भी (प्राकृत कोष) आपकी रचना बताई जाती है। इनकी रचना 'सत्यपुरमंडनमहावीरोत्साह' की चर्चा पहले की जा चुकी है। यदि यही धनपाल इसके लेखक हैं तो इसका निश्चित समय ११ वीं शताब्दी है क्योंकि भोजराज सन् १०६६ में गद्दी पर बैठा था और सोमनाथ पर चढ़ाई सन् १०८० में हुई थी। इसी समय धनपाल रहे होंगे। सांचौर में स्थापित महावीर की मूर्ति के आक्रमणकारी के हाथों बच जाने पर भक्त बड़े उत्साहित हुए थे, उसी भावना को इस लघुकृति में दर्शाया गया है। इसे नाहटा जी अपभ्रंश और मरुगुर्जर के मध्य की कड़ी मानते हैं और इसको भाषावैज्ञानिक महत्त्व की रचना बताते हैं। इसमें उत्तरकालीन अपभ्रंश की संज्ञायें जैसे नयरि और नाहु आदि तथा क्रियायें जैसे भग्गु, भिज्जइ, दिज्जय के साथ तमाम सर्वनाम, विशेषण, जैसे जेण, किम, तणु, तासु, भण, जण, आवहि, भावहि, सिरी आदि प्रयुक्त हैं। तिलकमंजरी को आलोचक कादम्बरी के कोटि की रचना बताते हैं।

धनपाल तृतीय भी शायद दिगम्बर थे। आपने धनपाल द्वितीय कृत तिलकमंजरी पर आधारित 'तिलकमंजरीकथासार' नामक रचना की। आप १३ वीं शताब्दी के लेखक लगते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य **धनपाल (चतुर्थ १५ वीं)** का उल्लेख भी मिलता है जिन्होंने 'बाहुबलि चरित' नामक १८ सन्धि का चरित काव्य लिखा जिसमें प्रथम कामदेव बाहुबलि का चरित्र अंकित है। इसकी रचना **चन्द्रवाड** नगर के राजा सारंग के मंत्री बासाहर की प्रेरणा से वैशाख सं० १४५५ में की गई है। इसमें कवि ने अपने से पूर्व के अनेक कवियों और उनकी कृतियों का सादर स्मरण किया है।

वीर कवि—सं० १०७६ में आपने 'जंबूसामिचरिउ' लिखा। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। कवि के पिता का नाम देवदत्त था जो स्वयम् अच्छे कवि थे। कवि ने अपने पिता के सम्बन्ध में कहा है कि स्वयंभू और पुष्पदन्त के बाद अपभ्रंश के तीसरे महाकवि वे ही थे। अपभ्रंश काव्यों में सज्जन-दुर्जन के स्मरण की परिपाटी के अनुसार इसमें भी उनकी अभ्यर्थना-कदर्थना की गई है। जंबू स्वामी सइत्तउ नगरी के संताप्पिउ वणिक के पुत्र अरहदास के रूपवान पुत्र थे जिनके गर्भाधान काल में उनकी माता ने जंबू फलादि का स्वप्न देखा था अतः उनका नाम जंबू पड़ा था। जंबू-कुमार की सुन्दरता पर नगर **बधुयें** आसक्त थीं किन्तु अन्ततः उन्हें विरक्ति हुई और निर्वाण प्राप्त किया।

इसमें प्रसंगानुसार वेश्याओं के सौन्दर्य एवं उनके नाना भेदों का उल्लेख किया है। कवि ने इसे श्रृंगार-वीर महाकाव्य कहा है। इसमें श्रृंगार के वर्णनों की बहुलता भी है किन्तु डॉ० रामसिंह तोमर ने इसे श्रृंगार-वैराग्य कृति कहना अधिक समीचीन माना है।[1] कवि ने ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखा है 'इवीरे जंबू समाचारिए सिंगार य' महाकाव्वे महाकइ देवदत्त सुय वीर विरइय बारह अणुपेहाउ भावणाये विजजुच्चरस्स सव्वह सिद्धि गमणं नाम एयारसमो संधी परिछेउ सम्मतो।" श्रृंगार सौन्दर्य का वर्णन करने वाले एक दोहे को भाषा के नमूने के लिए यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"जाणमि एक्कु जे विहि धड़इ सयतुविजगू सामण्णु।
जि पुणु आयउ णिम्मविउ कोवि पचावइ अण्णु॥"

१. डॉ० रामसिंह तोमर 'अनेकान्त वर्ष ९ किरण १०' अपभ्रंश का एक श्रृंगार वीर काव्य।

(अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने सामान्य संसार की रचना की किन्तु इन सुन्दरियों को किसी अन्य ब्रह्मा ने बनाया है।)

नयनन्दि - आप अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि और प्रकांड पंडित थे। इन्होंने 'सुदंसणचरिउ' की रचना वि० सं० ११०० में की। उस समय धारा नगरी में भोज राज्य करते थे। इनके गुरु माणिकनन्दी थे जिनका इन्होंने संधि की पुष्पिका में बराबर नमन किया है। ग्रन्थारम्भ में ही आपने लिखा है कि जिनस्तवन के कारण मुझ-अकुशल कवि का काव्य भी सुकवित्व से अलंकृत होगा। मगध के राजा श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर सुदर्शनचरित कहते हैं। चम्पापुरी में ऋषभदास नामक श्रेष्ठी और उनकी पत्नी अरुहदासी रहते थे। इस श्रेष्ठी का एक मित्र गोपाल दुर्भाग्यवश गंगा में डूब गया। ऋषभ की पत्नी अरुह ने स्वप्न देखा कि वही गोपाल मरते समय पंच नमस्कार करने के परिणामस्वरूप ऋषभदास श्रेष्ठी के पुत्र के रूप में जन्म लिया है। उसका नाम सुदर्शन पड़ा है। वही सुदर्शन पैदा हुआ। वह बड़ा सुन्दर, आचारवान् और दृढ़व्रती हुआ। उसी की कथा इस चरिउ में नयनन्दि ने कही है।

नयनन्दि ने बाण और सुबन्धु की क्लिष्ट और अलंकृत श्लिष्ट गद्य-शैली का पद्य में सफल प्रयोग किया है। एक नमूना देखिये :—

"जो अहिणव मेहुविणउ जउमउ, जो सामु वि अदोसु उज्झिययउ।
सूरु वि णउ कुवलय संतावणु, वज्जिय रयणियरु विणउ विहीसणु॥"

अर्थात् जो अभिनव मेघ होते हुए भी जलमय न था, उसमें जल (मेघा) था किन्तु वह मेघ की तरह जड़ न था। जो चन्द्र होता हुआ भी कुवलय का सन्तापी न था, जो रजनीचरों से रहित था किन्तु विभीषण नहीं था। नयनन्दि की अलंकृत शैली से आ० केशव दास की भाषा में साम्य ढूढ़ा जा सकता है।

इस ग्रन्थ के अलावा नयनन्दि की एक अन्य रचना 'सकलविधिनिधान' का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु वह देखने में नहीं आई। कवि की प्रसिद्धि का आधार सुदंसणचरिउ ही है जो अपभ्रंश का उत्कृष्ट काव्य है और कवि ने इसे पूर्णरूपेण दोषमुक्त बताया है। इसमें पचासों तरह के वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का प्रयोग किया गया है। अलंकारों का चमत्कार तो अद्भुत है।

मुनि कनकामर—(१२ वीं शताब्दी) आपने 'करकंडचरिउ' नामक १० सन्धियों का प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है जिसके प्रारम्भ में उन्होंने अपने गुरु पंडित मंगलदेव का स्मरण-वंदन किया है। आप ब्राह्मण कुल के चन्द्र ऋषि

गोत्र में पैदा हुए थे। बाद में वैराग्य हुआ और दिगम्बर साधु बन गये। देशाटन करते आसाइत नगरी में पहुँच कर इन्होंने वहीं यह ग्रन्थ लिखा। इन्होंने स्वयंभू और पुष्पदन्त का उल्लेख किया है इसलिए इनका समय उनके बाद ही होगा। प्रो० हीरालाल जैन ने इस ग्रन्थ की रचना का समय वि० सं० ११२२ के आसपास माना है। इन्होंने इसे सम्पादित करके कारंजा जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित भी किया है।

करकंडु की माता राजपुत्री पद्मावती को मातंग नामक एक चांडाल ने पाला-पोषा था। इनके हाथ में कंडु (खुजली) होने से नाम करकंडु पड़ गया था। ये अपनी योग्यता से दन्तिपुर के नरेश हो गये। इन्होंने मदनावती और रतिवेगा से विवाह किया था। शीलगुप्त नामक मुनि का सदुपदेश श्रवण कर इन्हें वैराग्य हुआ और मुनि बन गये। इसमें मूलकथा के साथ नौ आवान्तर कथायें हैं। मुख्य पात्र करकंडु हैं। इसमें अनेक भौगोलिक स्थानों का मनोरम वर्णन है जैसे अंग देश का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :--

"छखंड भमि रयणहं णिहाणु रयणायरो व्व सोहायमाणु।
एत्थत्थि खण्णउ अंगदेस महि महिलइं णं विउदिव्ववेसु॥"

अर्थात् अंगदेश ऐसा सुन्दर है मानो पृथ्वीरूपी नारी ने दिव्य वेश धारण किया हो। ग्रन्थ में वीररसात्मक स्थल अधिक हैं। युद्धों के फलस्वरूप कई विवाह और शृंगाररस के प्रसंग भी आये हैं। अन्त में सबकी चरम परिणति निर्वेद में होती है। करकंडु जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के अतिरिक्त' बौद्धों के भी आदरणीय महापुरुष माने जाते हैं। आपकी भाषा अपभ्रंश और देशी भाषाओं के प्रयोगों के कारण भाषा विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

धाहिल--(१२ वीं शताब्दी) आप की कृति 'पउमसिरीचरिउ' की प्रति वि० सं० ११९१ की लिखित प्राप्त है अतः रचना इससे कुछ पूर्व की अवश्य होगी। श्री मधुसूदन मोदी और हरिवल्लभ भयाणी ने इसका सम्पादन करके भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित कराया है। इसमें पउमसिरी के पूर्व जन्म की कथा का चार संधियों में वर्णन किया गया है। धार्मिक आवरण में यह एक सुन्दर प्रेमाख्यान है। पद्मश्री न तो ऐतिहासिक पात्र है और न पौराणिक, बल्कि शुद्ध कवि-कल्पना की उपज है। इसमें कवि पद्मावती के पूर्व जन्म की कथा द्वारा मानवों को अपने पूर्व भवों में किए कर्मों के फलभोग का निर्देश करके उसे वर्तमान जीवन में पुण्य कार्य करने की प्रेरणा देता है। काव्य में शृंगार की प्रधानता है किन्तु अन्त में

निर्वेद परम्परित ढंग पर प्राप्त होता है। पद्मश्री की रूप शोभा का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'उन्नय वंसुब्भव आसासिय-तिहुयण-जयहु।
अहिणव-गुण सुंदरि चावलट्ठिय मयरद्धयहु॥"

इसमें उसके रूप की उपमा त्रिभुवन को जीतने का अश्वासन देने वाले मकरध्वज की गुणसुन्दरी या चापयष्टी से दी गई है। धाहिल की भाषा तत्कालीन अपभ्रंश है। इसमें प्राचीन संस्कृत-प्राकृत प्रयोगों का दबाव नहीं है। लोकोक्तियों और सुभाषितों के प्रयोग से भाषा सुबोध एवं प्रवाहमय बन गई है। कहा जाता है कि आप माघ कवि के वंशधर थे किन्तु इन पर माघ की क्लिष्ट भाषा का प्रभाव नहीं है। आप श्रीमाल वंशीय वैश्य थे। आपके पिता का नाम पार्श्व था। पउमसिरी आपकी एकमात्र प्राप्त रचना है। श्री मो० द० देसाई इनका समय ११०० के बाद और १२०० से पूर्व बताते हैं अर्थात् आप १२ वीं शताब्दी के कवि थे।

पद्मकीर्ति—इन्होंने 'पासचरिउ' (पार्श्वपुराण) नामक ग्रन्थ लिखा, इसमें तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र चित्रित है। यह १८ सन्धियों में ३ हजार से अधिक पद्य संख्या वाला विस्तृत काव्य ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सन्दिग्ध है। ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति १६ वीं शताब्दी की प्राप्त है। डॉ० हीरालाल जैन इसे अधिकतम ११ वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें भी परम्परित ढंग पर आत्मविनय, सज्जनों, दुर्जनों का स्मरण आदि मिलता है। कवि की कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय वर्षा वर्णन, रजनी एवं चन्द्रोदय वर्णन, जलक्रीड़ा के अलावा नारी के सौन्दर्य वर्णन आदि प्रसङ्गों से प्राप्त होता है। जलक्रीड़ा के समय रूपसियों के आँखों का अञ्जन और शरीर का अंगराग आदि घुल-मिलकर निर्मल जल को आविल कर देता है। कवि इसी प्रसङ्ग के सम्बन्ध में लिखता है—

"कच्छूरी चंदणु घुसिण रंगु, पक्खालिउ सलिलें अंगलग्गु।
कज्जल जल भरियहिं लोयणेहिं, जुवइहिं मुक्कु णंजलु घणेहिं।"

भाषा में अनुरणात्मक शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई देती है। मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त भुजङ्गप्रयात, स्रग्विणी आदि वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। आप सम्भवतः दक्षिणात्य थे। इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में अधिक सूचनायें नहीं मिल सकी हैं।

श्रीधर— आप अग्रवाल कुलोत्पन्न वैश्य थे। इनकी माता का नाम

वील्हा और पिता का नाम गोल्ह था। आप हरियाणा के रहने वाले थे। आपने वहीं के नट्टल साहु की प्रेरणा से तीन रचनायें 'पासणाहचरिउ', 'सुकमालचरिउ' और 'भविसयत्तचरिउ' का प्रणयन किया। इनका रचना काल सं० ११८९ से १२३० के बीच निश्चित किया गया है। पासणाह-चरिउ की रचना दिल्ली में सं० ११८९ में हुई। इसमें कवि ने दिल्ली प्रदेश, दिल्ली नगर और यमुना का वर्णन किया है। सुकमालचरिउ की रचना वलउ (अहमदाबाद) में सं० १२०८ में हुई। यह ग्रन्थ साहु पीथा के पुत्र कुमार के आग्रह पर लिखा गया। इसमें सुकमाल स्वामी के पूर्वभवों का वर्णन है। वे अपने पूर्वभव में कौशाम्बी के राजमंत्री के पुत्र थे। संसार से विरक्त होकर तप किया और उज्जैन में सुकमाल नाम से जन्म लिया। 'भविसयत्तचरिउ' की रचना सं० १२३० में हुई। यह कृति माथुरवंशी नारायण साहु की पत्नी रुप्पिणी के लिए लिखी गई। इसमें श्रुतपंचमी-व्रत के माहात्म्य को भविष्यदत्त के चरित्र के माध्यम से प्रकट किया गया है। यह ६ सन्धियों और १४३ कड़वकों में लिखा एक सुन्दर ग्रन्थ है। इनकी कृतियों में काव्यत्व के साथ जैन सिद्धान्तों का अच्छा समन्वय हुआ। ये रचनायें १३ वीं शताब्दी की संक्रान्तिकालीन भाषा का स्वरूप जानने के लिए महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

देवसेन गणि—आपकी रचना 'सुलोचनाचरिउ' २८ सन्धियों में लिखित १३ वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है। आप विमलसेन गणधर के शिष्य थे। सुलोचना की कथा जैन कवियों का प्रिय विषय रही है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने भी इस कथा का जिक्र किया है। पुष्पदन्त, धवल और रविषेण आदि ने इस कथा पर आधारित काव्य ग्रन्थ लिखे हैं। यह कवि पुष्पदन्त से प्रभावित प्रतीत होता है। सुलोचना चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्म-पत्नी थी और राजा अकम्पन की पुत्री थी। इसमें सुलोचना के स्वयंवर के अवसर पर सुलोचना को प्राप्त करने के लिए भरत के पुत्र अर्धकीर्ति और जयकुमार के युद्ध का वर्णन प्रभावशाली ढंग से किया गया है। एक उदा-हरण प्रस्तुत है—

"झरझरंत पव हिय बहुरत्तइं, णं कुसभं रय रायं रत्तइ।
चरमरंत फाडिय चल चम्मइं, कसमसंत चरिय तणु वम्मइं।" इत्यादि।

इस उदाहरण से इनकी भाषा की बानगी मिल जाती है। इसमें अनु-प्रास आदि अलंकारों द्वारा युद्ध वर्णन को सजीव बनाने का अच्छा प्रयास दिखाई पड़ता है।

सिंह और सिद्ध कवि—सिंह कवि के पिता का नाम रल्हण और माता का नाम जिनमती था। इन्होंने अपनी माता के अनुरोध पर पज्जुण्णचरिउ (प्रद्युम्नचरित) नामक काव्य ग्रन्थ लिखा। ग्रन्थ की पुष्पिका से इसके दो लेखकों—सिंह और सिद्ध का पता लगता है। हो सकता है कि दोनों सहलेखक हों या सिद्ध की मृत्यु के पश्चात् सिंह ने ग्रन्थ पूर्ण किया हो। इसमें २१ वें कामदेव कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न की कथा १५ सन्धियों में प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ की सन्धियों के प्रारम्भ में संस्कृत के छन्द भी दिए गये हैं; अतः दोनों लेखकों में से दोनों या कोई एक लेखक संस्कृत-रचना में काव्य-कुशल मालूम पड़ता है। पं० परमानन्द जैन और प्रो० हीरालाल जैन का विचार है कि सिद्ध कवि के इस ग्रन्थ का पुनरुद्धार या समापन सिंह कवि ने किया था। इसमें सौराष्ट्र देश का वर्णन, कृष्ण और सत्यभामा का वर्णन मनोहारी बन पड़ा है। सिद्ध कवि के सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं मिल सका है। यह रचना वि० १२ वीं के अन्त या १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ की होगी।

हरिभद्र—आप ८ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र से भिन्न हैं। आपका समय १३ वीं शताब्दी निश्चित है। आप जिनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य एवं श्रीचन्द्र के शिष्य थे। आपने वि० सं० १२१६ में नेमिनाथ या सनत्कुमारचरित नामक ग्रन्थ अणहिल पाटन में लिखा है। आप सिद्धराज एवं कुमारपाल के अमात्य पृथ्वीपाल के आश्रित कवि थे। इस ग्रन्थ का एक अंश 'सनत्कुमारचरित' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। डॉ० हर्मन जेकोबी ने सन् १९२१ में इसे सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। नेमिनाथचरित के ४४३ से ७८५ पद्य संख्या तक कुल ३४३ रड्डा पद्यों में सनत्कुमार का चरित्र वर्णित है। सनत्कुमारचरित यद्यपि नेमिनाथचरित का एक अंश है किन्तु वह अपने आप में पूर्ण है। इसमें कवि ने जम्बूद्वीप, भरतखण्ड, गजपुर आदि का काव्यमय वर्णन किया है। सनत्कुमार गजपुर के राजकुमार हैं जो अश्वारूढ़ होकर अनजान देश को प्रवास करते हैं। उन्हें ढूढ़ता हुआ उनका एक सखा महेन्द्र मानस सरोवर पहुँचता है; वहीं दोनों की परस्पर भेंट होती है। इसमें सनत्कुमार के विवाह, राजभोग आदि गृहस्थ जीवन के पश्चात् वैराग्य और स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इस काव्य ग्रन्थ में प्रेमतत्त्व अधिक प्रस्फुटित हुआ है। प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलम्भ का सुन्दर वर्णन कवि ने यत्र-तत्र किया है। नारी शोभा, प्राकृतिक छटा, वसन्त वर्णन आदि भी मनोहर बन पड़े हैं। नारी सौन्दर्य का एक वर्णन यहाँ प्रस्तुत है—

"जीए रयणिहिं तणु किरण मालच्चिय दीव सिव सोहमेतु मंगल पईवय।
सवणाण विहुसणइ नमण कमल विइमेत्त मेवय।" इत्यादि।

अर्थात् वह नारी अपने किरण मालाचित शरीर से रात्रि में मंगलमय प्रदीप शिखा के समान प्रतीत होती है।

वैसे तो अन्य जैनकाव्यों की तरह इसका भी पर्यवसान शान्तरस में होता है किन्तु यह एक सरस प्रेमाख्यानक काव्य है। इसकी भाषा गुर्जर अपभ्रंश एवं मरु-गुर्जर के बीच की कड़ी है, इसमें रड्डा छन्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है। अतः भाषा विकास एवं काव्यत्व की दृष्टि से यह अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

पण्डित लाखू या लक्खण—आपने 'जिणदत्तचरित' नामक ग्रन्थ वि० सं० १२७५ में लिखा। लखमदेव या लक्ष्मणदेव कृत णैमिणाहचरिउ जैसी रचनायें १३ वीं शती या उसके भी बाद की हैं जिनका वर्णन मरुगुर्जर के आदि कालीन साहित्य के अन्तर्गत उपयुक्त होगा। यद्यपि कुछ विद्वान् इन्हें अपभ्रंश की रचनायें मानते हैं किन्तु इनमें मरुगुर्जर और अपभ्रंश का सम्मिलित प्रयोग हुआ है। अतः इनका विवेचन मरु-गुर्जर की प्रारम्भिक रचनाओं के अन्तर्गत ही किया जाना उचित है। इसी प्रकार नरसेन कृत श्रीपालचरित, जयमित्रहल्ल कृत वर्द्धमानचरित, माणिक्यराज कृत नागकुमारचरित आदि भी उतनी ही अपभ्रंश की कृतियाँ हैं जितनी प्रारम्भिक मरु-गुर्जर की हैं। वैसे अपभ्रंश में रचनायें १५ शताब्दी तक लगातार होती रहीं और कुछ अच्छे कवि इस काल में भी हो गए पर अपभ्रंश का रचना काल १२ शताब्दी और १३ वीं शताब्दी के बीच ही कहीं समाप्त हो जाता है और मरु-गुर्जर के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से तीव्र हो जाती है। अतः आगे से मरु-गुर्जर भाषा साहित्य का आदि काल (१३ वीं से १५ वीं) प्रारम्भ हो जाता है। इस काल के दो अपभ्रंश कवियों का उल्लेख संक्षेप में अवश्य करना उचित है एक—यशःकीर्ति और दूसरे महाकवि रयधू। ये दोनों ही १५ वीं शताब्दी के कवि हैं किन्तु इनकी रचनाओं में अपभ्रंश का सशक्त रूप प्रयुक्त हुआ है।

यशःकीर्ति—आपकी तीन रचनायें—पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण और चन्दप्पहचरिउ (चन्द्रप्रभचरित) प्राप्त हैं। इनमें से प्रथम दो प्रबन्ध-काव्य और अन्तिम खण्डकाव्य है। तीनों रचनायें अप्रकाशित हैं। पाण्डव पुराण की रचना कवि ने नवगाँव के अग्रवाल वील्हा साहु के पुत्र हेमराज के आग्रह पर किया था। यह रचना कार्तिक शुक्ल अष्टमी वि० सं० १४९७ को समाप्त हुई। इसमें ३४ सन्धियाँ हैं। महाभारत में वर्णित पाण्डवों की

प्राचीन कथा को कवि ने इस कृति में जैन मतानुसार प्रस्तुत किया है। महाभारत की कथा से ही सम्बन्धित हरिवंशपुराण २६६ कड़वकों की रचना है। इसमें वसुदेव के जन्म, कंस जन्म, कृष्ण जन्म और गोकुलवास तथा उनका बाल्यकाल, गोपीक्रीड़ा, विवाह, प्रद्युम्न जन्म, महाभारत युद्ध से लेकर कृष्ण के स्वर्गारोहण तक की कथा दी गई है।

इस रचना में कहीं-कहीं सरस काव्यमय प्रसंग भी हैं किन्तु धर्मोपदेश का कोई भी उपयुक्त अवसर कवि ने हाथ से नहीं जाने दिया है। पद्धड़िया पद्धति में लिखी यह रचना कवि ने अपने आश्रयदाता दिवढ़ा साहु के आग्रह पर भाद्र शुक्ल सं० १५०० में लिखा था। इसमें कुल १३ संधियाँ हैं।

चन्दप्पहचरिउ की रचना कवि ने कुमारसिंह के पुत्र सिद्धपाल के आग्रह पर किया। इसमें इन्होंने अपनी गुरु परम्परा दी है, उससे ये गोपाचलगिरि पर रह कर हरिवंशपुराण की रचना करनेवाले (रयधू के गुरु) यशःकीर्ति ही प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा में अपभ्रंश का रूढ़ और कृत्रिम रूप अधिक दिखाई पड़ता है। भाषा सायास गढ़ी गई लगती है। एक उदाहरण अपने कथन के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

"कल्लाण तं कासि कहो तणिय वरधूप,
कि एछ ए कासि वहुविणय संभूय।
णिव पुच्छिया साविकर कमल सणाए,
सहिभणिय ता ताए पच्छण्ण वायाए॥"[1]

रयधू—(१५ वीं शती) अपभ्रंश में इतना विपुल साहित्यसृजन करने वाले कवि विरले हैं। इनकी रचनायें सिंहसेन, खेमसिंह और खेमराज के नाम से भी मिली हैं। आप अपभ्रंश के अन्तिम के सर्वाधिक सशक्त महाकवि हैं। आप उस संधिस्थल के कवि हैं जब अपभ्रंश पुरानी हिन्दी का रूप ले चली थी इसलिए आप अपभ्रंश के कवि तो हैं ही, साथ ही मरुगुर्जर के भी कवि हैं। भाषा विकास का अध्ययन करने के लिए आपकी रचनायें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। आपकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मपुराण' ११ संधियों और २६५ कड़वकों में लिखी जैन मतानुकूल राम कथा ही है। इस कृति मे गव्वगिरी (गोपाचलगिरि) और राजा डूगरेन्द्र का उल्लेख होने से इसका रचना स्थान और समय निर्धारित करने में बड़ी सुविधा है। इनके समकालीन गोपाचल नरेश डूगरसिंह तथा इनके सुपुत्र राजाकीर्तिसिंह आपके भक्त थे। उस समय ग्वालियर का दुर्ग जैन संस्कृति का केन्द्र था। आप

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ 'अपभ्रंश साहित्य' पृ० १२६ से उद्धृत।

काष्ठासंघीय माथुर गच्छ के कवि थे। आपके पिता की हरिसिंह संधी पवांया (ग्वालियर) वासी पुरवाल जाति के श्रेष्ठी थे। इनकी माता का नाम विजयश्री था। इनके पिता भी विद्वान् एवं कवि थे अतः विद्वत्ता इन्हें विरासत से प्राप्त थी। कहा जाता है कि इन्हें सरस्वती देवी ने स्वप्न में काव्य रचना का आदेश दिया था। अब तक इनकी २३ रचनाओं का पता चल चुका है।[1] उनकी सूची निम्नाङ्कित है—पुण्याश्रवकथाकोष, अणथमी-कथा, सम्यक्त्वकौमुदी, पार्श्वचरित, सुकौशलचरित, मेघेश्वरचरित्, पद्म-चरित, धन्यकुमारचरित, सन्मतिजिनचरित, जीवन्धरचरित, करकंडु चरित, श्रीपालचरित, यशोधरचरित। इन्होंने अपनी रचना 'सम्मत गुणणिहाड' की समाप्ति का समय सं० १४९० बताया है तथा सुकौशल-चरित सं० १४९६ में लिखा है। धन्यकुमारचरित में इन्होंने गुणकीर्ति को अपना गुरु बताया है। कहीं-कहीं यशःकीर्ति को भी इनका गुरु कहा है। अतः सब बातों का विचार करते हुए आपका रचना काल सं० १४६८ से १५३६ तक ठहरता है।

इनके प्रसिद्ध खण्डकाव्य सुकौशलचरित में इक्ष्वाकुवंशीय राजा कीर्तिधर के पुत्र सुकौशल का महान् चरित्र चित्रित है। आपके पिता विरक्त होकर मुनि हो गये। रानी को डर लगा कि कहीं उसका पुत्र भी पिता के समान विरक्त न हो जाय इसलिए उसने नगर में मुनियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुनिवेशधारी अपने पिता को ही सिपाहियों द्वारा नगर-प्रवेश से वर्जित करते देख कुमार सुकौशल को भी विरक्ति हो गई और वह भी मुनि हो गया तथा जैनधर्म की साधना करके मुक्त हुआ। यह रचना रण-मल्ल के आश्रय में की गई। 'सन्मतिनाथचरित' में कवि ने यशःकीर्ति को अपना गुरु कहा है और उन्हीं की प्रेरणा से उसने यह रचना गोपाचल-गिरि पर की थी। बलभद्रपुराण हरिसिंह साहु को समर्पित है। इसका रचनाकाल सं० १४९६ है। सम्यक्त्वकौमुदी की रचना उन्होंने कीर्तिसिंह के लिए की थी। ये अपभ्रंश परम्परा के अन्तिम आचार्य एवं महाकवि हो गये हैं। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अधिकतर अपभ्रंश में रचनायें लिखी हैं। आप दिगम्बर सम्प्रदाय के कवि थे। आप की भाषा जगह-जगह तत्कालीन बोलचाल की भाषा के करीब दिखाई पड़ती है किन्तु उसका मूल ढाँचा अपभ्रंश का है। इसके शब्द थोड़े हेरफेर से व्रज, बुन्देली

१. डॉ० राजाराम जैन 'अपभ्रंश भाषा के संधि कालीन महाकवि रयधू' आचार्य भिक्खु स्मृति ग्रन्थ।

के शब्दों का रूप ले लेते हैं जैसे जोतिय (जोतकर) धूलु (धूल), टले, झडप्प आदि। आप सूरदास से ७०-७५ वर्ष पूर्व हो गये। सूरपूर्व व्रजभाषा का महत्त्वपूर्ण प्रयोग आपकी रचनाओं में उपलब्ध है। सुकौशलचरित के आरम्भ में कवि ने आत्मदैन्य व्यक्त करते हुए जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनकी छाप सूर के 'चरणकमल वन्दौ हरिराई' वाले पद पर दिखाई देती है। पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर के प्रारम्भिक युग के अपभ्रंश धारा के इस महाकवि की विपुल काव्य सम्पदा से नवविकसित मरुगुर्जर साहित्य को भाषा एवं काव्य सम्बन्धी प्रचुर सहायता प्राप्त हुई है।

अपभ्रंश की प्रबन्ध काव्य धारा का इन्हीं महाकवि के साथ समापन करता हुआ मैं आग्रह करता हूँ कि इनके अध्ययन की तरफ अधिकाधिक अनुसंधित्सुओं को ध्यान देना चाहिये।

जैन रास साहित्य—अपभ्रंश में रास साहित्य की तीन धारायें मिलती हैं—(१) जैन मुनियों की धार्मिक रास धारा, (२) चरित काव्य सम्बन्धी रास और (३) लौकिक प्रेम सम्बन्धी रास। विवेच्य काल अर्थात् १२ वीं १३ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में लिखित रासों की संख्या कम ही उपलब्ध है। इस काल के प्रसिद्ध आचार्य जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेशरसायनरास' (सं० ११७१) एक लघु रास कृति है। प्रारम्भ में रास लघु आकार के होते ही थे। यह पद्धड़िया और चउपइ छन्दों में लिखित श्रावकों के लिए सदाचरण का निर्देश करने वाली रचना है। इसमें कवि ने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की वंदना के अलावा माघ, कालिदास और भारवि आदि संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों का भी सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। इस रास में तत्कालीन नाटय पद्धति पर प्रकाश डाला गया है, यथा :—

"धम्मिलय नाडच पर नच्चिज्जहिं, भरह सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि बलरायह चरियइं, नच्चिवि अंति हुंति पव्वइमइं।"

अर्थात् धार्मिक नाटक (नृत्य पर आधारित) खेले जाते हैं और उन नाटकों में सगर, भरत आदि के निष्क्रमण तथा चक्रवर्ती बलदेव आदि के चरित्र कहे जाते हैं।'[1] इसमें आ० जिनदत्त ने अपने गुरु युग प्रधान जिनवल्लभ, जैन संघ, साधु-साध्वी के सम्मान-सत्कार तथा कृपणों की सम्यक्त्वहीनता का वर्णन किया है। अन्तिम कुछ पद्यों में गृहस्थों-श्रावकों के समुचित जीवननिर्वाह पद्धति पर भी प्रकाश डाला गया है। यह जैन रासों में प्राप्त प्रथम रास ग्रन्थ समझा जाता है। आपकी अन्य दो रचनाओं,

१. हिन्दी सा० का बृ० इ० भाग ३, पृ० २९७।

'चर्चरी' और 'कालस्वरूपकुलक' में प्रथम स्पष्ट मरुगुर्जर की रचना लगती है, अतः इसका वर्णन यथास्थान वहीं किया जायेगा। कालस्वरूपकुलक को उपदेशकुलक भी कहा जाता है। इसमें क्रिया से सम्बन्धित पांच-छहः छंद हैं, गुरु की महिमा का वर्णन है और इसीलिए सब मिलाकर इसे कुलक की संज्ञा दी गई है। इसमें सद्गुरु की उपमा गो दुग्ध और कुगुरु की आक दुग्ध से दी गई है। इनके उपदेश रसायन की परम्परा में परवर्ती रचनायें बुद्धिरास, जीवदयारास आदि उल्लेखनीय हैं। भरतेश्वर बाहुबलि रास आदि १३ वीं शताब्दी की रास रचनाओं का विवरण यथास्थान आगे दिया जायेगा क्योंकि वे मरुगुर्जर की रचनायें हैं।

आपके पिता वाछिग हुंबड वंशीय थे और माता का नाम बाहड़ देवी था। आपका जन्म गुजरात के घोलका नगर में सं० ११३२ में हुआ था। आपका दीक्षा नाम सोमचन्द्र था, सं० ११६९ में आप जिनदत्तसूरि के नाम से आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आप बड़े विद्वान् और प्रतिभाशाली आचार्य हुए। कविवर समयसुन्दर ने आपके व्यक्तित्व पर रचनायें की हैं। आपका स्वर्गवास सं० १२११ में हुआ। आपकी रचनायें 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1]

इस समय की कुछ ऐसी रचनायें भी हैं जिनका कुछ अंश अपभ्रंश भाषा में है और कुछ मरुगुर्जर में है। सं० ११६० में रचित वर्द्धमान सूरि की रचना ऋषभचरित, देवचन्द्र कृत शान्तिनाथचरित और लक्ष्मणगणि कृत सुपासनाहचरित्र में अपभ्रंश के पर्याप्त अंश पाये जाते हैं। शुद्ध मुक्तक या स्फुट रचनाकारों से पूर्व कुछ उन कवियों का भी उल्लेख किया जायेगा जिन्होंने मुक्तक के साथ छोटे-छोटे कथा काव्य भी लिखे हैं। इनमें साधारण और देवचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

साधारण—आपने सं० ११२३ में बिलासवइकहा की रचना की। आपने अनेक स्तुति, स्तोत्र, स्तवन आदि लिखे हैं। बाद में आपका नाम सिद्धसेन सूरि पड़ा। इस कथा की प्रति जैसलमेर भंडार में सुरक्षित है। यह रचना अहमदाबाद के समीप धुंधुका ग्राम में हुई। इसमें ११ संधियां हैं। यह हरिभद्रसूरिकृत समराइच्चकहा के आधार पर लिखी गई है और कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आप

१. आ० जिनदत्त की तीनों रचनाओं को पं० लालचन्द भगवानदास गान्धी ने सम्पादित करके विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना के साथ गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित कराया है।

कोटिकगण वज्र शाखा में बप्पभट्टि सूरि की परम्परा में यशोभद्रसूरि गच्छ के विद्वान् थे।

देवचन्द्र—सुलसाख्यान आपकी अपभ्रंश में लिखी १७ कड़वकों की रचना है। इसमें सुलसा सती का आख्यान है। भाषा अपभ्रंश है।

मुक्तक या स्फुट काव्य—१२ वीं शताब्दी के नवांगी वृत्तिकार अभयदेव सूरि कृत्त 'जयतिहुयण' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र अपभ्रंश की रचना मानी जाती है किन्तु इसमें मरुगुर्जर के प्रयोग प्रचुर हैं अतः इसका विवरण वहीं होगा।

योगीन्दु या योगीन्द्राचार्य—इनका समय अनिश्चित है। हरिवंश कोछड़ इन्हें नवीं शती का, राहुल जी इन्हें १० वीं और श्री नाहटा १२ वीं तथा देसाई १३ वीं शताब्दी का कवि बताते हैं किन्तु श्री अ० च० नाहटा के मत से अधिकतर लोग सहमत हैं। आपकी रचना 'परमप्पयासु' या परमात्मप्रकाश एक आध्यात्मिक रचना है जिसे आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने सम्पादित करके प्रभावक मंडल, बम्बई से सन् १९३७ में प्रकाशित कराया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। योगीन्द्र का कोई शिष्य भट्ट प्रभाकर आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी प्रश्न आचार्य से पूछता है उन्हीं का उत्तर देने के लिए आचार्य ने यह रचना की है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि का विवेचन किया गया है। मोक्ष, समाधि, समभाव आदि का वर्णन है। मोक्ष का वर्णन कवि इस प्रकार करता है :—

"जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जंभावइ करि तंजि।
केम्बइ भोक्खु णं अत्थि पर चित्तह शुद्धिण जंजि॥"

अर्थात् चित्तशुद्धि ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। इसकी भाषा सरल, सुबोध और स्पष्ट है। विभक्तिसूचक प्रत्ययों के स्थान पर कहीं-कहीं परसर्गों का प्रयोग उसकी अग्रगामिता का सूचक है। शब्द समूह में 'पथडा' (सिद्धि का मार्ग) आधुनिक भाषाई प्रवृत्ति है। लेइ (लेना), लेति, देखइ, जाइ, बुज्झई, लग्गइ, रुक्खे (वृक्ष से) कोइ, जोइ (देखना) आदि शब्द पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर के भी शब्द हैं। इनकी दूसरी रचना योगसार या दोहासार भी परमात्म प्रकाश के साथ ही डॉ० उपाध्ये द्वारा सम्पादित-प्रकाशित हो चुकी है। इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है, नमूना देखिये :—

"आउ गलइ गवि मणु गलइ गवि आसा हु गलेइ।
मोह फुरइ णवि अप्प हिउ इम संसार भमेइ॥४९॥

आयु क्षीण होती जाती है, किन्तु मन और आशा क्षीण नहीं होती; मोह बढ़ता न कि आत्मचिन्तन; फलतः जीव भव-भ्रमण करता है। इसके अनेक दोहे स्पष्ट मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी के प्रतीत होते हैं अतः वहाँ भी इनका उल्लेख किया गया है किन्तु ये दोनों के मध्य की कड़ी हैं।

मुनिरामसिंह—आपको पाहुड़ दोहा का रचयिता माना गया है। किन्तु कुछ लोग योगीन्दु को ही इसका भी लेखक मानते हैं। यह परमात्मप्रकाश की भाँति ही लोकप्रिय रचना है। डॉ० उपाध्ये का विचार है कि यह रचना योगीन्दु की ही है। रामसिंह मात्र एक परम्परागत नाम है। इनके काल निर्धारण में भी इसीलिए विद्वान् एकमत नहीं हैं। इस रचना के दोहों को आ० हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है अतः ये उनसे पूर्व अवश्य लिखे गये होंगे। अतः इसकी रचना १२ वीं शती के पश्चात् नहीं मानी जा सकती है। पाहुड़ दोहे के कुछ दोहे देवसेन कृत सावयधम्म में भी मिलते हैं इसलिए इनका समय १० वीं से १२ वीं के बीच अनिश्चित है। यह प्रो० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी द्वारा वि० सं० १९९० में प्रकाशित हो चुकी है। पाहुड़ शब्द का अर्थ विशेष विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ के रूप में रूढ़ हो गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रायः सभी ग्रन्थ पाहुड़ कहे जाते हैं। वैसे यह शब्द संस्कृत 'प्राभृत' का अपभ्रंश माना जाता है जिसका अर्थ है 'उपहार'। इस अर्थ में पाहुर शब्द आज भी पूर्वी उत्तर-प्रदेश के देहातों में प्रचलित है। आ० कुन्दकुन्द के भावपाहुड़ का प्रभाव पाहुड़ दोहा पर माना जाता है। दोनों रचनाओं में रहस्यवादी प्रवृत्ति की झलक मिलती है। इन दोहों पर गोरखपंथी प्रभाव भी लक्षित होता है जो तत्कालीन एक सबल परम्परा थी। इसमें कुल २२२ पद्य हैं। इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश और मरुगुर्जर के बीच की कड़ी है। इसलिए महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

"हत्थ अहुट्ठहं देवली कलहं णाहि पवेसु।
संतु णिरजंणु तहिं बसइ णिम्मलु होइ गवेसु॥"

स्वयं को स्त्री और आत्मा को प्रिय मानकर एकाकार हो जाने की भावना भी है; यथा—

"हउं सगुणी पिउणिगुणउ णिल्लक्खणु णी संगु।
एकहि अंगि वसंतयहं मिलिहु ण अंगिहि अंगु॥"

इसमें निराकार-निरजंन असीम प्रिय से सीमा के मिलन की आतुर-उत्कंठा संत साहित्य के रहस्यवाद से काफी मेल खाती है। ये रचनायें भारतीय संस्कृति की विशेषता-अनेकता में एकता की सूचक हैं। इनकी भाव धारा और भाषा समस्त उत्तर भारत में व्याप्त संतकाव्य धारा के मेल में है और इसकी भाषा समूचे उत्तर भारत की काव्यभाषा शौरसेनी अपभ्रंश या उसका विकसित परवर्ती रूप है।

सुप्रभाचार्य—वैराग्यसार के लेखक सुप्रभाचार्य दिगम्बर साधु थे। इनकी कृति केवल ७७ पद्यों की छोटी रचना है जिसके रचना-स्थान एवं समय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित ज्ञात नहीं है। वैराग्यभाव का उपदेश देता हुआ कवि कहता है :—

'इक्कहिं घरे बधामणा अर्णाहि घरि धाजहि रोविज्जइ।
परमत्थइ सुप्पउ भणंइ, किम वइराय भाउण किज्जइ।'

इसी प्रकार सांसारिक विषयों की असारता, यौवन, धन, सौन्दर्य की नश्वरता का दोहों में वर्णन किया गया है। इनकी भाषा में आधुनिक देशी भाषाओं से मिलते-जुलते बहुतेरे शब्द प्रयोग मिल जाते हैं जैसे—मसाण (श्मशान) लक्कड़ (लकड़ी) अथवा उक्ति—मुण्ड कि आवै कोई (क्या कोई मर कर आता है) कर्त्ता और कर्म का बहुवचन बनाने के लिए शब्दों के अन्त में, ह, हं विभक्ति लगाते हैं जैसे माणसह, भमंतह आदि।

देवसेन—उपदेश परक मुक्तक रचनाओं में आपकी कृति सावयधम्म-दोहा (श्रावकधर्मदोहा) अधिक लोक प्रचलित है। कुछ लोग योगीन्दु और कुछ लोग लक्ष्मीचन्द्र को इसका लेखक समझते हैं किन्तु एक प्रति में इस ग्रन्थ को देवसेन उपदिट्ठ कहा गया है। इस कृति का उनकी अन्य कृतियों जैसे भावसंग्रह आदि से पर्याप्त मेल बैठता है। इनकी अन्य रचनायें दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, आलाप पद्धति आदि बताई जाती हैं। इस कृति के प्रारम्भ में पंचगुरुओं की वंदना, मंगलाचरण, धर्म की महत्ता बताई गई है। एक स्थान पर कवि दुर्लभ मनुज शरीर को प्राप्त कर भोगों में लिप्त रहने वालों के लिए चेतावनी देता हुआ कहता है कि उस मूर्ख ने ईंधन के लिए मानो कल्पवृक्ष को समूल उखाड़ दिया है। यह रचना प्रो० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर अम्बादास दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सं० १९८९ में प्रकाशित हो चुकी है। इन्होंने दोहों की भाषा को देशीभाषा कहा है यथा :—

'जिणसासण भासियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइभाउ करि सो तरि पावइ पारु।' इसमें प्रयुक्त शब्द रूप, विभक्ति धातुरूप सब देशभाषा के हैं। यह अपभ्रंश के काफी विकसित रूप की परिचायक है। इसमें घरतणउ जैसे (घर का) परसर्गों का प्रयोग; कच्चासण (कच्चा भोजन) थोडउ, बहुत्तु कप्पड़ि, लोणि जैसे शब्द प्रयोग उसे मरुगुर्जर के काफी समीप पहुँचा देते हैं। विषयों के त्याग का उपदेश देता कवि एक स्थान पर लिखता है—

'रुवहु उप्परि रइ मं करि, णयण णिवारहि जंत।
रुवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत।' १२६।

अर्थात् रूप पर रति मत कर, रूप पर आसक्त पतंग दीपक में पड़ता है। इत्यादि।

प्रबन्ध काव्यों में तो यत्र-तत्र कवित्व को अवसर मिल जाता है किन्तु उपदेश प्रधान मुक्तकों में नीति, वैराग्य, श्रावकाचार, तत्त्वज्ञान जैसी गम्भीर एवं शुष्क बातें इतनी व्याप्त हो जाती हैं कि सरसता एवं कवित्व के लिए शायद ही अवकाश मिल पाता है। इनकी ऋजुकथन शैली, भाषा की प्रासादिकता अवश्य इन्हें सुबोध और पठनीय बनाये रखने में सक्षम होती है। १२वीं शताब्दी के पश्चात् संग्रहीत विविध ग्रन्थों में अपभ्रंश के स्फुट पद्य पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। ऐसे ग्रन्थों में हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण के अतिरिक्त सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपालप्रतिबोध, मेरुतुङ्ग कृत प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखरसूरि कृत प्रबन्धकोश और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि में अनेक ऐतिहासिक महापुरुषों का आख्यान मिलता है। इसमें तैलप द्वारा मुञ्ज के बंदी किए जाने से सम्बन्धित अनेक मार्मिक पद्य पाये जाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण की चर्चा पहले की जा चुकी है। उन्होंने अपने व्याकरण में उदाहरणस्वरूप पूरे के पूरे छन्द दोहे आदि प्रचुर मात्रा में उद्धृत करके लुप्त होते हुए अपभ्रंश साहित्य को बचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आप अपभ्रंश के अन्तिम महान् आचार्य हो गये हैं। आपकी रचनाओं में 'अभिधानचिन्तामणि', काव्यानुशासन, छंदोनुशासन, देशीनाममाला, द्वाश्रयमहाकाव्य, योगशास्त्र, धातुपारायण, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित, परिशिष्टपर्व और सिद्धहैम या शब्दानुशान महत्त्वपूर्ण हैं। आपने कुमारपाल चरित में अपभ्रंश का सूत्र समझाया है। एक उदाहरण देखिये :—

'गिरिहेवि अणिउ पाणिउ पिज्जइ, तरुहेवि निपडिउ फलु भणिखज्जइ।
गिरिहुंव तरुहुंव पडिअउ अच्छइ विषयहि तहवि विराउन गच्छइ।'

हिन्दी रूपान्तर—

'गिरिहिं मि आव्यो पानी पीजै, तरुहुं मिनिपत्यो फल भक्खीजै।
गिरिहुमि तरुहुमि पडियो आछै विषयहं तदपि विराम न गच्छै।'

उनके व्याकरण से एक और सरस उदाहरण उद्धृत किया जा रहा है :—

'अंगहि अंग न मिलियउ, हलि अहरे अहरु न पुत्तु,
पिय जो अन्ति हे मुह कमलु अेम्बइ सुरउ समत्तु।'

यहां अेम्बइ—अेवे, पंजाबी अेवे, हिन्दी यो ही, गुजराती अेमज का बोधक है। इनमें शृङ्गार, नीति, वैराग्य, वीर आदि के बड़े प्रभावशाली छन्द पाये जाते हैं। जिनसे तत्कालीन भाषा का स्वरूप समझने में बड़ी सुविधा होती है।

रूपक काव्य—सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध का एक अंश 'जीव मनः करण संलाप कथा रूपक काव्य है जो मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित, सेंट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा से सन् १९२० में प्रकाशित है। इसमें इन्द्रियों को पात्र बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इस परम्परा में आगे चलकर हरिदेव कृत मयणपराजय और बुच्चराय कृत मयणजुज्झ आदि रूपक रचनायें प्राप्त होती हैं।

कथा साहित्य—जैन लेखकों ने जनसाधारण में अपने मत का प्रचार करने के लिए नाना प्रकार की मनोरंजक कथाओं का निर्माण किया। ये कथाग्रन्थ संस्कृत के वासवदत्ता, दशकुमार आदि लौकिक कथाओं के समान ही हैं। इनमें किसी लोक प्रसिद्ध पात्र को कथा का केन्द्र बनाकर वीर, शृङ्गारादि रसों का चर्वण कराता हुआ लेखक सबका उपसंहार वैराग्य और शम में कर देता है। इनमें पूर्वभवों की अनेक अद्भुत कथायें और अवान्तर कथाओं का तानाबाना बुना रहता है। कथा साहित्य चिरन्तन काल से लोकरंजन एवं मनोरंजन का माध्यम रहा है। अतः इसका प्रवाह चिरकाल से सतत् प्रवहमान है। इस विशाल भारतीय कथा साहित्य में जैन कथा ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य में कथा की परम्परा प्राकृत संस्कृत से होती अपभ्रंश तक आई जिसमें सिद्धर्षि कृत उपमितिभव-प्रपंचकथा (१०वीं), धनपाल कृत तिलकमंजरी, पादलिप्त कृत तरंगवती, संघदासगणि कृत वसुदेवहिंडी, हरिभद्रकृत समराइच्चकहा और उद्योतनसूरि कृत कुवलयमालाकहा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हरिषेण कृत धम्मपरिक्खा अपभ्रंश की महत्त्वपूर्ण रचना (११वीं शताब्दी) है। आपके पिता श्री गोवर्धंत मेवाड़ के सिरिउजपुर में धक्कड़-वंश में पैदा हुये थे। लेखक वहां से अचलपुर जाकर रहने लगा और वहीं

यह रचना की गई। इनके गुरु का नाम सिद्धसेन था। यह रचना जयराम कृत धम्मपरिक्खा के आधार पर हुई है। किन्तु प्राकृत की यह रचना उपलब्ध नहीं है। इनके समकालीन अमितगति ने २६ वर्ष बाद धर्म-परीक्षा संस्कृत में लिखी। इसमें ब्राह्मण धर्म पर व्यंग्य है। प्राकृत में हरिभद्र रचित धूर्ताख्यान इस रचना का पूर्ववर्ती प्रेरक ग्रन्थ समझा जा सकता है। धूर्ताख्यान में व्यंग्य हलका है किन्तु धम्मपरिक्खा में बहुत कड़ा है।

कथाकोष—श्री चन्द्र कवि कृत ५३ संधियों की यह अप्रकाशित रचना है। यह कवि आ० कुन्दकुन्द की परम्परा में वीरचन्द का शिष्य था। यह अण-हिलपुर के मूलराज का समकालीन था। यह मूलराज द्वितीय (सं० ११७६-११७८) हो सकता है। इसमें ५३ कथायें संकलित हैं। सभी धार्मिक और उपदेश प्रधान हैं। कथाओं में पशु-पक्षियों को भी पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस परम्परा में सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपाल प्रतिबोध के अन्तर्गत स्थूलिभद्र कथा है। दूसरी रचना 'छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश रत्नमाला) चालुक्यवंशी राजा कृष्ण के शासनकाल सं० १२४७ में लिखी गई है। प्रो० हीरालाल जैन ने सुअन्धदहमीकथा, उद्धरणकथा आदि कथा ग्रन्थों का उल्लेख इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल भाग १, पृ० १८१ पर किया है।

जैनेतर अपभ्रंश काव्य—जैन धार्मिक प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्यों के अलावा इस कालावधि में अनेक लौकिक प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्य जैनेतर कवियों द्वारा भी लिखे गये। इनमें अद्दहमाण कृत संदेशरासक सर्वप्रधान है। यह धर्म निरपेक्ष लौकिक प्रेमभावना को व्यक्त करने वाला एक मुसलमान कवि द्वारा लिखा गया अपभ्रंश काव्य है। यह एक संदेश काव्य है और रासक या रासो शैली में लिखा गया है। विजयनगर की एक सुन्दरी अपने प्रवासी पति के विरह में व्याकुल होकर एक पथिक् से संदेश भेजती है। इसका अन्तिम अंश बड़ा मार्मिक है। वह कहती है—

जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय।
'घण दुक्खा उन्नियह मयण अग्गि विरहिणि पलित्तिहि,
तं फरसउ मिल्हि तुहु विणियमग्गि पभणिज्ज मत्तिहि।'

अर्थात् हे पथिक् यदि विरह पीड़िता, कामाकुला मैंने कुछ अकथ्य कहा हो तो उसे सुधार कर कहना। इस काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रधानता

है। इसकी भाषा प्रायः बोलचाल की अपभ्रंश है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कवि अद्दहमाण की काव्य कुशलता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कवि प्राकृतिक दृश्यों का चित्र इस कुशलता से अंकित करता है कि इससे विरहिणी के विरहाकुल हृदय की मर्मवेदना मुखरित हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो व्यञ्जना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है।[1]

मेघदूत की शैली में लिखित २२३ पद्यों के इस संदेश काव्य में पथिक् विरहिणी को अनेक प्रकार से आश्वासन देता है। प्रसंगानुसार इसमें विरह वर्णन के अलावा वसंत ऋतु और नारीशोभा तथा मानवीय संवेदनशीलता का भी भावुक चित्रण हुआ है। जब वह विरहिणी को समझा रहा होता है उसी समय उसका पति आता दीख गया और काव्य का चमत्कारिक ढंग से उपसंहार हो गया। यह १४वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण की रचना है। इसकी टीका सं० १४६५ की प्राप्त है अतः रचना और पहले की होगी।

'प्राकृत पैंगलम्' नामक एक अन्य अपभ्रंश का संकलन ग्रन्थ है जिसमें कथा सूत्र के साथ-साथ मुक्तक छन्द भी संग्रहीत हैं। इसकी भाषा सरल अपभ्रंश है। इसका संकलन १४वीं शती में ही हुआ होगा। इसमें अपभ्रंश का विकसित किन्तु सरल रूप दिखाई पड़ता है।

लौकिक प्रेम कवियों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कवि विद्यापति हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'कीर्तिलता' द्वारा पाठकों को पूर्वी अवहट्ट का परिचय प्राप्त होता है। यह एक ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमें राजा कीर्तिसिंह का विवरण दिया गया है। यह भी १५वीं शती की रचना है। इसी प्रकार राजस्थानी रासो ग्रन्थ—पृथ्वीराजरासो, वीसलदेवरासो, परमालरासो आदि भी इसी समय की रचनायें हैं किन्तु इस प्रबन्ध का उद्देश्य जैन साहित्य पर ही विशेष प्रकाश डालना है अतः उनका नामोल्लेख करके ही सन्तोष किया जा रहा है।

बौद्ध अपभ्रंश साहित्य—धार्मिक या साम्प्रदायिक अपभ्रंश साहित्य मुख्य रूप से जैनों द्वारा ही लिखा गया है किन्तु काफी रचनायें बौद्धों और शैवों द्वारा भी इसी कोटि की रची गई हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा अप्रासंगिक

---

१. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल

न होगी। बौद्ध अपभ्रंश साहित्य में सर्वप्रथम सिद्धों की रचनायें मिलती हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९१६ में वंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से इनका एक संकलन 'बौद्धगान ओ दोहा' शीर्षक से प्रकाशित कराया। प्रो० प्रबोधचन्द्र बागची ने इसकी तिब्बती प्रति के आधार पर इसके मूलपाठ का संशोधन और सम्पादन किया। इस क्षेत्र में राहुल जी के प्रयत्नों से हिन्दी जगत् भलीभांति परिचित है। कण्ण, भुसुक, सरह, कुक्कुरी, लुइपा, शबर, शान्तिपाद आदि सिद्धों की वाणियों का संकलन, अध्ययन काफी हो चुका है। चर्यागीतों में अपने विचारों को सिद्धों ने रूपकों के सहारे व्यक्त किया है। नौका, चूहा, हाथी, हरिण आदि के रूपक द्वारा विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। चर्यागीत गेय पदों के रूप में हैं, जिनमें विभिन्न रागों का निर्देश मिलता है। दोहाकोष में प्रधान छंद दोहा है। चौपइ, अडिल्ल, पज्झटिका, गाथा, रोला, उल्लाला आदि छंदों का प्रयोग भी किया गया है। इनकी भाषा दो रूपों में मिलती है, एक पूर्वी अपभ्रंश जिसमें पश्चिमी अपभ्रंश के शब्द रूप भी मिलते हैं, दूसरा पश्चिमी अपभ्रंश। चर्यागीतों में पूर्वी और दोहाकोष में पश्चिमी अपभ्रंश का अधिक प्रयोग मिलता है। इनकी रचनाओं में अक्खड़पन, वैराग्य, गुरु महिमा आदि का विशेष वर्णन है। इसका हिन्दी के निर्गुण साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

शैवों की अपभ्रंश रचनायें—कश्मीर का अद्वैत और त्रिक् शैव सम्प्रदाय अपने विचारों को अपभ्रंश में ही व्यक्त करता है। काश्मीरी अपभ्रंश में शितिकण्ठाचार्य ने प्रसिद्ध कृति 'महानय प्रकाश' लिखी है, इसमें त्रिक् सम्प्रदाय का विवेचन है। इन्होंने इसकी संस्कृत टीका भी लिखी। इसका भी रचनाकाल १५वीं शताब्दी ही है जब अपभ्रंश वहां कश्मीरी के रूप में विकसित हो रही थी। यह कश्मीरी भाषा के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें सिद्धान्त विवेचन की प्रधानता है, साहित्यिकता नहीं मिलती। इनका महत्त्व तत्कालीन साधना एवं भाषा का रूप समझने की दृष्टि से ही है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य का संक्षिप्त परिचय मरुगुर्जर भाषा और साहित्य को समझने में सहायक होगा अतः अब तक उसकी चर्चा की गई है। अब हम मरुगुर्जर भाषा और उसके साहित्य के सम्बन्ध में अपभ्रंश की पृष्ठभूमि पर सुविधापूर्वक विचार कर सकेंगे। पूर्ववर्ती भाषा एवं साहित्य

के साथ तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक पीठिका का अध्ययन भी इस सन्दर्भ में अधिक उपादेय होगा क्योंकि कोई साहित्य अपने समाज का प्रतिबिंब, प्रतिनिधि और पथप्रदर्शक भी होता है अतः जैन मरुगुर्जर भाषा साहित्य की सामाजिक-सांस्कृतिक पीठिका भी संक्षिप्त रूप से आगे प्रस्तुत की जा रही है।

आदिकालीन जैन साहित्य की पृष्ठभूमि—गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था। कालिदास, अमरसिंह, आर्यभट्ट जैसी विभूतियों की कृतियों से आज भी देश का मस्तक उन्नत है। हूणों के आक्रमण और गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ ५वीं शताब्दी से ही राजनीतिक विश्रृङ्खलन प्रारम्भ हुआ। राजसत्ता के लिए परस्पर युद्ध, केन्द्रीय शासन के सुदृढ़ न होने से खण्डराज्यों के उदय के साथ जनता में अनिश्चय और असुरक्षा की भावना पनपने लगी। मरुगुर्जर (पुरानी हिन्दी) की जननी अपभ्रंश और उसके साहित्य का प्रारम्भ भी छठीं-सातवीं शताब्दी से होता है। भारत की राजनीतिक स्थिति १३वीं शताब्दी तक इसी प्रकार डाँवाडोल बनी रही। अतः इस परिस्थिति और इससे उत्पन्न प्रवृत्तियों का भारतीय जन-जीवन और साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। अतः इस युग के साहित्य का अध्ययन करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का अध्ययन करना बड़ा आवश्यक है।

गुप्तों के पश्चात् ७वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हर्षवर्द्धन ने उत्तर भारत में एक साम्राज्य स्थापित किया किन्तु दक्षिण में पुलकेशिन के समान सशक्त साम्राज्य होने के कारण देश उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त हो गया। राजसत्ता का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर कन्नौज आया और हर्ष के पश्चात् कान्यकुब्ज पर आधिपत्य जमाने के लिए राजाओं में होड़ लग गई और अन्ततः गुर्जर प्रतिहार इस पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल हो गये। १०वीं शती में प्रतिहारों के पतन के पश्चात् विघटन और विभाजन की प्रक्रिया जब प्रत्येक क्षेत्र में तीव्रतर हो गई थी ठीक उसी समय महमूद गजनवी के जोरदार आक्रमण प्रारम्भ हुये। प्रतिहारों के पतन के बाद कान्यकुब्ज से काशी तक के भू-भाग पर गाहड़वाल राजाओं ने जयचन्द्र के समय तक अपना अधिकार रखा किन्तु मुहम्मद गोरी द्वारा जयचन्द के पराजित हो जाने के बाद इस केन्द्रीय प्रदेश पर मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया।

आश्चर्य होता है कि इतने वीर और बुद्धिमान लोगों के देश भारत का इतना अधःपतन क्यों हो गया। लगता है कि इस युग में राजनीतिक अधःपतन के लिए देश की ह्रासोन्मुख बौद्धिक चेतना काफी हद तक जिम्मेदार है। शंकराचार्य इस युग के अन्तिम मौलिक चिन्तक व दार्शनिक हुए। आगे बहुत काल तक मौलिक चिन्तन व लेखन अवरुद्ध दिखाई पड़ता है, केवल वृत्तियों और भाष्यों का लेखन हो रहा था। टीकाओं, पद्धतियों और साहित्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों का पृष्ठपेषण होने लगा। राजा को ईश्वर का अवतार मान लिया गया और जनता अत्याचार सहते-सहते अभ्यस्त हो गई; उसे ही अपना भाग्य मान लिया। जनता की अत्याचार के विरोध की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। राजनीतिक अस्थिरता और बाहरी आक्रमणों के इस काल में स्वविवेकानुसार निर्णय लेने वालों और नेतृत्व करने वालों की संख्या अत्यन्त सीमित हो गई। परिणामतः सामाजिक विश्रृंखलन बढ़ा। धार्मिक गतिरोध, अन्ध विश्वास, रूढ़िवादिता बढ़ी। विभिन्न वर्णों में जातियों, उपजातियों, वर्णतरों, अन्त्यजों और अस्पृश्यों की भीड़ बढ़ने लगी। देवी-देवताओं की चमत्कारिक शक्ति पर अन्धविश्वास और मन्दिरों की बढ़ती संपदा देश के विनास और लूटपाट का कारण बन गई।[1]

राजनीतिक स्थिति—मध्यप्रदेश में गुर्जर प्रतीहार वंश और गाहड़वाल वंश का शासन क्रमशः ११वीं और १२वीं शताब्दी में मुसलमानों की विजय के बाद समाप्त हो गया। जेजाकभुक्ति के चंदेल और शाकंभरी के चाहमानों की भी यही गति हुई। यद्यपि पृथ्वीराज चौहान बड़ा वीर और प्रतापी था किन्तु मुहम्मद गोरी ने उसे अन्ततः पराजित किया और दिल्ली पर अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को शासक बनाकर बैठा दिया। इस प्रकार मध्यदेश और दिल्ली पर मुसलमानी शासन १२वीं शताब्दी में स्थापित हो गया। चंदेलों का अन्तिम राजा परमर्दिदेव भी पृथ्वीराज से और बाद में मुसलमानों से पराजित हुआ। इसका अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण प्रसिद्ध ग्रन्थ परमालरासो या आल्हखंड में उल्लिखित है। इसी प्रकार पृथ्वीराज चौहान सम्बन्धी उल्लेख चन्दबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो; जयचन्द सम्बन्धी विवरण जयचन्द-जस-चन्द्रिका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

---

1. डॉ० शितिकंठ मिश्र 'आदिकालीन हिन्दी सा० की पृष्ठभूमि' हि० सा० का बृ० इ० भाग ३ (ना० प्र० सभा, काशी)

उस समय देश के पश्चिमी भाग विशेषतया गुजरात में गुर्जरों का राज्य था। इनके कारण ही लाट देश का नाम गुजरात पड़ा। मूलराज ने सन् ९४१ ई० के आसपास यहां चौलुक्य राज्य की स्थापना की थी। इस वंश में कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज (सं० १०९४ से ११४२ तक) बड़ा प्रतापी हुआ। आ० हेमचन्द्र के ग्रन्थों में इसका विवरण उपलब्ध है। इसने गिरिनार के आभीर राजा खेंगार को पराजित किया। मेरुतुंग ने खेंगार या नवधन के ऊपर जयसिंह के अभियानों का प्रभावशाली वर्णन किया है। इसका कोई औरस पुत्र नहीं था इसलिए भीम की रखैली रानी बकुला देवी की सन्तान-परम्परा में उत्पन्न कुमारपाल को आ० हेमचन्द्र और अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों ने मिलकर गुजरात का राजा बनाया। यह आ० हेमचन्द्र का शिष्य था और इसके राज्यकाल में गुजरात जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया। कुमालपालचरित, प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में इसके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। परमारों, यादवों और कुतुबुद्दीन ऐबक के आक्रमणों से चालुक्य वंश बाद में छिन्न-भिन्न हो गया।

गुजरात के समीपवर्ती प्रदेश मालवा में परमारों का शासन सन् ७९० ई० के आसपास स्थापित हुआ था। सीयक का पुत्र द्वितीय वाक्पतिराज मुंज इस वंश का प्रतापी राजा हुआ। मेरुतुङ्ग ने मुंज प्रबन्ध में मुंज-तैलप के संघर्ष का ऐतिहासिक विवरण दिया है। काव्यनिर्णयकार धनिक और धनंजय (दशरूपककार), पद्मगुप्त और वसंताचार्य आदि कई विद्वान् उसके राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे। वह स्वयम् भी उच्चकोटि का कवि था। उसके बाद इस वंश में राजा भोज (१०११-१०४६) प्रसिद्ध शासक और महान् विद्या-साहित्य प्रेमी हो गया। इसके सम्बन्ध में जैन लेखकों के अलावा अलबरुनी और अबुल-फजल आदि मुसलमान लेखकों के वर्णन व अन्य अभिलेख प्राप्त हैं जिससे मालूम होता है कि उस समय भोज की राजधानी धारानगरी विद्या, कला, साहित्य-संस्कृति का केन्द्र बन गई थी। दामोदर मिश्र (हनुमन्नाटककार), धनपाल (तिलकमंजरीकार) आदि उसके सभापण्डित थे। वह स्वयम् विद्वान् था और विद्वानों का बड़ा आदर करता था। उसने सरस्वती कंठाभरण, शृङ्गारप्रकाश, कूर्मशतक, चंपू रामायण, शृङ्गारमंजरी और तत्त्वप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ रचे थे। इन राजाओं के समय इस प्रदेश में सभी धर्म विशेषतया जैनधर्म की स्थिति अच्छी

थी इस अवधि में कश्मीर में कर्कोटक, उत्पल और लोहर वंश का शासन चलता रहा। सिन्ध और मुलतान में राय और शाही वंश ने कब्जा जमा रखा था। बाद में सिन्ध पर मु० बिन कासिम ने आक्रमण करके वहां के राजा दाहर को परास्त कर दिया और वहां मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया। मुल्तान और पंजाब पर हिन्दू शाही राजवंश महमूद गजनवी के आक्रमण के समय तक (सन् १००१) चलता रहा।

पूर्व में गौड़राज शशांक हर्ष का समकालीन शक्तिशाली शासक था। उसकी मृत्यु के बाद बंगाल पर पाल और तत्पश्चात् सेन वंश का शासन मुसलमानी शासन के पूर्व तक चलता रहा। पाल शासकों के समय बंगाल में बौद्ध धर्म का दबाव अधिक रहा किन्तु सेनवंशीय नरेशों ने हिन्दू धर्म का समर्थन किया, फलतः बौद्ध धर्म धीरे-धीरे बंगाल से बढ़कर नेपाल-तिब्बत के रास्ते देश से बाहर चला गया। उड़ीसा में शैलोद्भववंशीय और भंजवशीय राजाओं का स्थानीय शासन रहा। कामरूप में हर्ष का मित्र और समकालीन प्रभावशाली राजा भास्कर वर्मा था। उसके बाद असम का राजनीतिक इतिहास भी असम ही था। इस युग में दक्षिण के देवगिरि में यादवों का और सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल तथा पाण्ड्य वंश का शासन रहा। सारांश यह कि इस युग में समूचे भारत में विशेषतया उत्तर भारत में खण्ड राज्यों की संख्या बढ़ती जा रही थी। देश खण्डित और विभाजित हो गया; राजा परस्पर युद्ध और विलासिता में डूब गये, प्रजा के उत्पीड़न की हद हो गई।

आर्थिक स्थिति—इस राजनीतिक परिस्थिति का देश की अर्थ-व्यवस्था पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था अवरुद्ध हो गई थी। ग्रामदान की प्रक्रिया के कारण छोटे-छोटे राज्यों में भी राजसत्ता ऐसे स्थानों में प्रभावशून्य हो गई थी; क्योंकि पुरोहितों, अधिकारियों और सैनिक कर्मचारियों तथा अन्य सुविधा प्राप्त लोगों को अपने-अपने ग्राम या क्षेत्र में प्रशासकीय तथा आर्थिक स्वायत्तता प्राप्त हो गई थी; और ये प्रखण्ड प्रशासकीय तथा वित्तीय मामलों में प्रायः स्वतन्त्र थे। इनका केन्द्रीय शासन से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता था। इसलिए सामन्त तथा उपसामन्त प्रथा के कारण छोटी-छोटी स्वतन्त्र इकाइयों का उदय हुआ जो स्वयमू गतिहीन एवं अवरुद्ध थीं। साराश यह कि आर्थिक क्षेत्र में भी विघटन एवं गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

व्यापार का पतन हो गया था।[1] प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयम् करने के लिए बाध्य हो गया था। अनेक छोटे-छोटे राज्यों की सीमा पर लगने वाले शुल्कों की बाढ़ और चोरों, डाकुओं से व्यापारियों को राजकीय संरक्षण तथा सुरक्षा का सर्वथा अभाव व्यापार के पतन का मुख्य कारण था। कथासरित्सागर में ऐसे शुल्क-चोर व्यापारियों का भी उल्लेख मिलता है जो शुल्क की चोरी की नीयत से जंगलों में से होकर सार्थवाह ले जाते थे और डाकुओं को धन देकर संरक्षण प्राप्त करते थे अन्यथा लूटे जाते थे। व्यापार-वाणिज्य के ह्रास के कारण देश के एक भाग से दूसरे भाग में आना जाना प्रायः बन्द पड़ गया और सामान्य लोग अपने गांवोंमें ही बँधकर रहने तथा अपने मालिकों की फर्माइश पूरी करने के लिए बाध्य हो गये। समुद्री यात्रा भी निषिद्ध हो गई। इन सब कारणों से भी व्यापार का पतन हुआ। किसान, कारीगर और व्यापारी अपने-अपने गांव में बँधकर रहे इसलिए अर्थव्यवस्था अवरुद्ध हो गई। कलिवर्ज्य के अन्तर्गत लम्बी यात्रा, समुद्र यात्रा आदि करने पर प्रायश्चित्त आवश्यक कर दिया गया। गांवों में हर वर्ण के रहने का क्षेत्र नियत कर दिया गया। इस प्रकार देश धर्म के बदले ग्राम धर्म का महत्त्व बढ़ गया, लोगों की दृष्टि से देश ओझल होने लगा और ग्राम अपने भीषणाकार में उभड़ने लगा। हेमचन्द्र के अभिधानचिंतामणि में ग्रामधर्म तथा अन्य ग्रन्थों में ग्राम्याचार और स्थानाचार का उल्लेख मिलता है।

धार्मिक स्थिति—इस काल की धार्मिक अवस्था और प्रमुख धर्मों का संक्षिप्त परिचय मरुगुर्जर जैन साहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक है। अतः यहां प्रमुख धर्मों की स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाली जा रही है।

पौराणिक हिन्दू धर्म—वैदिक ब्राह्मण धर्म के स्थान पर इस युग में पौराणिक हिन्दू धर्म का उदय एक प्रमुख घटना है। वैदिक यज्ञ और कर्मकांड के स्थान पर सरल भक्तिमार्ग का अभ्युदय हुआ। धर्म को शास्त्र के स्थान पर लोक जीवन से जोड़ा गया। शंकर दिग्विजय के बाद बौद्ध धर्म का भारत से उन्मूलन और हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हुआ। भक्ति आन्दोलन ने आगे चलकर इसे अधिक लोकप्रिय बनाया। यह सुकर और आकर्षक रूप में लोकमत की तरह जनता में स्वीकृत हुआ।

---

१. डॉ० शितिकण्ठ मिश्र 'आदिकाल की राज० पृष्ठभूमि' हि० सा० का बृ० इतिहास भाग ३

बौद्ध धर्म तेजी से मुख्य भूमि को छोड़कर पूर्व की ओर खिसकता हुआ बंगाल के रास्ते नेपाल, तिब्बत होता चीन, जापान की तरफ चला गया। बौद्ध धर्म अपने संघचर्या की कमजोरियों का स्वतः शिकार हो गया। मध्यदेश के अधिकतर राजा हिन्दू धर्म के शैवमत को विशेष रूप से अंगीकार करने लगे थे। आये दिन की लड़ाइयों के कारण इस युग के राजाओं को युद्ध का प्रोत्साहन देने वाला हर हर महादेव का जुझारू नारा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। अहिंसावादी बौद्ध धर्म उस वातावरण के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। इसलिए बौद्ध धर्म को मध्यदेश में राजाश्रय नहीं मिल सका।

जैन धर्म—यह धर्म बौद्ध मत से काफी अच्छी स्थिति में था। प्रजा में इनकी संख्या बढ़ रही थी। छठीं शताब्दी में जैन आगमों का संग्रह हुआ। जैन आचार्यों ने न केवल उत्तम रचनायें कीं बल्कि उनकी रक्षा के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे। इनका आचार, नियम-संयम कठोर था। अतः बौद्धों के संघ जीवन की कमजोरियां जैन संघ में नहीं फटकने पाईं। धार्मिक, सैद्धान्तिक और दार्शनिक विश्वासों के प्रति इनकी जागरुकता, उन्हें संजोये रखने का दृढ़ संकल्प, साहित्यिक अभिरुचि और कठोर आचार तथा संयम के कारण जैनधर्म का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि इनका प्रभाव सीमित क्षेत्र और जनता के विशेष वर्ग में ही रहा। परमारों के समय मालवा में, चौलुक्यों के समय गुजरात और मालवा में तथा चाहमानों के समय राजपूताने से मालवा और गुजरात के समस्त पश्चिमी प्रान्तों में इस धर्म की शाखा-प्रशाखायें खूब फैलीं। जैन धर्म वैश्य-व्यापारियों में अधिक लोकप्रिय हुआ। मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक में उनके बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित हुए। अहिंसक वृत्ति के कारण सम्पन्न व्यापारी वैश्यों ने इसे न केवल स्वयम् अपनाया अपितु अपने धन के बल पर जनप्रिय भी बनाया। राष्ट्रकूटों में कई शासक और उनके मन्त्री तथा अधिकारी जैन धर्मावलम्बी थे जिन्होंने अपने धर्म के साथ जैन दर्शन, कला और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। आगे चलकर यह धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक सम्प्रदायों में बँट गया किन्तु इसकी प्रगति बराबर बनी रही क्योंकि कुछ राजवंशों द्वारा उन्हें पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त हो गया था। अतः उन राजवंशों की धार्मिक नीति पर थोड़ा अधिक विचार करना अपेक्षित है।

प्रमुख राजवंशों की धार्मिक नीति—राजस्थान, मालवा, गुजरात

और बुन्देलखण्ड में जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था, अतः इन स्थानों का धार्मिक विवरण प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

बुन्देलखंड में कलचुरी नरेशों के समय हिन्दू धर्म और जैन धर्म का समान रूप से प्रचलन था। इन्हीं राजाओं ने एलिफैन्टा के गुफा-मंदिरों का निर्माण कराया। जैनधर्म कलचुरी नरेशों के राज्य में फल-फूल रहा था। अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ था। सोहागपुर में कई जैन मन्दिर थे। जबलपुर में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें मिली हैं जिनसे इस धर्म की अच्छी स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। बुन्देलखंड में जैन मतावलम्बियों की संख्या अवश्य अल्प थी क्योंकि इस पिछड़े प्रदेश में सामान्य जनता के लिए शिवोपासना अधिक सुविधाजनक थी।

मालवा में जैनधर्म की स्थिति—स्कन्दपुराण, प्रबन्धचिन्तामणि, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित, भोजप्रबन्ध आदि ग्रन्थों के आधार पर मालवा के नरेशों की धार्मिक रुचि और नीति का अच्छा परिचय मिलता है। इससे पता चलता है कि इस युग में मालवा जैनधर्म के प्रमुख केन्द्रों में था। जैनाचार्यों को राज्य संरक्षण प्राप्त था और उन्होंने वहाँ जैनधर्म का अच्छा प्रसार किया था। अनेक जैन मन्दिर बनवाये गये थे। ११वीं शताब्दी में कई जैन मन्दिर मालवा में बने। मुंज की राज्यसभा में धनेश्वर, भोज की सभा में धनपाल और नरवर्मा के दरबार में भी जैन विद्वानों-आचार्यों की उपस्थिति का पता चलता है। आबू जैनधर्म का प्रमुख तीर्थ बना। भोज का सेनापति कुलचन्द भी दिगम्बर जैन था। देवभद्र नामक जैन साधु का भोज बड़ा आदर करता था। धारा में जिनबिहार था जहाँ नयनन्दि नामक प्रसिद्ध लेखक ने अपना सुदर्शनचरित लिखा था। सारांश यह कि उस युग में मालवा जैन धर्म, विद्या और साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र था।

गुजरात में जैनधर्म की स्थिति—गुजरात के चौलुक्य राजवंश ने जैनधर्म को पर्याप्त सम्मान एवं संरक्षण प्रदान किया। भोज के पश्चात् मालवा का राज्य भी चौलुक्यों ने हस्तगत कर लिया। पहले कहा जा चुका है कि सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल आ० हेमचन्द्र और जैनधर्म का बड़ा आदर करते थे। सिद्धराज ने गिरनार में जैन महातीर्थ की स्थापना कराई। नेमिनाथ के मन्दिर का निर्माण और कुमारपाल द्वारा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों तथा मंदिरों की प्रतिष्ठा, राज्य की ओर से अनेक

जैन समारोहों और महोत्सवों का अनुष्ठान इन राजाओं की जैन धर्म पर गहरी आस्था के सूचक हैं। राज्य में जैनधर्म के सिद्धान्त 'अहिंसा परमो-धर्मः' का सर्वत्र पालन होता था। पशुहिंसा पर पाबन्दी लगा दी गई थी। समाज में वैश्यों का वर्चस्व था। वे व्यापार द्वारा धनोपार्जन करके जैन धर्म के प्रचार में उसका सदुपयोग करते थे। वे नगरश्रेष्ठि, दण्डनायक तथा महामात्य जैसे महत्त्वपूर्ण राजकीय पदों पर नियुक्त थे। आ० हेमचन्द्र के अतिरिक्त रामचन्द्र, उदयन आदि कई अन्य विद्वान् अपभ्रंश और मरु-गुर्जर में महत्त्वपूर्ण रचनायें कर रहे थे। प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमप्रभसूरि ने कुमारपालप्रतिबोध की रचना की। चौलुक्यों की प्रशंसा में लिखा द्वयाश्रय-काव्य तथा प्रसिद्ध शब्दानुशासन इसी काल की महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं। पाटन में कुमारपाल ने कुमार विहार बनवाया था। उसे परमार्हत की विरुद दी गई थी। उसने सोमेश्वर के पास ही जैन चैत्य का निर्माण कराया था। वह स्वयम् जैन मतावलम्बी हो गया था किन्तु प्रजा पर धर्म के नाम से कोई जोर दबाव नहीं था। वह शैव धर्म का भी आदर करता था। गुजरात में जैन धर्म प्रधान धर्म हो गया था किन्तु शैव मतावलम्बी भी पर्याप्त थे और राज्य में सहअस्तित्व का लोग समादर करते थे।

शाकम्भरी और राजपूताने में जैनधर्म की स्थिति—चाहमानों के समय शाकम्भरी और राजपूताने में हिन्दू धर्म के साथ ही जैनधर्म की उपस्थिति और प्रचार की सूचना अभिलेखों से मिलती है। इन राजाओं ने अजमेर में जैनमंदिर बनवाये थे। अजयराज और पृथ्वीराज तृतीय के दरबार में जैन और हिन्दू सम्प्रदाय के आचार्य स्वतन्त्र रूप से वाद में भाग लेते थे जिसका निर्णायक स्वयम् राजा रहता था और विजेता को सहर्ष पुरस्कृत करता था।

इन राज्यों के अलावा मध्यदेश के प्रायः सभी राजवंश हिन्दू धर्म और जैनधर्म का सम्मान करते थे और संरक्षण भी देते थे। सब मिलाकर मालवा, राजस्थान एवं गुजरात में जैनधर्म, बंगाल में पाल राजाओं के समय तथा कश्मीर में बौद्धधर्म और अन्य प्रान्तों में हिन्दू धर्म (विशेषतया शैवधर्म) की प्रधानता थी। सामान्यतया राजाओं की धर्मनीति उदार थी। वे व्यक्तिगत धर्म और आस्था को न तो प्रजा पर थोपते थे न अन्य धर्मों के प्रति अनुदार थे। राजाओं ने हिन्दू, बौद्ध और जैन मन्दिर, चैत्य, विहार, मठ आदि के लिए दान दिया। वास्तुकारों ने मंदिरों में विविध देवी-देवताओं और तीर्थंकरों को उत्कीर्ण किया। इस समय जैनधर्म अपनी

स्थिति सुदृढ़ बनाये रखने में सफल रहा किन्तु बौद्ध धर्म का तेजी से ह्रास हुआ। इसी समय इस्लाम के प्रवेश के कारण धर्म के क्षेत्र में नई स्थिति और समस्या उत्पन्न हो गई और सभी राजवंश इस समस्या में उलझ गये।

जैनधर्म का परिचय—छठीं शताब्दी तक जैनधर्म पूर्ण विकसित होकर श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। आगे इनका भी उपविभाजन, गणों, गच्छों, कुलों और शाखाओं में होने लगा। वाण ने अर्हतों, श्वेतपटों और केशलुञ्चकों का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। ह्वानच्यांग भी ऐसे साधुओं की चर्चा करता है। उसने तक्षशिला और निपुला में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनियों को देखा था। सातवीं शती में वैशाली उनका प्रमुख केन्द्र हो गया था। ८वीं शती तक जैनधर्म राजस्थान के व्यापारियों, गुजरात और मालवा की सामान्य जनता में विशेष रूप से लोकप्रिय हो गया था। जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने इन क्षेत्रों के बहुत लोगों को जैनधर्म में दीक्षित किया। इन स्थानों के राजाओं द्वारा भी इस धर्म को प्रोत्साहन एवं संरक्षण मिला। नागभट्ट, बनराज, जयसिंह, कुमारपाल आदि राजाओं के दरबार में सूरियों का बड़ा प्रभाव था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के मंदिर का निर्माण हस्तिकुंडी के राष्ट्रकूट नरेश विराधराज ने करवाया था। उसके वंशज धवल ने सं० १०५३ में उस मन्दिर का पुनरुद्धार कराया था।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही उन दिनों तीर्थंकरों और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे। तीर्थंकरों के साथ ही सरस्वती, अम्बिका, यक्ष-यक्षिणी और दिक्पालों की प्रतिमायें भी जैन मंदिरों में छठीं से १०वीं शताब्दी तक पाई गई हैं। इनकी मूर्तियां उत्तर भारत में वसंतगढ़, राजस्थान में आसिया, पश्चिम में गुजरात और मारवाड़ तथा पूर्व में राजगिरि और त्रिशूल तथा मध्य भारत में खजुराहो, देवगढ़ और ग्वालियर आदि स्थानों में पाई गई हैं। तत्सम्बन्धी ग्रन्थों[1] से पता चलता है कि मध्य भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय प्रभावी था; नवसारी उनका प्रमुख स्थान था। पश्चिम भारत में श्वेतांबर सम्प्रदाय का संगठन मजबूत हो गया था। बिहार और उड़ीसा में कुछ लोग संभवतः दिगम्बर सम्प्रदाय के मानने वाले थे किन्तु बंगाल में इनका प्रभाव नहीं था।

---

१. देखिये डॉ० एस० बी० देव हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म पूना १९५६ (History of Jain Monachism)

जैन दर्शन—जैन पुराणों में अहिंसा, तपस्या, योगचर्या आदि धार्मिक अनुष्ठानों को श्रमण संस्कृति का आधार माना गया है। उपनिषद् युग के बाद की शताब्दियों में संदेहवाद और अक्रियावाद का राज्य स्थापित हो गया था। इस अव्यवस्था के विरुद्ध जैनदर्शन ने क्रियावाद का जोरदार समर्थन किया। जैनदर्शन का मूलाधार 'अनेकान्त' या स्याद्वाद है। इसके अनुसार संसार में जो कुछ है, उसकी सापेक्षिक सत्ता है और उसके यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए अनेक दृष्टियों की आवश्यकता होती है। वह किसी की अपेक्षा में सत् और किसी की अपेक्षा में असत् भी हो सकता है। इस प्रकार किसी पदार्थ की अनेक स्थितियां हो सकती हैं। इसे सप्तभङ्गी नय भी कहा गया है।

जैनधर्म कैवल्य को मनुष्य का परम पुरुषार्थ मानता है जो सत् विश्वास, सत्कार्य और सत्ज्ञानसे प्राप्त हो सकता है। जैन साधना के दो भाग—गृहधर्म और यतिधर्म—किए गये हैं। गृहधर्म के अन्तर्गत पाँच अणु-व्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बताये गये हैं। गृहस्थ के लिए भी विकारों को त्याग कर इन्द्रियों का नियंत्रण करते हुए नित्य नियम पूर्वक आचार एवं स्वाध्याय के नियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया है। यतिधर्म की साधना काफी क्लिष्ट है जिसके विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है।

जैनियों का विश्वास है कि कर्म ही मनुष्य के बंधन का कारण है। ये आठ प्रकार के होते हैं। ये जीव की सम्यकत्व की प्राप्ति में बाधक हैं। कर्म-ग्रन्थि को खोलने में सत्य, अपरिग्रह, अहिंसा आदि व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन ही सहायक है, ऐसा साधक समाज की मंगल कामना करता हुआ ऐसे कर्म करता है जो बन्धन नहीं होते। वह 'निर्जरा' द्वारा संचित कर्मों को निष्फल कर देता है और आगे के कर्मों का मार्ग 'संवर' द्वारा बन्द कर देता है। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

इस धर्म में तंत्रसाधना का अधिक प्रवेश नहीं हो पाया। मंत्रवाद तक ही सीमित दिखाई देता है। आचार पर कठोर नियन्त्रण होने के कारण अभिचार एवं पंचमकारों का यहाँ प्रवेश वर्जित रहा। कुछ साधक विभूतियों की प्राप्ति के लिए अजितबाला और अपराजिता की साधना करते थे। बृहत् कोश में ऐसे तांत्रिक विधानों का उल्लेख है। ऐसे विद्याधरों की चर्चा मिलती है जो आकाशगामिनीविद्या, शीघ्रगामिनीविद्या, रूपपरिवर्तनविद्या आदि में प्रवीण होते थे। उद्योतन की कुवलयमाला में बेताल को मांस

चढ़ाने का उल्लेख है। बेताल उसे ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह केवल साधक के साहस की परीक्षा कर रहा था। इन लोगों ने तंत्रसाधना के कमजोर पक्ष को छोड़कर केवल उसकी अच्छाइयों को ही ग्रहण किया। पाहुड़-दोहा में आत्मज्ञान को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है, जिसके लिए इन्द्रियों का दमन और योग साधना आवश्यक बताया गया है।

जैन देवमंडल तथा पूजन—जैनधर्म में मंदिरों और मूर्तियों का महत्त्व काफी था। इनके निर्माण में जैनकला का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। जैनधर्म के चौबीसों तीर्थङ्करों की मूर्तियों के निर्माण और मंदिरों में पूजन-पद्धति का विस्तृत विधान बताया गया है। लक्ष्मीधर ने कापालिकों के साथ तांत्रिक दिगम्बरों की भी गणना की है जिससे थोड़ी शक्तिपूजा का प्रचलन भी प्रतीत होता है। श्वेताम्बर मत में प्रत्येक तीर्थङ्कर की शासन देवता, चक्रेश्वरी, कालिका, महाकाली आदि का भी पूजन प्रचलित था। संयम प्रधान तथा आचारवादी होने के कारण बौद्धधर्म की तरह विकृत देवी-देवताओं की पूजा यहाँ न तो पनपी और न जैन साधु संयम एवं तपश्चर्या के आदर्श से विचलित हुए। अतः इन्होंने जनमानस को अधिक आकृष्ट किया। साधुओं के अतिरिक्त श्रावकों के लिए भी आचार नियम थे। इनमें कई सम्पन्न व्यापारी और अनेक बड़े राज्यकर्मचारी तथा मंत्री आदि भी होते थे और अपने आचरण तथा प्रभाव से धर्म की प्रभावना में योगदान करते थे।

राजदरबारों में प्रायः कवि और चारण अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति और नायिकाओं की सुन्दरता का बढ़ा-चढ़ाकर बखान किया करते थे किन्तु जैन लेखकों ने इन सबको पृष्ठभूमि में रखकर शान्तरस को साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्रदान किया। इन तमाम बातों को ध्यान में रख कर ही जैन साहित्य का अध्ययन किया जाना सार्थक हो सकता है।

मरु-गुर्जर भाषा का विकास—अपभ्रंश के बाद मरुगुर्जर भाषा का विकास हुआ है अतः इसमें अपभ्रंश की अनेक विशेषताओं को देखा जा सकता है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में मरुगुर्जर की आद्यस्थिति का संकेत कुवलयमाला (उद्योतन), प्राकृत पैंगलम्, संदेशरासक (अद्दहमाण), उक्ति-व्यक्तिप्रकरण (दामोदर पंडित), वर्णरत्नाकर (ज्योतिरीश्वर ठाकुर) आदि में ढूढ़ा जा सकता है किन्तु जैन साहित्य में एतद्विषयक प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। टेसीटोरी ने बताया है कि जैन साहित्य की भाषा यथासंभव जनता

की भाषा के करीब है। इनकी विधायें भी लोक साहित्य से ली गई हैं जैसे चर्चरी, फागु इत्यादि। पश्चिमी अवहट्ट में लिखा गया साहित्य ही मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का साहित्य है। आ० हेमचन्द्र ने प्रचलित काव्यभाषा को अपभ्रंश कहा है। उस भाषा का नाम गुजराती, राजस्थानी जैसा देशपरक इसलिए नहीं रखा गया क्योंकि वह एकदेशीय नहीं बल्कि समस्त उत्तर भारत की काव्य भाषा थी। इसका परवर्ती विकसित रूप मरुगुर्जर भी एकदेशीय न होकर हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी की मिली-जुली सम्पत्ति है, अतः इसे पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर नाम दिया गया है।

मरुगुर्जर की कृदन्त तद्भव क्रियाओं के अधिकांश रूप 'उ'कारान्त हैं जो अपभ्रंश की उकार बहुल प्रवृत्ति का प्रभाव है जैसे—

'बनते बन छिपतउ फिरउ गव्हर बनहं निकुंज'
भूखउ भोजन मांगिबा गोवलि आवउ मुञ्ज। (भोजप्रबन्ध)

कहीं-कहीं कर्त्ता और कर्मकारक की विभक्ति रूप में भी 'उ' का प्रयोग मिलता है जैसे 'गुरु गौतम को देउ पसीउ' कर्म में 'उ' विभक्ति का यह प्रयोग कवि चतरु का है।

प्रत्ययों में अ, रे' और डी का बहुप्रयोग भी अपभ्रंश की देन है यथा—

'रोग रहित सुखी रे संपदा पूरण ठाण।
धर्म बुद्धि मन शुद्ध डी, दुलहा अनुक्रमि जाण।' (तत्त्वसार)

'हि' और 'हिं' विभक्ति का व्यापक प्रयोग सभी कारकों में होने लगा जैसे 'जिनवर स्वामी मुगतिहिं गामी सिद्धि नयर मंडणो।' (ब्रह्म जिनदास) कहीं 'हि' के ह' का लोप करके केवल 'इ' का प्रयोग और कहीं पर इ को ए करके प्रयोग भी किया गया है जैसे—

'मंगल कमला कुदुए, सुखसागर पूनिम चंदए।' (मेरुनन्दन)

दीर्घ को लघु बनाने की प्रवृत्ति एक अन्य विशेषता मरुगुर्जर की दिखाई पड़ती है। जैसे सरस्वती का सरसई या सरसति, श्री का सिरि, अमृत का अमिय आदि रूप इसके अनेक उदाहरण हैं।

वर्णों के संकोचन की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश से मरुगुर्जर को विरासत के रूप में मिली जैसे स्थान के लिए ठाण, मयूर के लिए मोर का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का नमूना है।

जैनाचार्यों की भ्रमणशील वृत्ति के कारण इनकी भाषा में गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी के अतिरिक्त सिंधी, पंजाबी और उर्दू के शब्द भी कहीं मिल जाते हैं। यह प्रत्येक काव्यभाषा की विशेषता रही है। ब्रज-भाषा में भी षट्भाषा के शब्द मिलते हैं। संस्कृतज्ञ आचार्यों की भाषा तत्सम प्रधान है। आधुनिक आर्य भाषायें संयोगात्मक से वियोगात्मक हो गई थीं। जूनी गुजराती, पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। स्वरों में ऋ का प्रयोग केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही मिलता है और उसका उच्चारण भी 'रि' जैसा होता है। इसी प्रकार ऐ, और औ का उच्चारण संस्कृत के अइ, अउ जैसा न होकर अए, अओ में परिवर्तित हो गया है। व्यञ्जनों में 'श' और 'ष' का भेद उच्चारण में मिट गया। व्यञ्जनों के स्थान पर स्वरों का प्रयोग इसकी एक अन्य प्रमुख विशेषता है जैसे ललितांग का ललिअंग, चंपकगोरी का चंपइगोरी आदि रूप बहुत प्रयुक्त हैं। आदिस्वर, मध्यस्वर और अन्त्यस्वर लोप की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश की तरह मरुगुर्जर में भी खूब मिलती है। व्यञ्जन समीकरण चरमसीमा पर पहुँचकर उत्तर काल में एक ही व्यञ्जन दीर्घ उच्चरित होने लगा था। अद्य >, अज्ज, आज >, कर्म > कम्म, काम आदि इसके उदाहरण हैं। स्वार्थक प्रत्यय 'अ' अल, इल्ल की चर्चा पहले की जा चुकी है जैसे अलंकृत का अलंकियु या अलंकियउ रूप मिलता है।

क्रियाओं में चार लकार रह जाने से धातुरूपों की जटिलता बहुत कम हो गई। वाक्यों में शब्द और पद योजना भी अपभ्रंश जैसी मिलती है किन्तु तद्भवों के स्थान पर तत्सम की प्रवृत्ति १०वीं शताब्दी से ही शुरू हो गई थी। क्रिया और विभक्तियाँ वहीं रहीं। अतः इस काल में दोनों रूप मिलते हैं जैसे मदन और मयणु, चरित्र और चरित्र, साथ ही नमस्कार, रवि, कमल आदि शब्द भी भट्टारकों की भाषा में बार-बार आने लगे।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में अनुस्वार की भी एक मुख्य प्रवृत्ति है। इसके तीन कारण आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताये है: संस्कृत की गमक पैदा करने के लिए संस्कृतज्ञ पंडित शब्दों में अनुस्वार जड़ देते थे। दूसरा और तीसरा कारण छन्द और मात्रापूर्ति से सम्बन्धित है किन्तु इसका भी भाषा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पदान्त के 'ओ' को ह्रस्व करने का उदाहरण 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' के निम्न उदाहरण में देखा जा सकता है :—

'नरतिय कज्जल रेह नयणि मुँह कमल तंबोलो।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो।'

छन्द सौकर्य के लिए स्वरों को लघु या दीर्घ करने के अलावा परवर्ती वर्णों को द्वित्त करके पूर्ववर्ती लघुस्वर को दीर्घ कर देने की प्रथा भी चल पड़ी थी जैसे भखै, रखै के स्थान पर भक्खै, रक्खै आदि। वर्ण-संकोच के उदाहरणों की भरमार है जैसे अरण्य या रण्य, 'प्रणाम करूँ' के लिए 'पणउं' और स्थान के लिए ठांण आदि। द्वित्त के उदाहरणस्वरूप निद्रा का निद्द, दुर्ग का दुग्ग और विद्या का विज्ज आदि रूप देखा जा सकता है।

ये कुछ नमूने इसलिए दिए गये हैं ताकि मरुगुर्जर भाषा की कतिपय मुख्य प्रवृत्तियों का पता चल सके जो सभी आधुनिक आर्य भाषाओं—हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि में समान रूप से विकसित हुई हैं, इसके कारण एक ही रचना को विभिन्न विद्वान् अलग-अलग भाषा की रचना घोषित करते हैं। जंबूसामीचरिउ, स्थूलिभद्ररास और सुभद्रा-सती को कुछ विद्वान् गुजराती की रचना बताते हैं और कुछ दूसरे हिन्दी की रचनायें घोषित करते हैं जबकि वस्तुतः ये मरुगुर्जर की रचनायें हैं। इसी प्रकार अंबदेव के समरारास को नाहटा जी राजस्थानी की रचना और डॉ० प्रेमसागर उसे हिन्दी की रचना बताते हैं। इससे हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती की मौलिक एकता और इन भाषाओं से मरुगुर्जर का पूर्वापर सम्बन्ध सूचित होता है।

अन्त में यह बताना आवश्यक है कि अपभ्रंश और देशभाषा को एक मानना युक्तिसंगत नहीं है। मुखसुख के कारण प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देशी भाषायें लगातार समास से व्यासपरक होती गई हैं और यह इतना बड़ा अन्तर है कि दोनों अन्ततः दो भाषायें बन जाती हैं। स्वयंभू, पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि हैं किन्तु पुष्पदन्त के चालीस-पचास वर्ष पश्चात् रचित श्री चन्द्रकृत कथाकोष में देशी भाषा या मरुगुर्जर के अनेक प्रयोग मिलते हैं इस काल में अपभ्रंश और देशी भाषा में समानान्तर रूप से रचना होती रही। कथाकोष की भाषा का एक नमूना देखिये—

'संसारु असारु सव्वु अथिरु, पिय पुत्त मित्त माया तिमिरु।'

इससे स्पष्ट होता है कि यह बोलचाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश से आगे की विकसित भाषा है और यही विकसित रूप में मरुगुर्जर कही गई है।

महापंडित राहुल ने स्वयंभू की रचना को हिन्दी की रचना घोषित किया है और अनेक समानान्तर हिन्दी रूपान्तर देकर उसकी हिन्दी से समीपता सिद्ध की है किन्तु इस समीपता के आधार पर दोनों को एक भाषा नहीं स्वीकार किया जा सकता। श्री कामता प्रसाद जैन ने देवसेन के दर्शनसार, तत्त्वसार और सावयधम्मदोहा की भाषा का उदाहरण देकर अपभ्रंश से पुरानी हिन्दी का विकास समझाया है और यह उचित पद्धति है उनका एक उदाहरण देखिये :—

'सहु धम्म जो आयरइ चउ वण्ण मह कोई
सो णरणारी भव्वयण सुरइय पत्वह सोइ।'

इसका हिन्दी रूपान्तर देखिये :—

'एह धर्म जो आचरे चतुर्वर्ण में कोय,
सो नरनारी भव्य जन सुरगति पावे सोय।'

इसी प्रकार मुनिराम सिंह के पाहुड़दोहा से एक दोहा देखिये—

'मूढ़ा देहम रज्जियइ, देह ण अप्पा होय,
देहहिं भिण्णउ णाणमउ सो तू आत्मा जोय।'

इस दोहे में व्यञ्जन लोप और ण के प्रयोग का आग्रह छोड़कर यदि देखा जाय तो यह पुरानी हिन्दी का नमूना सिद्ध होता है। इसका रूपान्तर देखिये :—

'मूढ़ देह में रंजित होते, देह न आत्मा होय।
देह से भिन्न ज्ञानमय, सो तू आत्मा जोय।'

दोनों में कितनी समानता है। पद्मदेव ने तो अपनी रचना 'पासणाह-चरिउ' की भाषा को देशी भाषा ही कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश और देशी भाषा में रचनायें समानान्तर होती रहीं। जिनदत्तसूरि की 'चर्चरी' में अपभ्रंश के साथ मरुगुर्जर के प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलते हैं। उनके उपदेशरसायन में अवश्य अपभ्रंश की ओर झुकाव अधिक प्रतीत होता है। जिनपद्मसूरि के 'थूलिभद्दफाग' में देशी भाषा के तत्त्व अधिक मिलते हैं, उदाहरणार्थ दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'सीयल कोमल सुरहिवाय जिस जिम वायंते,
भाउ मडप्फर माणणिय तिम तिमनाचंते।'

इस प्रकार १३वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश और देशी भाषाओं का काव्य भाषा के रूप में मिला-जुला प्रयोग होता रहा। यदि कभी कोई रचना केवल अपभ्रंश या में कोई केवल मरुगुर्जर में आग्रहपूर्वक लिखी

गई तो भी दोनों में दोनों के एकाध प्रयोग अनजाने आ ही गये हैं किन्तु वि० सं० १५०० के पश्चात् की रचनाओं को देखने पर निश्चित हो जाता है कि इस समय तक संक्रान्तिकालीन स्थिति समाप्त हो चली थी और देशी भाषाओं का अपभ्रंश से पूर्ण विकास हो चुका था। उकार बहुला प्रवृत्ति प्रायः हट गई थी, तत्सम का प्रयोग बढ़ गया था, क्रियाओं का स्वतन्त्र विकास हो रहा था फिर भी अनुस्वार और रे का प्रयोग अपभ्रंश के अवशेष रूप में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाते हैं जैसे 'आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।' या नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं (पार्श्वनाथस्तोत्र) में 'रे' और अनुस्वार का दर्शन सुन्दर ढंग से होता है। स और 'श' का मनमाना प्रयोग अब भी मिल जाता है। दर्शन का दरसन और परमेश्वर का परमेसुर आदि साथ-साथ प्रयुक्त हो रहे थे। संयुक्त वर्णों को स्वर विभक्ति द्वारा पृथक् करके प्रयोग करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है जैसे शब्द का सबद, प्रत्यक्ष का परतछ, निर्जरा का निरजर आदि रूप प्रचलित था। संयुक्त वर्णों में से एक वर्ण हटाकर सरलीकरण की प्रवृत्ति बढ़ गई थी जैसे स्थान के लिए थान, द्युति के लिए दुति, ऋद्धि के लिए रिधि, मोक्ष के लिए मोख और अमृत के लिए अमी से काम चलाया जाता था।

इस काल की काव्यभाषा पर ब्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। १५वीं शताब्दी के पश्चात् की लिखी गई दिगम्बर कवियों की रचनायें अधिकतर हिन्दी में मिलती हैं; श्वेताम्बर कवियों ने हिन्दी मिश्रित राजस्थानी या हिन्दी मिश्रित गुजराती का प्रयोग किया है जिसे हम तीनों भाषाओं की समान सम्पत्ति समझते हैं और उसे एक शीर्षक मरुगुर्जर से अभिहित करते हैं। अब तक यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि अपभ्रंश से मरुगुर्जर और तत्पश्चात् राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती का क्रमिक विकास हुआ है। यह प्रयत्न इस आम धारणा पर आधारित है कि एक परिवार या कुल की भाषायें किसी एक आदि भाषा से विकसित होती हैं। 'आत्मा वै जायते पुत्रम्' का सिद्धान्त मानने वाले विद्वान् भाषाओं पर भी इस नियम को अक्षरशः लागू करना चाहते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि यदि पुत्र पिता से कुछ विरासत में गुण पाता है तो कुछ का वह परिवेश से अपने व्यक्तित्व में स्वयं विकास करता है और वह पिता से भिन्न व्यक्ति पुकारा जाता है। मरुगुर्जर भाषा एक योग्य सन्तान की तरह वंश परम्परा को सम्यक् रूप से थोड़ा तान कर अपभ्रंश को आगे पहुँचा देती है लेकिन वह हू-ब-हू अपभ्रंश की नकल नहीं है।

अपभ्रंश से आ० भा० भाषाओं के विकास का विवेचन करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है, अपभ्रंश का ध्वनि विचार प्राकृत से प्रभावित था किन्तु उसका व्याकरण प्राकृत प्रभाव से मुक्त होकर लोक बोलियों के सहारे भारतीय आर्यभाषा के विकास की नूतन संभावनायें प्रकट कर रहा था।'[1] आ० हेमचन्द्र के आधार पर वे यह मानते हैं कि अपभ्रंश में देशी बोलियों का मिश्रण हुआ। हो सकता है कि इन्हीं देशी बोलियों से ही आर्य भाषाओं का विकास हुआ हो क्योंकि साहित्यिक परिनिष्ठित भाषा से लोकभाषाओं का उदय नहीं होता बल्कि उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होता है। डॉ० रामविलास शर्मा का कथन है कि अपभ्रंश को हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी की जननी मानना उचित नहीं है क्योंकि भारत की आ० आ० भाषाओं के व्याकरण रूप उसमें नहीं मिलते हैं।[2] वे पहले लिख चुके हैं कि 'भाषाओं के बारे में जितनी भी सामग्री प्राप्त है उससे यही सिद्ध होता है कि बोली के आधार पर परिनिष्ठित भाषा का विकास होता है, परिनिष्ठित भाषा से बोलियाँ नहीं उत्पन्न होतीं, दिल्ली की खड़ी बोली के आधार पर हिन्दी विकसित हुई, लंदन की बोली के आधार पर अंग्रेजी और मास्को की बोली के आधार पर रूसी भाषा विकसित हुई।'[3] सारांश यह कि अपभ्रंश भाषा में हमें मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी के रूप यत्र-तत्र मिल सकते हैं किन्तु इसी आधार पर उसे आ० भा० आ० भाषाओं की जननी नहीं कह सकते। इसी प्रकार परिनिष्ठित प्राकृतों से अपभ्रंश की उत्पत्ति मानना भी संगत नहीं है क्योंकि उसका कृत्रिम रूप ही हमें उपलब्ध है। डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है 'वास्तव में हमें उपलब्ध उनका रूप वैयाकरणों (तथा पश्चात् के प्राकृत लेखकों) द्वारा शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि किस प्रकार की प्रादेशिक बोलियाँ होनी चाहिए, इस दृष्टि से कल्पित किया हुआ है।' अब विचारणीय है कि किसी कल्पित भाषा के आधार पर उसके बाद की किसी भाषा का जन्म कैसे हो सकता है। जिस प्राकृत का प्रयोग महावीर ने किया होगा वह मागधी या अर्धमागधी होना चाहिए जो उनके प्रचार-क्षेत्र की जन-भाषायें थीं। लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश का मूलाधार पश्चिमी शौरसेनी (गुर्जरी) या महा-

---

१. डॉ० नामवर सिंह 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'

२. डॉ० रामविलास शर्मा, भाषा और समाज पृ० ३६६

३. वही, पृ० १५१

राष्ट्री को माना जाता है। यह एक विचित्र बात है। इसके कारण भाषा-विकास की ठीक संगति समझ में नहीं आती।

प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी अधिकांश तद्भव रूप कृत्रिम हैं और कहने के लिए ही तद्भव हैं। नर-नारी अपने तत्सम रूप में जितना लोकगम्य है और लोकप्रचलित है उतना 'णर णांरी' नहीं, इसी प्रकार विनु के लिए विणु, लंकापुरी के लिए लंकाउरी, अनुराग के लिए अणुराय, लोग के लिए लोय, वेद के लिए वेअ अपने मूल तत्सम से अधिक दुर्बोध शब्द हैं। यह बात नहीं कि इसके प्रयोक्ता संस्कृत से परहेज करते रहे हों क्योंकि वहाँ गगनांगन > गयणांगण, रत्नाकर > रयणायरु, ध्यानाग्नि > झाणागिण जैसे शब्द पहेली की तरह प्रस्तुत हैं। यही कारण है कि हिन्दी ही नहीं बल्कि बंगला, तेलगु आदि भाषायें भी अपभ्रंश की तुलना में संस्कृत रूपों को अधिक अपनाती हैं। अपभ्रंश में व्यञ्जनों का सप्रयास लोप और 'ण' की भरमार, द्वित्त की बहुलता उसकी सहज प्रासादिकता में भारी बाधा बन जाती हैं। आधुनिक भाषायें अपभ्रंश की इन प्रवृत्तियों को इसीलिए पूर्णतया नहीं स्वीकार कर पातीं, इसलिए अपभ्रंश को उनकी जननी कहने में बड़ी कठिनाई है।

इस बात को कुछ दूसरे ढंग से भी सोचा जा सकता है। कहा जाता है कि मुसलमानों के आक्रमण के बाद धर्म प्रचारकों ने लोक भाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया किन्तु तथ्य यह है कि आ० भा० आ० भाषाओं के उदय के पश्चात् भी अपभ्रंश में साहित्य रचना होती रही। प्राकृत पैंगलम् का संकलन १४-१५ वीं शताब्दी में हुआ। उसमें संकलित सामग्री इस बात का प्रमाण है कि पाँच सौ वर्षों तक नव्य भाषायें अपने आसन पर अपभ्रंश के चलते पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हो पाईं। क्या इसे माँ-बेटी का झगड़ा समझा जाय? राजसत्ता के लिए पिता-पुत्र के संघर्ष के उदाहरणों में पुत्र ही प्रायः पिता को सिंहासन च्युत कर देता है पर आश्चर्य है कि यहाँ माँ ही बेटी को आसन च्युत रखती है। यदि अपभ्रंश के प्रति इतना आग्रह न होता तो संक्रमण कालीन भाषा मरुगुर्जर, अवहट्ट या पुरानी हिन्दी की कालावधि ५०० वर्षों की लम्बी न होकर संक्षिप्त होती और प्रादेशिक भाषाओं का विकास अपेक्षाकृत शीघ्रतापूर्वक हो गया होता।

कुछ भी हो इतना तो निर्विवाद है कि साहित्यिक और परिनिष्ठित भाषा का व्यापक प्रभाव उस क्षेत्र की बोली, भाषा और उसके साहित्य

पर पड़ता है। इसलिए हमें अपभ्रंश और आ० भा० आ० भाषाओं के बीच की कड़ी के रूप में मरुगुर्जर का अध्ययन विशेष सावधानी पूर्वक करना ही चाहिए अन्यथा बीच की कड़ी के अभाव में भाषा का क्रम-विकास समझना असंभव हो जायेगा। हम यह स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में आ० भा० आ० भाषाओं के व्याकरण-रूप कम मिलते हैं उदाहरणार्थ हिन्दी वर्तमान कालिक क्रिया 'है' या अहै, 'अहइ' आदि रूपों का अपभ्रंश में अभाव है; इसी प्रकार भूतकालिक 'था' और भविष्य-कालिक 'गा' का भी वहाँ पता कहीं चलता। सर्वनाम 'मैं' का 'मइं' रूप अवश्य मिलता है। इस प्रकार मुख्य क्रिया रूपों और परसर्ग आदि का अभाव होने के कारण अपभ्रंश से हिन्दी और राजस्थानी का व्याकरण के आधार पर सीधा विकासक्रम सिद्ध करना कठिन है फिर भी जब तक प्रादेशिक जन बोलियों का, जिनके आधार पर आ० भा० आ० भाषाओं का विकास हुआ होगा, निश्चित पता नहीं चल जाता तब तक हमारे पास उस कमी की पूर्ति के लिए मरुगुर्जर का साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनाचार्यों ने अपने साहित्य में यथासंभव साहित्यिक रूढ़ भाषा के स्थान पर भरसक जनप्रचलित सरल भाषा का ही प्रयोग किया है और इसीलिए मरुगुर्जर जैन साहित्य में आ० भा० आ० भाषाओं के लक्षण अधिक पाये जाते हैं और यह प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश तथा आ० भा० आ० भाषाओं के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी मरुगुर्जर भाषा और उसका साहित्य ही है। अपभ्रंश से सीधे मरुगुर्जर को और मरुगुर्जर के माध्यम से राज-स्थानी, गुजराती आदि आ० भाषाओं को काव्य रूप, शब्दसम्पदा और अन्य अनेक उपहार मिले हैं। अतः मरुगुर्जर भाषा साहित्य की जानकारी वर्तमान भाषाओं के स्वरूप और साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है। भाषा एवं साहित्य के अतिरिक्त सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाय तो भी मरु-गुर्जर का भाषा साहित्य अध्येताओं के लिए अपरिहार्य है क्योंकि प्रायः सभी कृतियाँ किसी श्रद्धालु के आग्रह पर लिखी होने के कारण उनमें उन राज-पुरुषों, श्रेष्ठियों, सामन्तों का ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध है। जैन लेखक प्रायः अपनी रचनाओं के अन्त में रचनाकाल अवश्य देते हैं इसलिए भी ऐतिहासिक कालक्रम बैठाने में इनसे बड़ी सहूलियत मिलती है। यह साहित्य मध्ययुगीन चिन्ताधारा को अपने में समेटे हुए है और भारतीय सामाजिक संरचना को समझने की अमूल्य सामग्री उपलब्ध कराता है इसलिए इसका अध्ययन संस्कृति की जानकारी के लिए आवश्यक है।

यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि व्याकरण की दृष्टि से भी अपभ्रंश और मरुगुर्जर की समीपता संस्कृत की तुलना में अधिक है और यह तो सर्वविदित है कि एक परिवार की भाषाओं की एकता का आधार उनके व्याकरण सम्बन्धी नियमों में समानता पर निर्भर होता है। पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर में मरुभाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजस्थानी को अपभ्रंश की जेठी बेटी कहा जाता है। पुरानी हिन्दी से राष्ट्रभाषा हिन्दी का सीधा सम्बन्ध है अतः इन दोनों के व्याकरण सम्बन्धी नियमों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होगा कि किसी समय एक ही प्रस्थान बिन्दु अपभ्रंश से इन दोनों ने अपने-अपने प्रदेशों में अपनी जय यात्रा प्रारम्भ की होगी। पुराने आचार्य यह मानते हैं कि हिन्दी और राजस्थानी की उत्पत्ति एक अपभ्रंश से हुई और उनका विकास भी प्रायः एक सा है। दोनों के व्याकरण में पर्याप्त समानता होने के कारण दोनों भाषाओं की प्रकृति एक जैसी है। राजस्थानी का उच्चारण हिन्दी सरीखा है न कि संस्कृत जैसा। श्री नरोत्तम स्वामी कहते हैं,[1] 'राजस्थानी में हिन्दी सरीखो उच्चारण हुवै, संस्कृत सरीखो नही।' जैसे भैया > भइया, कौवा > कउवा, औषधि > अउषधि इत्यादि। दोनों में दो ही लिंग होते हैं नर और नारी, संस्कृत का नपुंसक दोनों में नहीं है। वचन भी दो ही होते हैं, संस्कृत का द्विवचन गायब है। ये विशेषतायें संस्कृत के व्याकरणबद्ध होने के बाद धीरे-धीरे प्राकृत या बोलचाल की भाषाओं में क्रमशः विकसित हुई होंगी जिनका कुछ आभास अपभ्रंश में मिलता है। छठीं विभक्ति विशेषण के काम आती है इसलिए इसमें लिंग और वचन भेद दोनों भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं जैसे राजा रा घोड़ा, म्हारे ऊपर, पोथी री जिल्द आदि। उपसर्गों का प्रयोग भी दोनों में समान रूप से होता है जैसे कु (कुकर्म), का (का पुरुष), स (सजातीय) आदि। संस्कृत में ये उपसर्ग नहीं हैं। हिन्दी कृदन्तों के समान राजस्थानी में भी कृदन्तों का प्रयोग होता है।

राजस्थानी की वाक्य रचना भी हिन्दी जैसी ही है। पहले कर्त्ता और वाक्य के अन्त में क्रिया होती है। विशेषण विशेष्य के पहले आता है। इस प्रकार वाक्य में शब्दों का क्रम दोनों में एक जैसा है। राजस्थानी और हिन्दी के शब्द-समूह में तत्सम का बाहुल्य है न कि अपभ्रंश के तद्भव शब्द-समूह का। अपभ्रंश के तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम का प्रयोग करके अपभ्रंश के पद्यों को मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी के पद्यों के रूप में सुविधा

१. श्री नरोत्तम स्वामी 'संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण' पृष्ठ ७

से परिवर्तित किया जा सकता है, इसीलिए अपभ्रंश के अनेक पद्य मरुगुर्जर में मिल जाते हैं जैसे :—

"सो सिवसंकरु विणहु सो, सो रुद्दवि सो बुद्धा।
सो जिणु ईसरु वंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धा।"
(योगसार दो० १०)

इसका रूपान्तर देखिये :—

"सो शिवशंकर विष्णु सो, सो रुद्रद सो बुद्ध।
सो जिन ईश्वर ब्रह्म सो, सो अनन्त सो सिद्ध।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय तो हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती के समीप जितनी अपभ्रंश है उतनी संस्कृत नहीं है। तत्सम शब्दों का प्रयोग अवश्य इनमें अधिक पाया जाता है अन्यथा पद रचना, ध्वनियाँ और उच्चारण आदि अपभ्रंश के अधिक समीप लगते हैं। इसलिए मरुगुर्जर से अपभ्रंश का नाता तोड़ना संभव नहीं है। आ० भा० आ० भाषाओं और उनके साहित्य का क्रमिक विकास देखने के लिए मरुगुर्जर और अपभ्रंश की उपेक्षा घातक है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम मरुगुर्जर पर अपभ्रंश का प्रभाव संक्षेप में आगे प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

मरुगुर्जर साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव

भाषा—पिछले प्रकरण में अपभ्रंश का जो विवरण दिया गया है उसके आधार पर अब सुविधापूर्वक अपभ्रंश का मरुगुर्जर भाषा और साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट किया जा सकेगा। अपभ्रंश और मरुगुर्जर भाषायें कई सौ सालों तक समानान्तर चलती रही हैं, फलतः उत्तरकालीन अपभ्रंश रचनायें मरुगुर्जर साहित्य से उसी प्रकार प्रभावित हुई जिस प्रकार प्रारम्भिक मरुगुर्जर साहित्य अपभ्रंश से प्रभावित हुआ था। यहाँ हम मरुगुर्जर पर अपभ्रंश के प्रभाव को ही प्रस्तुत करने जा रहे हैं। अपभ्रंश ने मरुगुर्जर को अनेक प्रकार से प्रभावित एवं सम्पन्न किया है। अपभ्रंश के शब्द समूह से मरुगुर्जर भाषा का भंडार सम्पन्न हुआ, इस प्रकार अपभ्रंश की मरुगुर्जर को प्रथम देन भाषा की दृष्टि से प्रमाणित होती है। जैन कवि धर्मप्रचार के लिए अपभ्रंश को पूज्यभाषा मानकर परिनिष्ठित

अपभ्रंश में ही बहुत काल तक रचनायें लिखते रहे। अधिकांश उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य जैन साहित्यकारों द्वारा ही सृजित है।

चरित --अपभ्रंश की दूसरी बड़ी देन है : काव्य में जनसामान्य को चरित नायक का स्थान देना; संस्कृत साहित्य में जनसाधारण को काव्य का नायक नहीं बनाया गया और न सामान्य विषयों को काव्य का विषयवस्तु बनाया गया। जैन अपभ्रंश साहित्य में ही नहीं अपितु काव्य का लोक जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध जैनों ने प्राकृत साहित्य में ही जोड़ दिया था। अपभ्रंश में आकर वह और अधिक घनिष्ट हुआ। व्रत-नियम पालन करने वाला आचारवान् श्रावक या मध्यम वर्गीय कोई साधारण मनुष्य अपभ्रंश काव्य का चरित नायक बनने लगा। इस प्रकार काव्य को लोक जीवन से सम्बद्ध करने की अपभ्रंश साहित्य की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति मरुगुर्जर को विरासत में प्राप्त हुई और मरुगुर्जर के जैन कवियों ने इसका बड़े प्रभावशाली ढंग से अपनी कृतियों में उपयोग किया।

कथावस्तु—अपभ्रंश के प्रबन्ध साहित्य में महापुराण, पुराण, चरित-काव्य, कथाग्रन्थ आदि का प्रचलन अधिक था। कथातत्व पौराणिक विषयों पर आधारित था। चरित साहित्य में जैनाचार्यों ने काव्य की कथावस्तु का चयन प्रायः जैन पुराणों से किया है। कहीं हिन्दू पुराणों से यदि कथा ली गई है तो उसे भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण से नवीन रूप दे दिया गया है। इस प्रकार के चरित्रों और कथाओं पर आधारित सैकड़ों काव्य कृतियाँ मरुगुर्जर में लिखी गईं जिनपर स्पष्ट ही अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है। इनका विषय प्रायः कोई तीर्थङ्कर, शलाकापुरुष या कोई व्रत-उपवास आदि का माहात्म्य अथवा अनुष्ठान आदि रहा है। 'सुदंसणचरिउ' 'पउमसिरिचरिउ' आदि प्रेमाख्यानों का भी परवर्ती मरुगुर्जर साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इन जैन काव्यों में शृंगार रस, नायक-नायिका भेद, बारहमासा, नखशिख वर्णन इत्यादि परवर्ती काव्य-प्रवृत्तियों का आदि रूप दिखाई पड़ता है।

संस्कृत में काव्य रचना सर्ग बद्ध होती थी। प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्द योजना और सर्ग के अन्त में छन्द बदलने की प्रथा प्रचलित थी किन्तु अपभ्रंश में काव्य संधियों में विभक्त किया जाने लगा। प्रत्येक संधि कई कड़वकों से मिलकर बनती थी। कड़वक की समाप्ति घत्ता से होती है। इन कड़वकों में पज्झटिका, अलिल्लह आदि छन्दों का प्रयोग होता है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है, 'अपभ्रंश निबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः'।

जैनाचार्यों ने अपभ्रंश काव्य को जन-जन तक पहुँचाने का भरसक प्रयत्न किया, उसे लोकमान्यता दिलाई और इस लोकभाषा को काव्यभाषा और परिनिष्ठित शिष्ट भाषा का गौरव दिलाया। इसमें न केवल जनसामान्य की भावनाओं का चित्रण किया गया बल्कि सरल और यथार्थ ग्राम्य जीवन की पृष्ठभूमि में उसे जीवन्त कर दिया। परम्परा से हटकर अपभ्रंश ने जो क्रान्तिकारी कदम उठाया उससे मरुगुर्जर साहित्य व्यापक रूप से प्रभावित हुआ, साथ ही लाभान्वित भी हुआ। परन्तु इससे यह न समझा जाय कि अपभ्रंश के कवि केवल परम्परा का त्याग करना ही क्रान्तिकारिता का चिह्न मानते थे बल्कि उन्होंने आवश्यकतानुसार परम्परा का उत्तम निर्वाह भी किया है तथा पूर्व और परवर्ती साहित्य को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य निभाया है।

कथानक रूढ़ियाँ--काव्य में कथानक रूढ़ियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, गुणश्रवण से प्रेमोत्पत्ति, शुक, हंस आदि का दूत बनना, नायक का सिंहलद्वीप जाकर अतुल सम्पत्ति प्राप्त करना, अनेक सुन्दरियों से विवाह करना, समुद्र यात्रा में तूफान आना, नौका का ध्वस्त होना, नायक-नायिका का वियोग और अन्त में किसी अलौकिक शक्ति की कृपा से पुनर्मिलन, विमाता का त्रास आदि कथारूढ़ियाँ संस्कृत, प्राकृत से होती हुई अपभ्रंश तक आई और अपभ्रंश ने उन्हें संजोकर प्रयोग करने के पश्चात् और अधिक सम्पन्न रूप में उन्हें मरुगुर्जर को सौंप दिया। करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, जिणदत्तचरिउ, श्रीपालचरित आदि काव्य ग्रन्थ इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

अभिव्यंजना— मरुगुर्जर के अभिव्यञ्जना पक्ष पर अपभ्रंश का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। काव्य रूप और काव्य रचना शैली की जितनी पद्धतियाँ मरुगुर्जर में प्रचलित हुईं उन सबका उत्स अपभ्रंश काव्य साहित्य में मिलता है। इतने विविध प्रकार के काव्य रूपों से मरुगुर्जर साहित्य जो सम्पन्न दिखाई पड़ता है उसका श्रेय अपभ्रंश को है। कथानक रूढ़ियाँ, काव्य रूप, भाषा शैली, अलङ्कार और छन्द आदि अभिव्यञ्जना के सभी पक्षों पर अपभ्रंश की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

शैली – ध्वन्यात्मकता या अनुरणात्मकता अपभ्रंश काव्य भाषा की जानी-मानी विशेषता है। विविध भावों और काव्य-व्यापारों को व्यक्त करने के लिए तदनुकूल शब्द योजना का सुन्दर संयोग इस काव्य की अपनी विशेषता है। भौंरों की गुंजार, चपला की चमक, घन गर्जन, शस्त्रों की टकराहट,

वाद्य यन्त्रों के विविध स्वर और नूपुरों तथा कंकणों की झंकृति के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का चयन एवं आवश्यकतानुसार उनका निर्माण जितना अपभ्रंश के कवियों ने किया उतना अन्यत्र दुर्लभ है, इस सम्बन्ध में 'पउमचरिउ' की दो पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

''हण-हण हणंकार महारउद्दु। छण-छण छणंतु गुणंदिछि सद्दु।
कर-कर करंतु कोयंड पवरु, थर-थर थरंतु णाराय नियरु।''

सिरि थूलिभद्द फागु की वर्षा वर्णन सम्बन्धी निम्न पंक्तियाँ प्रायः उद्धृत की जाती हैं :—

'झिरि झिरि झिरि झिरि झिरि ए मेहा वरिसंति।' इसी प्रकार पांडव पुराण, जसहरचरिउ आदि काव्यों से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें भ्रमरों की गुंजार के लिए 'गुमगुमंत' पद नुपूरों की झंकार के लिए 'धवधवधवंत' पुष्पों की सुगन्धि के लिए 'महमहमहंत' आदि पदों का प्रयोग किया गया है।

शब्दों और वाक्यांशों की आवृत्ति से कथन को प्रभावोत्पादक बनाने की प्रवृत्ति, मुहावरों-लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा को सजीव एवं सक्षम बनाने की चेष्टा भी मरुगुर्जर साहित्य में अपभ्रंश से ही होकर आई है। इस प्रकार एक विशेष प्रकार की काव्य रचना शैली अपभ्रंश से मरुगुर्जर को विरासत के रूप में मिली है जिससे उसका उपदेशपरक साहित्य भी अधिक शुष्क होने से बच गया, कहीं-कहीं तो काफी काव्यमय भी बन गया है।

छन्द –संस्कृत के साथ श्लोक, प्राकृत के साथ गाथा या गाहा और अपभ्रंश के साथ दूहा या दोहा काव्यक्षेत्र में छा गये। दोहा का आभीरों और सोरठा का सौराष्ट्र से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। नई जातियों के साथ नयी भाषा, नये काव्य रूप और छन्द आये होंगे। गाथा प्राकृत की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त और दोहा अपभ्रंश के अनुसार ह्रस्वान्त है। हरिवल्लभ भयाणि ने संदेशरासक की प्रस्तावना में लिखा है कि रासक एक प्रकार का छन्द भी है जो इक्कीस मात्रा का होता है। सन्देशरासक और जिनदत्त सूरि की प्रसिद्ध रचना 'चर्चरी' में इसी छन्द का प्रयोग किया गया है।

काव्य में स्वाभाविक लय प्रवाह के लिए छन्द विधान का बड़ा महत्त्व होता है। अपभ्रंश मुक्तकों में दूहा और प्रबन्ध काव्यों में चौपइ का प्रयोग विशेष रूप से देखा जाता है। जिस प्रकार अभिव्यञ्जना के अन्य पक्षों का उसी प्रकार अपभ्रंश के छन्दों का भी मरुगुर्जर पर काफी प्रभाव पड़ा है। संस्कृत में वर्णवृत्तों का प्रयोग होता था किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों

ने प्रमुख रूप से मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया। इनमें से दोहे और चौपाई का अपभ्रंश साहित्य में सर्वाधिक प्रयोग हुआ। कड़वकबद्ध शैली में कवि वस्तु वर्णन करते समय विषयानुसार छन्द परिवर्तन करके काव्य प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है।

अपभ्रंश में कवियों ने दो भिन्न-भिन्न छन्दों को मिलाकर (अन्त्यानुप्रास) नये-नये छन्दों का भी निर्माण किया। छप्पय, रड्डा, कुंडलिया, चंद्रायन आदि इसी प्रकार के मिश्र छन्द हैं जिनका अपभ्रंश और मरुगुर्जर में प्रर्याप्त प्रयोग हुआ है। प्राकृत के कवियों ने भी मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया था किन्तु मात्रिक छन्दों में तुक या अन्त्यानुप्रास की योजना द्वारा लय और संगीत या गेयता का संचार अपभ्रंश कवियों की मौलिक सूझ है जिसका पूरा लाभ मरुगुर्जर और आ० भा० आ० भाषाओं के साहित्यों को मिला। अन्त्यानुप्रास का प्रयोग न संस्कृत में था और न प्राकृत के छन्दों में था, यह परवर्ती काव्य साहित्य को अपभ्रंश की अपनी निजी देन है।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश के जैन कवियों ने यथासंभव सामन्ती संस्कृति और संस्कृत का जूआ उतार फेंकने और भाषा तथा साहित्य को जनसामान्य से जोड़ने का क्रान्तिकारी कदम उठाया जो अपने समय की एक प्रगतिशील प्रवृत्ति मानी जायेगी। इस प्रवृत्ति का परवर्ती मरुगुर्जर साहित्य को जो अवदान प्राप्त हुआ उसके लिए न केवल मरुगुर्जर बल्कि सभी आ० भा० आ० भाषाओं का साहित्य अपभ्रंश का चिरऋणी है। इसलिए आज भी उसके अध्ययन की अधिकाधिक आवश्यकता बनी हुई है। भारतीय वाङ्मय के सुविस्तृत शृङ्खला की अपभ्रंश एक अनिवार्य कड़ी है जिसके अभाव में वह छिन्न-भिन्न हो जायेगी और तमाम सूत्रों को ढूढ़ सकना असंभव हो जायेगा। अलंकार, प्रतीक आदि के उपयुक्त प्रयोगों से इस कविता में काव्यगुण का समावेश संतुलित ढंग से हुआ है। अतः इन्हें कोरी साम्प्रदायिक शुष्क रचनायें कहकर उपेक्षित रखना अनुचित है।

अपभ्रंश के प्रभाव-स्वरूप मरुगुर्जर में दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि मात्रिक छंदों का अधिक प्रयोग हुआ है किन्तु इसका यह कदापि मतलब नहीं कि वर्णिक छंदों का सर्वथा परित्याग कर दिया गया था। उनका प्रयोग कम हुआ है। मरुगुर्जर साहित्य में विभिन्न प्रकार की ढालों, देशियों और राग-रागिनियों का अभिनव प्रयोग करके संगीतात्मकता उत्पन्न करने का प्रभावशाली प्रयोग मरुगुर्जर की मौलिक सूझ है।

इस प्रकार प्रत्येक भाषा-साहित्य और व्यक्ति भी बहुत कुछ विरासत में प्राप्त करता है और कुछ न कुछ अपनी ओर से भी परम्परा में योगदान करता है तथा परम्परा को प्रगतिशील बनाये रखने में सहायक होता है।

काव्यरूप—जैन अपभ्रंश साहित्य काव्यरूपों की दृष्टि से बड़ा विविधतापूर्ण है। मरुगुर्जर के कवियों को अपभ्रंश से यह सम्पदा तो मिली ही थी, उन्होंने अपनी निजी सूझबूझ से इसकी और समृद्धि की। उन्होंने लोकगीतों से देशी धुनों, तर्जों और उर्दू से ग़जलों को लेकर रचना में उनका प्रयोग करके तथा कभी-कभी एक ही रचना में कई राग की ढालें देकर उसे बड़ा ही संगीतमय तथा विविधतापूर्ण बनाया। जैन काव्यरूपों की विविधता पर प्रकाश डालते हुए श्री अ० च० नाहटा ने इन्हें विषय, छन्द, राग, नृत्य, काव्यप्रबन्ध, उपदेश, संख्या, ऐतिहासिक परम्परा, स्तोत्रस्तवन आदि विविध आधारों पर वर्गीकृत किया है।[1]

छंद की दृष्टि से रास, फागु, चउपइ, वेलि, चर्चरी, छप्पय, दोहा आदि; राग की दृष्टि से बारहमासा, झूलणा, लावणी, वधावा, प्रभाती, गीत और पदादि; नृत्य की दृष्टि से गरबा, डांडिया, धवल, मंगल आदि; कथा प्रबन्ध की दृष्टि से पवाडो, चरित, आख्यान, कथा, संवाद आदि; संख्या की दृष्टि से अष्टक, बावनी, शतक, बहोत्तरी, छत्तीसी, सत्तरी, बत्तीसी आदि नाना भेद हैं। उसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से पट्टावली, गुर्वावली, तलहरा, संयमश्री वर्णन आदि; और उपासना की दृष्टि से विनती, नमस्कार, स्तुति-स्तवन आदि न जाने कितने काव्य रूप मिलते हैं। काव्यरूपों की ऐसी समृद्ध विविधता शायद ही किसी भाषा-साहित्य में उपलब्ध होती हो जितनी मरुगुर्जर में है।

इन काव्य रूपों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।[2] श्री नाहटा जी ने छंद एवं राग के आधार पर रास, चौपइ, बेलि, चौढालिया, विवाहलो; आराधना रूपों के आधार पर पुजा, सलोक, वंदना, सज्झाय, नाममाला; कथाबन्ध के आधार पर प्रबन्ध; आख्यान, कथा आदि नाना भेद गिनाये हैं। इनके अतिरिक्त प्रवहण, प्रदीपिका, चूनड़ी आदि अपेक्षाकृत कम प्रचलित रूप भी मिलते हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त और

---

१. श्री अ० च० नाहटा 'जैन काव्य रूप' ना० प्र० पत्रिका वर्ष १८ अंक ४

२. श्री अ० च० नाहटा 'प्राचीन काव्यरूपों की परम्परा' प्र० भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान।

कुछ प्रचलित काव्य रूपों जैसे रास, फागु आदि का थोड़ा विशेष परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रबन्ध—गद्य, पद्य या मिश्र शैली में रचित काव्यों को छंद, प्रबन्ध, रास-रासो, चरित्र-चरिउ आदि कहा गया है। प्रबन्ध रासो और रासड़ा या रासक तथा पवाड़ा या पवाड़ों से भिन्न प्रकृति की रचना है। विमलप्रबन्ध-मरुगुर्जर में प्रबन्ध रचना है। समरारास, पेथड़रास, वस्तुपाल तेजपाल रास आदि यद्यपि 'रास' नाम से अभिहित की गई हैं किन्तु ये वस्तुतः प्रबन्ध ही हैं। गणपति कृत माधवानल, जयशेखरसूरिकृत त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध (प्रबोधचिन्तामणि का भाषान्तरण) और पृथ्वीचन्द्र चरित (गद्य पद्य मय) प्रबन्ध काव्य रूप हैं।

संधि—यह आकार-प्रकार में प्रबन्ध काव्य का लघु रूप है। मरुगुर्जर में यह १३वीं शती से ही मिलने लगता है। रत्नप्रभकृत अन्तरंगरास सम्भवतः इस परम्परा का प्रथम काव्य सं० १२३७ में लिखा गया। इसके बाद जिनप्रभसूरिकृत मयणरेहासंधि, अनाथीसंधि, जीवानुशास्तिसंधि आदि १३वीं शताब्दी की संधि रचनायें हैं। जिनप्रभसूरि शिष्य कृत नर्मदा-सुन्दरी सं० १३२८ और जयदेवगणिकृत भावनासंधि इस विधा की उल्लेखनीय रचनायें हैं।

चउपइ—संख्या की दृष्टि से रास और चउपइ सर्वाधिक प्रयुक्त काव्य रूप हैं। चउपइ की परम्परा प्राचीन है। यह बाद में भी दीर्घकाल तक चलती रही। रासो का जमाना लद जाने के बाद भी चउपइ का प्रयोग सैकड़ों साल बाद तक होता रहा। चउपइ छन्द में रचित प्रबन्ध रचना को चउपइ या चौपाई कहा जाता है। इसे चतुष्पदिका भी कहते हैं। विनयचन्द्र कृत नेमिनाथ चतुष्पदिका (१४वीं शती), विजयभद्र कृत हंसराजवच्छराज चउपइ इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं। छंद नामक काव्य रूप भी इसी प्रकार का है किन्तु इसका प्रयोग अजैन साहित्य में अधिक हुआ है।

रास—ये रास तालियों या डांडियों की लय एवं घूमर के साथ विशेष उत्सवों पर जैन मंदिरों में खेले जाते थे। श्री मद्भागवत के पाँचवें अध्याय का नाम रास-पंचाध्यायी है। यह इसकी प्राचीनता का द्योतक है। नृत संगीत प्रधान यह काव्य विधा अपभ्रंश से मरुगुर्जर में आई, इसका प्रमाण संदेशरासक से मिलता है। विजयसेनसूरिकृत रेवंतगिरिरास (सं० १२८७) की पंक्ति 'रंगिइ रमइ जे रासु, श्री विजयसेनसूरि विनतीयउ अे।' या प्रज्ञातिलक कृत कच्छुलीरास की पंक्ति 'जिणहरि दित सुणंत,

मनवंछिय पुरवउ', अथवा अम्बदेव कृत प्रसिद्ध समरारास की पंक्ति 'एहरासु जो पढ़इ; गुणइ, नाचइ जिणहर देइ' यह सिद्ध करती है कि ये रास केवल पढ़ने के लिए नहीं बल्कि गाने-नाचने और खेलने के लिए रचे जाते थे।[1]

उपमितिभवप्रपंचकथा में मंडलाबद्ध रास और रिपुदारणरास का उल्लेख है। कृष्ण की रास लीलाओं के बाद रास का प्राचीनतम उल्लेख बाण के हर्षचरित, उद्योतनसूरि की कुवलयमालाकथा आदि में मिलता है जिनसे रासकों में मंडलाकार नृत्य तथा पदों के गान की सूचना मिलती है। भारतेश्वर बाहुबलिरास और वीसलदेवरासो में उनके नृत्य-नाट्य होने का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने (१००० ई०) में नाट्यशास्त्र की टीका में डोम्बिका, मसृण, रासक, हल्लीसक आदि नृत्य भेदों का लक्षण बताते हुए कहा है कि रासक-चित्र, ताल, लय से युक्त, अनेक नर्तक-नर्तकियों के समूह में गाया जाता है। चर्चरी को भी रासक के अन्तर्गत गिना जाता रहा है।

विषय की दृष्टि से इसके दो भेद कहे गये हैं—मसृण एवं उद्धत, इसलिए रासक वीररस प्रधान और श्रृङ्गाररस प्रधान दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। संगीतशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ संगीतरत्नाकर (सन् १२०० ई०) में रासक को एक प्रकार का नृत्य बताया गया है। छन्दशास्त्र में अपभ्रंश के अनेक मात्रिक छंदों का नाम रास, रासक या रासा भी मिलता है। क्रमदीश्वर के कथनानुसार 'शेषो नागरे रासकादौ' नागर अपभ्रंश में रास की रचना होती थी। इसका क्षेत्र पश्चिमी भारत था, जहाँ रासकों की रचना का प्राधान्य था। नृत्य-गेय होने के कारण ये रचनायें लघु आकार की होती थीं। आगे चलकर रास दृश्य काव्य से निकलकर श्रव्य काव्य में शामिल हो गया और इसका वास्तविक स्वरूप काफी बदल गया। राजा या आश्रयदाताओं की चरित चर्चा रासों में होने लगी। इस प्रकार इसके दो वर्ग बन गये; रास या रासक जो नृत्य-गेय रचनायें हैं, आश्रयदाता राजाओं

---

१. 'तीछे ताला रासु पडइ बहुभार पडता,
अनई लकुटा रासु जोइइ खेला नाचता।'
—प्रो० मंजुलाल मजूमदार 'गुजराती साहित्य नो स्वरूप' पृ० ६८

या

''सुललित वाणीमधुरी सादि जिण गुण गायंता;
तालमानु छन्द गीत मेलूं वाजित्रा वाजंता।''
—प्राचीन गुर्जर काव्य पृ० १४३

के चरितगान करने वाले रासो ग्रन्थों का वर्ग दूसरे प्रकार का है जैसे पृथ्वीराजरासो, परमालरासो आदि। यह चारण साहित्य का दूसरा नाम ही पड़ गया। ये प्रबन्धात्मक बृहद् रचनायें वास्तव में प्राचीन रास परम्परा में नहीं आती हैं। आश्रयदाता के वंश की प्रशंसा, उसके यश-शौर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन इनका मुख्य विषय हो गया; जब कि उपदेशरसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलिरास आदि प्राचीन रास नामधारी रचनाओं में इस प्रकार की बातों का अभाव है। यह दूसरा रूप अपभ्रंश के चरित काव्यों से प्रभावित है। मरुगुर्जर में इन्हें चरिउ, रास दोनों नामों से पुकारा भी जाता था।

मरु गुर्जर में १३वीं से १५वीं शताब्दी तक लिखी रास नामधारी रचनायें अधिकतर छोटी हैं और वे सुविधापूर्वक खेली जा सकती हैं। बाद में यहाँ भी बड़े-बड़े रास ग्रन्थ लिखे जाने लगे जो केवल पढ़े जा सकते हैं; गाये या खेले नहीं जा सकते। स्वयंभू ने रास का लक्षण बताते हुए कहा था कि जिस काव्य में धत्ता, पद्धड़िया तथा अन्य मनोरम छन्दोबद्ध रचना हो, जो जनमन को मनोहर लगे, वह रासक कहलाती है। मुञ्जरासो, संदेश रासक आदि की मूल भावना रति या प्रेम है। जैनेतर रासो ग्रन्थों में कन्याहरण, शत्रुपराजय, युद्ध, प्रेम आदि का वर्णन मिलता है लेकिन जैनाचार्यों के लिखे रास ग्रन्थ प्रायः नीति और धर्मोपदेश युक्त हैं।

रासक, रासउ, रासु, रासो, रासलउ आदि नामों से पुकारे जाने वाली जैन रचनाओं का मुख्य विषय तीर्थंकर, साधु-साध्वी या श्रावक का चरितगान है जिसने अपने त्याग-तपस्या और नियम-संयम से लोक जीवन को प्रकाशित एवं प्रभावित किया है। इनमें शृङ्गार, वीर गौड़; निर्वेद, शान्त रस प्रधान है। डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, कविराजा श्यामलदान आदि पुराने विद्वानों ने रास शब्द की व्युत्पत्ति रहस्य से; आ० रामचन्द्र शुक्ल ने रसायण से; डॉ० ग्रियर्सन ने राजादेश से; हरप्रसाद शास्त्री ने राजयज्ञ एवं रसिक आदि शब्दों से सिद्ध की है। किन्तु आजकल के अधिकतर विद्वान् इसका सम्बन्ध संस्कृत के रास शब्द से जोड़ते हैं जो श्रीमद्भागवत, हरिवंशपुराण, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में शृङ्गार प्रधान गीतों से युक्त नृत्य लीला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शारदातनय (१३वीं शती) के प्रसिद्ध ग्रन्थ भावप्रकाश तथा शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर के अनुसार लोक नृत्य लास्य का परवर्ती विकसित रूप रास है।

डॉ० दशरथ शर्मा अपने ग्रंथ रास एवं रासान्वयी काव्य में लिखते हैं कि इनमें तत्कालीन युग का स्पष्ट चित्र खींचा गया है। उस काल में रास नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय था। इसलिए जैनाचार्यों ने इस लोकप्रिय विधा को अपने उपदेश का माध्यम बनाया होगा। किसी नगर में जब कोई आचार्य प्रवेश करता था तो तालरास या लकुटरास (डांडिया) का अभिनय होता था। रेवंतगिरिरास में विजयसेनसूरि के इस कथन का हम उल्लेख कर चुके हैं कि जो लोग रास नृत्य करते हैं उनसे नेमिजिन प्रसन्न होते हैं।

प्रारम्भिक रासों के लघु आकार होते थे, शृंगार, शांत और त्यागपूर्ण कथा प्रसंगों का वर्णन होता था। इनमें दोहा छप्पय, देशी लोकगीत, ढाल आदि का प्रयोग किया जाता था। इनके रचना की अविच्छिन्न परम्परा १८ वीं शताब्दी तक मिलती है यद्यपि इनका स्वरूप काफी बदल गया था। इसका एक उल्लेखनीय संग्रह 'ऐतिहासिक राससंग्रह' नाम से चार भागों में प्रकाशित हो चुका है। चर्चरी भी नाच-नाच कर गायी जाती थी अतः इसकी प्रकृति भी रास से मिलती-जुलती थी। आ० जिनदत्त की चर्चरी और रास दोनों ही मरुगुर्जर रास के प्राचीनतम उदाहरणों में हैं।

पवाड़ो—प्रशस्तिमूलक वीररसपूर्ण काव्यरचना पवाड़ा कही जाती है। महाराष्ट्र में यह पद्धति अधिक लोकप्रिय हुई। यह एक प्रकार का वृहद् चरित काव्य है जैसे असाइत कृत हंसवच्छचरित पवाड़ो या हंसाउली प्रबंध, विद्याविलास पवाड़ो आदि। स्फुट रूप से पवाड़े लोक प्रचलित कथाओं पर आधारित विशेष प्रकार के लोकगीत भी हैं जिनका अस्तित्व १३ वीं शताब्दी से मिलता है।

आख्यान—आरम्भ में ध्रुवा और अन्त में धत्ता लगाकर पारम्परिक छन्दों, देसियों में रचित उपदेश प्रधान इन काव्य ग्रंथों और रासा-ग्रंथों की रचना पद्धति अनेक बातों में समान दिखाई पड़ती है। आख्यान में भी अभिनय के साथ गायन एवं पठन-पाठन द्वारा आस्वाद लेने का विधान है। इसमें रसतत्त्व अधिक होता है। जैन आख्यानों में सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और उपदेशों का प्रचार मुख्य उद्देश्य होता है जैसे देवचन्द कृत सुलसाख्यान, अपभ्रंश में रचित १२ वीं शताब्दी की यह रचना भाषा एवं काव्य पद्धति का अच्छा नमूना है।

कथावार्ता—आख्यान, उपाख्यान और कथा प्रायः एक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कथा गद्य की विधा है लेकिन अपभ्रंश एवं मरुगुर्जर में यह विधा

प्रायः पद्य में ही प्रयुक्त हुई है। मनोरंजन के साथ लोक शिक्षा इसका प्रधान लक्ष्य है। बृहत्कथा, कथासरित्सागर ऐसी रचनाओं के पुराने उदाहरण हैं। जैन साहित्य में समराइच्चकहा, कुवलयमालाकहा, विलासवइकहा आदि उल्लेखनीय रचनायें हैं। जैन कवियों की कथाओं में शृङ्गार, वीर और करुण रस का उत्तम सम्मिलन है। धनपाल कृत भविसयत्तकहा और परवर्ती रचनाओं में श्रुतपंचमीकथा, कौतूहल कृत लीलावइकथा आदि के अतिरिक्त कई कथाकोष भी उपलब्ध हैं जिनमें अनेक कथायें संकलित हैं।

पुराण—स्वयंभू कृत हरिवंशपुराण से लेकर १२ वीं शती के पद्मकीर्ति कृत पार्श्वपुराण आदि तक नाना पुराण नामधारी रचनायें अपभ्रंश में पाई जाती हैं। ये पुराण शैली पर लिखी गयी हैं जिनमें जगत् की सृष्टि, संहार, प्रसिद्ध राजवंशों की वंशावली और कथा दी गयी हैं। जहाँ एक ही चरित की कथा प्रधान रूप से रहती है वह पुराण और जहाँ कई शलाका पुरुषों की कथा एकत्र गूँथी रहती है उसे महापुराण कहते हैं किन्तु इस नियम का बहुत कठोरतापूर्वक पालन नहीं होता।

रूपक—कृष्ण मिश्र (संस्कृत) के प्रबन्धचन्द्रोदय की शैली पर जैन साहित्य में यशपाल कृत मोहपराजय नाटक, अनन्तनारायण सूरि कृत मायाविजय, पद्मसुन्दर कृत ज्ञानचन्द्रोदय, जयशेखर सूरि कृत प्रबोधचिन्तामणि आदि के अतिरिक्त मरुगुर्जर में जिनप्रभाचार्य कृत भव्यचरित और जयशेखर सूरि कृत त्रिभुवनदीपक आदि रूपक रचनायें हैं।

बेलि—इसकी परम्परा भी पुरानी है। बेलि का संस्कृत मूल वल्लभी में है जो अध्याय का वाचक था, बाद में स्वतन्त्र विधा का वाचक हो गया। इनका मुख्य विषय महापुरुषों का गुणगान होता है। जैनेतर रचनाओं में कृष्ण रुक्मिणी री बेलि साहित्य जगत में बहुप्रसिद्ध रचना है।

संझाय – जैन साधुओं के गुण वर्णन तथा उनकी प्रेरणा से अभिभूत रचनाओं को स्वाध्याय या संझाय कहा जाता है। ये आख्यानपरक भी होती हैं और आख्यान रहित भी। अतः इन्हें बन्ध और अबन्ध दोनों काव्य रूपों में रखा जा सकता है। तीर्थंकरों, जैनाचार्यों, मुनियों, सतियों के गुणानुवाद करने वाले शिक्षामूलक काव्य संझाय सम्भवतः स्वाध्याय शब्द से व्युत्पन्न हैं। इलायची पुत्र संझाय, वयरमुनि संझाय आदि इसके उदाहरण हैं।

विवाहलउ—विवाह, मंगल, बेलि और संयमश्री आदि इसके कई नाम हैं। सोममूर्ति गणि कृत जिनेश्वर सूरि संयमश्री वर्णनारास (सं० १३३१), मेरुनन्दन कृत जिनोदय सूरि विवाहलो के अतिरिक्त ऐसी अनेक रचनायें गिनाई जा सकती हैं। कुछ लोगों का विचार है कि विवाहलउ ही व्यावलो से अन्ततः बेलि बन गया है। इसलिए बेलि भी विवाहलउ की कोटि का काव्य है।

धवल भी विवाहलउ का पर्यायवाची है। ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह में संकलित जिनपतिसूरि धवलगीत सम्भवतः तेरहवीं शती की धवल संज्ञक प्रथम ज्ञात रचना है। यह मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जाता है। प्रारम्भ में यह लोकगीत समवेत रूप से गाने-नाचने के लिए प्रयुक्त होता था। अभी भी राजस्थानी में ऊषा दे धौल और जनोई के धौल गाये जाते हैं। इसे एक विशेष छन्द भी माना जाता है। हेमचन्द्र ने ४, ६ और ८ चरण वाले छन्दों का छन्दोनुशासन में उल्लेख किया है और इसके उत्साह, भ्रमर और अमर नामक तीन भेद भी गिनाये हैं। प्राकृतपैंगलम् में इसे छप्पय के ७१ भेदों में गिनाया गया है। संगीत-शास्त्र में एक विशेष राग के रूप में भी धवल का उल्लेख मिलता है। साह रयण एवं भत्तउ द्वारा लिखित श्री जिनपतिसूरि धवल (१३ वीं शती) सम्भवतः प्रारम्भिक धवल है। बाद में जयशेखर कृत नेमिनाथधवल आदि अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। धवल विवाहलउ के अर्थ में भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है किन्तु कहीं-कहीं धमालि, चौढालिया आदि के लिए भी धवल का प्रयोग किया गया मिलता है। मंगल—जन्मोत्सव, विवाह आदि के अवसर पर गाये जाने वाले मंगल गीत बाद में प्रचलित हुए।

चर्चरी—(चाँचर) रास की भाँति नृत्य-गीत युक्त यह भी एक काव्य विधा है। आ० हेमचन्द्र ने छंदोनुशासन में चर्चरी का लक्षण बताया है इससे इसके प्राचीन प्रचलन का पता चलता है। आ० जिनदत्तसूरि कृत 'चर्चरी' की चर्चा पहले की जा चुकी है। सोलणु कृत चर्चरीका (१४वीं शती) भी इस प्रकार की उल्लेखनीय रचना है। चाँचरि, चच्चरिका आदि, इसके अन्य प्रचलित नाम हैं। इसे ताल-नृत्य के साथ उत्सवों पर गाया जाता था। जैनाचार्यों ने चर्चरी की रचना जैन मन्दिरों में गाने योग्य धार्मिक पदों के रूप में की है।

फागु—संस्कृत फाल्गुन का अपभ्रंश है। इसका सम्बन्ध वसन्तोत्सव और अनंगपूजा से है। वसंत के आगमन पर प्रकृति में नवजीवन का संचार

होता है और मानव हृदय में प्रेम एवं शृङ्गार प्रस्फुटित होता है। मदनोत्सव फागु काव्यों का प्रारम्भिक विषय रहा है। जैन फागु का भी पर्यवसान शम में ही होता है। उदाहरणार्थ जिनपद्म कृत स्थूलिभद्रफागु १४वीं शताब्दी की फागु संज्ञक प्राचीन रचनाओं में एक है। नेमिनाथफागु (राजशेखर सूरि कृत), जंबूस्वामीफागु आदि रचनायें प्राचीनफागु संग्रह में संकलित हैं। ऋतुओं से सम्बन्धित साहित्य की विधाओं में फागु के अलावा धमाल, बसंत, षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा, होली आदि काफी लोकप्रिय लोक काव्य रूप हैं। इनमें से बारहमासा का वर्णन किया जा रहा है।

बारहमासा—इसमें वर्ष के बारहमासों का वर्णन किया जाता है। नेमिनाथ-राजीमती सम्बन्धी लोकप्रिय विषय वस्तु पर आधारित अनेक रचनाओं में बारहमासों का सुन्दर स्वरूप दिखाई पड़ता है। विनयचन्द्र कृत नेमिनाथबारहमासा उल्लेखनीय है। श्री नाहटा जी का कथन है कि अकेले उनके संग्रह में शताधिक बारहमासे हैं जिनमें से तीन चौथाई का सम्बन्ध नेमिनाथ-राजमती के विरह-वर्णन से है।

चौमासा—प्रबन्ध काव्यों में वर्षाऋतु का विशेष वर्णन मिलता है इस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ संभवतः नहीं है। इसी प्रकार 'सातवार' में सप्ताह के सातवारों का वर्णन संयोग और वियोग के प्रसंग में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है।

प्रबन्ध काव्य रूपों को भी कई प्रकार से विभाजित किया जा सकता है, जैसे जिज्ञासामूलक काव्य रूप के अन्तर्गत उखांडा, कूट, उलटवांसी, अन्तरालाप, मुकरी, प्रहेलिका, हीयाली आदि प्रचलित हैं। उखांडा शब्द संकृत के उपाख्यानक से उक्खाणउ और उखांडा बना होगा। इस तरह के प्राचीन सुभाषितों का संग्रह मेरुतुंग कृत प्रबन्धचिन्तामणि, सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध और सारंगधरपद्धति आदि में मिलता है।

कूट या उलटबास—इसका प्रथम प्रयोग बौद्धसिद्धों के चयपिदों में मिलता है। कबीर की उलटबासियाँ भी प्रसिद्ध हैं। कहा जाता कि सूरदास आदि में प्राप्त कूट पदों की परम्परा महाभारत से आई है, अतः यह अति प्राचीन काव्य रूप ठहरता है। गुजराती में जब एक पक्ष अपनी बात का उत्तर देने की चुनौती दूसरे पक्ष को देता है तो उसे कोचहड़ो कहा जाता

है। गणपति कृत माधवानलकामकंदला में इस प्रकार की रचनायें मिलती हैं।

अन्तरालाप--प्रहेलिका की एक स्वतंत्र शैली है। इसमें प्रश्न और उत्तर दोनों रहते हैं। हीराणदे रचित विद्याविलास पवाड़ा में अन्तलोपिकायें मिलती हैं।

मुकरो –अपभ्रंश की वार्ता एवं प्रबन्ध शीर्षक रचनाओं में मुकरी यत्र-तत्र मिल जाती है पर इस पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ संभवतः नहीं लिखा गया। अमीर खुसरो अपनी मुकरियों के लिए प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में भारतेन्दु ने बड़ी चुटीली व्यंग्यात्मक मुकरियाँ लिखी हैं।

प्रहेलिका--इसमें किसी व्यक्ति को संशय में डालकर उसके बुद्धि की परीक्षा ली जाती है। जैन ग्रन्थों में हीयाली शब्द प्रहेलिका या बुझौवल के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अर्थगूढ़ता के कारण इसे गूढ़ा भी कहते हैं। राजस्थान में इसे 'आड़ी' कहा जाता है। इसका प्रचलन काव्य रूप की तरह १६वीं शताब्दी से पूर्व सम्भवतः नहीं मिलता। देवपालकृत हीयालियों को प्राचीन माना जाता है। यह ज्यादा प्रचलित काव्य रूप नहीं है। समयसुन्दर ने नलदमयन्तीचौपाई में इसकी चर्चा की है।

संख्यामूलक काव्य रूपों में बड़ी विविधता पायी जाती है। सप्तशती, शतक जैसे गाथासप्तशती, अमरुशतक, भर्तृहरिशतक आदि प्राचीन रचनायें इसी कोटि की हैं। इनमें हजारा, त्रिशतक, पंचासिका, चौरासी, बहत्तरी, छप्पनी, बावनी, पचासा आदि उल्लेखनीय हैं। प्रबोधपंचासिका, शुकबहोत्तरी, सूडाबहोत्तरी, प्रबोधबावनी, मातृकाबावनी के अलावा अनेक चौबीसी और बीसी भी लिखी गयी हैं। इसी प्रकार सप्तक, अष्टक भी मिलते हैं।

उपदेश व शिक्षामूलक काव्य रूपों में मातृका, कक्क, ककहरा, अखरावट, अक्षर क्रम पर आधारित काव्य रूप हैं जैसे जगडूकृत सम्यक्त्वमाइ चउपई, जिनपद्म कृत शालिभद्रकक्क आदि। संवाद और संदेश मूलक काव्य रूपों में संवाद मूलतः जैन काव्य रूप है जो विवाद और झगड़ों आदि कई अन्य नामों से भी प्रचलित है जैसे जिह्वादंतसंवाद, गोरी-

सांवलीसंवाद, कृपणनारीसंवाद आदि। संदेशकाव्य या दूतकाव्य की परम्परा भी अति प्राचीन है। इसमें मेघदूत अग्रगण्य है। अपभ्रंश में संदेश रासक वैसी ही मार्मिक रचना है। जैन रचनाओं में नेमिदूत, शुकसंदेश आदि प्राप्त हैं। कहीं-कहीं भ्रमर, शुक, काग आदि को संबोधित करके भी संदेशकाव्य लिखे गये हैं। हिन्दी में सूर का भ्रमरगीत बहुत प्रसिद्ध है।

उपासनामूलक काव्य रूपों में कलश, अभिषेक, प्रभाती, साँझी, बधावा, गहूंली, स्तवन, स्तोत्र, भजन, आरती, चैत्यवन्दन, चैत्यपरिपाटी, तीर्थ-माला, पट्टावली, गुणावली, झूला, हिंडोला आदि बीसों काव्य रूप प्रचलित हैं जिनका विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाता है। काव्यात्मक रूपों में माला, मालिका, कुलक, प्रकाश, लतामंजरी, रसायन, रत्नाकर, कोश, समुच्चय और सूत्र आदि नाम भी प्रचलित हैं। इतर रूपों में सलोका, दूहा, गीति, हमचड़ी, हींच, ढालिया आदि जैन साहित्य के प्रसिद्ध काव्य रूप हैं।[1] गाने के तर्ज को ढाल या देसी कहा गया है। मरुगुर्जर साहित्य में रचना के खण्ड या इकाई को एक ढाल या तर्ज में लिखते हैं। इसी प्रकार ढाल में रचित रचना को ढालिया, चार तर्जों वाली को चौढालिया, छहढालिया आदि भी कहा जाता है। यह लोकप्रिय रूप जैन मरु-गुर्जर काव्य में सर्वत्र पाया जाता है।

हमचड़ी या हींच नृत्ययुक्त लोकगीतों का एक रूप है जो ताली बजाकर घूमते हुए गाया जाता है। इसके अलावा लावनी, गरबा, होली, विहुली, फुलड़ा आदि लोकगीतों के तर्ज पर भी बड़ी संख्या में रचनायें मिलती हैं।

गजल—मरुगुर्जर में गजल नामक फारसी की काव्यविधा भी बाद में प्रचलित हो गयी थी। मरुगुर्जर साहित्य में नगर वर्णनात्मक गजलों की एक लंबी परम्परा है। इनकी भाषा प्रायः हिन्दी है। यह परम्परा १७वी, १८वीं शताब्दी में अधिक लोकप्रिय हुई। सर्वप्रथम हमें जटमल कृत लाहौरगजल और खेताकृत चितौड़रीगजल का पता चलता है। बाद में प्राप्त कुछ गजलों का विवरण आगे दिया गया है। उद्धरण आदि यथास्थान दिये जायेंगे।

---

१. डॉ० चन्द्रकांत मेहता 'मध्यकाल ना साहित्य प्रकार'

गजलों का विवरण—[1]

१. जोधपुरनगरवर्णनगजल	—हेमकवि	सं० १८६६
२. जोधपुरनगरवर्णनगजल	—मुनि गुलाब विजय	१९०१
३. जोधपुर नगर वर्णन गजल	—महाराज मानसिंह के समय	
४. नागर वर्णन गजल	—मनरूप	सं० १८६२
५. मेड़ता वर्णन गजल	—मनरूप	१८६५
६. सोजत वर्णन गजल	—मनरूप	१८३८
७. बीकानेर वर्णन गजल	—लालचंद	— इत्यादि

तीन अन्य प्रचलित शैलियों का भी यहीं उल्लेख उचित होगा (१) ख्यात, (२) बात और (३) बचनिका, जैसे ढोला मारु, बेलि कृष्ण रुक्मिणी री बात, अचलदास खीची री बात और बचनिका आदि प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार काव्य रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश और उससे पोषित मरुगुर्जर साहित्य और भी अधिक सम्पन्न है।

रस—मरुगुर्जर जैन साहित्य में सभी प्रकार के रसों का यथास्थान आस्वाद प्राप्त होता है पर वीर, शृंगार, अद्भुत का प्रयोग अधिक किया गया है। ये सभी रस अंग हैं। जैन साहित्य का अंगी रस या प्रधान रस शान्त रस ही है। जैन साहित्य में रसराज का पद शृंगार के स्थान पर शान्त को प्रदान किया गया है। आत्मा के द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव आत्मानंद है और काव्य के रस को 'रसो वैसा' कहकर ब्रह्मानंद-सहोदर का स्थान दिया गया है। जीवात्मा, मल, कषाय, कंचुकादि से बद्ध होने के कारण अपने शुद्ध रूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता। इन बन्धनों से मुक्ति की अवस्था का ही नाम शम या निर्वेद है। शम और निर्वेद में थोड़ा अन्तर है। भोग की अपूर्णता तथा उसके व्याघातक स्थितियों के कारण चित्त की अभावात्मक वृत्ति का नाम निर्वेद है। इसीलिए कुछ विद्वान् निर्वेद को नकारात्मक मानकर शान्त रस की स्थिति पर आक्षेप करते हैं किन्तु केवल निर्वेद नहीं बल्कि शम और निर्वेद स्थायी भावों की अभिव्यक्ति से ही शान्तरस की वास्तविक निष्पत्ति हो पाती है। शम को शान्त रस का स्थायी भाव माना जाता है। क्योंकि आत्मा के विश्राम की अवस्था का नाम शम है। यह नकारात्मक अवस्था नहीं है। इस तथ्य को आचार्य जिनसेन ने 'अलंकार चिन्तामणि' में इस प्रकार समझाया है—"विरागत्वा-

१. श्री अ० च० नाहटा—राजस्थान का जैन साहित्य पृ० २८३

दिना निर्विकार मनस्त्वं शम"। कवि बनारसीदास ने भी सभी रसों को शान्तरस में समाविष्ट करते हुए उसे प्रधानरस घोषित किया है। उनका कथन है कि दृढ़ वैराग्य धारण करना तथा आत्मानुभव में लीन होना ही शान्तरस का अनुभव है। सुख-दुःखादि से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के प्रति समत्व भाव धारण करना शान्तरस की सच्ची स्थिति है। अतः जैनाचार्य एवं कवि शान्त को प्रमुख या अंगीरस मानते हैं। अन्य रसों को अंग मानते हैं।

जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण – संसार की नश्वरता, समत्व दृष्टि, अहिंसा, जीवदया, नैतिक संयम –के कारण जैन विचारक श्रृंगार को उतना महत्त्व नहीं देते। वह केवल मनुष्य को उत्तेजित करता है और उसके शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती अतः ग्रंथों में उसकी विवृत्ति और आवृत्ति की आवश्यकता नहीं मानते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोग इसका उचित उपयोग नहीं करते या तिरस्कार करते हैं। जैन साहित्य में सभी रसों का औचित्य पूर्वक निर्वाह किया गया है। उदाहरणार्थ बाहुबलिरास (सं० १२४१) में वीररस की उतम निष्पत्ति हुई है। इसी प्रकार 'नेमिनाथ चतुष्पदिका, विप्रलंभ का उत्तम नमूना है थूलिभद्र फागु, प्रद्युम्नचरित आदि में श्रृंगार, करुण, वीर आदि रसों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इन सभी काव्यों में यथावसर विविध रसों का निष्पादन करता हुआ अंत में कवि सबकी चरम परिणति शान्तरस में ही दिखाता है।

शान्त रस की प्रधानता और शृङ्गारादि रसों की गौणता के कारण कुछ लोग जैन साहित्य को नीरस, उपदेशपरक मानकर उसकी अवहेलना करते हैं किन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि मनुष्य स्वभावतः शान्तिप्रिय प्राणी है। वह सहज ही शान्तरस की ओर बढ़ता है। दूसरी ओर 'जोगहूँ ते कठिन संयोग परनारी को' जैसी निर्लज्ज पंक्तियों से अश्लीलता और अमर्यादा तथा अशान्ति बढ़ती है रति-शृङ्गार के लिए समझाने की कोई जरूरत नहीं पड़ती। कवि भूधरदास ने लिखा है"सीख बिना नर सीखत हैं, विषयानि के सेवन की चतुराई", किन्तु शम या निर्वेद के लिए उपदेश आवश्यक होता है।

निर्वेद को ऋणात्मक और पलायनवादी कहने वाले विचारक भरत की दुहाई देते हैं और कहते हैं कि उन्होंने इसे रसों में स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया अतः जैन कृतियों में रस की स्थिति को सन्दिग्ध मानते हैं। उनका कहना है कि शृङ्गार मनुष्य को प्रवृत्तिपरक बनाता है, कामना जगाता है,

पर शान्त रस जीवन की रंगीनियों का शमन करता है इसलिए ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। विपुल जैन साहित्य इसका प्रमाण है कि इन दोनों के स्वस्थ समन्वय से ही मानव को चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। जैन काव्यों में निर्वेद के द्वारा जीवन की मादकता, इन्द्रियलिप्सा और उद्वेग का शमन होता है न कि जीवन के शुभ पक्ष का दमन। यही इस साहित्य की प्रमुख विशेषता तथा लोक जीवन के लिए उपयोगिता है। प्रायः सभी रचनाओं का विषय धार्मिक और उपदेश प्रधान होने के कारण लेखक रचना के अन्त में नायक-नायिका को विषयों से विरक्त बनाकर निर्वेद ग्रहण करा देता है। कथा का घटना प्रवाह इस प्रकार गठित किया जाता है कि वह चरम पर पहुँच कर शान्तरस में पर्यवसित हो जाता है। अतः सभी जैन काव्य निर्वेदान्त हैं।

जैन कृतियों में प्रायः नायक अपने यौवन काल में राज्य प्राप्ति, शत्रु विजय, सुन्दरियों का उपभोग आदि सब करते हैं और इस प्रकार रचना में शृङ्गार, वीर, करुण आदि के लिए कवि को पर्याप्त अवसर मिल जाता है किन्तु अन्त में किसी मुनि के उपदेश से विरक्ति अवश्य हो जाती है। पउमचरिउ में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर करुण रस का स्रोत प्रवाहित हो उठता है; किन्तु उसी अवसर का उपयोग कर कवि जीवन की नश्वरता, शरीर की क्षणभंगुरता आदि का मार्मिक उपदेश दे देता है और स्थिति को शम प्रधान बना देता है। राम सोचने लगते हैं कि दुःख सुमेरु की भाँति अचल, अनन्त है और वे निर्वेद की स्थिति में पहुँचकर उपराम हो जाते हैं। धनपाल की प्रसिद्ध रचना 'भविसयत्तकहा में भविसयत्त तक्षशिक्षा और कुरु राज्य के युद्ध में विजयी होकर तमाम सुख-ऐश्वर्य का स्वामी और भोक्ता बनता है, किन्तु तभी विमल बुद्धि मुनि के उपदेश से उसे विरक्ति हो जाती है। तत्काल शृङ्गार शान्तरस में पर्यवसित हो जाता है। इसी प्रकार थूलिभद्द रास (सं० १२६६) में धर्म कवि ने कोशा वेश्या द्वारा मुनि के मन में रति के स्थान पर निर्वेद का भाव उत्पन्न कराने में सफलता प्राप्त की है। थूलिभद्र घोर शृङ्गारप्रिय नायक थे पर अन्त में उन्होंने निर्वेद धारण करके महामुनि का स्थान प्राप्त किया। विनयचन्द्र सूरि ने 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' में राजुल के वियोग और उसकी विरह वेदना का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है किन्तु बारह महीने रोते-रोते अन्त में राजुल को शम की प्राप्ति हो जाती है और विप्रलम्भ शान्त रस के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है।

सच पूछा जाय तो मानव जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम एवं विलयन शम में उसी प्रकार होता है जैसे अन्ततः सभी नदियों का संगम समुद्र में ही होता है। शान्ति का अधिवास आत्मा है और जब देहादि अनित्य पदार्थों से वह अपने को भिन्न अनुभव करने लगता है तब अहंकार, राग-द्वेष से हीन शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्म को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। यहीं आत्मा की शम या आनन्दावस्था है। जैन साहित्य में वैराग्योत्पत्ति के दो साधन बताये गये हैं (१) तत्त्वज्ञान और (२) इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग। इस तरह राग की अन्तिम क्लान्त अवस्था ही वैराग्य है। डॉक्टर भगवानदास, कविवर बनारसीदास आदि विचारक इसीलिए शान्तरस को ही रसराज मानते हैं। आचार्य मम्मट ने 'शान्तोऽपि नवमोरसः' कहकर इसकी स्वतन्त्र सत्ता काफी पहले ही मान ली थी। अभिनव गुप्त ने भी इनका समर्थन किया था। इसके शिल्प का विशद विन्यास धनंजय और विश्वनाथ ने किया।

रसराज शान्त का स्थायीभाव वैराग्य या शम है। तत्त्वज्ञान, तप, ध्यान, समाधि आदि इसके विभाव हैं। वस्तुतः जहाँ न राग-द्वेष, न सुख-दुःख, न उद्वेग-क्षोभ है अर्थात् समत्व है वहीं शान्त रस होता है। अतः ऋणात्मक या अभाव का आरोप यथार्थ नहीं है। मनुष्य अन्ततः शान्तिकामी है अतः शान्ति की कामना अभाव की स्थिति नहीं है बल्कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। जीवन में संयम, शान्ति आदि काम्य हैं। १७ वीं-१८ वीं शती में जब हिन्दी के रीति साहित्य में शृङ्गार, नख-शिख वर्णन आदि का बोलबाला था उस समय भी जैन कवि शृङ्गार को मर्यादित करके उसका शान्तरस में पर्यवसान करते थे। शृङ्गार, नख शिख वर्णन भी कम नहीं किया गया है किन्तु वे साध्य नहीं बल्कि प्रसंग प्राप्त साधन मात्र हैं। खेमचन्द्र कृत गुणमाला चौ० में नायिका गुणमाला का रूप वर्णन या कवि सुन्दर की प्रसिद्ध कृति सीताराम चौ० में गर्भवती सीता का रूप वर्णन बड़ा संयत और मर्यादित है। रत्नकीर्ति कृत नेमिनाथफागु में राजुल की सुन्दरता का मनोरम वर्णन, मालदेव कृत स्थूलिभद्र फागु में कोशा वेश्या की मादक रूप शोभा का वर्णन हृदयग्री ही है जैसे :—

'विकसित कमल नयन बनि, काम बाण बनियारे।
खांचइ भमुह कमान भुँ, कामी मृग मन मारिरे।
कानहिं कुंडल धारती, जानु मदन की जाली रे।
श्याम भुयंगी यूं बेणी, यौवन धन रखवाली रे।'

नागिन द्वारा गड़े धन की रखवाली करना कितना सुन्दर और परिचित उदाहरण है। किन्तु इसका अन्त नारी के रूप का लोभ छोड़ने में ही दिखाया गया है। केवलज्ञान और आनन्द की स्थिति में जब आत्मा स्थित हो जाती है, वही शान्तरस की चरम परिणति है।

हिन्दी के रासो काव्यों में युद्ध-वीर का प्रेरक प्रायः शृंगार रहा है किन्तु जैन काव्यों में यह बात नहीं है। मुनि कनकामर के करकंडुचरिउ में वीर रस का उत्तम परिपाक हुआ है किन्तु यहाँ युद्ध किसी सुन्दरी के लिए नहीं हुआ, वीररस के उपरान्त कन्याओं के समर्पण एवं विवाह के फलस्वरूप कवि ने शृङ्गार रस के लिए भी पर्याप्त अवसर निकाल लिया है किन्तु वीर रस को प्रमुखता दी गई है। वीररस का भी पर्यवसान शान्त रस में ही हुआ है किन्तु अपने स्थान पर वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। युद्ध प्रारम्भ होने पर शस्त्र संपात की तीव्रता का अनुभव छोटे छंदों में वीर रस के परिपाक में कितना सहायक है; देखिये निम्न पंक्तियाँ–

"ता हयइं तूराइं, भुवणयल पूराई। वज्जंति वज्जाइं सज्जंति सण्णाइं।
आणाए घडियाइं, पर बलइं भिडियाइं, कुंताइ मज्जंति, कुजरइं गज्जंहि।'

इसी प्रकार सभी रसों को यथास्थान अनुपातानुसार अवसर प्राप्त हुआ है किन्तु सबकी चरम परिणति निर्वेद और शान्त में ही हुई है।

सिद्धों और सन्तों के काव्य में उपलब्ध शान्त रस गौण है। वहाँ भक्ति का महासुख ही प्रधान है। अतः शान्त रस की रसराज के रूप में स्थापना का निर्विवाद श्रेय जैन साहित्य को ही है। नेमि और राजुल की कथा पर प्रणीत प्रभूत जैन साहित्य में शृङ्गार का स्फीत वर्णन होने के बावजूद अंगीरस शान्त ही है। सभी रसों का वर्णन करने के बाद शान्त रस का वर्णन करते हुए थूलिभद्र बारहमासे में कवि विनयचन्द्र कहते हैं—

फागुन शान्त रसइ रमइं, आणी नव नव भावो जी।
अनुभव अतुल वसंत मां, परिमल सहज समावो जी।

इन कवियों की कविता में एक तरफ सांसारिक रागद्वेष से विरक्ति, दूसरी तरफ प्रभु चरणों में परम शान्ति की प्रतीति अभिव्यक्त हुई है, इस प्रकार शान्त के अतिरिक्त जैन काव्य में भक्ति का भी पर्याप्त निरूपण किया गया है। अतः जैन भक्ति पर भी इसी के साथ विचार कर लेना समीचीन है।

भक्ति—अपभ्रंश और मरुगुर्जर काव्य में जैन कवियों ने 'भक्ति' का पर्याप्त चित्रण किया है। जैन दर्शन के षडावश्यकों में समता के बाद स्तवन (भक्ति) को दूसरा आवश्यक बताया गया है। प्रत्येक साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह जैन तीर्थङ्करों की स्तुति करे। यह स्तुति भक्तिमार्ग की जप साधना या नामस्मरण के कोटि की वस्तु है जिसके माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। हिन्दू परम्परा में जो स्थान ईश्वर के अवतारों का है वही स्थान जैन परम्परा में तीर्थङ्करों का है। दोनों धर्म संस्थापक कहे गये हैं। शक्रस्तव[1] में तीर्थंकर को धर्म का आदि करने वाला, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का दाता, धर्म का नेता और धर्म का सारथि कहा गया है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर धर्म संस्थापक तो हैं लेकिन दुष्टों का विनाश (हिन्दू अवतार की तरह) उसका कार्य नहीं है क्योंकि ऐसा करने में अहिंसा का सिद्धान्त बाधक है। अतः हिन्दू अवतारों की तरह सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का विनाश उसका कार्य नहीं, यह उसके निवृत्तिमार्ग के अनुकूल नहीं है। वह मात्र उपदेश देता है। तीर्थंकर भी अवतारों की तरह उपास्य हैं लेकिन भक्त उनसे उपासना के बदले कुछ नहीं चाहता। वह उनके गुणों का स्मरण करके अपने दुर्गुणों से मुक्त होता है। भक्त आत्मा प्रभु की भक्ति द्वारा अपने आत्म स्वरूप को पहचान लेता है। जैन तीर्थंकर स्वयम् निष्क्रिय रहते हुए भक्त पर अपने उद्धार का भार देकर उसे सत्कर्म के लिए सक्रिय करता है न कि अवतार की तरह भक्त के समर्पण मात्र से उस पर कृपालु हो उसकी पूर्ण रक्षा का आश्वासन दे उसे निष्क्रिय बना देता है। स्तुति द्वारा भक्त अपने आराध्य तीर्थंकर से किसी प्रकार के प्रतिफल की अपेक्षा नहीं रखता। "जैन और बौद्ध मान्यता यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयम् पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति

---

१. नमोत्थुण अरिहंताणं भगवंताणं। आइगराणं तित्थयराणं, सयं सुबुद्धाणं। धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धर्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत:' चक्कवहीणं।' सामयिक सूत्र— शक्रस्तव।

'तीर्थंकर बुद्ध और अवतार की अवधारणः तुलनात्मक अध्ययन पृ० २६७

की प्रार्थना करना जैन विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है।"[1] जैन विचारकों की स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती जब तक मनुष्य स्वयम् उसके लिए प्रयास न करे। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए देवचन्द्र जी लिखते हैं :—

'अज कुलगत केसरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति सँभाल।'

जिस प्रकार अजकुल में पालित सिंह शावक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुण कीर्तन-स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है। स्तुति साधक की अंतश्चेतना को जाग्रत करती है। उसके सामने साधना का आदर्श प्रस्तुत करती है। प्रयत्न स्वयम् साधक को करना पड़ता है। जहाँ तक कर्म सिद्धान्त का प्रश्न है कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि वीतराग भगवान् में किया गया राग बन्ध का कारण नहीं होता। योगीन्दु भी कहते हैं कि पर के प्रति राग बन्ध का कारण होता है किन्तु 'स्व' के प्रति नहीं। वीतरागी जिन 'पर' नहीं 'स्व' आत्मा ही है। यहीं वैष्णव भक्ति और जैन भक्ति में अन्तर आता है। योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में भगवान्, सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाई है। निष्काम अनुराग बन्ध का कारण नहीं होता। इसलिए राग तो किया जा सकता है किन्तु जैसा पहले कहा गया उस राग के बदले भक्त अपने प्रभु से दया, अनुग्रह, प्रेम कुछ नहीं चाहता। आचार्य हेमचन्द ने कहा है कि श्रद्धा ही भक्ति है जब कि प्रसिद्ध हिन्दी समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल श्रद्धा और भक्ति में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'भक्ति श्रद्धा और प्रेम का योग है।' भक्त भगवान् से श्रद्धा भक्ति के बदले अनुकम्पा, कृपा या अनुग्रह चाहता है। भक्ति प्रेम रूपा है। भक्ति के नाते भगवान् भक्त पर कृपा करते हैं, शरण में लेते हैं, माया से मुक्त करते हैं। भगवान् से प्रीति करने के लिए नवधा भक्ति का निरूपण किया गया है। जैन ज्ञान प्रधान एवं निवृत्तिमूलक धर्म है फिर भी भक्ति से उसका सम्बन्ध है। श्रद्धा से सम्यक् दर्शन और सम्यक् दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति जैनाचार्यों को स्वीकार्य है अतः मुक्ति के लिए जैन दर्शन में

---

१. डॉ० सागरमल जैन 'जैन, बुद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' पृ० ३९४

श्रद्धा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। श्रद्धा और भक्ति में अभेद तो नहीं है किन्तु सामान्यतया विशेष भेद भी नहीं है। कुछ जैन आचार्यों ने भक्ति की परिभाषायें दी हैं। आ० सोमदेव के अनुसार जिन, जिनागम और तप तथा श्रुत में पारायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धियुक्त अनुराग ही भक्ति है। जैन कवियों की भक्ति यही जिनेश्वर श्रद्धा या आत्म अथवा 'स्व' से अनुराग है। जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे अनुरागियों को योगी कहा है। ऐसा योगी वीतराग पर रीझकर श्रद्धा करता है। कर्मों का कर्त्ता या भोक्ता स्वयम् जीव अपने सद्कर्मों द्वारा आत्मिक अभ्युदय करता है। वह अपनी श्रद्धा भक्ति के बदले वीतराग से दया की याचना नहीं करता। वह अपने प्रयत्नों और सद्कर्मों द्वारा बन्ध से छुटकारा पाता है न कि भक्ति मार्गी भगवान् द्वारा उसकी अनुकम्पा मात्र से सद्गति पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में स्तुति, स्तोत्र, स्तवन, वंदन सम्बन्धी प्रचुर साहित्य काफी पुराना है और यह सोचना कि राजस्थान और गुजरात में भक्ति का प्रचार वल्लभाचार्य की कृष्णभक्ति के प्रभाव से हुआ अंशतः ही सही है। वैष्णव भक्ति का कुछ प्रभाव अवश्य परवर्ती जैन भक्ति पर पड़ा। प्राचीन जैन भक्ति साहित्य के अन्तर्गत भक्ति आन्दोलन से काफी पूर्व लिखा अभयदेवसूरि कृत 'जयतिहुयण स्तोत्र' प्रसिद्ध है। इसमें स्तुति-वन्दन है किन्तु भक्ति का प्रचलित अर्थ में विकसित रूप नहीं है। जैन भक्ति काव्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) निष्कल और (२) सकल भक्ति धारा।[1] यह हिन्दी भक्ति साहित्य की निर्गुण और सगुण भक्ति धारा के समान है। निष्कल ब्रह्म सिद्ध हैं, सिद्ध और शुद्ध आत्मा एक ही है। सकल ब्रह्म अरहन्त को कहते हैं। इस धारा में प्रचुर जैन भक्ति साहित्य उपलब्ध है। धनपाल कृत भविसयत्तकहा में जिनभक्ति का आदर्श देखा जा सकता है और नेमिचन्द भंडारी कृत जिनवल्लभसूरि गुण वर्णन (सं० १२५६) में आचार्य भक्ति का नमूना मिलता है। हिन्दी में भक्तिकाल सं० १४०० से १७०० तक माना जाता है। इस अवधि में जैन भक्ति काव्य की सैकड़ों रचनायें लिखी गईं। धनआनन्द; भैया भगवतीदास, बनारसीदास आदि इसके उल्लेखनीय स्तम्भ हैं। इनपर वैष्णव भक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है यथा—

आनन्दघन के भगवान् स्वयं भक्त के घर आये, उनके हर्ष का पारावार

---

१. डॉ० प्रेम सागर जैन 'जैन भक्तिकाव्य'।

नहीं। दाम्पत्य भाव से वह मिलन के लिए श्रृंगार करते हैं और कभी विरहिणी भाव से मिलनातुर होकर तड़प उठते हैं और कहते हैं—

"कंच न वरणो नाहरे मोहिं कोइ मेलावो।
अंजनरेह न आंखड़ी भावै,भंजन सिरपड़ो दाहरे।"

इन पंक्तियों का स्वर निर्गुण सन्तों की रहस्यवादी प्रेमपीर की बिरादरी का लगता है। कबीर कहते हैं—

"अंखड़िया झाई पड़ी पंथ निहार-निहार,
जीभड़ियाँ छाल्या पड़्या पीव पुकारि-पुकार॥"

अलौकिक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति आनन्दघन के पदों की विशेषता है। यह उत्कृष्ट कोटि का आध्यात्मिक भक्तिभाव है। इसी प्रकार के भाव जिनहर्ष,,ज्ञानानन्द आदि भक्त कवियों ने भी व्यक्त किये हैं।

इसी प्रेम के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विवाहों का वर्णन जैन काव्यों में खूब हुआ है। दीक्षाकुमारी या संयमश्री के साथ आचार्यों, मुनियों के विवाहों का वर्णन कई विवाहलउ, धवल और मंगल आदि में जैन कवियों ने किया है। तीर्थंकरों की चरित्ररूपी चूनड़ी धारण करने वाली प्रिया का रूपक भी इसी सन्दर्भ में बाँधा गया है। ब्रह्म जयसागर की चुनड़ी, समय-सुन्दर की चरित्र-चुनड़ी और साधुकीर्ति की चुनड़ी आदि इसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रेम विवाह सम्बन्धी रचनायें हैं। आध्यात्मिक होलियाँ, फागु भी पर्याप्त लिखे गये हैं। ये सभी प्रेमाभक्ति के अंग हैं। कहीं कहीं वात्सल्य, सख्य, विनय और दास्यभाव भी भक्तिभाव के अंगरूप में अभि-व्यक्त हुए हैं। आराध्य की महत्ता, अपनी लघुता, दीनता, उपालम्भ, नामजप आदि भक्ति के अनेक प्रकार परवर्ती जैन भक्ति साहित्य में मिलते हैं। गुरुभक्ति का इन सबके ऊपर स्थान है। इस प्रकार श्रद्धा से प्रारम्भ करके जैन काव्य में १५-१६वीं शताब्दी तक आते-आते भक्ति का स्वरूप भक्ति आन्दोलन से प्रभावित होकर नानावीथियोंसे प्रवाहित अवश्य हुआ है किन्तु उसका मूलतत्त्व निरन्तर अपरिवर्तित रहा है।

आत्मतत्त्व की गहन अनुभूति ही चिरंतन काव्य है। जैन कवियों की स्वानुभूति मय अभिव्यक्ति स्वाभाविक और सहज है। इनकी कविता में निर्गुण और सगुण का भेद नहीं, समन्वय मिलता है। वैष्णव भक्ति के अंतर्गत ब्रह्म स्वयं अवतार लेता है। राम और कृष्ण ब्रह्म से मनुष्य बने थे

किन्तु जैन अर्हंत अपने सद्कर्मों द्वारा मनुष्य से भगवंत बनते हैं। ऐसे अर्हंतों की सगुण ब्रह्म की भांति पूजा-उपासना या भक्ति होती है। इनका साहित्य सच्चे अर्थ में संत साहित्य है। इनका ब्रह्म निर्गुण-सगुण से परे है। गुरु को भगवान् मानना, वाह्याडम्बर का विरोध, चित्तशुद्धि, संसार की असारता का बोध, आत्मा-परमात्मा का प्रिय प्रेमीरूप इस साहित्य में संतसाहित्य की तरह अपने उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होता है।

इनकी कविता में भारतीय संस्कृति की उदारता, समरसता और एकता के दर्शन होते हैं। इन्होंने शान्तरस प्रधान साहित्य की रचना द्वारा साहित्य को उसके उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित किया है और उसके माध्यम से मानव मात्र को संयम, सदाचार का संदेश देकर उसके मनोबल को ऊँचा और चरित्र को आदर्शोन्मुख बनाया है। भक्ति में भक्त मुक्ति नहीं चाहता, किन्तु अद्वैतवादी निर्गुणोपासक आत्मा और परमात्मा का वही ऐक्य 'अप्पा सो परमप्पा' द्वारा घोषित स्वीकृत किया गया है। 'बुद्धों एवं तीर्थंकरों का देवीकरण तथा इन परम्पराओं में विभिन्न देवी-देवताओं का प्रवेश यह सब हिन्दू परम्परा का ही इन पर परवर्ती प्रभाव है।"[1] अतः जैन परम्परा में भक्ति आन्दोलन के पश्चात् देवी-देवताओं की भक्ति बहुत कुछ भागवत परम्परा से प्रभावित हुई है किन्तु भक्ति का एक ऐसा रूप जिसके अंतर्गत साधक को अपने प्रयत्न और सद्कर्मों की अलौकिक प्रेरणा मिलती रहे जैन परम्परा में प्राचीनकाल से प्रचलित थी जिस पर आधारित प्रचुर साहित्य मरुगुर्जर में लिखा गया है जिसका यथास्थान आगे विवेचन किया जायेगा।

□

१. तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा, पृ० २५७

द्वितीय अध्याय

मरु-गुर्जर जैन साहित्य (१२०१–१३००)

आदिकाल का निर्धारण

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"[1] इस कथन से पिछले अध्याय में निवेदित यह स्थापना प्रमाणित होती है कि १२ वीं शताब्दी के पश्चात् जो अपभ्रंश की रचनायें मिलती हैं वे बोलचाल की जनभाषा की रचनायें नहीं हैं बल्कि परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा शैली की रचनायें हैं जिनकी परम्परा १५ वीं १६ वीं शताब्दी तक चलती रही किन्तु इनसे देश्य-भाषाओं के क्रमिक विकास का ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता बल्कि उनका क्रमिक विकास मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी की रचनाओं के आधार पर ही जाना जा सकता है।

जैनकवि १३ वीं शताब्दी से ही मरुगुर्जर में साहित्य सृजन करने लगे थे। यह अवश्य दिखाई पड़ता है कि कभी-कभी एक ही कवि दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग एक ही रचना में या भिन्न-भिन्न रचनाओं में करता था। एक ही समय अलग-अलग कवियों द्वारा इन दोनों भाषाओं में काव्य रचना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी क्षेत्र के सुदूर पूर्वी प्रदेश में मैथिल कोकिल कवि विद्यापति ने अपभ्रंश के साथ बोलचाल की देशीभाषा का भी प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। उन्होंने कहा 'देसिल बयान सब जन मिट्ठा, ते तैसन जम्पओं अवहट्टा।' अर्थात् देशीभाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है इससे मैं देशीभाषा युक्त अपभ्रंश (अवहट्ट) में कविता करता हूँ। मैथिलकोकिल का यह कथन मरुगुर्जर के कवियों

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी सा० का इतिहास, पृ० ५

पर भी सटीक सही सिद्ध होता है। वस्तुतः इस काल में अपभ्रंश और मरुगुर्जर की सीमारेखा स्पष्ट न होने के कारण कभी-कभी घुस पैठ भी हो जाती थी, परिणामतः एक ही रचना को एक विद्वान् अपभ्रंश की, दूसरा मरुगुर्जर की और तीसरा पुरानी हिन्दी की रचना घोषित कर देता था और वे तीनों ही शायद अपनी दृष्टि से ठीक थे। फिर भी मरुगुर्जर जैन साहित्य की एक प्रारम्भिक सीमा निर्धारित करना आवश्यक होने के कारण हमने अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्य वि० १३ वीं शताब्दी को प्रारम्भिक सीमा स्वीकार किया है। अतः इस प्रकरण में वि० १३ वीं शताब्दी के जैनकवियों का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

आ० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जैन और बौद्ध साधु-सिद्धों की रचनाओं का उल्लेख किया है जिससे यह निर्विवाद है कि श्रमण संस्कृति के संदेशवाहक इन साधु-सिद्धों ने ही देशी भाषा में साहित्य सर्जन का कार्य सर्वप्रथम प्रारम्भ किया था। इस समय तक साहित्यिक अपभ्रंश बोलचाल की प्रचलित भाषा से दूर हो रही थी। बोलचाल में प्रचलित तत्सम शब्दों का उसमें से सायास बहिष्कार किया जाने लगा था और उनके स्थान पर प्रचलित देशी शब्दों को भी न प्रयुक्त करके एक निश्चित रूढ़ि के आधार पर शब्दों को गढ़ा और प्रयुक्त किया जाने लगा था जिनका न तो जनप्रचलित भाषा से कोई सरोकार होता था और न वे जनसामान्य को सुबोध होते थे जैसे नगर का नअर, या उपकार का 'उअआर' रूप मूल से ज्यादा दुर्बोध बन गया। यह विडम्बना देखिये कि जिन लोगों ने जनता के करीब पहुँचने के लिए जनता की भाषा को सर्वप्रथम स्वीकार किया था वे ही रूढ़ि में फँस कर रूढ़ भाषा अपभ्रंश के प्रति आग्रहशील हो गये। इधर कुछ लोग अपभ्रंश का बाध बाँधते रहे किन्तु जनभाषा का प्रवाह प्रबलवेग के साथ मरुगुर्जर, व्रज, मैथिली एवं दक्खिनी आदि जन-भाषाओं के रूप में प्रवाहित हो चला।

मरुगुर्जर जैन साहित्य में कालविभाजन का आधार भी प्रवृत्तियों के स्थान पर भाषा का रूप ही है। १३ वीं शताब्दी से १५ वीं शती तक जैन रचनाओं की काव्य भाषा प्राचीन हिन्दी या मरुगुर्जर अर्थात् जूनीमरु, जूनी गुजराती रही अतः ऐसी रचनाओं को आदिकाल के अन्तर्गत गिना जाता है। १६ वीं से १९ वीं शताब्दी तक की अवधि को मरुगुर्जर जैनसाहित्य का मध्ययुग माना गया है क्योंकि इस कालावधि में यद्यपि हिन्दी, राजस्थानी,

गुजराती आदि देशी भाषाओं का स्वतन्त्र विकास स्पष्ट रूप से हो गया था फिर भीजैन लेखकों के समग्र साहित्य में धर्मोपदेश की एक प्रधान एवं सामान्य प्रवृत्ति के कारण इसे एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है।

गुजरात-राजस्थान से जैनधर्म का सम्बन्ध—अभिलेखीय और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर जैनधर्म का सम्बन्ध इन प्रदेशों से पर्याप्त प्राचीन मालूम पड़ता है। वीर निर्वाण सं० ८४ का बालडी का अभिलेख इस बात का सूचक है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् ई० पूर्व लगभग पांचवीं शताब्दी में जैनधर्म का प्रवेश राजस्थान में हो चुका था अतः यह माना जा सकता है कि उसी के आसपास इन प्रदेशों में जैनाचार्यों का परिभ्रमण प्रारम्भ हो गया होगा। मथुरा की वाचना के पश्चात् वलभी में हुई आगमों की वाचना से भी यह प्रकट होता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक राजस्थान और गुजरात जैनधर्म के केन्द्र बन गये थे। आचार्य कालक की कथा का सम्बन्ध भी मालवा, गुजरात से लगे हुए सिद्ध प्रदेश से है अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि पाँचवीं शताब्दी से ही इन प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार होने लगा था। ५वीं से ७ वीं शताब्दी तक गुजरात राजस्थान में जैनधर्म जनता में जैनाचार्यों द्वारा बड़े अध्यवसायपूर्वक प्रचलित किया जाता रहा। चीनी यात्री ह्वेनच्याग हर्ष के समय (७ वीं) भारत यात्रा पर आया। उसने कु-चे-लो अथवा गुर्जर के राजा का उल्लेख किया है और (पि-लो मो-ली) भीनमाल को गुर्जर की राजधानी बताया था। यहाँ का युवक, क्षत्रिय राजा प्रसिद्ध और पराक्रमी था और 'बौद्ध धर्म का वह अनुयायी था।" स्वयम् हर्ष भी बौद्ध और ब्राह्मण मतों का आदर करता था। उज्जैयिनी में महाकालेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर से शैवधर्म की उत्तम स्थिति सूचित होती है।[1] उस समय गुजरात में जैन मुनियों की उपस्थिति का उल्लेख चीनी यात्री ने किया है। उसने बौद्ध विद्वान् दिवाकर के आश्रम में अर्हत् (जैनी) मस्करि, श्वेतपट (श्वेताम्बर) केशलुञ्चक और लोकायत आदि को देखा था।[2] कादम्बरी में बाण ने भी मणितारा (हर्षकी छावनी) में जैन अर्हत, पाशुपत, ब्राह्मण आदि को सम्राट् के दर्शन की प्रतीक्षा में देखा था। जैनदार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर की मालवा गुजरात में ५ वीं शताब्दी में उपस्थिति की सूचना मिलती है।

---

१. श्री गौरीशंकर चटर्जी 'हर्षवर्द्धन' पृ० १६५

२. वही पृ० ३३१

आठवीं शती में राजस्थान में महान् आचार्य हरिभद्रसूरि ने हजारों लोगों को जैनधर्म में दीक्षित किया और धूर्ताख्यान आदि ग्रन्थों द्वारा पौराणिक अन्धविश्वासों पर व्यंग्य करके जनता को सद्मार्ग दिखाया। ९ वीं शताब्दी के आचार्य सिद्धर्षि (उपमितिभवप्रपंचकथाकार), ११-१२ वीं में खरतर-गच्छ के संस्थापक जिनेश्वरसूरि और जिनदत्तसूरि तथा १३ वीं में तपागच्छ के संस्थापक जगच्चन्द्रसूरि आदि आचार्यों का विहार और धर्मप्रचार इन प्रदेशों में हुआ। ११ वीं १२ वीं शताब्दी से गुजरात में चौलुक्य वंश की स्थापना के बाद जैनधर्म को राजसंरक्षण मिल जाने के बाद वहाँ इसका प्रचार-प्रसार बड़ी तेजी से हुआ और इन स्थानों पर यह धर्म खूब फैला, फूला और फला तथा इन धर्म के सैकड़ों उत्तम विद्वानों ने अपनी अनुपम रचनाओं द्वारा मरुगुर्जर भाषा साहित्य का भंडार भरा। ये दोनों प्रदेश भौगोलिक, सांस्कृतिक दृष्टि से मिलेजुले प्रदेश हैं। जैन मुनि दोनों प्रदेशों में समान रूप से विहार एवं धर्मोपदेश करते थे इसलिए इनकी रचनाओं में गुजराती और राजस्थानी मिश्रित भाषा का ,प्रयोग स्वाभाविक रूप से हुआ जिसे ही मरुगुर्जर नाम दिया गया है। १२ वीं शताब्दी के कुछ विद्वानों की चर्चा सूत्र रूपमें आगे की जा रही है क्योंकि १३ वीं शताब्दी की साहित्यिक पीठिका इन्हीं की कृतियों पर प्रतिष्ठित हुई है।

१३ शताब्दी की सांस्कृतिक पीठिका—खरतरगच्छ के संस्थापक जिनेश्वर सूरि (१२ वीं शती) और उनकेभ्राता बुद्धिसागरसूरि ने राजस्थान और गुजरात में समान रूप से धर्मप्रचार किया। इन्होंने प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश में कई उत्तम रचनायें कीं जिनमें प्रमालक्ष्म स्वोपज्ञ, अष्टक प्रकरणवृत्ति, कथाकोषप्रकरण आदि प्रसिद्ध हैं। आप वर्द्धमान सूरि के शिष्य थे तथा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। आपने अपने गुरु के साथ गुर्जराधीश दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के शिथिलाचार पर शास्त्रार्थ किया। दुर्लभराज ने इनके पक्ष को 'खरा' मान कर इन्हें खरतर का विरुद प्रदान किया। तब से इनके अनुयायी खरतरगच्छीय कहे जाने लगे। आपकी रचनाओं में मरुगुर्जर के तत्त्व न तो प्राप्त होते हैं और न आप हमारी समय सीमा में पड़ते हैं अतः इनकी भाषा पर विशेष विचार आवश्यक नहीं है।

अभयदेव सूरि[1] (नवाँगी **वृत्तिकार**)-- श्री शीलांगाचार्य ने ११ अंगों पर संस्कृत में टीकायें लिखी थीं किन्तु समय के साथ नौ अंगों की टीकायें लुप्त

---

१. आप मलधारी अभयदेव सूरि से भी भिन्न थे। मलधारी अभयदेव प्रश्न-

हो गई। आचार्य अभयदेव ने इनकी पूर्ति की अतः ये नवांगी वृत्तिकार कहे जाते हैं। आप प्रद्युम्नसूरि के शिष्य और राजा भोज के समकालीन महादार्शनिक अभयदेव सूरि से भिन्न हैं। वे धारा नगरी निवासी महीधर श्रेष्ठि के पुत्र थे। उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर कृत प्राकृत ग्रंथ सन्मतितर्क पर संस्कृत में 'तत्वबोध विधायिनी' नामक टीका लिखी थी। प्रस्तुत अभयदेव बड़सल्ल नगर निवासी (मेदपाट) थे। इनके बचपन का नाम सांगदेव था। ये किसी राजा के लाडले पुत्र थे किन्तु आ० जिनेश्वरसूरि के उपदेश से इन्हें वैराग्य हुआ और सं० १०८८ में आप ने दीक्षा ली। आप का स्वर्गवास सं० ११४५ में हुआ। आप जैन समाज में शास्त्रों के सफल टीकाकार के रूप में विख्यात हैं। आपने स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाक नामक नौ अंगों पर संस्कृत में विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। आप खरतरगच्छ के पांचवें पट्टधर थे और जिनचन्द्र सूरि प्रथम के गुरुभाई थे। आप जिनवल्लभ सूरि के शिक्षा-शिष्य थे।

आपके प्रसिद्ध स्तोत्र 'जयति हुयेण' की भाषा में मरुगुर्जर के कुछ प्रयोग प्राप्त हैं। यह स्तोत्र साहित्य के प्राचीनतम उदाहरणों में गिना जाता है। यह स्तोत्र अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है। इसमें ३३ गाथायें हैं। इसकी एक गाथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत है...

"जयतिहुयण वर कप्प रुक्ख जय जिण धन्न तंरि,
जयतिहुयण कल्लाणा कोस दुरिय करवरि केसरि
तिहुयण जण अविलंधि आण भुवणत्तय सामिय
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणयपुरिट्ठिय।[1]

श्री जिनवल्लभसूरि--आचार्य जिनेश्वर सूरि के दीक्षाशिष्य और अभयदेव सूरि के शिक्षा-शिष्य थे। आपको आचार्य पद सं ११६७ में प्राप्त हुआ। आपने भी हजारों की संख्या में नये जैन बनाये। आपने संस्कृत

वाहन कुल के हर्ष पुरीय गच्छ के आचार्य जयसिंह सूरि के शिष्य थे। आप केवल मलमल का उत्तरीय एवं अधोवस्त्र धारण करते थे इसलिए सम्भवतः जयसिंह सिद्धराज या कर्णदेव ने इन्हें 'मलधारी' विरुद दिया था, किन्तु यह भी कहा जाता है कि आप कड़े तपश्चर्या में लीन रहने के कारण शरीर की वाह्य सफाई आदि पर ध्यान नहीं देते थे इसलिए इनकी प्रसिद्धि मलधारी के रूप में हो गई थी।

१. श्री मो० दे० —जै० गु० क० भाग १ पृ० ५५

और प्राकृत में अनेक उच्चकोटि की रचनायें की जिनमें चित्रकूटप्रशस्ति, नवकारमाहात्म्य, द्वादशकुलक, पिंडविशुद्धि, प्रश्नोत्तर षष्टीशतक आदि उल्लेखनीय हैं, इनकी भाषा शैली को 'समसंस्कृत' कहा जाता है। आपको विद्वानों ने कालिदास की कोटि का कवि कहा है।

आचार्य जिनदत्त सूरि—१२-१३ वीं शताब्दी के बड़े प्रतिभाशाली आचार्य थे। आपको युगप्रधान माना जाता था; आप उच्चकोटिके धर्माचार्य एवं लेखक थे। आपने मरुदेशका सघन परिभ्रमण किया और जैनधर्म का खूब प्रचार किया। आपको मरुस्थली कल्पतरु भी कहा जाता है। अजमेर नरेश अर्णोराज और त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल आदि तत्कालीन शासक, सामन्त आपके भक्त थे। आपने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की स्तुति में प्रसिद्ध 'चर्चरी' लिखी है जिसकी चर्चा पहले अध्याय में की जा चुकी है किन्तु यहाँ पुनः स्मरण करना आवश्यक लगता है क्योंकि यह रचना मरुगुर्जर की प्रारम्भिक रचनाओं में विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपदेशरसायनरास और कालस्वरूपकुलक आपकी अन्य रचनायें हैं जो प्रकाशित भी है। आपकी गद्यरचना 'बालावबोधप्रकरण' का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आप मरुगुर्जर के प्रथम गद्य-पद्य लेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं। आपके पिता वाछिग हुंबड जाति के थे। आपकी माता का नाम बाहड़ देवी था। आपका जन्म गुजरात के घोलका नगर में सं० ११३२ में हुआ था। आप जिन वल्लभसूरि के पट्टधर थे। आपका दीक्षानाम सोमचन्द्र था सं० ११६९ में आपको आचार्य पद मिला और आपका नाम आ० जिनदत्त रखा गया। आपका स्वर्गवास सं० १२११ में हुआ। इस प्रकार आप १२ वीं और १३ वीं शताब्दी के भी आचार्य और साहित्यकार थे। अतः यह अपेक्षित था कि इनकी कृतियों का विशेष उल्लेख किया जाय। आपने स्वयम् उच्चकोटि का साहित्य लिखा और साथ ही आपने शिष्यों और प्रशंसकों का बड़ा समूह निर्मित किया। आपके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों ने आपकी प्रशंसा में प्रभूत साहित्य लिखा। चैत्यवास के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करने के कारण आप युगप्रधान कहे गये। इनके समकालीन आचार्यों में आ० हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आपको 'दादा' कहा जाता है। आपकी जीवनी के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ गणधर सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति है जिसे सूरि जी के स्वर्गवास के ८४ वर्ष पश्चात् पं० सुमतिगणि ने लिखा था। आपके नाम पर अनेकों दादावाड़ी बने और न जाने कितने स्तवन स्तोत्र लिखे गये। आपकी प्रसिद्ध रचना 'गणधर सार्द्धशतक' में गुर्जरत्ता

शब्द का प्राचीन प्रयोग मिलता है। उक्त तीन मरुगुर्जर की रचनाओं के अलावा आपने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भी कई ग्रन्थ लिखे हैं जिनकी सूची यहाँ दी जा रही है :—विघ्नविनाशीस्तोत्र (इसका हजारों लोगों द्वारा नित्य पाठ होता है), पार्श्वनाथस्तोत्र, गणधरसप्ततिका, सर्वाधिष्ठायीस्तोत्र, सुगुरु पारतंत्र्यस्तोत्र, श्रुतस्तोत्र (प्राकृत); अजितशान्तिस्तोत्र, चक्रेश्वरीस्तोत्र, सर्वजिनस्तुति (संस्कृत), संदेहरत्नावली, चैत्यवंदनकुलक अवस्थाकुलक, विंशिका, आध्यात्मगीत आदि।

आपने रुद्रपल्ली में ऋषभदेव और पार्श्वनाथ, अजमेर में पार्श्वनाथ जिनालय, विक्रमपुर में महावीर प्रतिमा, त्रिभुवन गिरि में शान्तिनाथ जिनालय और चित्तौड़ में जिनालय की प्रतिष्ठा कराई। आपने अपने शिष्य जिनचन्द्र की योग्यता से प्रसन्न होकर उन्हें ९ वर्ष की अवस्था में ही अपना युवराज बना दिया था। सूरिजी का स्वर्गवास (आषाढ़ शुक्ला एकादशी सं० १२११) होने के बाद जिनचन्द्र (द्वितीय दादागुरु) ने अपने गुरु के अग्नि सस्कार स्थल पर सुन्दर स्तूप बनवाया। आ० जिनदत्त स्तुति साहित्य में पल्ह या पल्ल कृत स्तुति ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह में प्रकाशित है। इसके साथ धनपाल कृत तिलकमंजरी और सच्चरिउ महावीर उत्साह अपभ्रंश काव्यत्रयी के नाम से प्रकाशित है। यह स्तुति दस छप्पय छन्दों में है; इसकी सं ११७०-७१ की लिखी ताड़पत्रीय प्रति प्राप्त है। यह रचना भी १२ वीं शती के अन्तिम चरण (सं० ११७० के आसपास) की है। अतः इसकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक होने के कारण इसे भी अपभ्रंश की रचना कहा जाता है। इसकी जिनरक्षित द्वारा लिखित सं० ११७० और ब्रह्मचन्द्र गणि द्वारा लिखित सं० ११७१ की प्रतियाँ उपलब्ध हैं।

पल्हकृत स्तुति का छप्पय इस आशय से उद्धृत किया जा रहा है कि विद्वान् इसकी भाषा के सम्बन्ध में लिए गये एकतरफा निर्णय पर पुनर्विचार करें—

"जिण दिट्ठइ आणंदु चडइ अइ रहसु चउग्गुणु।
जिण दिट्ठइ झडहडइ पाउ तणु निम्मल हुइयुणु।
जिण दिट्ठइ सुहु होइ कट्ठु पुव्वुक्किउ नासइ।
जिण दिट्ठइ हुइ रिद्धि दूरि दारिद्द पणासइ।
जिण दिट्ठइ हुइ सुइ धम्ममइ अबुह हुकारु उइखहु।
यहु नवफण मंडिउ पास जिणु, अजयमेरि किन पेक्खहु।"[1]

१ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह चतुर्थ भाग पृ० ३६७

यद्यपि इसकी भाषा पर अपभ्रंश की घनी छाया है किन्तु यह सरल एवं सुबोध है। इसमें लय एवं प्रवाह है। संसार समुद्र का काव्यमय वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

जर जल बहल रउछु लोह लहरिहि गज्जंतउ,
मोहमच्छ उच्छलिउ कोव कल्लोल बहंतउ।
भयभयरिहि परिवरिउ बंच बहुवेल दुसंचरु
गव्व गरुय गंभीर असुह आवत्तभयंकरु।
संसार समुद्दु जु एरिसउ जसु पुणु पिक्खिवि दरियड़ा,
जिणदत्त सूरि उबएस मुणि तर तरंउउ तरियइ"

भाषा के सहज प्रवाह के लिए निम्न पंक्तियों का नमूना देखिये -

"तव संजम सम नियम-धम्म कम्मिण वावरियउ।
लोह कोह भय मोह तदव सव्विहि परिहरियउ।"

इस भाषा के आधार पर मैंने इन्हें मरुगुर्जर के आदि कवियों में स्थान देने का प्रयास किया है, आशा है इसका औचित्य विद्वज्जनों को स्वीकार्य होगा।

आचार्य की स्तुति में कुछ स्फुट छंद छप्पय आदि भी प्राप्त हैं जिनमें से १६ छप्पयों का एक संग्रह श्री अ० च० नाहटा ने युगप्रधान जिनदत्त सूरि नामक पुस्तक के पृष्ठ ३ पर प्रकाशित किया है। श्री जिनदत्त सूरि के किसी अज्ञात सिष्य द्वारा श्री जिनदत्तसूरि स्तुति पद्य सं० १६) की अपूर्ण प्रति का उल्लेख श्री नाहटा जी ने जैन मरुगुर्जर कवि और उनकी रचनायें भाग १ में पृ० ४० पर किया है। यह रचना जैसलमेर में ताड़-पत्रीय प्रति क्र० १५६ से १५७ और १५९ पर अपूर्ण रूप से प्राप्त हुई।

ज्ञानहर्ष कृत श्री जिनदत्त सूरि अवदात छप्पय में आपके अनेक चमत्कारों की चर्चा है। इसका समय अनिश्चित है। १३ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैनाचार्य जगच्चन्द्र सूरि के उग्रतप का आदर करते हुए सं० १२८५ में मेवाड़ के राणा ने इन्हें 'तपा' विरुद प्रदान किया। तब से इनके गच्छ का नाम तपागच्छ पड़ गया। गुजरात के मंत्री वस्तुपाल ने इनका बड़ा सम्मान किया और तभी से गुजरात में तपागच्छ का बड़ा प्रभाव हो गया। इनसे कुछ पूर्व देवसूरि नामक आचार्य ने सिद्धराज की सभा में दिगम्बर साधु कुमुदचन्द्र को वाद में परास्त कर वादिदेव सूरि का विरुद अर्जित किया था। आपने अपने गुरु मुनिचन्द्र सूरि की स्तुति में २५ पद्य की एक रचना अपभ्रंश मिश्रित देशी भाषा में लिखी जो जैन ग्रंथावली में प्रकाशित है। आपने संस्कृत में कई ग्रन्थ लिखे।

इन्हीं वादिदेव को प्रणाम करके वज्रसेन सूरि ने 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर नामक रचना ४५ पद्यों में मरुगुर्जर भाषा में की है जिसे मरुगुर्जर की प्रारम्भिक कृतियों में गिना जाता है। प्रथम अध्याय में इसका उल्लेख किया जा चुका है। आगे चल कर इसीसे सम्बन्धित रचना शालिभद्र सूरि ने सं० १२४१ में 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' नामसे लिखी जिसका यथास्थान विवरण दिया जायेगा। श्री नाहटाजी के अनुसार उत्साह और घोर संज्ञक अभी तक केवल एक एक रचना ही प्राप्त हुई है। घोर की रचना सं० १२२५ के आसपास हुई थी। इसकी भाषा में मरुगुर्जर के प्रारम्भिक प्रयोग प्राप्त होते हैं। धनपाल कृत 'सच्चरिउ महावीर उत्साह' की चर्चा भी पहले की गई है। १५ पद्यों की इस छोटी रचना का महत्त्व ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक भी है। घोर और उत्साह दोनों रचनायें स्तुति प्रधान हैं। कहा जाता है कि मारवाड़ के साचौर स्थित महावीर की मूर्ति को तोड़ने में महमूद गजनवी असफल रहा तो भक्तों में बड़ा उत्साह हुआ, किन्तु उसके कुल्हाड़ों के चोट का चिह्न आज भी मौजूद है; सम्बन्धित पंक्तियाँ 'उत्साह' से अवतरित की जा रही हैं।

"पुणवि कुल्हाड़ा हत्थि लेवि जिणवर तणु ताडिउ।
पच्छुथऽवि कुल्हाड़ेहि सो सिरि अंबाहिउ।
अज्जवि दीसहिं अंगि घाय, सोहिय तसु धीरह,
चलण जुयलु सच्चउरि नयरि पणमहुं तसु वीरहं।[1]

इस प्रकार क्रमशः गंगोत्री की तरह कई छोटी-मोटी शाखाओं से मरुगुर्जर की गंगा का उद्‌गम हुआ।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति--सिद्धराज सोलंकी के समय गुजरात में जैन धर्म की खूब तरक्की हुई। उसने हेमचन्द्र कृत सिद्धहैम की प्रतियाँ दूर-दूर भेजवाईं। सिद्धपुर में सिद्धपुर विहार और पाटण में राज विहार का निर्माण कराया। कुमारपाल ने सं० १२१६ में स्वयम् जैन धर्म स्वीकार कर लिया और इसे राज धर्म का दर्जा प्रदान किया। किन्तु (१२ वीं) इस समय तक जनता में लेशमात्र भी भेदभाव नहीं था। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने लिखा है कि महाराज कुमारपाल के साथ पाटण के मुंजलेश्वर महादेव मन्दिर में हेमचन्द्र भी जाते थे।[2] आचार्य हेमचन्द्र के अतिशय प्रभाव के कारण कुछ विद्वान् इसे हैमयुग भी कहते हैं। निःसन्देह

१. श्री अ० च० नाहटा—राजस्थानी सा० का आदिकाल, परम्परा पृ० १५३
२. मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३१९

वे युगपुरुष थे। इनके अनुयायियों में रामचन्द्र गुणचन्द्र (नाट्यदर्पणकार) का नाम उल्लेखनीय है। श्री केशवलाल ध्रुव ने गुजराती भाषा के तीन युगों में से प्रथम युग (११ वीं से १४ वीं शताब्दी) का इन्हें शलाकापुरुष बताया है।

कुमारपाल के बाद गुजरात की गद्दी पर उसका भतीजा अजयपाल बैठा जो जैनद्वेषी, निर्बुद्धि और अत्याचारी था। उसने कुमारपाल द्वारा दी जाने वाली जैन मन्दिरों की सहायता ही नहीं बन्द करवा दी बल्कि आचार्य हेमचन्द्र के पट्टधर रामचन्द्र सूरि के गुरुभाई बालचन्द्र की सीख से चिढ़कर उनकी क्रूरतापूर्वक हत्या करवा दी। इसके समय से ही सोलंकी राज्य की अवनति भी होने लगी। मालवा स्वतन्त्र हो गया। सं० १२३३ में अजयपाल की हत्या एक द्वारपाल ने कर दी और उसका बालक मूलराज दो वर्ष तक गद्दी पर रहा, तत्पश्चात् उसका छोटा भाई भीमदेव (भोला) गद्दी पर बैठा। यह केवल भोला ही नहीं विलासी भी था। इसके नाम पर महामण्डलेश्वर लावण्यप्रसाद और उसका युवराज वीरधवल शासन का कामकाज चलाते थे। अन्ततः सं० १३०० में वीरधवल के पुत्र बघेला विशालदेव ने सोलंकी राजा त्रिभुवन पाल से गुजरात का सिंहासन छीन कर स्वयम् को वहाँ का शासक घोषित कर दिया। इसने सं० १३१८ तक शासन किया। इस प्रकार इसी समय से गुजरात में सोलंकी शासन का अन्त एवं बघेला शासन का प्रारम्भ हुआ।

अजयपाल के बाद भी सोलंकी तथा बघेल राजाओं के मन्त्री, सेनापति और अन्य बड़े राज कर्मचारी प्रायः जैन ही रहे। इनमें अंबड, आह्लादन और प्रसिद्ध अमात्य वस्तुपल-तेजपाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने जैन धर्म की रक्षा तथा प्रभावना के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अतः इस काल में मरुगुर्जर के कवियों का आदर-सम्मान होता रहा और उन्होंने पर्याप्त साहित्य का सृजन किया। वस्तुपाल तेजपाल ने साहित्य की श्रीवृद्धि में अभूतपूर्व योगदान दिया, इसके कारण कुछ लोग तत्कालीन गुजराती साहित्य के युग को इनके नाम पर वस्तुपाल-तेजपाल युग भी कहते हैं। ये श्रीपत्तन के रहने वाले प्राग्वाट् वंशीय जैन वणिक् अश्वराज और उनकी पत्नी कुमार देवी के चार पुत्रों में तीसरे और चौथे पुत्र थे। भोला भीम निर्बल था अतः शासन सूत्र इन्हीं दोनों भाइयों ने सँभाल रखा था। भोला भीम के बाद वीरधवल के समय भी ये दोनों भाई मन्त्री और राज शासन के संचालक रहे अतः इनका प्रभाव क्रमशः बढ़ता ही गया। ये राजनीतिज्ञ के साथ काव्य एवं कला मर्मज्ञ थे। वस्तुपाल स्वयम् सुकवि

थे अतः राजकाज अधिकतर तेजपाल ही सँभालते थे। इन्हें सरस्वती पुत्र, कवि कुंजर, कवि चक्रवर्ती आदि विरुद प्राप्त थे। वस्तुपाल कृत नर-नारायणानन्द (संस्कृत) उत्तम महाकाव्य है। इनके समकालीन लेखकों में सोमेश्वर, नानाक पण्डित, अरिसिंह, अमरचन्द्र सूरि आदि प्रसिद्ध कवि हुए। सोमेश्वर वीर धवल के पुरोहित और वस्तुपाल के आश्रित थे। इन्होंने अपनी 'कीर्तिकौमुदी' नामक ९ सर्गों की रचना में वस्तुपाल की विरुद का वर्णन किया है। इसी प्रकार अरिसिंह ने सुकृत संकीर्तन नामक रचना उन्हीं की प्रशंसा में लिखी है। उदयप्रभसूरि कृत सुकृतकीर्ति-कल्लोलिनी' आदि ऐसी कई रचनाएँ लिखी गईं।

राजस्थान में भी सोलंकी राजाओं का प्रभाव था। दक्षिणी राजपूताना तो कुछ काल तक उनके राज्य का एक अंग ही था। बाद में शासकीय प्रभाव नहीं रहा किन्तु धार्मिक एकसूत्रता के कारण राजस्थान के अधिकतर शासक जैन धर्म की प्रभावना के लिए यथासम्भव सहायता करते रहे और दोनों प्रदेशों में मरुगुर्जर जैन साहित्य लिखा गया। रत्नप्रभसूरि महेश्वरसूरि, आसड आदि कई प्रसिद्ध लेखक हुए। जैन मन्त्री समभाव से सबका समादर करते थे।

इस काल में बौद्ध धर्म अपने शिथिलाचार के कारण कई यानों में विभक्त होकर पंचमकारी साधना में लिप्त था और धीरे-धीरे विघटित हो रहा था किन्तु जैन धर्म अपने कठोर अनुशासन, संयम, तप के कारण शासकों, राजकर्मचारियों और श्रेष्ठिवर्ग में फैल रहा था। इसके आचार्यों ने धर्म प्रचार के लिए अपभ्रंश और मरुगुर्जर में प्रचुर साहित्य लिखा जो अधिकतर श्वेताम्बर आचार्यों और लेखकों की देन है क्योंकि दिगम्बर आचार्य मुख्यतः अपभ्रंश में ही लिखते रहे या बाद में पुरानी हिन्दी में लिखा। दक्षिण के दिगम्बर जैनाचार्यों ने दक्षिण की कन्नड़ आदि भाषाओं में भी लिखा।

साहित्यिक गतिविधि—इस काल के साहित्यिक गतिविधि की एक झलक प्रस्तुत की जा रही है। अभयदेव सूरि के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने वीरजिणेसरपारणउ (गा० ४३) १३ वीं शताब्दी में लिखी।[1] धर्मसूरि शिष्य ने भी इसी समय धर्म सूरि बारह नावउं नामक बारहमासा ५० गाथाओं में लिखा, उसकी भाषा का नमूना देखें :—

'कुवलय दल सामल धणु गज्जइ, नभ छलु मण्डल झुणि छज्जइ।
विज्जुलडी झबकिहिं लवइ भणहरु, बित्था रेवि कलासु।"[2]

१. श्री अ० च० नाहटा—जैन म० गु० कवि पृ० २
२. वही पृ० ४

बालचन्द्र सूरि ने 'करुणा वज्रायुध' नामक नाटक लिखा। आपके समकालीन श्रावक आसड ने विवेकमंजरी और उपदेशकंदली पर टीकायें लिखीं। जयसिंहसूरि भी इस समय के प्रसिद्ध काव्यकार एवं नाटककार थे। उन्हें 'कवि सभा श्रृङ्गार' का विरुद प्राप्त था। उन्होंने प्रसिद्ध काव्य मेघदूत की मनोरम टीका लिखी है। वादिदेव सूरि के शिष्य रत्नप्रभ सूरि ने नेमिनाथ चरित (१२३३ सं०) और दूसरे शिष्य महेश्वर सूरि ने पाक्षिक सप्तति पर सुख प्रबोधिनी नामक वृत्ति की रचना की। सं० १२४६ में माणिक्यचन्द्र सूरि ने मम्मट के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यप्रकाश पर काव्यप्रकाश संकेत नामक टीका लिखी।

१२ वीं शताब्दी से ही मरुगुर्जर का स्वरूप निखरने लगता है और उस पर से अपभ्रंश का दबाव कम होने लगता है। पल्ह कवि कृत जिनदत्त सूरि स्तुति की पंक्तियों को प्रस्तुत करके यह पहले ही सूचित किया जा चुका है। १३ वीं शताब्दी में मरुगुर्जर की अनेक उत्तम रचनायें मिलती हैं। कुछ रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव भी है, कुछ अपभ्रंश की रचनायें ही हैं फिर भी उनमें मरुगुर्जर के पर्याप्त प्रयोग मिल जाते हैं। इस काल का अपभ्रंश-साहित्य प्रायः मरुगुर्जर का भी साहित्य है क्योंकि भाषा संक्रमणकालीन है। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने योगीन्दु के योगसार के दोहों की भाषा को आजकल की देशी भाषा का पुराना रूप बताया है। वे कहते हैं "तेने जूनी गुजराती के जूनी हिन्दी निश्चित पणे आपनी कही शकीअे।"[1] एक दोहा देखिये :—

"अजरु अमरु गुण गण णिलउ, जहि अप्पा थिरथाइ।
सो कम्महि णवि बंधयइ, संचिय पुव्व विलाइ।"

देवसेन आचार्य कृत दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रंथ के आधार पर माइल्ल धवल ने अपभ्रंश में 'दव्वसहाव पयास' (द्रव्यस्वभाव प्रकाश) लिखा।

अमरकीर्ति ने भी अपभ्रंश में 'छक्कम्मुवअेसो' षट्कर्मोपदेश नामक ग्रंथ लिखकर गृहस्थों के लिए आवश्यक छह कर्मों का उपदेश दिया। इसकी रचना गुर्जर प्रदेशान्तर्गत गोद्दय के चालुक्यवंशी राजा कृष्ण के समय सं० १२४७ में हुई थी। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत में भी ग्रंथ रचना की है। अपभ्रंश में इन्होंने 'पुरन्दर'विहाणकहा। लिखी है जिसमें पुरन्दर व्रत-

१. मो० द० देसाई—जैन साहित्यनो इ० पृ० ६५

विधान सम्बन्धी कथा है। दूसरी रचना णेमिणाहचरिउ में (वि० १२४४) नेमिनाथ का चरित्र चित्रित है। आप माथुर संघी श्री चन्द्रकीर्ति के शिष्य एवं अनुज थे। आपने षट्कर्मोपदेश की रचना अम्बाप्रसाद के आग्रह पर की थी। इनके पिता का नाम गुणपाल एवं माता का नाम चर्चिणी था। इनकी दो रचनायें और कही जाती हैं महावीरचरिउ और जसहर-चरिउ। ये सभी अपभ्रंश प्रधान भाषा में लिखित कृतियाँ हैं।

इस काल में लिखी रचनायें संक्रमणकालीन हैं, जिनकी भाषा अपभ्रंश के प्रभाव क्षेत्र से निकल कर धीरे-धीरे मरुगुर्जर के प्रांगण में प्रवेश कर रही थी। अतः इन रचनाओं का मरुगुर्जर की साहित्य पीठिका के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस प्रकार की रचनाओं में सोमप्रभ कृत कुमार पालप्रतिबोध (सं० १२४१) महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा हिन्दी की डिंगल रचनाओं से काफी मेल खाती है जैसे :—

"ढोल वजन्ता हे सखि पति आयो मोहि लैण।
बांगा ढोला मैं चली पति को बदलो लैण।

प्रबन्ध चिन्तामणि में मेरुतुंग से पूर्व की रचनाओं के उद्धरण संकलित हैं। मेरुतुंग के समकालीन कवियों में पद्मगुप्त कृत नवसाहसांकचरित, धनपाल कृत तिलकमञ्जरी, धनञ्जय कृत दसरूपक और इसके टीकाकार हलायुध आदि प्रसिद्ध रचनाकार थे। इनमें से कुलचन्द कवि का एक दोहा देखिये

"नव जल भरिया मग्गडा गयणि धडक्कइ मेहु
इत्थन्तरि जारि आ विसिइ, तउ जाणिसिउ नेहु।"

इसमें भरिया (भरा) मग्गडा (मग में संदेसडा की तरह डा प्रत्यय) और जारि आदि शब्द देश्य भाषा के द्रष्टव्य हैं।

मरुगुर्जर जैन साहित्य की कतिपय विशिष्टतायें—इसमें उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं के साथ देश भाषा में लिखा लोकसाहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। इन रचनाओं में नाना प्रकार की शास्त्रीय एवं लोक काव्य विधाओं का प्रयोग किया गया है। इन रचनाओं की उप-लब्धता निरन्तर बनी हुई है, ये प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में लिखित हैं और इनकी प्रामाणिक प्रतियाँ जैन शास्त्र भांडारों में सुरक्षित हैं। प्राचीन साहित्य की ऐसी अखंड एवं प्रामाणिक उपलब्धता अन्यत्र दुर्लभ है। इनका वर्ण्यविषय सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और लोक जीवन के सभी पक्षों से सम्बद्ध होने के कारण अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। ज्ञान भांडारों

की स्थापना जैन धर्म एवं समाज की निराली विशेषता है। धर्मभावना से अनुप्राणित श्रावक-श्रेष्ठि, मन्त्री और सामन्तों ने धर्म-लाभ और यश-लाभ की कामना से पुस्तकों की प्रतियाँ लिखवाकर उन्हें सुरक्षित रखने में अपने धन का सद्व्यय करके साहित्य की महान् सेवा की है। इनके द्वारा भाषा विकास और साहित्यिक परम्परा तथा समाज का अध्ययन सुविधा-पूर्वक सम्पन्न हो सकता है। मरुगुर्जर जैन साहित्य ने भाषा, काव्य-विषय, काव्यरूप आदि नाना दृष्टियों से परवर्ती साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है और परवर्ती साहित्य, चाहे वह हिन्दी का हो या राजस्थानी अथवा गुजराती का हो, मरुगुर्जर साहित्य के अमूल्य अवदान के लिए उसका चिरऋणी है।

मरुगुर्जर जैन साहित्य का विवरण (सं १२०१–१३००)

अभयदेवसूरि – आप रुद्रपल्लिय गच्छ के आचार्य थे। आपने सं० १२८५ में जयंतविजय नामक काव्य लिखा जो निर्णयसागर प्रेस में छप चुका है।

नवांगी वृत्तिकार **अभयदेवसूरि** की चर्चा पहले की जा चुकी है। मणिधारी जिनचन्द्र सूरि काव्याञ्जलि में पं० बेचरदास ने अभयदेवसूरि के स्वर्गवास का समय सं० ११३९ के पश्चात् बताया है। इन्होंने जन शास्त्र के नव अंगों पर टीका लिखी अतः नवांगी वृत्तिकार प्रसिद्ध हुए। इनके पट्टधर श्री जिनवल्लभ सूरि ने मधुकर खरतर शाखा का प्रारम्भ किया था। आपका समय १२वीं शताब्दी निश्चित है किन्तु 'जयन्तविजय' की रचना करने वाले अभयदेव का समय १३ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। अतः प्रथम अभयदेव (**नवांगी**) का 'जयतिहुयणास्तोत्र' मरु गुर्जर का प्राचीन बीज है किन्तु द्वितीय अभयदेव सूरि कृत 'जयन्तविजय' मरुगुर्जर का पल्लवित वृक्ष है। दोनों में सैकड़ों वर्ष का अन्तर है।

अमरप्रभसूरि – (१३वीं) के किसी अज्ञात शिष्य ने 'संख वापीपुर मण्डन श्री महावीर स्तोत्रम्' लिखा।

आसिगु या श्रावक आसिग––आप शान्तिसूरि के श्रावक भक्त थे। आपकी तीन रचनाओं का पता चला है (१) जीवदयारास, (२) चन्दन-बालारास और (३) शान्तिनाथरास। जीवदया रास (५३ गा०) की रचना सं० १२५७ में हुई। इस रास में जीवदया, माता-पिता और गुरु की भक्ति, सत्यभाषण, शुद्ध भाव से दान, तीर्थों में स्नान आदि कर्मों पर बल दिया गया है। धर्म पालन करने वाले राजा दशरथ, भरतेश्वर,

मांधाता, नल, सगर और कौरव-पाण्डवों का उदाहरण दिया गया है। कवि कहता है कि जीव दया का परिपालन सबको करना चाहिये—

"जीव दया परिपालिजए, माय वप्पु गुरु आराहिजए।'

अन्त में कवि कहता है—

'गउ दसरथु गउ लक्खणुरामु,
मांधाता नलु सगरु गओ,
गउ कवरव पाण्डव परिवारो।'

अतः सबको अवश्य धर्माचरण करना चाहिये। धर्मपालन करते हुए सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करना, पक्वान्नभोजन करना वर्जित नहीं है। कवि कहता है :—

धम्मिहि संपज्जइ सिणगारो, करि कंकण एकावलि हारु।
धम्मि पटोला पहिरजहिं धम्मिहि सालि दालि घिउघोलु।[1]

यह ग्रंथ सं० १२५७ के आसोज शुक्ला सप्तमी को ५३ पद्यों में लिखा गया। इसे कवि ने सहजिगपुर के पार्श्वनाथ जिनालय में लिखा। इसमें कवि ने अपना परिचय देते हुए बताया है कि वह जालौर निवासी था अथवा वहाँ उसकी ननिहाल थी और वहीं बस गया था। जीवदयारास मुनि जिनविजय जी द्वारा भारतीय विद्या भाग ३ में प्रकाशित रचना है। इसमें जैन तीर्थों का भी वर्णन है जिनमें सांचौर, नामद्रह, फलवर्द्धि और जालौर आदि उल्लेखनीय हैं। जालौर में आ० हेमचन्द्रसूरि के आदेश से कुमार पाल ने कुमार विहार नामक पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था जिनका वर्णन करता हुआ कवि कहता है:—

"उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया सारु।
कन्नु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेम तरहु संसारु।"[2]

कवि कहता है कि दुखी प्राणियों की जीवदया भाव से दानादि द्वारा सहायता करनी चाहिये, यथा—

'कवि आसिगु कलिअतरु सोइ, एक समाण न दीसइ कोइ।
के नरिपाला परिभमहि, के गय तुरि चंडति सुखासणि।
केइ नर कंठा बहहि, के नर वइसहिं रूप सिंहासणि।

१. हि० सा० का वृ० इ० तृतीय भाग पृ० २९७

२. मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ खंड १ पृ० ३९५-९६ और श्री अ० च० नाहटा—राजस्थानी सा० का आदिकाल परम्परा पृ० १५९

जीवदया रास की प्रति बीकानेर के खरतरगच्छीय वृद्धज्ञान भंडार से प्राप्त हुई हैं। यह सं० १४२५ की लिखित प्रति है, इस प्रति की खोज में ३५ पद्यों की एक अन्य रचना 'चन्दनबाला रास' जैसलमेर से सं० १४३७ की लिखी एक स्वाध्याय पुस्तिका में प्राप्त हुई। इसमें सती-चन्दन बाला और उसके द्वारा दिया गया भगवान् महावीर को आहारदान का प्रसंग वर्णित है। इसकी रचना जालौर में हुई। चन्दनबालारास राजस्थान भारती भाग ३ अंक ४ में प्रकाशित हो चुकी है। राजस्थान मरु-गुर्जर भाषा का संभवतः यह प्रथम श्रावक कवि है। जीवदयारास की रचना-तिथि के सम्बन्ध में निम्नपंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"संवतु बारहसय सत्तावन्नइ विक्रम कालि गयइ पडिपुनइ।
आसोथह सिय सत्तिमिहि हत्थोहत्थिं जिण निप्पायउ।
संति सूरि पयभत्त चरियं रचऊ रासु भवियहं मणमोहणु।"

भाषा के नमूने की दृष्टि से एक पद्य और उद्धृत किया जा रहा है :—

"के नर सालि दालि भुजंता, घिय घलहलु मज्झें विलहंता।
के नर भूखा दूखियइं दीसहि पर घर कम्मु करंता।
जीवता वि मुया गणिय, अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलंता।

इसकी भाषा गुलेरी जी द्वारा निर्दिष्ट पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर है।

शान्तिनाथ रास की रचना सं० १२५८ में हुई। श्री अ० च० नाहटा जी को इसमें सन्देह है कि यह आसिगु की रचना है अथवा किसी अन्य की है अतः इस पर अलग से विचार किया गया है। इसके लिए जिनेश्वर सूरि सम्बन्धी विवरण द्रष्टव्य है।

श्रावक जगडू—(१३-१४ वीं) आप खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि के श्रावक शिष्य थे। इनकी एक रचना 'सम्यकत्वमाइच-उपइ' प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह भाग १ में प्रकाशित है। यदि ये जिनेश्वर सूरि द्वितीय के शिष्य हों तो उनके स्वर्गवास का समय वि० सं० १३३१ होने के कारण जगडू १४वीं शताब्दी के कवि सिद्ध होते हैं। प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में भी इस चउपइ का रचनाकाल सं० १३३१ दिया गया है। श्री मो० द० देसाई ने जै० गु० क० भाग १ पृ० ८ पर इसे सं० १३३१ के बाद की रचना बताया है, किन्तु जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०२ पर तिथि में सुधार करके सं० १२७८ के बाद और १३३१ से पूर्व की रचना घोषित किया है और लिखा है कि यह रचना जिनेश्वर सूरि के जीवनकाल

में ही संभवतः लिखी गई थी। यदि यह अनुमान सही हो तो जगडू १३वीं शताब्दी के कवि ठहरते हैं। श्री अ० च० नाहटा ने इन्हें १३वीं शताब्दी का ही कवि कहा है। उन्होंने इसके सम्बन्ध में यह सूचना भी दी है कि यह ६४ पद्यों की रचना है और प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित है। यह चौपई छंद में है।[1] चउपइ की ६४वीं चौपाई निम्नलिखित है :—

"माई तणउ अक्खरु धुरि कियउ, चउसठि चउपइया वंधुकियउ।
सुद्धइ मणि जे नर निसुणंति, अणंत सुक्खु सिद्धिहि पावंति।

चउपइ में कवि में रचनाकाल नहीं दिया है। इसमें स्थूलिभद्र[2] दशार्णभद्र, जम्बूस्वामी, अभयमुनि और जिनवल्लभ आदि आचार्यों को सादर स्मरण किया गया है। लेखक जगडू का नाम ६२वीं चउपइ में आया है यथा—

"हासामिसि चउपइ बंधु कियउ, माई तणउ छेहु मइनियउ।
ऊणउ आगलउ किंपिभणेउ, 'जगडु' भणइ संधु सयलु खमेऊ।"

चौ० ६३वीं में गुरु जिनेश्वर सूरि की वन्दना इस प्रकार की गई है :—

'श्री नंदउ समुदा धरि रहइ, नंदउ त्रिहि मंदिरु कवि कहइ।
नंदउ जिणेसर सूरि मुणिंदु, जा रवि ऊगउ ऊगउ चंदु॥"

नंदउ शब्द ध्यान देने योग्य है। किसी की मृत्यु के बाद उसके नन्दित होने की कामना करने का कोई तुक नहीं है अतः मेरी समझ में यह चउपइ सं० १३३१ से पूर्व लिखी गई है। अतः इसे १३वीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना माना जा सकता है। इसकी प्रथम चउपइ उद्धृत करके पुनर्विचारार्थ इनकी भाषा का नमूना सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

"भले भणउं माई धुरि जोई, धम्मह मूलु जु समकित होइ।
समकत बिणु जो क्रिया करेइ तातइलोहि नीरू धालेइ॥"

इसके काव्यरस की बानगी के लिए एक और पद्य प्रस्तुत है जिसमें कवि कहता है—

"गलइ आउ जिम अंजलि नीरू, सीलु जो पालइ सो नर धीरू।
कपिल नारि पेलइ विन्नाणि, सीलु सुदरसण तणउँ बखाणि॥२५॥"

अर्थात् अंजलि का पानी जिस प्रकार धीरे-धीरे रिस जाता है वैसे ही आयु निरन्तर क्षीण होती जाती है। इसलिए मनुष्य को शील सदाचार का पालन करना चाहिए।

---

१ श्री अ० च० नाहटा, परम्परा पृ० १६६

२. सम्यक्त्व माइ चउपइ प्रा० गु० का० संग्रह पृ० ७८

जिनेश्वर सूरि (द्वितीय) – आप जिनपति के पट्टधर थे। जिनपतिसूरि ने खेड़नगर में शान्ति जिनालय की प्रतिष्ठा सं० १२५८ में की थी। इसी समय शान्तिसूरि के शिष्य 'आसिगु' ने शान्तिनाथरास की रचना की किंतु श्री अ० च० नाहटा का कथन है कि शान्तिनाथरास वि० सं १२५८ के आसपास की रचना है और इसका रचयिता कोई खरतरगच्छीय विद्वान् ही होगा। जैसलमेर में इसकी जो प्रति मिली है वह अपूर्ण है। अतः लेखक का नाम नहीं मालूम पड़ता। शान्तिनाथरास शान्तिसूरि के शिष्य आसिगु या जिनपति सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि अथवा किसी अन्य की रचना है, अद्यावधि निर्णीत नहीं हो सका है। जिनेश्वर सूरि भी उत्तम लेखक थे। उनकी लिखी चार रचनाओं का उल्लेख श्री नाहटा जी ने किया है-- (१) महावीर जन्माभिषेक, (२) श्री बासुपूज्य बोलिका, (३) चर्चरी और (४) शान्तिनाथ बोली।" हो सकता है कि शान्तिनाथ बोली के साथ आपने ही शान्तिनाथरास की भी रचना की हो। इस रास का एक पद्य दिया जा रहा है –

"खेड़ नयरि जो संति उद्धरणि कराव्युं, बिहि समुदय ससुभत्ति।
जिणावइ सूरि ढाविचुं।"

खेड़ नगर जोधपुर (राजस्थान) में है। अतः यह रचना राजस्थान में ही लिखी गई होगी और इस सम्भावना को भी सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि यह जिनपति सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि की हो। आप की निश्चित रचना महावीर जन्माभिषेक १४ पद्यों की सुन्दर कृति है। इसमें भगवान् महावीर के जन्माभिषेक का मनोरम वर्णन है। तिलोत्तमा आदि अप्सराओं के नृत्यगान सम्बन्धी पद्य आगे उद्धृत किए जा रहे हैं—

"वर रम्म तिलुत्तम अच्छराउ, नच्चंति भत्ति भर निब्भराउ
गायंति बार हारूंज्जालाइं, तुह चरियइं जिणवर निम्मलाइं।"
वज्जंति ढक्क टंबक्क बुक्क, कंसाल ताल तिलिमाह ढुक्कु
उप्पंति इत सुखर विमाण, नह मंडलि दीसहिं पवर जाण।

इनकी अन्य रचना वासुपूज्य बोलिका को श्री नाहटा जी ने जिनेश्वर सूरि शिष्यकृत बताया है।[१] आपके पिता श्री नेमिचन्द्र भंडारी भी विद्वान् श्रावक थे जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। ये मरोठ (मरुकोट) निवासी थे। इनकी दीक्षा खेड़ नगर में ही हुई थी। दीक्षा नाम वीरप्रभ था। आचार्य पद पर आप की प्रतिष्ठा सं० १२७७ में जालौर में हुई थी। आपने संयम-

१. श्री अ० च० नाहटा—जैन म० गु० क० पृ० १३

पूर्वक धर्म की साधना करते हुए अनशन पूर्वक सं० १३३१ में शरीर त्याग किया था।

जयमंगल सूरि—ये हेमचन्द्र के गुरुभ्राता रामचंद्र सूरि के शिष्य थे। आप ने १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में महावीर जन्माभिषेक नामक रचना की।

जयदेव गणि—आप श्री शिवदेव सूरि के शिष्य थे। आपने १३ वीं शताब्दी में ही **'भावना संधि'** नामक एक काव्य लिखा है। संधि नामक रचनाओं का परिचय श्री नाहटा जी ने 'अपभ्रंश भाषा के संधि काव्य की परम्परा' नामक लेख में दिया है। यह लेख राजस्थानी निबन्ध माला में प्रकाशित है।

देल्हड[1] (**देल्हण**)—आप एक श्रावक कवि हो गये हैं। इन्होंने श्री देवेन्द्र सूरि की आज्ञा से सं० १३०० के आसपास **'गयसुकमालरास'** नामक ३४ पद्यों का लघुरास लिखा। इसमें गजसुकुमार मुनि का चरित्र वर्णित है। कवि ने ग्रंथारम्भ में श्रुत देवी को प्रणाम किया है, तदुपरान्त द्वारावती नगरी का वर्णन किया है। वहाँ नरेन्द्र कृष्ण का राज्य था जिन्होंने कंस का संहार किया था। कृष्ण की माता देवकी को मन्दिर में युगल मुनियों को देखकर वैसे ही पुत्र प्राप्ति की कामना हुई। उनके तप से प्रसन्न हो हरिणगवेषी नामक देव ने यह बताया कि उन्हें पुत्र तो होगा किन्तु वह युवा होते ही दीक्षित हो जावेगा। उन्हें अन्ततः पुत्र हुआ जिसका नाम गयसुकुमाल रखा गया। वह बचपन से ही विरक्त था और तप-संयम द्वारा उसने शिवस्थान प्राप्त किया। इसकी प्रति जैसलमेर के शास्त्र-भण्डार से प्राप्त हुई और श्री अगरचंद नाहटा ने इसे राजस्थान भारती भाग ३ अंक २ में प्रकाशित करा दिया है।

धर्म—आप महेन्द्र सूरि के शिष्य थे। इनकी तीन रचनाओं का पता चला है, (१) जम्बूस्वामीचरित (सं० १२६६) ४१ पद्यों की छोटी रचना है। इसमें भगवान् महावीर के प्रशिष्य जंबूस्वामी का चरित्र वर्णित है। यह रचना प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। जंबूस्वामी अंतिम केवली कहे जाते हैं। उनकी जीवन गाथा बड़ी मार्मिक है। उन्होंने विवाह की प्रथम रात्रि में ही अपनी आठ स्त्रियों को प्रतिबोधित किया था, साथ ही प्रभव नामक चोर भी अपने ५०० साथियों के साथ प्रतिबुद्ध हुआ। जंबूस्वामी के गुणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

---

१. हिन्दी सा० का बृ० इतिहास खंड ३ पृ० २९८

"जंबू सामिहिं गुणगणह संखेवि बखाणउ।"

उस समय राजगृही में श्रेणिक राजा था। उसका पुत्र अभयकुमार बड़ा बुद्धिमान था। श्री वर्द्धमान के नगर में पधारने पर राजा ने उनका सादर स्वागत किया और उनसे आध्यात्मिक पृच्छा करके जंबूस्वामी के विभिन्न भवों का पावन चरित्र श्रवण किया और धर्मलाभ प्राप्त किया। रास का आदि देखिये—

"जिण चउवीसह पय नमेवि, गुरु चलण नमेवी।
जंबू सामिहि तणउ चरिउ, भवि यहु निसुणेवी।
करि सानिधु सरसत्ति देवि, जिम रयउं कहाणउं।
जंबू सामिहि गुणगणह संखेवि बखाणउं॥[1]॥

रास का अन्तिम पद्य आगे उद्धृत किया जा रहा है जिसमें गुरु का स्मरण है—

महिंद सूरि गुरुसीस, धम्म भणइ हो धामीऊह।
चिंतउ राति दिवसि, जे सिद्धिहि ऊमाहीयाह।
बारह बरस सएहिं कवितु नीपनूँ छासठए (सं० १२६६।
सोलह विज्जाएवि, दुरिय पणासउ सयल संघ।"

इसे गुर्जर की प्राचीन कृति कहा जाता है किन्तु इसकी भाषा का मिलान करने पर इसे जितनी गुजराती की उतनी ही राजस्थानी या हिन्दी की भी रचना कहा जा सकता है। प्रमाणस्वरूप निम्न पंक्तियाँ देखिये—

राज करइ सेणिय नरिंद नरवरहं जु सारो।
तासु तणइ (अति) बुद्धिवंत मति अभयकुमारो।"[2]

रास में आपने अपने गुरु का नाम महिंद सूरि बताया है। महेन्द्र सूरि नाम के दो जैनाचार्य प्रसिद्ध हैं, प्रथम अंचलगच्छीय धर्मघोष सूरि के शिष्य और सिंहप्रभ सूरि के गुरु थे, जिनका जन्म सं० १२२८, दीक्षा १२३७, आचार्यपद सं० १२६३ और स्वर्गवास सं० १३०९ में हुआ था। इन्होंने सं० १२९४ में शतपदिका नामक ग्रंथ लिखा था। दूसरे महेन्द्र सूरि हेमाचार्य के शिष्य थे। सं० १२४१ में इन्होंने सोमप्रभ कृत कुमारपाल प्रतिबोध का श्रवण किया था। इन्होंने हेमचन्द्र कृत अनेकार्थसंग्रह पर टीका लिखी थी। श्री मो० द० देसाई का अनुमान है कि शायद यही दूसरे महेन्द्र सूरि धर्म के गुरु थे।[3] उन्होंने एक तीसरे महेन्द्र सूरि का भी उल्लेख

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० ३
२. वही भाग ३ पृ० ३९७
३. वही भाग ३ पृ० ३९७

किया है जो वादिदेव सूरि के शिष्य थे, जिनके शिष्य प्रद्युम्नसूरि ने वाद-स्थल पर ग्रन्थ लिखा था।

दो अन्य रचनायें 'स्थूलिभद्र रास' और 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' के रचनाकार का पूर्णतया निर्णय नहीं हो पाया है। इन रचनाओं में लेखक का नाम इस प्रकार आया है "जिण धम्मु कहई" या "जिणवर धम्मु करहु ए कविते"। इस पाठ के आधार पर श्री नाहटा जी धर्म को ही इनका लेखक मानते हैं, लेकिन श्री मो० द० देसाई ने कर्त्ता के सामने प्रश्न-वाचक चिह्न लगाकर इन रचनाओं का विवरण दिया है।[1] स्थूलिभद्र रास ४७ पद्यों की रचना है। यह हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७ अंक ३ पर प्रकाशित भी है। इसमें पाटलिपुत्र के राजा नन्द के मन्त्री शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र का जीवन वृत्तान्त वर्णित है। वे कोशा वेश्या के यहाँ बारह वर्ष पर्यन्त रहे, किन्तु बाद में जैन साधु हो गये। मुनि अवस्था में गुरु का आदेश पाने पर वे फिर कोशा के घर चौमासा करने गये और अपने कठोर संयम एवं श्रेष्ठ शील का परिचय दिया। रास का आदि इस प्रकार है :—

"पणमवि सासण अनइ वाएसरि. थूलिभद्दगुण गहणु सुणिबरह जु केसरि।"

अन्तिम पंक्ति देखिए :—

"बहुत काल संजमु पालेहि; चउदह पूरब हियउ धारेहि।
थूलिभद्द जिण धम्मु करेइ, देवलोक पहुतउ जाएवि।"

दूसरी रचना 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' ४२ पद्यों की है। यह हिन्दी अनुशीलन वर्ष ९ अंक १ से ४ में प्रकाशित है। इसमें सुभद्रासती जो जैन धर्म की प्रसिद्ध सोलह सतियों में श्रेष्ठ थी, का चरित्र चौपइ छन्द में दिया गया है। प्रारम्भ की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

"जो फलु होइ गया गिरनारे. जे फलु दीन्हइ सोना भारे।
जं फलु लखि नवकारिहि गुणिहिं, तं फलु सुभद्रा चरितहिं सुणिहिं।"[1]

अन्तिम पंक्तियाँ :—

'पढ़हिं गुणहिं जे जिणहरि देहि, ते निच्छइ संसारु तरेहि।
सुभद्रा सती चरितु सामलहिं, सिद्धि सुक्खु लीलइते लहहि।४२।[2]

'मयणरेह' रास सुभद्रासती चतुष्पदिका के साथ ही मयणरेहा सती से सम्बन्धित यह रास भी प्राप्त हुआ था। यह ३६ पद्यों की रचना है

---

१ मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ पृ० ३९७

२ वही

जिसकी प्रति खण्डित होने के कारण इसके पाँच पद्य नहीं प्राप्त हो सके हैं। दोनों रचनायें एक ही प्रति में लिखी मिली थीं। मयणरेहा का चरित्र बड़ा कारुणिक है। उसके पति जुगबाहु को उसके नृशंस भाई मणिरथ ने मारकर मयणरेहा का सतीत्व नष्ट करना चाहा, पर नाना कष्ट झेलकर वह अपने सतीत्व की रक्षा करती रही। आदिकालीन रास नामधारी ये सभी रचनायें आकार में छोटी हैं और गाने-खेलने की दृष्टि से ही लिखी गई हैं। इनकी भाषा में प्रवाह लय और गेयता है।

नेमिचन्द्र भण्डारी—आप इस शताब्दी के विद्वान् श्रावक थे और खरतर-गच्छ के प्रसिद्ध आचार्य जिनेश्वर सूरि के पिता थे। आपने प्राकृत भाषा में १६० गाथा की 'षष्टिशतक' नामक रचना की। अपभ्रंश प्रभावित मरुगुर्जर में आपने 'गुरु गुण वर्णन' नामक ३५ पद्यों की सुन्दर रचना की हैं। यह ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है।[1] श्री मो० द० देसाई ने इसका नाम 'जिनवल्लभ सूरि गुरु गुण वर्णन' और इसका रचना काल वि० सं० १२४५ बताया है।[2] इसमें आ० जिनवल्लभ का गुणगान किया गया है। इसके ३४ वें छन्द में रचनाकार का नाम इस प्रकार आया है:—

"सल्लुद्धार करेसु हउ पालि सुदडढ़ सम्मत्तो,
नेमिचन्द इम विनवइए सुहगुरु गुणगण रत्तो"

रचना के आदि की पंक्तियाँ निम्नांकित हैं:—

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि,
सुधरम सामिय तुलनि सरणु जुगप्रधान सिवगामि।१।"

अन्त "नंदउ विहि जिण मन्दिरहिं, नंदउ विहि समुदाओ।
नंदउ जिणदत्ति सूरि गुरु, विहि जिण धम्म पसाओ।३५।

इसकी भाषा सरल है। यदि इसमें प्रयुक्त प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों को नजर अन्दाज कर दें तो भाषा मरुगुर्जर के समीप है। ये प्राकृत और

---

१. श्री अ० च० नाहटा 'राजस्थानी सा० का आदिकाल' परम्परा पृ० १६०
२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग० ३ खण्ड १ पृ० ३९६
और जै गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४७४

अपभ्रंश के शब्द सायास प्रयुक्त किए गये हैं। जन प्रचलित शब्द 'गौतम' के स्थान पर गोयम का प्रयोग जानबूझकर व्यञ्जन लोप करके गढ़ा हुआ रूप है, इसी प्रकार मौके-बे-मौके 'ण' की भाषा में भरमार करके कृत्रिम रूप देने का प्रयास किया गया है। यदि इन्हें स्वाभाविक रूप में रखा जाय तो भाषा सामान्य पाठकों को भी सहज ही लगेगी।

पृथ्वीचन्द्र--रुद्रपल्लीय गच्छ के श्री अभयसूरि के आप शिष्य थे। आपने 'मातृका प्रथमाक्षर दोहा' नामक ५८ दोहों की एक रचना 'रस विलास' नाम से की है। अभदेवसूरि ने सं० १२५८ में 'जयंत विजय' की रचना की थी। अतः रस विलास का समय इसके थोड़ा ही बाद होगा। इसके प्रथम दो दोहे इस प्रकार है :--

"अप्पइं अप्पयउ बूझिकरि, जो परप्पइ लीणु।
सुज्जिदेव अम्ह हरसणु भवसायर पारीणु।१।"
माई अक्खर धुरि धरिवि, वर दूहय छंदेण,
रस विलास आरंभियउ, सुकवि पुहविचंदेण।२।

इसके अन्तिम दो दोहे भी भाषा के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

"रुद्रपल्लि गच्छह तिलय अभय सूरि सीसेण,
रसविलास निप्पाइयउ पाइय कधरसेण।५७।
पुहविचंद कवि निम्मविय पढ़ि दूहा चउपन्न,
तसु अणुसारिहिं ववहरहिं पसरइ कित्तिखन्न।५८।[1]

इसकी भाषा मरुगुर्जर है और दोहे अकारादि क्रम से रखे गये हैं। इसमें लेखक का नाम और उसकी गुरु परम्परा की निश्चित सूचना दी गई है। इसका नाम कवि ने 'रस विलास' कहा है अतः कवि 'रस' के प्रति अवश्य सजग है और रचना में शान्तरस का उत्तम निर्वाह हुआ है।

पाल्हण—सं० १२८८ या उसके आसपास की लिखी 'आबूरास' नामक मरुगुर्जर की एक रचना 'जीवदयारास' वाली प्रति में ही प्राप्त हुई। इसमें मन्त्री वस्तुपाल तेजपाल द्वारा संघ निकाल कर आबूतीर्थ की यात्रा और मन्दिर बनवाने का वर्णन है। इसके रचयिता का नाम श्री

१. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १६६ और
श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४७७

मोहनलाल दलीचन्द देसाई[1] ने राम ? लिखा है किन्तु श्री अ० च० नाहटा का विश्वास है कि राम के आग्रह पर इसकी रचना पाल्हण ने ही की है क्योंकि यह पंक्ति 'रामबयण पाल्हण पुज कीजै' स्पष्ट यही अर्थ देती है। आबूरास का अपर नाम नेमीनाथ रासो है। इसके ४९ वें पद्य के अन्त में पाल्हण नाम आया है। ५०वें पद्य में इसका रचना काल दिया गया है, वह पद्य आगे दिया जा रहा है :—

"केविचडावलि नेमि नमीजइ, रामु वयणु पाल्हण पुज कीजइ।
बार संवच्छरि नवमासिअे (१२८९) बसंत मासु रंभाउलु दीहे।
एहु राहु विस्तारिहिं जाअे, राखइ सयल संघ अंबाइ।
राखइ ज खुजुआ छइ वेडइ, राखइ ब्रह्म संत मूढेरई।५०।"

उपरोक्त प्रति में ही पाल्हण कृत 'नेमिनाथ बारहमासा' नामक १६ पद्यों की एक लघु रचना भी प्राप्त हुई है जिसके प्रथम और १५ वें पद्य में कवि का नाम आया है। प्रथम छंद की प्रथम पंक्ति देखिये :—

'कासमीर मुखमंडण देवी, वाएसरि पाल्हणु पणमेवी।

१५ वां पद्य इस प्रकार है :—

"जणु परिमलु पाल्हणु भणए, तसु पय अणुदिण भक्तिकरेहु।
मण वंछिय फलु पावजिए, ध्रुय सम सरिसु वयणु फुडुएहू।१५।
इणि परि भणिया बारहमासा पढ़त सुणंतह पूजउ आसा।"[2]

इससे लगता है कि दोनों रचनायें पाल्हण कवि की ही हैं। इनमें से आबूरास का प्रकाशन राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता के मुखपत्र 'राजस्थानी' के भाग ३ अंक १ में हुआ है। बारहमासे में रचनाकाल नहीं है किन्तु यह भी सं० १२८९ के आसपास की ही रचना होगी। इसके प्रत्येक मास में नेमि राजुल की विरह कथा विप्रलम्भ रूप में मनोहर ढंग से वर्णित है।

श्रावण मास का मनोहर वर्णन निम्न दोहों में द्रष्टव्य है :—

"सावणि सघण घुडुक्कइ मेहो, पावसि पत्तउ नेमि विछोहो।
दद्दुर मोर लवहि असंगाह, दह दिह बीजु खिडइ चउवाह।
कोइल महुर वयणु चवए खइ, विवीहउ धाह करेई।
सावणु नेमि जिणिंद विणू, भणइ कुमरि किम गमणउ जाइ।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ३९८

२. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १६६

(नेमिरास) आबूरास और नेमिनाथ बारहमासे की भाषा में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। 'आबूरास' के प्रथम पद्य की भाषा का बारहमासे की भाषा से मिलान किया जा सकता है। प्रथम पद्य निम्नलिखित है: —

"पणमेविणु सामिणि वाएसरि, अभिनवु कवितु रंच परमेसरि।
नन्दी वरधनु जासु निवासो, पभणउ नेमि जिणंदह रासो।"

कवि ने इसका नाम 'नेमिरासो' भी कहा है। जै० गु० क० में राम के नाम पर वर्णित 'आबूरास' पाल्हण कृत नेमिरास ही है। दोनों नाम एक ही रचना के लिए हैं और रचनाकार पाल्हण कवि ही हैं। नेमि बारहमासा १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का महत्वपूर्ण बारहमासा है। इससे अधिक प्राचीन बारहमासे प्रायः अपभ्रंश में लिखे गये हैं जैसे जिनधर्मसूरि कृत 'बारह नावउ' १३वीं शताब्दी की रचना अपभ्रंश में है अतः पाल्हण कृत बारहमासे का मरुगुर्जर के बारहमासों में ऐतिहासिक महत्त्व है।

पुण्यसागर—ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में एक रचना 'श्री जिनचन्द्र सूरि अष्टकम्' संकलित है। इस अष्टक में ९ द्विपदियाँ हैं जिसके अन्त में लेखक का नाम आया है

"इय श्री जिनचन्द्र सूरि गुरु संथिणिउ गुणिपुन्न।
श्री पुन्य सागर वीनवइ सहगुरु होउ सुप्रन्न।

इससे लगता है कि कवि पुण्यसागर श्री जिनचन्द्रसूरि के शिष्य रहे होंगे। इस अष्टक में उनका जन्म सं० ११९७ और पद प्रतिष्ठा सं० १२०५ बताई गई है। यह रचना सं० १२०५ या उसके बाद की होगी अर्थात् १३ वीं शताब्दी के प्रथम दशक की हो सकती है। इसमें लेखक ने रचनाकाल का उल्लेख स्वयम् नहीं किया है। भाषा भी अपभ्रंश मिश्रित है उसलिए १३वीं के प्रारम्भ की ही यह कृति होगी। यह अष्टक आचार्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनायें देता है अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है, ऐसी रचनाओं में साहित्यिक सरसता संभव नहीं होती किन्तु इसी आधार पर उन्हें साहित्य के इतिहास ग्रन्थों से खारिज नहीं किया जा सकता। इसका आदि पद्य निम्नलिखित है :—

श्री जिनदत्त सुरिन्द पय श्री जिनचन्द्र मुणिन्द्र,
नर मणि मंडित भास यस कुसल कुमुद वणचन्द।१।

भत्तउ या भत्तु—आपकी रचना 'श्री मज्जिनपति सूरीणां गीतम'[1] २० द्विपदिकाओं का एक गीत है। इसमें जिनपति सूरि का गुणानुवाद है। सूरि जी का स्वर्गवास सं० १२७७ में हुआ था अतः यह रचना भी उसी के आसपास की होगी। यह गीत ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह में प्रकाशित है। इसके आदि अन्त के पद्य दिए जा रहे हैं :—

"तिहुअण तारण सिव सुह कारण वंछिय पूरण कल्पतरो,
विघन विणासण पाव पणासन, दुरित तिमिर नर सहस करो।"
"लीणउ कमलेहि भमर जिम भत्तउ, पाय कमल पणमिय कहइ,
समरइए जे नर नारि निरन्तर तिहांघरे रिधि नवनिहि लहइए।२०।

इसमें गीतात्मक लय, अनुप्रास और भाषा का वह सहज प्रवाह दिखाई पड़ता है जो १३वीं शताब्दी की अधिकांश साहित्यिक रचनाओं में सुलभ नहीं है। सूरि जी के जन्म का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है—

"विक्रम संवत्सरे वार दहोत्तरे चैत्र बहुल आठमि पवरे।
सलहीय जय नरपति इणि नामिहिं क्रमि क्रमि वाधइए तातघरे।१०।"

गेयता और काव्यत्व की दृष्टि से यह गीत १३वीं शताब्दी की उत्तम रचनाओं में स्थान पाने का अधिकारी है। संभवतः शोध के पश्चात् इस कवि की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं का भी संधान हो सके और विशेष विवरण उपलब्ध हो सके।

यशः कीर्ति (प्रथम)—श्री कामता प्रसाद जैन ने हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में इन्हें १३वीं शताब्दी का कवि कहा है और इन्हें पाण्डव पुराण के कर्ता १५वीं शताब्दी के यशःकीर्ति से भिन्न बताया है। इनकी रचना का नाम 'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला'[2] बताया है। १३वीं शताब्दी का कवि मानने के पक्ष में कोई निश्चित प्रमाण न प्राप्त हो सकने के कारण यहाँ उनका नामोल्लेख ही करना संभव हो सकता है। अधिक विवरण के लिए उक्त इतिहास देखा जा सकता है।

आपकी भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है :—

णमिऊण पाम भत्तिअे सज्जणे विमल सुन्दर सहावे।
जे णिग्गुणेवि कव्वे इणित्ति दोसाण जयन्ति।"

राम ? जैसा कि पहले कहा गया है श्री देसाई ने राम को १३वीं

१. श्री अ० च० नाहटा—ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह
२. श्री कामता प्रसाद जैन, हि० जै० सा० का सं० इ० पृ० ३०

शती का कवि बताया है किन्तु वे स्वयम् निश्चित नहीं हैं क्योंकि उन्होंने राम के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। अतः इनके नाम से वर्णित आबूरास या नेमिरास का वर्णन पाल्हण के साथ किया गया है अतः रचना का विवरण वहीं देखा जा सकता है।

रत्नप्रभ या रत्नसिंह सूरि—आप धर्मसूरि या धर्मप्रभाचार्य के शिष्य थे। आपने सं० १२२७ में 'अतरंग सन्धि'[1] नामक सन्धि काव्य की रचना की। यह रचना कुमारपाल के समय पाटण स्थित कुमार विहार में लिखी गई। इसमें भव्य और अभव्य के संवाद द्वारा मोह सेना और जिन सेना के युद्ध का रूपक बाँधा गया है। इस युद्ध में जिन सेना द्वारा अन्तरंग रिपुओं पर विजय प्राप्ति की गई है। इसकी भाषा मरुगुर्जर की अपेक्षा अपभ्रंश के करीब है। इसमें कुल ३७ कुलक धर्मसूरि की स्तुति में लिखे गये हैं। इसकी कुछ पंक्तियाँ भाषा का उदाहरण देने की दृष्टि से यहाँ उद्‌धृत कर रहा हूँ :—

"सिरि सिलसूरि गुरु गणहरह पयपंकय पणमेवि,
धम्म सूरि सूरिहिं रलियहउ देसण गुण बन्नेवि।"

इसमें रचना काल इस प्रकार बताया गया है :—

"बारस सत्तत्ती (वीं) से, सुदा सेक्कारसीह भद्दवए।
चंद दिणे सामितुमं 'सुरमंदि भवणं जाउ।३४।"

इससे रचना काल १२३७ प्रतीत होता है किन्तु कुमारपाल सं० १२३२ में स्वर्गवासी हो गये, अतः यह रचना सं १२२७ की हो सकती है। भाषा देखने से यह अपभ्रंश की रचना ही प्रतीत होती है। अतः विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है। इसका महत्त्व सन्धि काव्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि से ही अधिक है। सन्धियों की जो परम्परा मरुगुर्जर में चली उसके सूत्रपात्र का इसे श्रेय है। मरुगुर्जर की सन्धियों में केशीगौतमसन्धि, जयशेखरसूरि कृतशील सन्धि आदि का यथास्थान विवरण दिया जायेगा।

शाह रयण--आप खरतर गच्छीय आचार्य श्री जिनपति सूरि के श्रावक शिष्य थे। सं० १२७८ में 'जिनपति सूरिधवल गीतम्' लिखा जो गुरुभक्ति पर आधारित उत्तम रचना है। धवल गीतों की परम्परा सम्भवतः यहीं से

---

१. मो० द० देसाई, जै० गु० कु० भाग १ पृ० ७४ (अपभ्रंश)

प्रारम्भ होती है। इस प्रकार के काव्य रूप पर श्री नाहटा जी का 'धवल संज्ञक-जैन रचनायें' नामक लेख जो बिहार थियेटर पत्रिका में प्रकाशित है देखा जा सकता है। प्रस्तुत धवल गीत 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में क्रम संख्या चार पर प्रकाशित है। धवल गीत एक प्रकार का मांगलिक गीत होता है। इसमें बीस पद्य हैं। इसके प्रारम्भिक चार पद्य तो 'भत्तउ' के जिनपति गीत' के प्रारम्भिक चार पद्यों से काफी मिलते हैं। भत्तउ और शाह रयण के गीतों में विषय वर्णन, छन्द, भाषा आदि की दृष्टि से पर्याप्त समानता मिलती है। इसकी भाषा सरल और अपभ्रंश के अनावश्यक प्रभाव से प्रायः मुक्त है। इसके दो प्रारम्भिक पद्य देखिये :—

"वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तस मह पणमिय पय कमले
युगपति जिनपति सूरि गुण गाइसो भक्ति भर हरसिहि मन रमले।१।

भत्तउ का प्रथम छन्द भी अक्षरशः यही है।

दूसरा छन्द देखिए—

तिहुअण तारण सिव सुख कारण, वंछिय पूरण कल्पतरो।
विघन विणासण पाव पणासण दुरित तिमिर भर सहस करो।२।"

यह भी भत्तउ के दूसरे छन्द से पूर्णतया मिलता है। इसमें सुह के स्थान पर सुख और दुरित, तिमिर, कल्पतरु आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश से मरुगुर्जर की ओर विकास का स्पष्ट सूचक है। जन्म से सम्बन्धित दोहा भत्तउ के गीत से दिया गया था, उनके स्वर्गवास से सम्बन्धित दोहे को शाह रयण के गीत से उद्धृत किया जा रहा है :—

"अन्नं दिणंतरे बारसत्त होत्तरे मास आसाढ़ि जिण अणसरीअे।
मन्न सुह झाणहि सिय दसमी दिव सहिं पहुतउ सूरि अमरापुरीअे।

इसका अन्तिम छन्द देखिये :—

"एहु श्री जिणपति सूरि गुरु जग पवरु साह रयण इम संथुणइ ए।
समरइ जो नर नारि निरन्तर तहाँ घर नवनिधि संपजइ ए।२०।"[1]

इसमें जन्म, आचार्य पद, सूरि पद प्रतिष्ठा आदि की तिथियाँ क्रमवार दी गई हैं, अतः इसका साहित्य के अतिरिक्त इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। आचार्य का स्वर्गवास सं० १२७७ में हुआ था, अतः यह रचना भी सं० १२७७ के आसपास की ही होगी। इससे पता चलता

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह 'जिनपति सूरि धवल गीतम्'

है कि आचार्य की पद प्रतिष्ठा जिनचन्द्र सूरि के पट्ट पर जयदेव सूरि द्वारा हुई थी। इनका जन्म सं० १२१० में चैत्र की अष्टमी तिथि को हुआ था। आपके जीवन पर आधारित १३ वीं शताब्दी में लिखी मरुगुर्जर भाषा की यह महत्वपूर्ण रचना है। आश्चर्य है कि इसी समय सं० १२७७ के आसपास का लिखित एकदम मिलती-जुलती रचना २० छन्दों की ही 'भत्तउ' कृत 'गीत' भी आचार्य जिनपति पर आधारित है।

श्रावक लखण (लक्ष्मण)— श्रावक लखण (लक्ष्मण) श्रावक लखमसी, पंडित लाखू और लक्खण तथा लाखमदेव (लक्ष्मण) नामक पाँच कवियों का उल्लख इतिहास ग्रंथों में मिलता है। इनमें से श्रावक लखण (लक्ष्मण) और पं० लाखू निश्चय ही तेरहवीं शताब्दी के लेखक हैं। श्रावक लखमसी और लाखमदेव १३वीं के अन्तिम या १४वीं शती के प्रारम्भ के कवि लगते हैं। इसलिए यहाँ केवल उक्त दो (श्रावक लखण और पं० लाखू) का ही विवरण दिया जा रहा है। शेष को यथास्थान प्रस्तुत किया जायेगा।

श्रावक लखण की उपलब्ध रचना जिनचन्द्र सूरि 'काव्याष्टम्'[1] कुल आठ गाथा की है। मणिधारी जिनचन्द्र सूरि का समय सं० १२११ से सं० १२२३ तक है अतः यह रचना निश्चय ही १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण की है। इसके आदि और अन्त के छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

"अभय सूरि सिरि सीसु सगुण, जिणवल्लहु दिट्ठउ।
तसु पट्टह जिणदत्त सूरि, अवट्ठमि बइट्ठउ।
दिव्वं नाण पहाण वलिण, ज कियउ अचंभउ।
बालत्तणि लिअ मग्गि सगुरि, रासल अगुब्भमु।
गुरु पारततु अगमहि भतु,जिणयत्तसूरि फुडुउच्चरिवि।
दुप्पसहु जाव वठियइसुहु,तुज्झ घम्मुकमि कमि करिबी। १।"

अन्त "अज्जु दियहु सकयत्थु, अज्जु नर वन्नु सुहावउ।
अज्जु वारु रमणीउ, अज्जु संवच्छरु आवउ।
अज्जु जोउ जयवंत, अज्जु महु करणु पियंकरु।
अज्जु मित्तु सुह महत्तु अज्जु गह-रासि सुहंकरु।
सकयत्थु अज्जु लोयण जुयलु हिअइ अज्जु वढ़ियइसुहु,
गउ पाउ अज्ज दुरंतरिण,दिट्ठइ गुरु जिणचंदपहु।८।"[2]

इसके दूसरे एवं तीसरे पद्य में 'लखणु भणइ' पाठ मिलता है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जैन गु० कवि और उ० रचनायें पृ० ६
२. वही

पंडित लाखू[1] —आप ने वि० सं० १२७५ में 'जिणदत्त चरिउ' नामक काव्य ११ संधियों में विरचित किया। आप श्रीधर नामक श्रीमंत के आश्रित पंडित थे। आप के पिता का नाम साहुल और माता का नाम जयता था। संभवत: कवि उत्तर प्रदेश के एटा जिले के बिलरामपुर का निवासी था। इसकी कृति 'जिणदत्त चरिउ' अप्रकाशित है। इसमें बसंतपुर के श्रेष्ठी जीवदेव के पुत्र जिणदत्त की कथा का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसी कथा पर आगे चलकर 'रल्ह' आदि मरुगुर्जर के कई कवियों ने अपनी रचनायें की हैं। इसमें सिंघलद्वीप की यात्रा, कई सुन्दरियों से विवाह आदि की कथानक रूढ़ियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह धर्म के आवरण में एक सुन्दर प्रेमकथा है। इसमें जिणदत्त विमलमती नामक सुन्दरी के मनोरम रूप को चित्र में देखकर मुग्ध हो जाता है और उससे विवाह कर लेता है। जायसी के पद्मावत नामक प्रेमाख्यान की कई बातें इससे मिलती-जुलती हैं। इसकी भाषा बड़ी अलंकृत है। कथानक में अनेक अलौकिक घटनाएँ हैं। जैसे सिंघल द्वीप की राजकुमारी श्रीमती की शादी जिणदत्त से होती है। उसके पेट में एक विषधर नाग रहता है जो उसके सो जाने पर उसके पेट से निकल कर प्रेमी राजकुमार की जीवन लीला समाप्त कर देता है। जिणदत्त उस सर्प को मार देता है। काव्य में अनेक सुन्दरस्थल हैं। शब्दालंकारों पर कवि का विशेष स्नेह प्रकट होता है। इससे छन्द लययुक्त और कर्ण सुखद बन गये हैं, लेकिन इसकी भाषा को मैं मरुगुर्जर की भाषा नहीं कह सकता क्योंकि इस पर अपभ्रंश का प्रभाव अत्यधिक है अत: इसका एक उदाहरण देकर इसका विवरण समाप्त किया जा रहा है। कवि चन्द्रोदय पर चारों ओर छिटकी हुई चांदनी का भ्रान्तिमान अलंकार युक्त कैसा चमत्कारिक वर्णन करता है यथा—

"मुत्ताहल मंतिए समरिपणु, वीणइं बोरीहलु हवियमणु।[2]
सिसु पट्टल मंतिए लंपडऊ, काकहो ण वियारइ धूपडउ।"

अर्थात् शबर स्त्रियाँ प्रसन्न होकर बेर के फलों को मोती समझ बीन रही हैं। उलूक कौवे के बच्चों को हंस का बच्चा समझ विदीर्ण नहीं करता। इत्यादि।

---

१. त्रिभुवन गिरि या तहनगढ़ के राजा अजयपाल के उत्तराधिकारी हरपाल के पुत्र कोशपाल पंडित लाखू के पितामह थे। इनके प्रपिता का नाम लाहुड और पिता का नाम साहुल था।

२. हिन्दी सा० का० वृ० इ० भाग २ पृ० २६३–६४

श्रावक लखमसी की रचना जिनचन्द्र सूरि वर्णनारास सं० १३७१ के आसपास की रचना होने के कारण निश्चय ही १४वीं शताब्दी की कृतियों के साथ विवेच्य है। उसी प्रकार लक्खण कृत 'अणुवय रयण पईउ' यद्यपि सं०१३१३ की ही रचना है किन्तु इसकी भाषा निश्चय ही अपभ्रंश है इसलिए अणुव्रत रत्न प्रदीप का नामोल्लेख भी १४वीं शताब्दी में ही समीचीन होगा। लाखमदेव की कृति णेमिणाहचरिउ का रचनाकाल निश्चित नहीं है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५१० की प्राप्त है अतः इसे १३वीं या १४वीं शताब्दी की रचना कहा जा सकता है। इसलिए इसका भी विवरण उपरोक्त दोनों कवियों के साथ १४वीं शताब्दी में ही दिया जायेगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन तीनों कवियों की रचनाओं में मरुगुर्जर की रचना श्रावक लाखमसी कृत जिनचन्द्रसूरि वर्णनारास ही है। शेष दोनों कवियों की भाषा या तो अपभ्रंश या अपभ्रंश मिश्रित भाषा है।

वरदत्त—आपकी दो सन्धियों की एक लघुकृति 'वैर सामि चरित्र'[1] इसी काल की प्राप्त रचना है। इसकी भाषा भी अपभ्रंश ग्रस्त या मिश्रित है। इस रचना की भाषा के नमूने की दृष्टि से इसके अन्त की दो पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं :—

"मुनिवर वरदत्ति गुणाहर भत्ति वइरसामि गणहरचरिउ।
साहिज्जउ भावि मुंचहु वावि, जि तिहुयण नियगुणभरिउ।"[2]

इसकी प्रति पाटन के भंडार से प्राप्त हुई। आमतौर पर इन रचनाओं को अपभ्रंश की रचना मानकर इनका देशी भाषा साहित्य के साहित्येतिहासों में उल्लेख नहीं मिलता किन्तु मरुगुर्जर भाषा की संक्रान्तिकालीन स्थिति है जिसमें अपभ्रंश के प्रयोग क्रमशः कम होते गये और धीरे-धीरे भाषा मरुगुर्जर से आ० देश्य भाषाओं में परिवर्तित होती गई, इसलिए जहाँ भी संधिकालीन भाषा प्रयुक्त हो उसे पूर्णतया मरुगुर्जर के साहित्येतिहास से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

वज्रसेन सूरि—आपकी रचना 'भरतेश्वर बाहुबलिघोर' का मरुगुर्जर भाषा और साहित्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व है अतः कई प्रसंगों में इसकी चर्चा इससे पूर्व भी हो चुकी हैं। ४५ पद्यों की छोटी रचना मरुगुर्जर के प्रारंभिक काल की बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना हैं। अधिकतर विद्वान् इसका

---

१. मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग १ पृ० ७३ (अपभ्रंश)
२. वही

रचनाकाल सं० १२३१ मानते हैं। श्री अ० च० नाहटा ने इसे राजस्थान भारती में प्रकाशित कराया है और रचनाकाल सं० १२२५ बताया है। इस रचना में वादिदेव सूरि का स्मरण किया गया है इसलिए यह निश्चय ही उसी समय की रचना होगी। श्री नाहटा जी ने म० गु० जैन कवि[1] में वज्रसेन का समय सं० १२३५ बताया है। इसमें भगवान् ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत और उनके भ्राता बाहुबली के युद्ध का वर्णन है। इस घोर के कुछ पद्य उदाहरणार्थ आगे उद्धृत किए जा रहे हैं :—

"देवसूरि पणमेवि सयलु तिय लोय वदीतउ,
वयरसेण सूरि भणइ ऐहु रख रंगुजु वीतं।२५।"

युद्ध वर्णन में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है यथा सेना के प्रस्थान का वर्णन :—

कोवानलि पञ्जलिउ ताव, भरहेसरु जंपइ।
रे रे दियहु पियाणा, ढाक जिमु महियलु कंपइ।२०।
गुलु गुलंत चालिया, हाथिनं गिरिवर जंगम।
हिंसा रवि जहि दिय दियंत, हल्लिय तुरंगम।।२१।
धर डोलइ खलभलइ सेनु, दिणियरु छाइजइ।
भरहेसरु चालियउ कटकि कसु ऊपमु दीजइ।२२।"

इसकी प्रति जैसलमेर के शास्त्रभंडार से सं० १४३७ की लिखित प्राप्त हुई है। इसका आदि पद्य :—

"पहिलउ रिसह जिणिंदुनमेवि,
भवियहु निसुणहु रोलुघरेवि, बाहुबलि केरउ विजउ।।"[2]

वादिदेव सूरि—आपने दिगम्बर साधु कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। आपके पट्टधर श्री शालिभद्र सूरि ने 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' के आधार पर सं० १२४१ में भरतेश्वर बाहुबलिरास की रचना की जिसका विवरण आगे यथा स्थान दिया जायेगा। वादिदेवसूरि ने सं० १२०० के आसपास मुनिचन्द गुरु स्तुति, (२५ पद्य) की रचना की है। इसकी भाषा को अपभ्रंश प्रभावित प्राचीन गुजराती कहा गया है, वस्तुतः यह मरुगुर्जर की रचना है। कुछ विद्वान् इसे जूनी गुजराती और कुछ अपभ्रंश की रचना बताते हैं: आपका नाम देवसूरि था। अ.प

१. श्री अ० च० नाहटा—'रा० सा० का आ० का०' परम्परा पृ० १५५
२. श्री अ० च० नाहटा—गुर्जर जै० कवि पृ० ६

नागौर निवासी थे। 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' नामक दार्शनिक ग्रंथ आप की विशिष्ट रचना मानी जाती है। आप की दूसरी रचना 'मुनिचन्द्र सूरि स्तुति जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स हेरल्ड के सन् १९१७ के सितम्बर, नवंबर अंक में प्रकाशित हुई है। यह प्रकाशन गुजराती छाया के साथ है और रचना को अपभ्रंश की ही कहा गया है।

विजयसेन सूरि--आप महामात्य वस्तुपाल के धर्माचार्य थे। आपके गुरु नागेन्द्र गच्छ के आचार्य हरिभद्र सूरि थे। वस्तुपाल तेजपाल द्वारा सं० १२८७ में आबू में नेमिनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठा आपने ही कराई थी। आप की प्रसिद्ध रचना 'रेवंतगिरि रास' में गिरनार तीर्थ का मनोहर वर्णन हुआ हैं। यह रचना वि० सं०१२८७-८८ में की गई। यह कृति 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रथम स्थान पर संकलित है। इसमें कुल चार कड़वक हैं जिनमें क्रमशः २०,१०,२२ और २० पद्य हैं। इसमें लेखक ने रचनाकाल का कहीं उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह प्रतिष्ठाकालके पास की ही रचना होगी। अतः नाहटा जी ने इसका रचनाकाल सं० १२८७ ही स्वीकार किया है। इस कृति के तीसरे कडवक के २०वें छन्द में कवि का नाम इस प्रकार आया है—

'रंगिहि अे रमइ जो रासु सिरि विजयसेणि सूरि निम्मवउअे।
नेमि जिण तूसउ तासु अंबिक पूरइ मणिरली अे।२०।

'रंगिहि रमइ' के आधार पर विद्वानों ने कहा है कि यह या इस प्रकार के प्रारम्भिकरास नृत्य-गेय प्रधान थे और मन्दिर-प्रतिमा आदि की प्रतिष्ठा उत्सवों पर खेले जाते थे। इस रचना के प्रथम कडवक के आठवें छन्द में लेखक का नाम इतने आदर से आया है कि शंका होने लगती है कि स्वयं इस प्रकार अपने नाम का उल्लेख लेखक ने ही किया है या उनके शिष्य ने बाद में जोड़ दिया है। उनके एक शिष्य उदयप्रभ सूरि ने 'संघपति चरित और धर्माभ्युदय आदि लिखा तथा अन्य कई रचनायें कीं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"नायल गच्छह मंडणउ विजयसेण सूरिराउ।
उवएसिहि विहु नरपवरे धम्मि धरिउ दिढुभाउ।"

आप की गुरु परम्परा इस प्रकार है– नागेन्द्र गच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य शान्ति सूरि, आनन्द सूरि, अमर सूरि, हरिभद्र सूरि के आप शिष्य थे।

रास का प्रारम्भ मंगलाचरण द्वारा किया गया है, यथा—

"परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि,
भणिसु रासु रेवंतगिरि अंबिक-दिवि सुमरेवि ।१।"

रेवंतगिरि पर नेमिजिन स्थापना का मनोहर वर्णन इसमें किया गया है। रचना के समय गुर्जराधीश जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल तथा सोरठ का अधिपति प्रसिद्ध राजा खंगार भी उपस्थित थे। वनराजि की शोभा का वर्णन करने में कवि ने बड़ी अनुप्रासिक शब्दावली का संयोजन किया है। यथा—

"करवर करपट करुणतर करवंदी करवीर।
कुंडा कडाह कयंब कड करव कदलि कंपीर।
वेयलु बंजलु वउल वडो वेउस वरण विडंग,
वासंती वीरिणी विरह वसियालि वणवंग।
(प्रथम कडवक का १६-१७ वाँ पद्य)

निम्नांकित पद्य में नेमिनाथ का रूपक द्रष्टव्य है—

"नीझरण चमर ढलंति, मेघाडम्बर सिरिधरीइं।
तित्थह एसड रेवंदि सिहासणि जयउ नेमि जिणु।"

अर्थात् निर्झर चामर डुलाते हैं, मेघरूपी मेघाडंबर सिरपर धारण किए हुए रेवंतगिरि रूपी सिंहासन पर महाराज नेमिजिन विराजमान हैं। इस रास में प्रवाहमय आलंकारिक भाषा, उत्तम अलंकार योजना, मनोहारी प्रकृति वर्णन और काव्यात्मक सरसता के कारण साहित्यिक सौन्दर्य उत्तम बन पड़ा है। इस सन्दर्भ में एकाध पंक्ति और उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

मणहर धणवण गहणे रसि रहसिय किंनरा,
गेउ मुहुरु गायंतो सिरि नेमि जिणेसरा।"[1]

इस प्रकार मरुगुर्जर भाषा के प्रारम्भिक काल की यह काव्यकृति काव्यसौष्ठव की दृष्टि से बड़ी उत्तम रचना है। यह एक खंडकाव्य है। इसके प्रारम्भ में परमेश्वर तीर्थंकरकी वंदना के बाद गुर्जर देश में स्थित धोलका के राजा धवलदेव के राज्यमें पोरवाड कुलमंडन वस्तुपाल तेजपाल का

१. प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह—रेवंतगिरिरास।

विरुद-वर्णन है। द्वितीय कडवक में कुमारपाल एवं उसके दण्डनायक आंबड का उल्लेख है जिसने गिरिनार पर विशाल सोपान-पंक्ति का निर्माण कराया था। तृतीय कडवक में कश्मीर और वहाँ के दर्शनार्थी अजित और रत्न नामक दो बन्धुओं का वर्णन किया गया है जिन्होंने प्रतिमा को स्नान कराते समय प्रतिमा के गल जाने पर मणिमय प्रतिमा प्रदान की थी। चतुर्थ कडवक में अम्बिका देवी के रमणीक स्थल का वर्णन है। अन्त में कवि कहता है कि ग्रहगणों में सूर्य का और पर्वतों में मेरु गिरि का जो स्थान है त्रिभुवन के तीर्थों में वही सर्वश्रेष्ठ स्थान रेवंतगिरि का है। इस प्रकार यह काव्यात्मक और ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण रास आदिकालीन मरुगुर्जर साहित्य के मील का पत्थर है। श्री एन० बी० दिवेटिया ने इसकी भाषा को तत्कालीन प्रचलित भाषा कहा है।[1]

वीरप्रभ—आप आ० जिनपति सूरि के शिष्य थे। आपने १३वीं शती के उत्तरार्द्ध में 'चन्द्रप्रभकलश' की रचना की। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जन्माभिषेक वर्णित है। इसकी भाषा प्राचीन मरुगुर्जर का रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है जिस पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भाषा के नमूने के तौर पर कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं :—

"चारु मंदारमालहिं यहु अच्चए,
धुणहिं कप्पूर हरिचंदणह चच्चए।
सिद्ध गन्धव्व गायंति किन्नर वरा,
रंभ पमुहाउ नच्चंति तहि अच्छरा।
केवि उप्फलहिं गयणयलि हुल्लुप्फला,
केवि हरिसेण गज्जंतिजिम वयगला।
अट्ठमंगल्ल किविलहिहिं किवि चामरा,
पहु उभय पासि ढालंति तित्थामरा।१४।
संख बहु संख पडु पडह झल्लरि महा,
ढक्क टंबक्क बुक्का हुडुक्का तहां।

1. N. B. Divatia–The History of the Gujarati literature, P. 8

ताल कंसाल मद्दल तिलिम काहला.
केवि वायंति कहहरिस कोलाहला।१५।[1]

रचना में साहित्यिक सौन्दर्य तो सामान्य कोटि का है किन्तु भाषा विन्यास की दृष्टि से रचना सुन्दर एवं विचारणीय है। जन्म के समय होने वाले मंगल उत्सव और धूमधाम का अच्छा वर्णन अनुप्रास युक्त श्रुति-मधुरभाषा में किया गया है। सिद्ध-गन्धर्वों का गान और अप्सराओं का नृत्य तथा नानाप्रकार के वाद्यवृन्द का कोलाहल जन्मोत्सव के उछाह को व्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम लगता है।

शालिभद्र या सालिभद्र सूरि—आप राजगच्छीय श्री वज्रसेन सूरि के पट्टधर थे। आपने अपने गुरु वज्रसेन सूरि कृत 'भरतेहर बाहुबलिघोर' के आधार पर अपनी प्रसिद्ध रचना 'भरतेश्वर बाहुबलिरास सं०१२४१ में लिखी। इसमें भी वही कथावस्तु है जो 'घोर' में है। संवतोल्लेख वाली मरुगुर्जर साहित्य की यह संभवतः प्रथम रचना है। इसकी ओजस्विनी भाषा को देखकर पाठक सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १३वीं शताब्दी के अन्त तक जाते-जाते मरुगुर्जर भाषा काव्य का सक्षम माध्यम बन गई थी। इस रास के सभी वर्णन बड़े सजीव हैं। यहाँ पहुँचकर मरु-गुर्जर साहित्य अपने विकास का एक चरण पूर्ण कर लेता है। इसमें कुल २०३ पद्य हैं, जिनमें वस्तु, ठवणि, धवल, त्रूटक आदि नाना प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। घोर से भी इसकी भाषा अधिक सरल एवं बोधगम्य है। इसके दो संस्करण क्रमशः मुनिजिनविजय और लालचंद गांधी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। भरतेश्वर की सेना के प्रयाण का यह सजीव वर्णन देखिये—

'टलटलीया गिरिटंक टोल खेचर झलहलिया,
कड्डिय कूरम कंध संधि सायर झलहलिया।
चल्लीय समहरि सेस सीसु सलसलीय न सक्कइ,
कंचण गिरि कंधार भरि कमकंपीय कसक्कइ।"

यह वीर गाथात्मक काव्यों में अग्रगण्य है और इसके कथानक में कहीं शिथिलता नहीं दिखाई देती है। दूतों का संदेश वर्णन, सेना का प्रयाण, युद्ध की भयंकरता और भरतेश्वर तथा बाहुबलि का चरित्र-चित्रण सभी स्थल

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० १६७

प्रभावशाली बन पड़े हैं। जैन रास साहित्य में इतने उत्तम ढंग से अपने लक्ष्य को व्यंजित करने वाला रास इस युग में दूसरा कोई नहीं है। इतना गुण सम्पन्न होते हुए भी इस रास का जैन जगत् में अपेक्षित प्रचार नहीं हो पाया इसीलिए इसकी हस्तप्रतियाँ अधिक नहीं उपलब्ध हो सकी हैं। इसके प्रारम्भ और अन्त के कुछ पद्य दिये जा रहे हैं जिनसे इनकी भाषा का नमूना मिलने के साथ ग्रन्थ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं :—

आदि "रिसय जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवि।
नमवि निरन्तर गुरु चरण।१।
भरह नरिंदह तणउ चरित्तो जं जुगी बसुधं चलइ बदीतो,
वार वरिस विहुं वधावइ।२।"[1]

अन्त के पद्य निम्नलिखित हैं :—

'दस दिसिइं वरतइ आण, भउ भरहेसर गहगहइए।
रायह ए गच्छसिणगार, वायस्सेण सूरि पाटधर।
गुण गणह ए तणउ भंडार, सालिभद्र सूरि जाणीइए।
कीधउं ए तीणि चरित्र, भरह नरेसर रासु-छंदिइं।
जो पढ़इ ए वसह वदीत, सो नरो नितुनवनिहिलहइए।
संवत ए वार एकतालि, फागुण पंचमिउ एउ कीउए।२०५।

इनकी दो अन्य रचनाओं 'बुद्धिरास' और 'हितशिक्षाप्रबुद्धरास' का उल्लेख भी देसाई ने भाग १ पृ० २ पर किया है किन्तु भाग ३ में यह शंका व्यक्त की है कि इनका कर्त्ता कोई एक ही व्यक्ति है। श्री अ० च० नाहटा ने बुद्धिरास को शालिभद्र सूरि की ही रचना माना है और यह भी लिखा है कि लोकोपयोगी होने के कारण भरतेश्वर बाहुबलिरास से इसका ज्यादा प्रचार हुआ। इसकी प्रतियाँ भी इसीलिए अधिक उपलब्ध हैं। इसमें अबोध लोगों को हितशिक्षा (सिखामण) दी गई है। लोकप्रिय होने के कारण इसकी भाषा में परिवर्तन और मूलपाठ में क्षेपकों की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता। अम्बिका देवी और गौतम स्वामी को नमस्कार करके यह रचना प्रारम्भ की गई है। इसमें कई बोल तो लोकप्रसिद्ध हैं और

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा १५८

कुछ गुरु के उपदेश से लिए गये हैं। इसके आदि और अन्त के छन्द इस प्रकार हैं :—

आदि "पणमवि देवि अंबाई, पंचाणण गामिणि वरदाई।
जिण सासणि सांनिधि करइ सामिणि, सुर सामिरिण सदा सोहागिणि ॥
पणमिय गणहर गोयम सामि, दुरित पणासइ तेहनइ नामि।
वर्द्धमान सामी नइसीस, प्रणम्यां पूरह सयल जगीस।२।"

अन्त "सालिभद्र गुरु संकलीय अे सविगुरु उपदेश तु।
पढ़इ गुणइ जे सांभलइअे तेह सब टलइ कलेस तु।

हित शिक्षा सम्बन्धी एक पद्य और देखिये :—

"घर पच्छोकडि राखे छीडी, वरजे नारिजि बाहिरि हीडी
परस्त्री बहिनि भणीनइ माने, परस्त्री वयण म धरजेकाने।" इ०

श्री नाहटा जी ने हितशिक्षा प्रबुद्धरास का उल्लेख तो किया है किन्तु यह भी लिखा है कि यह रास उन्होंने देखा नहीं है, शायद बुद्धिरास और हितशिक्षा प्रबुद्धरास दोनों एक ही रचना का नाम हो। श्री मुनि जिन-विजय ने भारतीय विद्या के द्वितीय वर्ष, प्रथम अंक में भरतेश्वर बाहुबलि और बुद्धिरास को एक साथ प्रकाशित किया है किन्तु तीसरी रचना के बारे में वे भी मौन ही हैं। अतः ऐसा लगता है कि श्री नाहटा जी का अनुमान ही ठीक है और बुद्धिरास का ही अपर नाम हितशिक्षा प्रबुद्धरास हो। श्री देसाई ने भी जै० गु० क० भाग ३ पृ० ३९५ पर यह सूचित किया है कि ये दोनों नाम एक ही रचना के हैं अत; शालिभद्र सूरि की दो ही प्रामाणिक रचनायें हैं (१) भरतेश्वर बाहुबलिरास, (२) बुद्धिरास; दोनों ही प्रकाशित हैं।

भरतेश्वर बाहुबलि रास की भाषा में अपभ्रंश के प्रयोग—रिसय, जिणेसर नयर, भरह' विज्जीय, मिल्लीय, डुल्लिय आदि के साथ मरुगुर्जर के स्वाभाविक प्रयोग काल, पखेरु, घोरी, आणंद, गयण, विलाउ के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग उसकी उल्लेखनीय विशेषतायें हैं। डॉ० हरीश ने अपनी रचना आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध में लिखा है कि इस रास में हिन्दी शब्द प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसमें प्राचीन गुजराती या प्राचीन राजस्थानी अर्थात् मरुगुर्जर के रूप सर्वत्र परिलक्षित होते हैं।[1]

१. डॉ० हरीश—आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध पृ० १८०

सिरिमा महत्तरा—आप श्री जिनपति सूरि की आज्ञानुवर्ती साध्वी थीं। अपने २० गाथाओं की एक रचना 'जिनपति सूरि बधामणा गीत' सं० १२३३ के आसपास लिखा। इसमें सं० १२३२ की एक घटना का उल्लेख है--"आसी नयरि बधावणउ, आयउ जिणपति सूरि

जिनचंद सूरि सीसु आइया लो बधावणउ बजावि।
सुगुरु जिणपति सूरि आविया लो आंकणी।
हरिया गोबरि गोहलिया, मोतीय चउकु पुरेहु।...
हाले महत्तरो इम भणइ संघह मनोरह पूरि।"[१]

अतः यह उसी समय की रचना होगी। यह कृति सिरिमा महत्तरा या हाले महत्तरा की होगी अथवा दोनों नाम एक ही महत्तरा के हो सकते हैं। इसकी भाषा ठेठ ग्राम प्रचलित लोकगीतों की भाषा है। एक स्त्री द्वारा प्रयुक्त यह भाषा तत्कालीन मरुगुर्जर का बड़ा प्राकृतिक स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है।

सुमति गणि—आप जिनपति सूरि के विद्वान् शिष्य थे। आप खेड़नगर के निवासी थे और आपकी दीक्षा सं० १२६७ में हुई थी। आपका लिखा 'नेमिरास' उपलब्ध है जो ५७ पद्यों का है। इनकी विद्वत्तापूर्ण कृति 'गणधर सार्धशतकबृहद्वृत्ति' की रचना सं० १२९५ में हुई थी। इस रास की रचना सं १२६७ से १२९५ के बीच किसी समय हुई होगी। श्री नाहटा जी ने इसका रचनाकाल सं० १२७० और कुल गाथा ५८ बताया है। इसमें बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र चित्रित है।[२] विषय सुखों को नर्क का द्वार बताता हुआ कवि लिखता है—

"विसय सुक्खु कहि नरय दुवारु, कहि अनन्त सुहु संजम भारु।
भलउ बुरउ जाणंत विचारइ, कग्गिणि कारणि कोडिकुहारइ।"

यह रास हिन्दीअनुशीलन वर्ष ७, अंक १ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें नेमिनाथ के अति लोक प्रचलित चरित्र के माध्यम से धर्म की शिक्षा दी गई है।

आगे कुछ ऐसे कवियों का उल्लेख किया जा रहा है जो स्पष्ट मरुगुर्जर के कवि तो नहीं हैं किन्तु उनकी रचनायें मरुगुर्जर के भाषा विकास के

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जैन मरुगुर्जर कवि पृष्ठ ७–९

२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृष्ठ १६५

लिए महत्वपूर्ण हैं तथा वे कवि जैन साहित्य जगत के स्तम्भ हैं। उनकी जानकारी अपेक्षित है।

सुप्रभाचार्य —आपका निश्चित समय निर्धारित नहीं हो पाया है। कुछ लोग इन्हें ११ वीं और कुछ १३ वीं शती का लेखक मानते हैं। आपकी एक रचना 'वैराग्यसार' (७७ पद्य) का उल्लेख मिलता है। इसमें मनुष्य जीवन को दुर्लभ बताते हुए धर्माचरण का उपदेश दिया गया है। कवि दिगम्बर जैन लगता है। देवपूजा में भाव की सच्चाई पर जोर दिया गया है। हिन्दी में प्रचलित छन्द, दोहा, सवैया, कवित्त का प्रयोग किया गया है और प्रायः दोहों में कवि का नाम आया है।

डॉ० हरिवंश कोछड़ ने इसे १३ वीं शताब्दी के आसपास की कृति बताया है। यह योगीन्दु और रामसिंह की परम्परा का अध्यात्मवादी कवि है।

सोमप्रभ या सोमप्रभाचार्य—आपकी प्रसिद्ध रचना कुमारपाल प्रतिबोध की चर्चा पहले की जा चुकी है। यह अपभ्रंश की रचना है और सं० १२५१ में लिखी गई थी। इसमें अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है लेकिन बीच-बीच में मरुगुर्जर का प्रयोग भी मिलता है, जैसे-

"भो आपन्नह मह बयणु, तणु लक्खणिहिं गुणामि।
इयु बालक अेयह घरह, कमिण भविस्सइ सामि।"

निम्नलिखित दोहा मरुगुर्जर का बड़ा साफ-सुथरा उदाहरण है—

"वड रुक्खह दक्षिण दिसिहिं जाइ विदर्भहिं मग्गु।
बाम दिसिहि पुण कोसलिहिं जाह रुच्चइ तहि लग्गु।"

कुमारपाल प्रतिबोध का यह दोहा इस बात का प्रमाण है कि इस समय तक मरुगुर्जर का विकास हो रहा था, कवि लोग रूढ़िवश अपभ्रंश का भी काव्य में प्रयोग करते थे, साथ ही हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती का अभी भेद स्पष्ट नहीं हुआ था अर्थात् यह मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी का प्रारम्भिक समय था। इस कृति में ऋतु वर्णन, सूक्ति कथन एवं कथा का औत्सुक्य है। इसका एक अंश जीवमनःकरण संलाप कथा रूपकात्मक शैली का उदाहरण है। इसमें जीव, मन और इन्द्रियों का मानवीकरण करके उन्हें पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। देह नामक नगरी में पात्रों का संवाद इस रूपक की उल्लेखनीय विशेषता है। इसके अपभ्रंश भाग का गहन अध्ययन प्रो० लुडविग ने किया है। इसकी भाषा कहीं

साहित्यिक अपभ्रंश, कहीं बोलचाल की देश्य भाषा (मरुगुर्जर) है। जिण, तिण, आदि सर्वनामों के रूप तथा प्रत्ययान्त शब्द आधुनिक देश्य भाषा के अधिक निकट हैं। कथा में सरल सुभाषितों का भी प्रयोग किया गया है।

सोमप्रभाचार्य सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् हो गये हैं। आप पोरवाड़ जाति के वणिक् सर्वदेव के पुत्र थे। आपके पितामह जिनदेव प्रतिष्ठित पुरुष एवं राजमंत्री थे। आपने कुमारावस्था में जैन धर्म की दीक्षा ले ली थी और समस्त शास्त्रों का अच्छा अभ्यास करके आचार्य पदवी प्राप्त किया था। आप बृहदच्छीय आचार्य विजय सिंह सूरि के शिष्य थे। सूक्ति मुक्तावली (सिन्दुर प्रकर), सुमतिनाथ चरित्र, शतार्थकाव्य आदि आपके अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। ये सभी ग्रन्थ प्रायः अपभ्रंश, प्राकृत के हैं अतः सोमप्रभाचार्य को हम मुख्य रूप से मरुगुर्जर का कवि नहीं कह सकते।

हरिभद्रसूरि—आप बड़गच्छ के आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य एवं श्री चन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपने सोलंकी शासक सिद्धराज और कुमारपाल के मंत्री पृथ्वीपाल के आश्रय में रहते हुए अणहिलपाटन में 'नेमिनाह चरिउ' नामक प्रसिद्ध चरित काव्य सं० १२१६ में लिखा। यह रचना १३वीं शताब्दी की अवश्य है किन्तु इसकी भाषा अपभ्रंश ही है। अतः इसे मरुगुर्जर की रचना नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि इन्होंने २४ तीर्थङ्करों का चरित्र लिखा था किन्तु अब केवल चन्द्रप्रभचरित, मल्लिनाथचरित और नेमिनाथचरित ही प्राप्त हैं। नेमिनाथचरित के प्रथम भाग में नेमिनाथ और राजीमती के नव पूर्वभवों का वर्णन है। द्वितीय भाग में नेमिनाथ के साथ श्रीकृष्ण और पाण्डवों का भी वर्णन है। यह काव्य कडवकबद्ध न होकर आद्यन्त रड्डा छन्द में लिखा गया है। इसका एक अंश सनत्कुमार चरित के नाम से डॉ० हर्मन जैकोबी द्वारा सम्पादित होकर सन् १९२१ ई० में जर्मनी से प्रकाशित हो चुका है। इसकी चर्चा अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत की जा चुकी है। इसका कथानक अन्य चरित काव्यों की तरह वीर एवं शृङ्गार रस के वर्णनों से भरपूर है लेकिन सभी रसों का पर्यवसान अन्ततः शान्तरस में ही किया गया है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन विशेष हृदयग्राही बन पड़ा है। वसन्त वर्णन का एक उदाहरण आगे दिया जा रहा है। इसकी भाषा के आधार पर यह अनुमान किया जा सकेगा कि १३ वीं शताब्दी में लिखित यह काव्यकृति सायास अपभ्रंश में की गई रचना है। उदाहरण देखिए—

'जाहि विज्जसिय कुसुम कणियार,
वणराइ कंचण मय व कुणइपहिय हियभाण विब्भमुं।
अहिकंखहि भुवणयले सयल भिहुण निय-दइय संगमु।"

'ण' की आवृत्ति, व्यन्जन लोप का आग्रह कवि की भाषा को रूढ़ अपभ्रंश भाषा के रूप में परिवर्तित कर देता है।

हरिदेव--इनकी कृति 'मयण पराजय चरिउ' (मदन पराजय चरित) १३ वीं से १५ वीं शताब्दी के बीच की रचना कही जाती है। इसकी भाषा पर भी अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है। यह दो संधियों की एक रूपकात्मक कृति है। आप गृहस्थ थे। आपके पिता का नाम चंगदेव और माता का नाम चित्रा था। आपका घराना प्रतिष्ठित था। आपकी छठीं पीढ़ी में नागदेव ने आपकी इसी रचना के आधार पर संस्कृत में 'मदनपराजय' नामक ग्रन्थ लिखा। इसके आधार पर इनके समय का अनुमान १३ वीं शताब्दी ही होता है। इनकी वंशपरम्परा में पठन-पाठन और ग्रन्थ लेखन का क्रम इनसे काफी पहले से चला आया था और इनकी कई पीढ़ी बाद तक चलता रहा। इस रचना में चरित्रपुरी के राजा जिनेन्द्र के द्वारा काम के पराजय की कथा रूपकात्मक शैली में प्रस्तुत की गई है। व्याकरण की दृष्टि से यह ग्रन्थ आधुनिक देश्य भाषाओं के विकास का अध्ययन करने के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा का एक नमूना यहाँ दिया जा रहा है :--

"वज्जघाउ को सिरिण पडिच्छइ, असिधारा पाहेण को गच्छइ।
को जम करणु जन्तु आसंधइ, को भुवदंडइ सोयरु लंघइ।
को जम महिस सिंग उप्पाडइ विप्फुरंतु कोदिपामणि तोडड।
को पंचाणणु सत्तउ खलवइ। कालकुट्ट को कवलिहिं कवलइ।"[1]

भाषा प्रवाहमय और सुबोध है। इसमें पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर के बोल्ल, बुल्ल, ला, आ, लग आदि धातुओं का प्रयोग भाषा विकास की स्पष्ट सूचना देते हैं। इसमें अनेक प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है जिससे भाषा बोधगम्य एवं व्यञ्जना समर्थ हो गई है और बोलचाल की भाषा का आभास देती है। इतना सब होते हुए भी इसे हम स्पष्ट मरुगुर्जर की रचना नहीं कह सकते फिर भी मरुगुर्जर का विकास क्रम देखने के लिए इस प्रकार की रचनाओं के महत्व को अस्वीकार भी नहीं कर सकते।

१. हिन्दी सा० का बृ० इ० भाग ३ पृ० २७१

१३ वीं शती के अज्ञात कवि—अज्ञात कवि कृत श्री गुरुगुण षट्पद[1] नामक रचना सं० १२७८ के आसपास लिखी गई है जो ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। इसमें अभयदेव सूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि और इनके शिष्य जिनदत्त सूरि तथा उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि का उल्लेख है। इसमें एक द्विपदी और आठ षट्पदियाँ (छप्पय) हैं। इसकी भाषा में अपभ्रंश का मिश्र प्रयोग हुआ है। यह मरुगुर्जर की रचना है। इसमें जिनचन्द्र के शिष्य जिनपति और उनके शिष्य जिनेश्वर सूरि का भी उल्लेख है। वर्द्धमान सूरि से लेकर जिनपति सूरि तक के सभी आचार्य जिनेश्वर सूरि को आशीर्वाद देते हैं। खरतरगच्छ के गुरुओं का यह छन्दोबद्ध ऐतिहासिक परिचय है। जैन समाज में अनेक सम्प्रदाय मिलते हैं जिन्हें गच्छ कहा गया है। इनमें ८४ गच्छ प्रसिद्ध हैं, खरतर शब्द तपागच्छ अंचलगच्छ और लोंकागच्छ में अनेक उत्तम कोटि के लेखक एवं साधक हो गये हैं जिन्होंने अपने गच्छ के साथ समस्त जैन समाज की बड़ी प्रभावना की है। इनका संक्षिप्त परिचय अन्त में दिया जा रहा है। इस रास का सारांश इस प्रकार है—

जिनपति सूरि का जन्म विक्रमपुर निवासी माल्हू यशोवर्द्धन की भार्या सूहव देवी की कुक्षि से सं० १२१० में हुआ। इनके बचपन का नाम नरपति था। सं० १२१८ में आचार्य जिनचन्द्र ने इन्हें भीमपल्ली में दीक्षित किया और सं० १२२३ में जयदेव सूरि ने इन्हें जिनचन्द्र सूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित किया। इन्होंने पृथ्वीराज की सभा में विपक्षियों को वाद में परास्त किया और युगप्रधान आचार्य हुए। आपका स्वर्गवास सं० १२७७ में पाल्हणपुर में हुआ। आप मरुकोट निवासी नेमिचन्द्र भंडारी के प्रतिबोधकर्त्ता आचार्य थे। इन्हीं नेमिचन्द्र के पुत्र अंबड (जन्म सं० १२४५) को खेड़नगर के शान्तिजिनालय में जिनपति सूरि ने दीक्षित करके उनका नाम वीरप्रभ रखा और ये ही आचार्य पद प्राप्त कर जिनेश्वर सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका स्वर्गवास सं० १३३१ में हुआ। जिनेश्वर सूरि की पद प्रतिष्ठा सं० १२७८ में हुई अतः यह रास उसी के आसपास लिखा गया होगा। इस रास में रास लेखक का नाम, रचना का समय, स्थान आदि का विवरण उपलब्ध नहीं है। निम्नांकित पंक्तियों से समय का अनुमान सम्भव हो सकता है—

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह पृ० ३

"बार अठहत्तरइ माहसिय छट्ठि भणिज्जइ।
जिणेसर सूरि पइसरइ संघसयल विविह सज्जइ।
सूरिमंतु सिरि सव्वएव सूरिहिं जसु दीनउ,
जालउरहिं जिणवीर भुवणि बहुउच्छव कीनउ।"

इस षट्पद की अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"विहि संघ स नंदउ दिणण दिणु वीरतित्थुथिरु होउधर।
पूजन्ति मणोरह सयद बहि, कव्वट्ठु पढंति नारिनर।८।"

इति षट्पदम्।[1]

अज्ञात कवि कृत एक अन्य रचना १३ वीं शताब्दी की 'जिणदत्त सूरि स्तुति' भी ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। इसका रचना काल सं० १२११ के आसपास होना चाहिए। इसकी भाषा १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की भाषाशैली का अध्ययन करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। इसमें लेखक और लेखन समय का संकेत नहीं मिलता। काव्यत्व की दृष्टि से पढ़ने पर निराशा ही हाथ आती है किन्तु इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की सूचनायें अवश्य उपलब्ध हैं। इस कृति मे जिणदत्त सूरि के जन्म, दीक्षा, पदप्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित तिथियाँ दी गई हैं, यथा जन्म सम्बन्धी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"संवत् इग्यारह वरिस बत्तीसइ जसु जम्म।
वाछिगमंत्री पिता जणणि बाहड़ देवी सुरम्म।"

इसी प्रकार आचार्य—पदप्रतिष्ठा से सम्बन्धित तिथिसूचक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"इगतालइ जिणवय गहिय गुणहुत्तरइ जसु पाट।
बइसाखइ बदि छट्टि दिण पय पणमी सुरघाट।"

इसी प्रकार स्वर्गारोहण आदि को तिथि सूचक पद्यों को मिला कर कुल ९ द्विपदियाँ हैं। इसकी भाषा संक्रमण कालीन अपभ्रंश मिश्रित मरु-गुर्जर ही है।

---

१. ऐ० जै० का० संग्रह पृ० २०

इस काल की रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में यह सूचित करना आवश्यक लगता है कि अधिकांश रचनाओं में अपभ्रंश और मरुगुर्जर भाषायें परस्पर ऐसी युगनद्ध हैं कि उनमें से किसी एक का अंगभंग किए बिना दूसरी को अलग करना असम्भव है। इनमें प्राचीन रूढ़िबद्ध अपभ्रंश के स्थान पर देश्य भाषा की ओर अग्रसर अपभ्रंश का प्रयोग निश्चित रूप से हुआ है जो क्रमशः मरुगुर्जर के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया से गुजर रही थी। अतः कुछ रचनायें जिन्हें इतिहास ग्रंथों में शुद्ध अपभ्रंश की रचना घोषित कर दिया गया है उन्हें भी संक्रमण कालीन भाषा के नमूने के तौर पर यहाँ उल्लिखित किया गया है। हाँ, ऐसी रचनाओं का मात्र उल्लेख ही किया गया है, विस्तृत विवरण नहीं दिया गया है।

अब तक १३ वीं शताब्दी की प्राप्त रचनाओं का विवरण यथासंभव प्रस्तुत किया गया। इनमें से कुछ की भाषा अपभ्रंश मिश्रित मरुगुर्जर है, कुछ की मरुगुर्जर है और कुछ की अपभ्रंश ही है। भाषा का क्रमिक विकास देखने के लिए ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। विषय की दृष्टि से ये रचनायें विविध प्रकार की हैं। इनमें से कुछ राजस्थान और कुछ गुजरात में लिखी गई हैं, इसलिए स्थानीय प्रभाव उनमें स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है लेकिन इतना स्पष्ट है कि इन स्थानों में लिखी गई रचनाओं में प्रवृत्ति और भाषा सम्बन्धी मौलिक अन्तर नहीं है। इसलिए इस उभयनिष्ट भाषा साहित्य के लिए मरुगुर्जर से अधिक उपयुक्त अन्य कोई नाम नहीं है।

इनमें चार पद्यों की छोटी रचनाओं से लेकर २०५ पद्यों तक की बड़ी रचनायें भी हैं जो रास, चौपाई, धवल, मातृकाक्षर, गीत, बावनी, जन्माभिषेक, कलश, बोली आदि विविध काव्यरूपों में लिखी गई हैं। इनमें से कुछ का समय ज्ञात है और कुछ का अनुमानाश्रित है किन्तु अप्रामाणिक नहीं है। कुछ का कालनिर्धारण अभी विद्वानों द्वारा होना शेष है। ये रचनायें अधिकतर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा लिखी हुई हैं। इस काल में दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु विद्वानों ने प्रचुर साहित्य लिखा पर वह अधिकतर संस्कृत या अपभ्रंश में है मरुगुर्जर में उनका साहित्य कम उपलब्ध है। आगे चलकर उन्होंने जो पुरानी हिन्दी (हिन्दी) में लिखा है उसे मरुगुर्जर के साथ ही संग्रहीत किया जा रहा है।

टिप्पणी—भगवान महावीर के निर्वाण के ६०० वर्ष बाद जैनधर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। दिगम्बर भी आगे चलकर मूलसंघ, द्राविड़संघ, काष्ठा संघ और माथुर संघ में विभक्त हो गये। १७वीं शताब्दी में भट्टारकों के शिथिलाचार के विरुद्ध दिगम्बरों में तेरहपंथ का आविर्भाव हुआ। कल्पसूत्र की पट्टावली में प्रथमतः मुनिसंघ को गण, शाखा और कुलों में विभक्त होने की सूचना मिलती है। श्वेताम्बर पहले वनवासी और चैत्यवासी नामक दो भागों में विभक्त हुए, फिर क्रमशः ८४ गच्छों में विभक्त हो गये, जिनमें खरतरगच्छ और तपागच्छ प्रधान हैं। श्वेताम्बरों में स्थानकवासी और तेरापंथी मूर्तिपूजक नहीं हैं। स्थानकवासियों को बाईसी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इन सभी संघों, गच्छों और सम्प्रदायों के आचार्यों और लेखकों ने मरुगुर्जर में प्रभूत साहित्य लिखा है जिसकी चर्चा ही 'मरुगुर्जर जैन साहित्य' का प्रतिपाद्य विषय है।

अध्याय ३

मरु-गुर्जर जैन साहित्य

(वि० सं० १३०१–१४००)

राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति—१४वीं शताब्दी में गुजरात और राजपूताना में बड़ा राजनीतिक उथल-पुथल हुआ, जिसका इन प्रदेशों के इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। कहा जाता है 'राजा कालस्य कारणम्' अर्थात् राजा काल का कारण होता है। अतः राजा और राजनीतिक स्थिति का प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था अर्थात्—धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य तथा समस्त जनजीवन पर व्यापक रूप से पड़ना स्वाभाविक है। वि० सं० १३०० में वीरधवल के पुत्र बघेला बीसलदेव ने सोलंकी राजा त्रिभुवनपाल से गुजरात की गद्दी छीन ली और गुजरात में जैन धर्म तथा साहित्य की अप्रतिम सेवा करने वाले चौलुक्य शासन का अन्त कर दिया।

गुजरात में बघेला शासन भी कई कारणों से ज्यादा दिन तक नहीं स्थिर रह सका। सं० १३१२ से १३१५ के बीच गुजरात में बड़ा अकाल पड़ा। प्रजा अन्न के लिए त्राहि-त्राहि करने लगी। उस समय प्रजा-रक्षण का कार्य गुजरात के श्रेष्ठिवर्ग ने शासकों की अपेक्षा अधिक लगन से किया। भद्रेश्वर के श्रीमाल वंशीय जगडूशाह ने सुदूर प्रदेशों से अन्न मँगवाकर गुजरात में जगह-जगह सत्र और दानशालायें चलाईं। लगातार तीन वर्षों तक दुष्काल के संकट का मुकाबला किया और तमाम लोगों को भूखों मरने से बचा लिया। इस भयंकर अकाल और उसके निवारणकर्ता जगडूशाह पर अनेक कवियों ने कई रचनायें लिखीं।

सं० १३२० के आसपास मांडवगढ़ के पेथडकुमार ने ८० स्थानों में जिनालय बनवाये और प्रतिष्ठा उत्सव कराये। आप देद नामक एक वणिक् के पुत्र थे, जो किसी योगी की कृपा से सुवर्ण सिद्धि का उपाय जानकर अत्यधिक समृद्धिशाली हो गये थे। इन्हीं देद के पुत्र पृथ्वीधर या पेथड बड़े दानी और धर्मात्मा थे। आपके चरित्र पर आधारित कई रचनायें लिखीं गई हैं। पोरवाड़ वंशीय पेथड साह पर 'पेथड रास' सं० १३६० में लिखा गया।

सं० १३५६ में नागर प्रधान माधव ने उलगू खां तथा नुसरत खां के नेतृत्व में अलाउद्दीन खिलजी की सेनाओं का गुजरात में प्रवेश कराया। मेरुतुंग ने विचारश्रेणिस्थविरावली में लिखा है—'यवना माधव नागर विप्रेण अनीताः', इसी प्रकार पद्मनाभ ने कान्हडदेप्रबन्ध में लिखा है—नव खंडे अपकीरति रही, माधवि म च्छ आनिया सही।'[1] बघेला राजा कर्ण अपनी परम रूपवती कन्या देवलदे के साथ देवगिरि चला गया। उसकी पत्नी कमला कैद कर ली गई। देवलदे और कमला पर गुजराती तथा हिन्दी में अनेक मार्मिक आख्यानकगीत और काव्य ग्रन्थ लिख गये हैं। इस प्रकार गुजरात में हिन्दू राजसत्ता की समाप्ति के साथ ही गुजरात के गौरवमय इतिहास के स्वर्णयुग का अन्त हो गया। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा पर अत्याचार और जुल्म होने लगे। जैनों, शैवों और वैष्णवों के मन्दिर गिराये जाने लगे। उनकी ईंट और मसाले से उन्हीं मन्दिरों पर मस्जिदें बनाई जाने लगीं। प्रजा के जानमाल की सुरक्षा खतरे में पड़ गई। बहन-बेटियों की इज्जत-आबरू बचाना मुश्किल हो गया। श्रेष्ठियों के व्यापार-धंधे पर बुरा असर पड़ा। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना जोखिम का काम हो गया। जीवन पंगु बनकर रह गया।

सं० १३५६ में गुजरात विजय के बाद अलाउद्दीन ने सं० १३५७ में राजपूताने पर आक्रमण किया और वीर हम्मीर को पराजित कर रणथंभौर का किला जीत लिया। उसने उसके बाद राजस्थान के अन्य राज्यों को एक-एककर जीतना प्रारम्भ किया। सं० १३६० में उसने चित्तौड़ को फतह किया और १३६६ से १३६८ के बीच लगातार आक्रमण करके जालौर के चौहान राजा कान्हड़देव से उसका राज्य भी छीन लिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरे हिन्दू राजाओं को पराजित कर उनके राज्यों को आपने साम्राज्य में बिलीन करने लगा। अन्त से मरुप्रदेश में हिन्दू राजसत्ता समाप्त हो गई।

इस सत्ता परिवर्तन का व्यापक प्रभाव जनजीवन का भी पड़ा। गुजरात, मालवा और राजस्थान का सदियों पुराना घनिष्ठ सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया। लोगों का व्यापार, विवाह और तीर्थ यात्रा आदि के सिलसिले में होने वाला आवागमन बहुत कम हो गया। इसका भाषा विकास पर यह प्रभाव पड़ा कि उक्त प्रदेशों की देश्य बोली-भाषायें अपनी-अपनी सीमा में अवरुद्ध होकर अपने-अपने क्षेत्र में स्थानीय प्रभाव के अनुसार अलग-अलग

---

१. श्री मो० द० देसाई—जैन सा० नो इतिहास पृ० ४२१

विकसित होने लगीं। मुसलमानों ने गुजरात की भाषा को गुजराती कहना शुरू किया। इसलिए नर्मद को गुजराती भाषा का प्रारम्भिक कवि कहा जाने लगा। उन्होंने स्वयं कहीं लिखा है कि वि० सं० १३५६ के बाद मुसलमानी शासन में गुजराती भाषा गुजरात में अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण करने लगी। इस प्रकार भाषा सम्बन्धी प्राचीन ऐक्य भी विघटित होने लगा। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी-अपनी भाषा-बोली में अपना-अपना प्रादेशिक साहित्य लिखा जाने लगा। संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं का स्थान प्रादेशिक भाषाओं ने ले लिया और इन प्राचीन भाषाओं की अपेक्षा उनमें व्यापक रूप से रचनायें की जाने लगीं।

ऐसी आपत्ति के समय जब धर्म की हानि हो रही थी; मन्दिर मूर्तियाँ तोड़ी जा रही थीं, प्राचीन संस्कृति, भाषा-साहित्य खतरे में थी, तो एक बार पुनः जैन श्रावकों और साधुओं ने धर्म, भाषा और साहित्य के संरक्षण का बीड़ा उठाया। जब सं० १३६९ में शत्रुंजय पर्वत पर स्थित आदीश्वर की प्रतिमा भंग की गई, तीर्थ-यात्राओं पर कर लगाया गया, जब राजपूत राजा और सामंत प्रजा और धर्म की रक्षा करने में असमर्थ हो रहे थे, तब एक वणिक् गृहस्थ समरसिंह ने मंदिर-प्रतिमा के उद्धार कराने का अविस्मरणीय कार्य किया। समरसिंह पाटण का प्रतिष्ठित व्यापारी था और अलफ खां, जो गुजरात में अलाउद्दीन का प्रतिनिधि था, का विश्वासपात्र उच्चाधिकारी भी था। उसने सूबेदार अलफ खां से तीर्थोद्धार की आज्ञा प्राप्त करके जनता में अभूतपूर्व उत्साह संचरित कर दिया। समरसिंह के पिता संघपति देसल ने संघयात्रा निकाली और जैनधर्मावलम्बियों में नया प्राण फूंक दिया। समरसिंह ग्यासदीन के पुत्र उल्लखान के भी विश्वासपात्र थे और उसके प्रतिनिधि के रूप में तिलंगदेश के सूबेदार भी रहे। आपका सं० १३९३ में स्वर्गवास हुआ था। इनके चरित्र पर आधारित अनेक रचनायें प्रसिद्ध हैं जिनमें अम्बदेव कृत समरारास और कक्कसूरिकृत नाभिनन्दनोद्धार प्रबन्ध विशेष उल्लेखनीय है। समरारास का विवरण यथास्थान दिया जायेगा।

धार्मिक स्थिति—तपागच्छ स्थापक श्री जगच्चन्द्र सूरि के पट्टधर श्री देवेन्द्रसूरि इस समय गुजरात में बड़े प्रभावशाली जैनाचार्य थे। वे वक्तृत्वकला में कुशल और उत्तम रचनाकार थे। उनके व्यक्तित्व के कारण १४वीं शताब्दी से गुजरात में तपागच्छ का प्रभाव बढ़ने लगा। श्री देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास सं० १३२७ में हुआ। इनके शिष्य श्री धर्मघोषसूरि भी

अनेक ग्रन्थों और स्तोत्रादि के रचयिता थे। राजस्थान में खरतरगच्छ का प्रभाव १३वीं शताब्दी से ही अधिक था। इस समय श्री जिनसिंहसूरि के शिष्य श्री जिनप्रभसूरि ने लघुखरतरगच्छ का प्रारम्भ किया। वे असाधारण प्रतिभाशाली आचार्य थे। आपने सं० १३८५ में अपने प्रवचन से मु० तुगलक को प्रभावित किया। आप उच्च कोटि के साहित्यकार थे और प्राकृत तथा अपभ्रंश में आपने कई सुन्दर रचनायें कीं जिनमें वयरस्वामी चरित्र (सं० १३१६) के अलावा मल्लिचरित्र, नेमिनाथरास, षट्पंचाशदिक कुमारिका अभिषेक, ज्ञानप्रकाश, धर्माधर्म विचार कुलक आदि मुख्य हैं। आपकी मरुगुर्जर में लिखित रचना पद्मावती चौ० की चर्चा यथास्थान की जायेगी। सं० १३९० में जिनकुशलसूरि के पट्ट पर जिनपद्मसूरि विराजमान हुए। सारमूर्ति ने इनका पट्टाभिषेकरास लिखा है। स्वयम् आ० जिनपद्मसूरि ने सिरिथूलिभद्दफागु मरुगुर्जर में लिखा है।

सं० १३६१ में नागेन्द्रगच्छीय आचार्य चन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुंग ने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि लिखा। मलधारी राजशेखर सूरि के शिष्य श्री सुधाकलश ने संगीतोपनिषद् नामक संगीत पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। सं० १३८३ में आ० जिनकुशल सूरि ने श्री जिनदत्तसूरिकृत 'चैत्यवन्दन देवनन्दन कुलक' पर उत्तम वृत्ति लिखी। इन्द्रपल्लीय गच्छ के श्री सोमतिलकसूरि (अपरनाम विद्या तिलक) ने वीरकल्प और षट्दर्शन टीका लिखी। आपने श्री जयकीर्ति कृत शीलोपदेशमाला पर शीलतरंगिणी नामक वृत्ति भी लिखी। पल्लीवाल गच्छीय श्री महेश्वरसूरिकृत कालकाचार्यकथा और भुवनसुन्दरीकथा इस शताब्दी की महत्वपूर्ण रचनायें हैं। आ० जिनकुशलसूरि के आदेशानुसार सं० १३७८ में नैषधकाव्य और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति पर चूर्णि भी लिखी गई। इनके अतिरिक्त अनेक वृत्ति, टीका और चूर्णि आदि की रचनायें इस शताब्दी में की गईं। चन्द्रतिलक, विवेकसमुद्र आदि कई अन्य अच्छे लेखक भी इस शताब्दी की देन हैं।

गद्य के क्षेत्र में तरुणप्रभसूरि ने इसी शताब्दी में बालावबोध भाषाटीका शैली में सर्वप्रथम 'षडावश्यक बालावबोध' लिखा। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि तरुणप्रभ की रचना दशार्णभद्रकथा में तत्सम शब्द वैसे ही मिलते हैं जैसे विद्यापति कृत कीर्तिलता में।[1] दशार्णभद्रकथा का प्रकाशन भी अगरचन्द नाहटा ने कराया है। यद्यपि १४वीं शताब्दी में

१. आ० ह० प्र० द्विवेदी 'हिन्दी सा० का आदिकाल'।

भी देशीभाषाओं पर अपभ्रंश का काफी प्रभाव था और काव्यभाषा में अपभ्रंश की छौंक लगाकर पुरानापन बनाये रखने का प्रयास होता रहा किंतु भाषा का मूल स्वरूप बदलने लगा था। तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति जो ११-१२वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई थी १४वीं शताब्दी में आकर अधिक सक्रिय हो गई। आ० हु० प्र० द्विवेदी ने उक्तिव्यक्तिप्रकरण और कुवलयमाला आदि से कई उदाहरण देकर अपना कथन प्रमाणित किया है। छात्र, क्षेत्र, विद्या, प्रज्ञा जैसे तत्सम शब्दों की भाषा में बहुलता इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप दिखाई देती है। गद्य में यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ती है।[1]

सांस्कृतिक-धार्मिक क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन इस शताब्दी की महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका प्रभाव दक्षिण और उत्तर भारत की तमाम भाषाओं पर क्रमशः पड़ा। जैनभक्ति काव्य इसी समय से प्रारंभ होकर १८वीं शताब्दी तक मरुगुर्जर में लिखे गये।[2] इस काल में अनेक जैनभक्ति ग्रन्थ पुरानी हिन्दी में लिखे गये जैसे लक्ष्मीतिलक कृत शान्तिनाथरास, अभयतिलक कृत महा-वीररास इत्यादि। इस सामान्य पृष्ठ भूमि पर रचित १४वीं शताब्दी के मरुगुर्जर साहित्य का परिचय आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अभयतिलक गणि – आप खरतर गच्छीय विद्वान् साधु थे। आपने वि० सं० १३०७ में 'महावीर रास' नामक २१ पद्यों की एक रचना की। यह कृति भीमपल्ली (भीलडिया) के महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा के समय लिखी गई थी। प्रतिष्ठा महोत्सव का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है कि मंडलिक राजा के आदेश से श्रावक भुवनपाल ने जिनालय को स्वर्णमय दंडकलश से विभूषित कर प्रतिष्ठा करवाई :—

'तसु उवरि भवणु उत्तंगवर तोरणं, मंडलिय रास आएसि अइसोहणं।
साहुणा भुवण पालेण कराविय, जगधरह साहुकुलि कलस चडाविय।
हेम धयदंड कलसोतहिं कारिउ, पहु जिणेसर सुगुरुपासि पठाविउ,
विक्कमे वरिस तेरहइ सत्तरुत्तरे (१३०७) सेय वयसाह दसमीइ सुध्वासरे
अभयतिलक गणिपासिखेलहिं मिलवि कराविउ,
इयनिय मणि उल्लासिरासुलडउ भवियणदियहुं।[3]

---

१ सं० मुनि जिनविजय 'प्राचीन गुर्जर गद्य सन्दर्भ' देखिये

२. डा० प्रेमसागर जैन 'जैन भक्ति काव्य'

३. श्री अ० च० नाहटा, राज० सा० का आ० का०, परम्परा पृ० १६९
और श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ३९९

यह कृति जैनयुग में पं० लालचन्द कृत गुजराती छाया के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इसकी भाषा अपभ्रंश मिश्रित मरुगुर्जर है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जाती है :—

'इह महे दिसो दिस संघ मिलिया घणा,
दसण घणा एहि वरिसंतजिव नवघणां।
ठाणि ठाणो पणच्चंति तरुणी जणा,
काणि रमणि नेउरा राव रंजिय जंणा।

'ण' कार के अतिरेक को छोड़कर भाषा सरल एवं सरस है। शब्दालंकारों के प्रयोग से भाषा श्रुतिमधुर बन सकी है। इस समय तक हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषा में पर्याप्त अलगाव नहीं हुआ था इसलिए समग्र क्षेत्र की जैन काव्य भाषा मरुगुर्जर ही थी। श्री मो० द० देसाई ने इस शताब्दी की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है "गुजराती, राजस्थानी-हिन्दी भाषानुं साम्य आसमय सुधी घणंजुहतु ते आमाथी परखाय छे।[1] इस प्रकार अभयतिलक गणि की भाषा मरुगुर्जर का प्रारम्भिक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। आप संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे। आपने सं० १३१२ में आ० हेमचन्द्रसूरि कृत संस्कृत द्वयाश्रय ग्रन्थ पर एक विद्वत्तापूर्ण वृत्ति पालणपुर में लिखी है।

अमरप्रभसूरि—आप आणंदसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १३२३ में 'निबद्ध तीर्थमाल स्तवन' नामक ३६ पद्यों की रचना की है। आणंदसूरि के गुरु आ० धर्मसूरि बड़े प्रभावशाली जैनाचार्य थे। शाकम्भरी के चौहान राजाओं द्वारा उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। यह स्तवन द्वादश भासा या ढाल में निबद्ध है। इसके प्रथम तीन भासों में शाश्वत जिनालयों का वर्णन है। चौथी से सातवीं ढाल में अनेक जैन तीर्थस्थानों का उल्लेख किया गया है। दसवीं ढाल में कवि ने अपनी गुरु परम्परा और रचनाकाल का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

"सायंभरि नरराय, पणय पाय धम्म सूरि गुरो,
तसुपटि उदयगिरिंद आणंदसूरि गुरु दिवसयरो।
अमरप्रभ सूरि नामुतासुसीसि संथव रमउ,
तेरह तेवीसमि (सं० १३२३) सिरि चंदुज्ज्वल जसु दियओ।"[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४३५
२. श्री अ० च० नाहटा-परम्परा पृ० १६९—१७०

जैन तीर्थों से सम्बन्धित चैत्य परिपाटी और तीर्थ मालाओं की रचना १४वीं शताब्दी से अधिक होनी शुरू हुई। प्राकृत, संस्कृत से आती हुई यह धारा मरुगुर्जर में क्रमशः बढ़ती गई। प्रस्तुत तीर्थमाला की भाषा का नमूना देखने के लिए इसकी एकादश भास की कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत कर रहा हूँ :—

'सिवसिरि मणिमाला वन्निया तित्थमाला,
ववगय भव जाला कित्ति कित्ती विशाला।
सिव सुह फल रुक्खं देइ तत्तं परुक्खं,
निहणउ भव दुक्खं वंछिय होउ सुक्खं।'[1]

यह मरुगुर्जर भाषा की धार्मिक रचना अपभ्रंश के प्रभाव से अछूती तो नहीं है किन्तु निश्चय ही मरुगुर्जर का अधिक प्रकृत रूप इसमें प्राप्त होता है।

अमरप्रभसूरि के किसी अज्ञात शिष्य की रचना 'संखवापीपुर मण्डव श्री महावीर स्तोत्रम्' (गाथा २१) भी इसी समय की रचना है। इसकी भाषा का संस्कृताभास रूप देखिये :—

'कुमय तप दिणिंदो पायनम्मामरिंदो, भविय कुमय चंदो वद्धमाणो जिनिंदो।
परम सुह निवासं मुक्ति कंता विलासं, ववगय भवपासं देउनाणप्प दासं॥'

इस पर संस्कृत का प्रभाव है। अनुस्वार लगाकर संस्कृताभास भाषा शैली गढ़ने का यह भी एक प्रचलित प्रयत्न था। इस प्रकार इस काल की मरुगुर्जर पर अपभ्रंश और सस्कृत का प्रभाव यत्रतत्र दिखाई पड़ता है जिससे छूटने का प्रयत्न तत्कालीन जनभाषा कर रही थी।

आनन्द तिलक –१३वीं १४वीं शताब्दी के बीच किसी समय 'आणंदा' नामक कृति लिखी गई। डॉ० रामसिंह तोमर ने अपने शोध-प्रबन्ध 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' में महानन्दि या आणंदा रचित ४३ पद्यों के आनंदास्तोत्र की सूचना दी है जिसका यथावत् उल्लेख डॉ० हरिवंश कोछड़ ने अपने शोध प्रबन्ध अपभ्रंश साहित्य में किया है। डॉ० कासलीवाल महोदय इसे ठीक नहीं समझते और काफी पुष्ट आधार पर उन्होंने बताया है कि रचना का नाम आणंदा और रचयिता का नाम आनन्दतिलेक[2] है। श्री अगरचन्द नाहटा ने वीरवाणी वर्ष ३ अंक २१ में डॉ० कासलीवाल का समर्थन करते हुए रचना का नाम महानन्दि

१. श्री अ० च० नाहटा-परम्परा पृ० ११९–१२०

२. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल–वीरवाणी वर्ष ३ अंक १४-१५

बताया है। ना० प्र० पत्रिका सं० २०१६ अंक १ में आणंदा की हस्तलिखित प्रति प्रकाशित भी हुई है, उसमें भी रचना का नाम महाणंदि कहा गया है। अतः रचयिता का नाम आनन्दतिलक ही उचित लगता है।

इसका समय अनेक विद्वान् योगीन्दु और मुनि रामसिंह के कुछ बाद मानते हैं, श्री अ० च० नाहटा इसे १३-१४वीं शताब्दी की रचना बताते हैं। यह एक आध्यात्मिक रचना है। कवि कहता है कि आत्मा देह में उसी प्रकार निवास करता है जिस प्रकार काष्ट में वैश्वानर और पुष्प में परिमल। भाषा के उदाहरणार्थ इसी भाव से संबन्धित पंक्तियां देखिये :--

"जिमि वैसाणर कट्ठ महि, कुसुमह परिमलु होइ,
तिह देह मयि वसइ जिव आणंदा विरला बूझइ कोइ।"

इसकी भाषा पर पुरानी हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रत्येक छन्द में कवि के नाम की छाप आणंदा मिलती है इसलिए आणंदा शब्द ग्रन्थ के नाम के साथ-साथ कवि के नाम का भी सूचक हो सकता है यथा :—

'गुरु जिणवरु गुरु सिद्धसिद्द, गुरु रयणत्तय सारु।
सो दरिसावइ अप्प परु, आणंदा भव जल पावइ पारु।[1]

कवि ने छन्द का नाम हिन्दोला कहा है किन्तु यह दोहे पर ही आधारित है। डॉ० कासलीवाल इसे १२वीं शताब्दी की रचना बताते हैं। श्री नाथूराम प्रेमी ने मुनि महानन्दि देव की रचना आनन्दतिलक का उल्लेख किया है जिसे गोपाल साहू के आग्रह पर उन्होंने लिखा था। उन्होंने रचना काल नहीं दिया किन्तु उनके द्वारा उद्धृत उदाहरणों की भाषा एवं भावसाम्य के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि यह वही रचना है। उनका एक उदाहरण देखिये :—

'ध्यान सरोवरु अमिय जलु, मुनिवर करहिं सनाणु।
अट्ठ कमल मल धोवहीं, आणंदा नियउरहुँ॥'

इन दोहों का स्वर जहाँ एक ओर योगीन्दु और मुनिरामसिंह से मिलता है वहीं दूसरी ओर कबीर, दादू आदि निर्गुण सन्तों की रहस्यवादी रचनाओं के समान है। ऐसी रचनाओं में वैराग्य, श्रावकाचार और तत्वज्ञान जैसी बातों का बाहुल्य होने के कारण काव्य तत्व को पूरा अवकाश नहीं मिलता फिर भी इन कवियों ने अपनी बात को यथा संभव बोधगम्य और कवित्वपूर्ण बनाने का प्रयास किया है। इनकी कला इनकी स्वभावोक्ति और

---

१. हि० सा० का बृ० इ० भाग ३ पृ० ३४२ पर उद्धृत

ऋजुकथन शैली में है। भाषा जनप्रचलित, काव्यरूप लोकप्रिय, अप्रस्तुत दैनिक जीवन के सामान्य क्षेत्र से गृहीत और रचनाशैली सीधी सरल होती है। अतः इन मुक्तकों में चाहे रसप्लावित करने की उतनी क्षमता न हो किन्तु वे पाठक को प्रभावित अवश्य करते हैं। अपनी बात के समर्थन में एक उदाहरण और प्रस्तुत करके यह विवरण समाप्त किया जायेगा :—

'फर सरस गंधवाहिणी रुव विहूणउ सोइ,
जीव शरीरह विणु करि 'आणंदा' सद्गुरु जाणइ सोइ।

यह रचना साधु संतों के लिए गोपाल साहु के आग्रह पर लिखी गई।

अम्बदेवसूरि—आप निवृत्तिगच्छीय पासड के शिष्य थे। आपकी प्रसिद्ध रचना 'समरारास' सं० १३७१ में लिखी गई। यह रास ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सं० १३६९ में अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने शत्रुञ्जय के तीर्थ ऋषभदेव की मूर्ति को नष्ट कर दिया। तत्कालीन क्षत्रियों में खड्गबल से मंदिर के पुर्ननिर्माण का साहस नहीं रह गया था। कवि कहता है, खत्तिय खग्गुनलिति साहसियहु साहसु गलए।' ऐसे विषम समय में समराशाह ने यह कार्य सम्पन्न किया। उसने सूबेदार अलफ खाँ से मिलकर फरमान निकलवाया कि मंदिर का पुर्नानमाण किया जाय और भविष्य में मूर्तियों को नष्ट न किया जाय। उसने नवीन मूर्तियों की स्थापना कराई और सं० १३७३ में संघसहित वहाँ यात्रा भी थी। यह रास उसी महत्त्वपूर्ण घटना पर आधारित है। इस रास में खिलजी कालीन भारतीय स्थिति का सटीक एवं सजीव चित्र उपलब्ध होता है। यह रास 'गुर्जरकाव्यसंग्रह' और जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय (सं० मुनिजिनविजय) में प्रकाशित हो चुका है।

जैन समाज में महामात्य वस्तुपाल के बाद संघपति समरसिंह बड़े कीर्तिशाली व्यक्ति समझे जाते हैं। इस रास में समराशाह की वंश परम्परा का परिचय दिया गया है। उसके आधार पर पता चलता है कि ओसवाल वंशीय वेसट कुल में सलषण नामक एक प्रतापी पूर्व-पुरुष हुए। उनके पुत्र आजड़ के पुत्र गोसल थे। इन्हीं गोसल के पुत्र समराशाह के पिता देसल थे। देसल की भार्या भोली से तीन पुत्र हुए। उनके नाम थे सहजो, साहणो और समरो। यह परिवार पाटणपुर से अणहिलपुर आकर जौहरी (झावेरी) का धन्धा करता था। सूबेदार अलफखाँ समरसिंह से बड़ा प्रसन्न था। उसके बड़े भाई सहजो (सहजपाल) ने देवगिरि में बड़ाभारी कारोबार जमाया था। उन्होंने वहां चौबीस जिनालयों की प्रतिष्ठा करके जैनधर्म का प्रभाव

बढ़ाया था। दूसरे भाई साहणो ने खंभात में समुद्री मार्ग से विदेशी व्यापार द्वारा काफी धन कमाया था। सारांश यह कि देश-विदेश के व्यापार में इस परिवार का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। पाटण में अपने पिता संघपति देसल के साथ समरसिंह कारोबार सँभालते थे और समय समय पर पाटण स्थित सूबेदार अलफखां की सेवा करके उसे प्रसन्न भी रखते थे।

अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ भी था। उसने गुजरात में ऐसा सूबेदार नियुक्त किया था जो हिन्दुओं को आवश्यकतानुसार प्रसन्न भी रख सके। कवि अलफखां की नीति के विषय में लिखता है—

'पातसाहि सुरताण भीवुं तह राज करेई।
अलपखाँन हिन्दू अहलोयघण मानु जु देई।
साहुराय देसलह पुत्तु तसु सेवइ पाय।
कलाकारी रजविउ खान बहु देइ पसाय।'

इस रास में १२ भासा या ढाल है। प्रथम भास में शत्रुञ्जय शिखर पर विराजमान आदीश्वर देव और सरस्वती देवी की वंदना की गई है :—

पहिलउ पणमिउ देव आदिसरु सत्तुजंसिहरे,
अनु अरिहंत सव्वेवि आराहउं बहुभत्तिरे।
तउ सरसति सुमरेवि सारयस सहर निम्मलीय,
जसु पयकमल पसाय मुरुष भाणइ मनरलिय।
संघपति देसल पुत्तु भणिसु चरिउ समरातणउए,
धम्मिय रोसु निवारि निसुणउ श्रवणि सुहावणउए।'[1]

प्रबन्ध के चौथे प्रस्ताव में कहा गया कि संघ की आज्ञा प्राप्त कर समरसिंह ने महीपाल की आज्ञा लेकर उद्धार कार्य प्रारम्भ किया। कार्य पूर्ण होने पर महोत्सव हुआ। संघयात्रा में कई गच्छों के प्रमुख जैनाचार्य जैसे विनयचन्द्र सूरि, पद्मचन्द्र सूरि, श्री सुमति सूरि आदि के साथ आम्रदेव या अंबदेव सूरि भी गये थे अर्थात् स्वयम् कवि सभी घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी था अतः संघयात्रा वर्णन में तत्कालीन महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

समराशाह कुतुबुद्दीन, गयासुद्दीन तथा गयासुद्दीन के पुत्र उल्लखाँ का भी प्रिय पात्र था। तैलंग देश का सूबेदार बनने पर समरसिंह ने तमाम कैदियों को मुक्त कर दिया, कई जिनालय बनवाये और जैनधर्म की बड़ी प्रभावना की। उसके चरित्र पर आधारित 'नाभिनन्दनोद्धार' नामक प्रबन्ध

१. मो० द० दे०—जै० गु० क० भाग १ पृ० १०

काव्य की रचना सिद्धसूरि के शिष्य कक्कसूरि ने कंजरोटपुर में सं० १३९३ में की थी। सं० १३७१ में समराशाह ने अपने कुलदेवी सच्चिका की मूर्ति स्थापित कराई थी। उपकेश गच्छ की गुरु परम्परा में रत्नप्रभ, यक्षदेव, कक्कसूरि, सिद्धसूरि और देवगुप्तसूरि के नाम ही दोहराये जाते रहे। इस रास में उल्लिखित सिद्धसूरि और कक्कसूरि द्वितीय होंगे, इसी प्रसंग पर आधारित कुछ पंक्तियाँ भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

'उवएस गच्छह मंडणउए गुरु रयणप्पह सूरि त।
तसु पयकमल मरालउए कक्कसूरि मुनिराउ त।
ध्यान धनुषि जिणि भंजियउए मयणमल्ल भडिवाउत।'[1]

बिम्ब प्रतिष्ठा एव धर्म उत्सवों पर रासनृत्य का आयोजन होता था। नृत्योत्सव का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

"खैला नाचई नवलपरे घाघरि रवुझमकइ।
अचरिउ देषिउ धामियह कह चित्तु न चमकइ।'

ध्वनि एवं गति का बिम्बात्मक वर्णन निम्न पंक्तियों में दर्शनीय है—

'वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुदुडुआ।
घोड चडइ सल्लार सार राउत सीगंडिया।
तउ देवालउ जोमि वेगि घाघरि रवु झमकइ।
समविसम नवि गणइ कोइ नवि कारिउ थक्कइ।

(षष्टी भाषा १ पृ० २४५)

इसकी भाषा चारणों भी भाषा से पर्याप्त मिलती है। दसमी भासा में वसंत ऋतु का वर्णन देखिये :—

'रितु अवतरियउ वहि जि वसंतो, सुरहि कुसुम परिमलपूरंतो।
समरह वाजिय विजय ढक्का।
सांगु सेलु सल्लइ सच्छाया, केसूय कुडय कदंब निकाया।
संघ सेनु गिरिनाहइ वहए।
बातीय पूछइं तरुवर नाम, वाटइ आवइं नव नव गाम।
नयनी झरण माउलइ।'[2]

---

१. जै० ऐ० गु० काव्य संचय पृ० २३९; 'समरारास' और 'परम्परा' पृ० १७४—१७५

२. जैन ऐ० गु० काव्य संचय 'समरारास' पृ० २४९

इसकी भाषा अपभ्रंश के अनावश्यक बोझ से मुक्त गतिशील मरुगुर्जर है। इसमें अनेक स्थलों पर सुन्दर साहित्यिक-वर्णन मिलते हैं जो पूर्व वर्णित वसंत वर्णन आदि प्रसंगों से प्रमाणित है। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि के साथ ही साहित्यिक एवं भाषिक दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना सिद्ध होती है। रास के अन्त में लेखक ने रास का रचना काल और अपना नाम दिया है यथा :—

'संवच्छरि इकहत्तर थापिओ रिसहजिणिंदो,
चैत्र वदि सातमिपहुत धरे नन्दओ अे जां रवि चंदो।
पासड सूरिहि गणहरह नागिदंअ गच्छ निवासो,
तसु सीसहिं अंबदेव सूरिहिं रचियउ अे समरा रासो।
अेहु रास जे पढ़इ गुणइ नाचिइ जिण हरि देइ,
श्रवणि सुणइ सो बइठइअे तीरथअे तीरथजात्र फलुलिउ।'

एक अन्य प्रति के अन्त में नागिदंअ गच्छ के बदले नेऊऊख गच्छ भी मिलता है जिसके आधार पर इन्हें निवृत्तिगच्छीय आसड का शिष्य कहा जाता है।

उदयकरण—इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं (१) कयलवाड पार्श्वस्तोत्र, (२) जीरावला पार्श्वनाथ स्तोत्रम् (गा० ९) और (३) फलवर्द्धि पार्श्वनाथ-स्तोत्र (गाथा ८)। इनका समय अनिश्चित है।

श्री अगरचन्द जी नाहटा इन्हें १४वीं शताब्दी का कवि बताते हैं।[1] लेकिन उन्होंने 'राजस्थानी साहित्य का आदिकाल' में इनकी रचनाओं को १५वीं शताब्दी का बताया था। वे लिखते हैं 'सं० १४२७ में उदयकरण रचित कयलबाड़ पार्श्वस्तोत्र और जीरावलाफलवर्द्धि पार्श्वस्तोत्र प्राप्त हुए हैं। उदयकरण जी की और भी अनेकों फुटकर रचनायें मिली हैं।'[2] नाहटा जी की जैन मरुगुर्जर कवि बाद की रचना होने के कारण अधिक सुचिन्तित होगी और इसमें उनकी रचनाओं को १४वीं शताब्दी का बताया है अतः इनका उल्लेख १४वीं शताब्दी के कवियों के साथ किया जा रहा है। इनकी कृति 'जीराउला पार्श्वनाथ स्तोत्रम्' का आदि इस प्रकार हुआ है—

---

१. श्री अ० च० नाहटा 'जैन मरु गुर्जर कवि और उनकी रचनायें' भाग १ पृ० ६०

२. श्री अ० च० नाहटा परम्परा पृ० १८१

'जीराउलि मंडण पासनाह, पय पउम सुसेवय नागनाह।
मणवंछिय तरुगण फलण राह, महि मंडलि गुरु महिमा सणाह।

इसका अन्तिम पद्य निम्नाङ्कित है :—

'सिरि पास जिणेसरु भुवण दिणेसरु जीराउलि रमणी तिलउ।
सुरनर गणि महियउ मइं थुणियउ, उदयकरणु भविभव सरणु।'

श्री फलवर्द्धि पार्श्वनाथ स्तोत्र की भी भाषा का नमूना प्रस्तुत करने के लिए उसके आदि और अन्त का पद्य यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :—

आदि 'जय फल वद्धिय पुरि रमणि हार, जय पास जिणेसर भुवणसार।
जय जण मण चिंतिय सुहदत्तार, जयदस दिसि पसरिय जस विचार।'

इसकी अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'फलवद्धिय मंडणु दुरिय विहंडणु, पास जिणेसर उदयकरणु।
तुह चलणि विलग्गउ हउं इत्तउ मग्गउ, भविमहुतुहसय सरणु।'[1]

इसके छंदों में विविधता, गेयता, गति और लय दर्शनीय है। इसकी भाषा में मरुगुर्जर का स्वभाविक रूप अधिक स्पष्ट लक्षित होता है।

उदयधर्म—आप तपागच्छीय रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'उवएस माल कहाणय छप्पय' धर्मदास गणि के प्राकृत ग्रन्थ उपदेशमाला पर आधारित है। इसमें कुल ८१ छप्पय छन्द हैं। 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में इस रचना के कर्त्ता का नाम विनयचन्द्र दिया गया है। श्री मो० द० देसाई ने भी जै० गु० क० भाग १ में इसे विनयचन्द की रचना लिखा था।[2] लगता है प्रा० गु० काव्य संग्रह में भी वही आधार ले लिया गया था। श्री मो० द० देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ में इसे सुधार कर लेखक का नाम उदयधर्म कर दिया है, किन्तु एक नयी समस्या उत्पन्न कर दी है। उन्होंने भाग १ में इसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी बताया था किन्तु भाग ३ में १६वीं शताब्दी कहा है। उन्होंने उदयधर्म की एक अन्य कृति 'वाक्य प्रकाश औक्तिक का रचनाकाल सं० १५०७ निश्चित किया है और इसी आधार पर उदयधर्म को १६वीं शताब्दी का कवि घोषित कर दिया है।

इस सम्बन्ध में श्री अ० च० नाहटा जी का स्पष्ट मत पहले से रहा है कि यह रचना उदयधर्म की है और उदयधर्म १४वीं शताब्दी के कवि हैं।[3]

---

१. अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० ६०

२. मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६

३. अ० च० नाहटा—राजस्थानी सा० का आदिकाल, परम्परा पृ० १७२

उदयधर्म विनयचन्द्र के गुरु भ्राता थे। इसीलिए उदयधर्म की रचना अधिक प्रसिद्ध लेखक विनयचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हो गई होगी। रत्नसिंहसूरि और विनयचन्द्र का समय १४वीं शताब्दी प्रायः सभी इतिहासकारों को मान्य है अतः इनका समय दो सौ वर्ष बाद नहीं हो सकता और उदयधर्म भी १४वीं शताब्दी के ही कवि होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि 'वाक्य प्रकाश औक्तिक' के लेखक कोई अन्य उदयधर्म हैं जिससे श्री देसाई जी को भ्रम हो गया है। अतः मैं श्री अ० च० नाहटा के मत को उचित समझते हुए उदयधर्म को १४वीं शताब्दी का कवि मानता हूँ।

१४वीं शताब्दी में छप्पय छन्द का इतना प्रशस्त और प्रवाहमय प्रयोग अवश्य कुछ शंका उत्पन्न करता है किन्तु इनकी भाषा का अपभ्रंश गर्भित स्वरूप इन्हें १६वीं शताब्दी का कवि मानने में बड़ी बाधा उत्पन्न करता है। एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

'सव्व साहु तुम्हि सुणउ गणउ जग अघ समाणउ।
कोह कहवि परिहरउ धरउ समरस समराणउ।
तिहुयण गुरु सिरिवीर धीरपण धम्म धुरंधर।
दास पेस दुव्वयण सहइ घण दुसह निरंतर।
नर तिरिय देव उवसग्ग बहु जह जग गुरु जिणवर खमइ।
तिम खमउ खंति अग्गलि करी जेम्मरि उदल बल नमइ।'

इस छप्पय को पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि इसमें उत्तम छन्द प्रवाह है किन्तु भाषा अति अपभ्रंश गर्भित है। इसका नाम ही लेखक की अपभ्रंश के प्रति रुझान का संकेत करता है। इसके प्रारम्भ का छप्पय इस प्रकार है :—

'विजय नरिंद जिणिंद वीर हत्थिहिं वय लेविणु,
धम्मदास गणि नामि गामि नयरिहिं विहरइ पण,
नियपुत्तह रणसीहराय पडिबोहण सारिहिं,
करइ अेस उवअेस माल जिण वयण विचारिहिं।
सय पंचच्याल गाहा रयण मणि करंड महियलि मुणउ।
सह भावि सुद्ध सिद्धंत सम सवि सुसाहु सावय सुणहुं।'[1]

इसका अन्तिम छप्पय भी प्रस्तुत है—

'इणिपरि सिरि उवअेसमाल कहाणय,
तव संजम संतोष विणय विज्जाइ पहाणय।

१. मो० द० दे० जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४५७

सावय संभरणत्थ अत्थपय छप्पय छंदिहिं,
रयणसीहं सूसीस पभणइ आणंदिहि ।
अरिहंत आण अनुदिण 'उदय धम्म' मूल मत्थइ हुउ,
यो भविय भत्ति सत्तिहिं सहल सयल लच्छिलीला लहइ ।'

अब इनके नाम से प्रसिद्ध दूसरी रचना 'औक्तित' पर विचार कर लिया जाय। इस पर हर्षकुल ने वृत्ति लिखी है और उसमें उन्होंने उदयधर्म को रत्नसिंह का शिष्य बताया है किन्तु रचनाकाल सं० १५०१ बताया है।[1]

'मूलगुरु तपगण गगनांगण तरणि श्री रत्नसिंह सूरीणां,
शिष्याणुनेदमौक्तिका मुदित मुदयधर्म संज्ञेन ।'

अर्थात् इसके लेखक उदयधर्म तो हैं और वे रत्नसिंहसूरि के शिष्य हैं किन्तु उनका रचनाकाल शंकास्पद है। 'सुअंध दहमी कहा' के लेखक श्री उदयचन्द्र कहे जाते हैं और उनका समय १३वीं १४वीं शताब्दी कहा जाता है। हो सकता है य दोनों एक ही हों।

गुणाकरसूरि—आप पद्मानन्दसूरि के शिष्य थे। आपकी कृति 'श्रावकविधिरास' का रचनाकाल सं० १३७१ निश्चित है। यह रास आत्मानन्द शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में प्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति के लेखक पुरोहित लक्ष्मीनारायण लाल हैं। इसमें श्रावकों के लिए विहित नियम आद का आदेश-उपदेश मिलता है। रास के अन्त में लेखक ने अपने गुरु और रासके लेखनकाल का उल्लेख किया है। वे छंद उद्धृत किए जा रहे हैं :

'अेम जे पालअे अेवर सावह विही, अठ भव मांहि सिवसुख सो पाविहि ।
रास पद्माणंद सूरि सीसहि कीयउ, तेरह गहत्तरइ अेहललियं गउ ।४८।
जे पढ़इ सो सुणइ अे रमइ जिणहरे, सासणदेवि तासु सानिधि करइ ।
जेम ससि सूर अरु मेरुगिरि नंदण, तां जयउ तिहुयण अेह जिण सासणं ।

रास के प्रारम्भ की पंक्तियां भी प्रस्तुत हैं :—

'पाय पउम पणमेवि चउवीस वि तित्थंकरह,
श्रावक विधि संखेवि भणइ गुणाकर सूरि गुरो ।'[1]

इन दो पंक्तियों में रचना और रचनाकार के नाम का उल्लेख है। इस

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०४

रास के सम्बन्ध में श्री नाहटा जी केवल इतनी ही सूचना देते हैं कि यह रास आत्मानन्द शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में छपा है।[1]

अतः रास लेखक के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं उपलब्ध हो पाई। डॉ० दशरथ ओझा ने इसे धनपाल की रचना बताया है।[2] किन्तु धनपाल के नाम पर श्रावकविधि रास का अन्यत्र कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता अतः डा० दशरथ की बात उचित प्रतीत नहीं होती। इस रास के लेखक गुणाकर सूरि हैं इसके समर्थन में श्री नाहटा, श्री देसाई और अन्य प्रबुद्ध जैन लेखकों की मान्यता से श्री दशरथ ओझा का मन्तव्य मेल नहीं खाता, और न तो श्री ओझा ने अपनी स्थापना के समर्थन में कोई ठोस प्रमाण ही प्रस्तुत किया है अतः उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसकी भाषा साधारण मरुगुर्जर है। यह धर्मोपदेश सम्बन्धी रचना है। अतः इसमें काव्यत्व के समावेश का अवसर नहीं है और न उसकी अपेक्षा की जानी चाहिये।

घेल्ह—सम्भवतः आप दिगम्बर सम्प्रदाय के कवि थे। आपके सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं प्राप्त हो सके हैं। आपकी एक रचना 'चउवीस गीत' प्राप्त है जिसका समय सं० १३७१ माना जाता है। इसमें जैनधर्म के २४ तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इस रचना के उद्धरण प्राप्त नहीं हो सके अत इनकी भाषा के सम्बन्ध में कुछ कह पाना सम्भव नहीं है।

चारित्रगणि—आप श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपकी एक रचना 'जिनचन्द्रसूरिरेलुआ' (गाथा ९) १४वीं शताब्दी की मानी जाती है। १४वीं शताब्दी की रेलुआ संज्ञक कुछ अन्य रचनायें भी प्राप्त हैं, जैसे 'जिनकुशलसूरिरेलुआ', सालिभद्ररेलुआ और गुरावलीरेलुआ इत्यादि। ये रचनायें सं० १४३७ में लिखित एक स्वाध्याय पुस्तिका की एक प्रति में थीं जिसे जैसलमेर के शास्त्रभंडार से श्री नाहटा जी ने प्राप्त किया था। उन्होंने इनका परिचय 'जैनसत्यप्रकाश' में दिया है और 'रेलुआ' नामक काव्य रूप की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। रेलुआ संज्ञक रचनाओं की परम्परा शायद आगे नहीं चल पाई। अतः इस लुप्तप्राय काव्य विधा का प्रारम्भिक स्वरूप जानने के लिए इन रचनाओं का महत्त्व निर्विवाद रूप से प्रमाणित है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा परम्परा पृ० १७४

२. डॉ० दशरथ ओझा हिन्दी सा० का बृ० इ० भाग ३ पृ० २९९

'जिनचन्द्रसूरिरेलुआ' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'जिनप्रबोध सूरिराय पट्टिवर कमल दिवायरु पयड़िउ सुद्ध जय धम्मु।
देवराज कुलि गयण चांदुसिरि कामल पउमिणि कुखिहि हंसु उपन्नु ।।१।।

इसकी अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'सिरि जिणचंद सूरि जुग पहाणु जे गायहि भाविहि भगतिहि चितह रंगि।
चारितु निम्मलु पालिविण त नर अनु नारिय पावइं सिव सुह रंगि।९।'[१]

'रेलुआ भास श्री जिनचन्द्र सूरि पदानि सर्व्वाण्यपि चरित्रगणि कृतानि।'

इन पंक्तियों से इसकी भाषा का अनुमान करना संभव होता है। इसमें प्रयुक्त भाषा तत्कालीन अपभ्रंश मिश्रित मरुगुर्जर भाषा है। विषय तो इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसमें अपने गुरु आ० जिनचन्द्र की स्तुति लेखक ने भक्तिभाव से की है। इसमें गुरुभक्ति तो है किन्तु भक्तिरस नहीं है।

छल्हु—आपकी तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है (१) क्षेत्रपाल द्विपदिका, (२) पहाड़िया राग और (३) प्रभातिक नामावलि। सं० १४२५ के आसपास की लिखित एक संग्रह-प्रति में अनेक महत्वपूर्ण रचनायें मिली थीं जिनमें से कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण थीं। उसी प्रति में छल्हु कवि की उक्त तीनों रचनायें भी प्राप्त हुई थीं। श्री अगरचन्द नाहटा ने छल्हु को 'जैन मरु गुर्जर कवि और उनकी रचनायें' भाग १ में १३वीं शताब्दी का कवि बताया है किंतु 'राजस्थानी साहित्यका आदिकाल'में उन्हें१४वीं शताब्दी का कवि कहा है। लगता है कि छल्हु १३वीं के अन्त और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी वर्तमान रहे होंगे। 'क्षेत्रपालद्विपदिका' में कुल ८ गाथायें हैं। इसकी प्रथम और अन्तिम गाथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही है :—

आदि 'सुम्मइ डहडहंतु अइसहउ गरुयउ सद्दु नहयले।
घुम्मइ सघणघोरु जण भीसण मेहलर वउ महियले।
रुणु झुणु रुणु झुणंत नेउर सरु पाया लघु पहुत्तउ।
नच्चइ खित्तवालु जिण मंदिरि बहु आणंद जुत्तओ।१।'

अन्त 'जाइ सु पंथ कुसुम सेवित्तिय जो तुह भत्ति पूयए।
विलसइ सुज्जु सुक्खु बहु विह परि दुक्खु न होइ तहक्कए।
दिव्वाभरण दिव्व देवंग समीहिय तासु संपए।
जो तुह पढ़इ सुणइ खित्ता हिव इम कवि छल्हु जंपए।[२]

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० २९

२. श्री अ० च० नाहटा, म० गु० जै० कवि पृ० १९

इनकी रचना 'पहाड़ियाराग' सम्भवतः कोई लोकगीत हो, उसकी भाषा भी लोकभाषा रही होगी, यदि उस रचना के नमूने प्राप्त हों तो तत्कालीन भाषा की दोनों शैलियों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन संभव हो सकता है किन्तु अभी तक वह रचना या उसके उद्धरण मुझे नहीं प्राप्त हो सके। प्राभातिक नामावलि का विषय तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। उसमें प्रभातकाल में स्मरणीय नामों का माहात्म्य कहा गया होगा।

जयदेव मुनि—आपकी रचना 'भावना संधि प्रकरण' कुल छह कड़वकों की एक लघु रचना है। इसके प्रत्येक कड़वक में १० पद्य हैं। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में १३वीं-१४वीं शताब्दी के बीच का समय प्रायः लेखकों ने अनुमानित किया है। इस रचना के रचयिता के काल और स्थान आदि की सूचना नहीं प्राप्त होती है। इस संधि के अन्तिम पद्य में इसके रचयिता जयदेव मुनि और उनके शिष्य शिवदेवसूरि का नामोल्लेख मात्र मिलता है। इसमें धार्मिक-नैतिक उपदेश की प्रधानता है किन्तु इसकी भाषा प्रवाहपूर्ण, नादानुकूल, लोकोक्तियों और सुभाषितों से सजी होने के कारण उल्लेखनीय है। इसके भाषा के आधार पर इसके सम्पादक श्री एम० सी० मोदी ने इसका रचना काल १३वीं-१४वीं शताब्दी के बीच माना है।[1] इसमें मालवनरेश मुंज का उल्लेख है किन्तु यह उसकी समकालीन रचना नहीं है। इसकी भाषा के कारण कुछ लोग इसे पुरानी रचना मानने के पक्ष में भी हैं। इसकी भाषा स्पष्ट ही अपभ्रंश की रूढ़ शैली है; इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

'अनुठहि मुत्तउ तडफडंत, जंतेहि निपीडत कउपंडत।
रहि जुत्तउ तट्ठउ तडपडंतु, वज्जावइ पक्कड फडकढंतु।'

जैसा पहले कहा गया कि इसका विषय नैतिक उपदेश है। एक स्थान पर संयम का त्याग कर विषयों में डूबे हुए व्यक्ति की तुलना कवि उस मूर्ख से करता है जो कल्पतरु काटकर एरंड का पेड़ लगता है, यथा :—

'कप्पतरु तोडि एरंड सो वव्वए'[2]

जयधर्म—आप खरतरगच्छीय आचार्य जिनकुशलसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १३७७-७९ के बीच किसी समय अपने गुरु की स्तुति में 'जिन-

1. Annual of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona भाग ११, पृ० १—३१ तक सन् १९३० ई०
२. हि० सा० का वृ० इ० भाग ३ पृ० ३४६

कुशलसूरिरेलुआ' लिखा। इसकी चर्चा चारित्रगणिकृत 'जिनचन्द्रसूरि रेलुआ' के साथ की गई है। प्रस्तुत रेलुआ कुल १० गाथाओं की रचना है। आ० जिनकुशल सूरि का आचार्यकाल सं० १३७७ से ८९ के बीच था अतः यह रचना इसी के आसपास की होगी। इसका आदि और अन्त उद्धृत किया जा रहा है।

आदि 'धनु धनु जेल्हउ मंतिवर धनु जयतल देविय इत्थिय गुण संपुन्न।
जीह तणइ कुलि अवयरिउ परवाइय भंजणो सिरि जिणकुशल मुणिंद।'

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—
'सिरि जिनचन्दह सीसुवर सील समूसिउ वंदिह जे सविचार।
ते नर नरसुर सिद्धि सुह तव चरण, संसाहिय पावहि नाणु अप्पारु।'[1]

इसी प्रति के साथ सालिभद्र रेलुआ (गाथा ९) के अतिरिक्त श्री थूलिभद्र वर्णना बोली (गाथा ८), धर्म चर्चरी गाथा २० और कृपण नारी संवाद गाथा ९ आदि कई छोटी-छोटी किन्तु काव्य रूप की दृष्टि से अपूर्व रचनायें प्राप्त हुई थी जिनमें से कृपणनारी संवाद तो बहुत ही प्रसिद्ध हो गई है। धर्मचर्चरी संभवतः जिनदत्तसूरिकृत प्रसिद्ध चर्चरी के बाद दूसरी चर्चरी प्राप्त है। इसका आदि और अन्त यहाँ दिया जा रहा है :—

आदि 'सुमरे विणु सिरि वीर जिणु, पभणिसु सावय-धम्मु।
जो आराहइ इक्कमणि, सो नरु पावइ सम्मु।'

अन्त 'जे आराहइ गुरु चलण, जिणवर धम्मु करिंति।
संसारिय सुहु अणुभविय, सिवपुरि ते बिलसंति।' २०।[2]

कृपण नारी और अन्य अज्ञात कवियों की कृतियों का विवरण इस अध्याय के अन्त में एकत्र ही दिया जायेगा।

(दादा) जिनकुशल सूरि—आप इस शताब्दी के अति प्रभावशाली जैनाचार्य थे। आप जिनचन्द्रसूरि के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १३३७ में मरुदेश के गढ़सिवाना ग्रामवासी छाजहड गोत्रीय जेसल की भार्या जयश्री की कुक्षि से हुआ था। आपका जन्मनाम करमण था। सं० १३४७ में आपने जिनचन्द्र सूरि से दीक्षा ली और कुशल-कीर्ति नाम पड़ा। सं० १३७६ में जिनचन्द्रसूरि के स्वर्गवासी होने पर आप जिनकुशलसूरि के नाम से आचार्य पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए। आपने दूर दूर तक

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ३२
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ. ३५

विहार एवं धर्म प्रचार किया और अनेक संघ यात्राओं का नेतृत्व किया। आपने सं० १३८१ में पाटण में शान्तिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठापना कराई। आप एक उच्चकोटि के लेखक थे। आपकी प्रसिद्ध रचना 'चैत्य वन्दना कुलक वृत्ति' है। यह जिनदत्त कृत चैत्य वन्दना पर बृहद् वृत्ति है। आपकी अन्य रचनाओं में श्री जिनचन्द्रसूरि चतुःसप्ततिका है जिसमें आचार्य जिनचन्द्र की प्राकृत भाषा में वंदना की गई है। आपने अनेक स्तोत्र और स्तवन-वन्दन आदि लिखे हैं जैसे 'फलौधीपार्श्वस्तोत्रम्', सिद्धक्षेत्र आदिजिन-स्तवनम् आदि। ये रचनायें प्रायः संस्कृत या प्राकृत में हैं। पार्श्वनाथ-स्तोत्रम्, स्तम्भनपार्श्वस्तोत्रम्, शेरीषकालंकारपार्श्वस्तोत्रम्' शान्तिजिन-स्तवनम् आदि आपके अन्य स्तवन-स्तोत्रादि हैं। इस प्रकार आप संस्कृत, प्राकृत और देश्यभाषाओं के प्रकांड विद्वान् तथा महान् लेखक थे। प्रभावशाली धर्माचार्य और संयम के महान साधक साधु थे। अतः आपको दादा की उपाधि प्राप्त हुई थी। आपका स्वर्गवास सं० १३८९ के फाल्गुन में हुआ। आपकी मरुगुर्जर में लिखी किसी प्रसिद्ध रचना का पता तो नहीं है किन्तु आपने तत्कालीन धार्मिक एवं साहित्यिक जगत् को दूर तक प्रभावित किया था अतः आपका परिचय जैन साहित्य ग्रन्थ में होना आवश्यक समझकर प्रस्तुत किया गया है।

जिनपद्मसूरि—आप खरतरगच्छ के आचार्य जिनकुशलसूरि के शिष्य थे। मरुगुर्जर में लिखी आपकी दो रचनाओं—(१) थूलिभद्दफाग और (२) श्री शत्रुञ्जय चतुर्विंशति स्तवनम्' गाथा २६ का विवरण आगे दिया जा रहा है। प्रथम रचना सिरिथूलिभद्दफागु २७ पद्यों की छोटी रचना होते हुए भी काव्यत्व की दृष्टि से सरस और महत्वपूर्ण है। यह रचना सं० १३९० से सं० १४०० के बीच हुई होगी। यह फागु 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' (सं० ए० एन० जानी) और 'प्राचीन फागु संग्रह' (सं० भोगीलाल सांडेसरा) में प्रकाशित है। श्री भोगीलाल ने इसका रचनाकाल सं० १३९० से १४०० के बीच लिखा है। श्री देसाई, श्री नाहटा और ए० एन० जानी ने भी इसका रचना काल वही बताया है, केवल महापंडित राहुल इसे वि० सं० १२५७ की रचना बताते हैं। श्री जिनपद्मसूरि का जन्म श्री लक्ष्मीधर की पत्नी कीका की कुक्षि से सं० १३८२ में होना प्रायः सभी विद्वानों को मान्य है। आपको आचार्य पद सं० १३९० में और आपका देहावसान सं० १४०० में हुआ था, अतः यह रचना सं० १३९० से १४०० के बीच ही किसी समय की गई होगी।

यह छह भासों में विभाजित है। फागु का प्रचलन उत्तरकालीन अपभ्रंश काल में प्रारम्भ हो गया था। यह फाल्गुन में वसन्तोत्सव पर गाया जाने वाला लोकगीत है। जैनाचार्यों ने फागुओं में धार्मिकता का पुट देकर शृंगार की पृष्ठभूमि पर शान्तरस का चित्र खींचा है। प्रस्तुत फागु में स्थूलिभद्र की सुपरिचित कथा का आधार लिया गया है। कथा विस्तार के लिए कथा साहित्य प्रकरण में 'स्थूलभद्रकथा' देखी जा सकती है। स्थूलभद्र जैन परम्परा में बड़े प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। वे नन्द के मंत्री शकडाल के पुत्र थे और पाटलिपुत्र की परम रूपवती वेश्या कोशा पर अनुरक्त थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने मंत्री पद लेने के बजाय संभूति विजय के पास जाकर दीक्षा ले ली। संयम साधना के बाद चातुर्मास में वे एक बार पुनः कोशा के घर गये। कोशा ने इन्हें संयम से डिगाने तथा रिझाने का बड़ा प्रयत्न किया किन्तु ये अपने संयम पर अविचल रहे। अन्त में उसे उपदेश देकर श्राविका बनाया एवं स्वयम् विजयश्री के साथ वापस गुरु के पास लौट आये। यह रचना इसी कथावस्तु पर आधारित है।

कवि ने कोशा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा का बड़ा आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। नारी के रूप का कामोद्दीपक वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'मयण खग्ग जिम लहलहंत जसु वेणी दंडो।
सरलउ तरलउ सामलउ रोमावलि दंडो।
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का।
कुसुम वाणि निय अमिय कुंभ किर थायणि मुक्का।१२।[1]

कोशा के नखशिख का शृंगारमय वर्णन करता हुआ आगे कवि कहता है :—

'अहर बिंब परवालखंड वर चम्पावन्नी,
नयन सलूणीय हावभाव बहु गुण सम्पन्नी।'

वर्षा ऋतु का उद्दीपन विभाव के रूप में निम्नलिखित चित्र भी मनोहर है, यथा :—

'झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरसंति,
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति।

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह क्रम सं० ५, एवम्
श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १७६

झब झब झब झब ए वीजुलइ झबक्कइ,
थरहर थरहर ए विरहिण मणु कंपइ।'
महुर गंभीर सरेण मेह जिमजिम गाजंते,
पंचवाण निय कुसुम वाण तिमि तिमि साजंते।
जिम जिम केतिक महमहंत परिमल विहसावइ,
तिमतिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ।'

वर्षा की बूँदों की मधुर ध्वनि के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का यह प्रयोग मरुगुर्जर साहित्य में अति चर्चित है। कहाँ तो वर्षा की बूदें कामवाण के समान विलासियों को व्याकुल कर रही हैं, वे अपनी रूठी कामिनियों के पैर पकड़ कर उन्हें मना रहे हैं और कहाँ स्वयम् कोशा स्थूलिभद्र को नाना प्रकार से रिझाने का प्रयत्न कर करके हार जा रही है, धन्य है वह संयम साधना। उन्हें तो चिन्तामणि मिल गई थी। उसे छोड़कर भला वे विषय भोग का पत्थर क्यों लेने जाते। कवि कहता है—

'चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थर गिह्णेइ।
तिम संजय सिरि परिन एवि बहुधम्म समुज्जल,
आलिंगइ तुह कोस कवनु पर संत महाबल।'

इसके आदि और अन्त का छन्द प्रस्तुत किया जा रहा है :—

आदि 'पणमिय पास जिणंद पय अनुसरसइ समरेवी,
थूलिभद्द मुणिवइ भणिसु फागु बंधि गुण केवी।1।

अन्त 'नंदउ सो सिरि थूलिभद्द जो जुगह पहाणो,
मिलियउ जिणि जगि मल्ल सल्लरइ वल्लहमाणो।
खरतरगच्छि जिनपद्मसूरि किय फागु रमेवउ,
खेला नाचंइ चैत्रमासि रंगिहि गावेवउ।'

इन पंक्तियों से प्रकट है कि इस प्रकार के फागु फाल्गुन-चैत्र (वसंत) मास में खेलने और नाचने के अभिप्राय से लिखे जाते थे। फागु परम्परा में सम्भवतः मरुगुर्जर भाषा में लिखित यह दूसरा फागु है। इससे पूर्व सं० १३४१ में रचित 'जिनचन्दसूरिफागु' सम्भवतः प्रथम फागु है। इतना प्राचीन होते हुए भी इसकी भाषा पर प्राचीनता एवं अपभ्रंश का अना-

१. 'प्राचीन फागु संग्रह' प्रथम रचना, और श्री दे०—जै० गु० क० भाग १ पृ. ११
२. देखिए—ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५९ अंक १ श्री अक्षयचन्द्र शर्मा का लेख 'सिरि थलभद्द फागु पर्यावलोचन'

वश्यक प्रभाव नहीं प्रतीत होता। इसकी भाषा प्रसाद गुण के साथ माधुर्य गुण से भी सम्पन्न है। श्रुतिमाधुर्य के लिए अनुरणात्मक शब्दों का अपेक्षित प्रयोग किया गया है। आपका अधिकांश जीवन काल गुजरात में व्यतीत होने के कारण आपकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'श्रीशत्रुञ्जयचतुर्विशतिस्तवन' की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

'तियलोय भूसणु दलिय दुसणु बिबुह तोसण संगउ।
इय माय ताप सरीर लच्छणा, देह कतिहि सत्थउ।
सिरिमाण तुंग विहार संठिउ, सुध इट्ठिउ जिणगणो
जिण पउम सूरि सूरिंद वंदिउ, दिसउ सुक्खु गुणुल्लुणो।२६।'[1]

इसमें प्रायः दोहा और रोला छंदों का प्रयोग अधिक पाया जाता है। मरुगुर्जर की आदिकालीन रचनाओं में साहित्यिक सौन्दर्य, चरित्र चित्रण और भाषा सौष्ठव की दृष्टि से जिनपद्मसूरि की प्रथम रचना 'थूलिभद्द फागु' का महत्व असंदिग्ध है और आलोचकों के बीच वह बहुचर्चित रचना है। इनकी दूसरी रचना की प्रारम्भिक पंक्तियां खंडित हैं फिर भी उसका यहाँ प्रथम छन्द उद्धृत करके यह विवरण समाप्त किया जाता है :—

'जग मंडण गुण पवरं, सत्तुंजय धरणि ··रं।
सट्ठ सारं भवतार, भयवार-थुणिसु जिणवरिं।१।'[2]

जिनप्रभसूरि—आप श्वेतांबर सम्प्रदाय के लघु खरतरगच्छ शाखा के आचार्य श्री जिनसिंहसूरि के शिष्य थे। आप खरतरगच्छ के महान् शासनप्रभावक आचार्य हो गये हैं। आप सं० १३८५ में मुहम्मद तुगलक से मिले थे और वह आपके व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ था।[3] आपके गुरु जिनसिंह सूरि ने लघु खरतरगच्छ का प्रवर्त्तन किया था। आ० जिनप्रभसूरि असाधारण प्रतिभावान और संस्कृत तथा प्राकृत में निष्णात विद्वान् तथा

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गुरु क० पृ० ४७

२. वही

३. 'ढिल्लयां साहि महम्मदं शककुलक्ष्मापाल चूडामणि,
येन ज्ञान कला कलाप मुदितं निर्माय षट्दर्शनी',
प्राकाश्यं गमिता निजेन यशसा साकं न सर्वागम,
ग्रन्थज्ञो जयतान् जिनप्रभ गुरुर्विद्यागुरुनः सदा
श्री मो० द० दे० (जैन सा० नो इ०) पृ० ४१९

उच्चकोटि के लेखक थे। आपने सं० १३२७ में प्रारम्भ करके सं० १३८९ में 'विविधतीर्थ अपरनाम कल्पप्रदीप' नामक ग्रंथ को पूर्ण किया था। प्रतिदिन नवीन स्तवन रचना इनका नियम था अतः इनके द्वारा प्रायः सात सौ से भी अधिक स्तवन लिखे गये। कातंत्र व्याकरण पर विभ्रमटीका, विधिप्रपा कल्पसूत्र पर संदेहविषौषधि नामक वृत्ति, साधुप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति आवश्यकसूत्रावचूरि, चतुर्विधभावनाकुलक, तपोमतकुट्टन आदि अनेकों ग्रन्थों का आपने प्रणयन किया है।

मरुगुर्जर में आपने ३७ पद्यों की एक छोटी रचना 'पद्मावतीचौपई' लिखी है। इसके अलावा मरुगुर्जर में लिखित आपके अनेक स्तवन एवं गीतादि उपलब्ध हैं। सं० १४२५ के आसपास की लिखी एक संग्रह प्रति में जिनप्रभसूरि के कई तीर्थ स्तवन और गीत मिले हैं। पद्मावती चौ० भैरव पद्मावती कल्प नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट संख्या १० में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें पद्मावती देवी की स्तुति चौपाई छन्द में की गई थी। पद्मावती देवी के माहात्म्य का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'बंझ नारि तुह पय झापंति, सुर कुमरोवम पुत्त लहंति।
निदू नंदण जणइ चिराउ,, दूहव पावइ वल्लह राउ।३३।
चिंतिय फल चिंतामणि मंति, तुज्झ पसायिं फलइ निपंतु।
तुम्म अणुग्गह नर पिक्खेवि, सिज्झइ सोलह विज्जाएवि।[1]

इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है :—

'श्री जिणशासणु अवधाकारि, झायहु सिरि पदमावइ देवि।
भवियलोय आणंदयरि दुलहऊ सवेय जम्म लहेवि।
पउमावइ चउपइय पढ़ति, होई पुरिस तिहुअण सिरिकंति,
इम पभणइ निय जस कप्पूर, सुरही भवण जिणप्पह सूरि।'[2]

जिन प्रभ सूरि ने सं० १३८५ पौष सुदी अष्टमी शनिवार को दिल्ली में मुहम्मद शाह से मुलाकात किया; सुल्तान ने अपने समीप आसन दिया, जुलूस निकाला गया और आपके उपदेश से प्रभावित हो उसने धर्म की प्रभावना के लिए फरमान निकाला। इसके पूर्व कुतुबुद्दीन मुबारक शाह को भी प्रभावित करने का उल्लेख मिलता है।

१. श्री मो० द० देसाई जैन गु. क. भाग ३, खण्ड २ पृ० १४७५

२. वही

इसका अन्तिम ३७वां पद्य निम्नांकित है :—

'पउमावइ चउपई पढंत, होई पुरिस तिहुयण सिरिकंत ।

रम्भ भणइ निय जस कप्पूरि, सूरदीय भवण जिणप्पह सूरि ।३७।'[1]

आपका जन्म मोहिलवाड़ी (झुंझुनू के पास) सं० १३२६ में हुआ था। आपके पिता श्रीमाल वंश के ताम्ब गोत्रीय श्रेष्ठि श्री रत्नपाल थे और आपकी माता का नाम खेतल देवी था। आपको सं० १३४१ में जिनसिंह सूरि ने आचार्य पद प्रदान किया। आपका विहार क्षेत्र राजस्थान, गुजरात, दिल्ली, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब से लेकर दक्षिण में कर्नाटक और तैलंग देश तक व्यापक था किन्तु आपका विशेष कार्यक्षेत्र दिल्ली और देवगिरि रहा। आपका अनुभव विशद, विद्वत्ता चमत्कारपूर्ण और भाषाज्ञान विस्तृत था। आपने अपभ्रंश में वयरस्वामिचरित्र, मल्लिचरित्र आदि ग्रन्थ लिखे हैं। नाहटा जी का विचार है कि आपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मरुगुर्जर के अतिरिक्त फारसी में भी कुछ स्तवन आदि लिखे थे। आपके ७५ से भी अधिक स्तोत्र आज उपलब्ध हैं। आपका कार्य समय सं० १३२६ से स० १३९३ तक है अतः सं० १३९३ के कुछ बाद ही आप स्वर्गस्थ हुए होंगे।

आपके व्यक्तित्व और चरित्र पर आधारित कुछ रचनायें प्राप्त हैं जिनमें से तीन गीत 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित हैं। इनका नाम है 'श्रीजिनप्रभसूरिगीतम्'। इनमें से प्रथम गीत में मात्र ६ द्विपदियां हैं। इसमें जिनसिंहसूरिप्रवर्त्तित लघुखरतरगच्छ और आचार्य जिनप्रभसूरि का दिल्ली के सम्राट को प्रभावित करने की चर्चा है। इस रचना में आपके चमत्कारों का भी वर्णन है। इसमें रचनाकार का नाम और रचना-समय आदि नहीं दिया गया है किन्तु इसमें 'खरतरि गच्छि वर्द्धमानसूरि, जिणेसर सूरि गुरो, अभयदेवसूरि, जिणवल्लहसूरि जिणदत्त जुगपवरो, से लेकर जिनदेवसूरि और जिनमेरुसूरि तक का नामोल्लेख होने के कारण यह रचना १४वीं के अन्त या १५वीं शती के प्रारम्भ की हो सकती है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'गीत पवीतु जो गायसु सुगुरु परंपरह,

सयल समीहि सिझहिं पुहविहिं तसु नरह।'[2]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—'परम्परा' पृ० १७६

२. ऐ० जैन काव्य संग्रह (सातवाँ गीत)

दूसरा गीत भी ६ छंदों का ही है। इसमें भी बादशाह के रंजन की बात कही गई है। इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

'आसपति कुतुबुद्दीन मनि रंजिउ दीढेलि जिनप्रभसूरिए।
एकंतिहि मन सासउ पूछइ, राय मणोरह पूरीए।
ढाल दमामा अरु नीसाण गहिण बाजइ तूराए।
इणपरि जिणप्रभसूरि गुरु आवइ संघ मणोरह पूराए।

इस प्रकार उनका दिल्ली दरबार और जनता में अपूर्व प्रभाव व्यक्त किया गया है। यह रचना शायद उनके जीवनकाल की है। यह प्रथम गीत से प्राचीन होगी पर इसकी भाषा प्रथम गीत की भाषा से अधिक स्वच्छ मरुगुर्जर है।

तीसरी रचना 'जिनप्रभसूरीणां गीतम्' १० छंदों की है। बादशाह ने सूरिजी के प्रभाव से प्रसन्न होकर जो सम्मान किया और फरमान निकाला था उसका भी इसमें वर्णन किया गया है यथा :—

'पूजिवि सुगुरु वस्त्रादिकहि करिवि सहिथि निसाणु।
देइ फुरमाणु अनु कारवाइ नव वसति राय सुजाणु।'

यह रचना सम्भवतः मुहम्मदशाह की नवीन 'वसति' के प्रवेश के अवसर पर लिखी गई होगी। कवि कहता है :—

'वाजहि पंच सबुद गहिर सरि, नाचहि तदण नारि।
इन्दु जम गइंद सहितु गुरु आवइ वसतिहि मझारि।'[1]

इसका अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

'सानिधि पउमिणि देवि इम जगि जुग जयवन्तो।
नंदउ जिणप्रभ सूरि गुरु संजमसिरि तणउकंतो।'

ये रचनायें जिनप्रभसूरि के भक्तों और शिष्यों द्वारा उनकी प्रशंसा में लिखी गई हैं, अतः विषय वस्तु की पुनरावृत्ति स्वाभाविक है। इनमें अधिक काव्यत्व की भी सम्भावना नहीं है किन्तु मरुगुर्जर की सरल, बोलचाल की भाषा की जानकारी के लिए इनका बहुत महत्व है, अतः इनके विवरण-उद्धरण भी आ० जिनप्रभसूरि के विवरण के साथ देना आवश्यक समझा गया।

---

१. ऐ० जैन काव्य संग्रह

श्रीदेवचन्द्रसूरि –आपने १४वीं शताब्दी में 'रावण पार्श्वनाथ विनती' नामक एक रचना ९ गाथाओं में लिखी है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'रावण मंडण पासजिन पणमउ तुह पय सामि।
महुयर केतिककुसुम जिम, मण लीणउं तुह नामि।१।

इसकी अन्तिम गाथा भी भाषा के नमूने के रूप में उद्धृत है :—

'कलि कप्पदुदुम पास जिण पयडउ तुह पय सेव,
देवचन्द सूरिप्पमुह, पाव पंक गय लेव। च
रावणमंडण भवमय खंडडण, पास जिणेसर पय कमल।
जे तुझ नमसिइ भत्तिइं पसंसइ, ते नर पावइं सुह अमल।९।[1]

कवि के सम्बन्ध में अन्य विवरण ज्ञात नहीं हो सके हैं। इस प्रकार की कई छोटी रचनायें प्राप्त हैं जिनके लेखक का नाम नहीं ज्ञात है, उनका विवरण अध्याय के अन्त में दिया गया है।

धर्मकलश—खरतरगच्छ के आचार्य जिनप्रबोध सूरि के आप प्रशिष्य एवं जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपकी एक रचना 'जिनकुशलसूरिपट्टाभिषेकरास' सं० १३७७ की लिखी हुई 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। इस रास में गुरु परम्परा का गुरुओं की विशेषताओं के साथ उल्लेख किया गया है जैसे खरतर उपाधि धारक जिनेश्वरसूरि को 'दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों को परास्त कर 'वसति मार्ग प्रकाशक' और उनके पट्टधर जिनचन्द्र को संवेगरंगशाला का कर्त्ता, अभयदेवसूरि को 'नवाङ्गीवृत्तिकर्त्ता' आदि कहा गया है। उनके बाद क्रम से जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि, जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि जिनप्रबोधसूरि और जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर जिनकुशल सूरि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। यह रास जिनकुशल सूरि के पदस्थापना महोत्सव के अवसर पर लिखा गया है। यह स्थापना महोत्सव सं० १३७५ में हुआ था। अतः इसका रचनाकाल सं० १३७५ माना जा सकता है।

मंत्री देवराज के पुत्र जेल्हे की भार्या जयश्री की कुक्षि से आप का जन्म हुआ था। आपका दीक्षानाम कुशलकीर्ति था। सं० १३७७ में ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी को पाटण में बड़े महोत्सव के साथ इन्हें जिनचन्द्रसूरि के पट्टपर राजेन्द्रसूरि ने प्रतिष्ठित किया था। उसी समय आपका नाम जिनकुशलसूरि

---

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जैन कवि पृ० ५६

पड़ा। महोत्सव का भार तेजपाल-रुद्रपाल ने सँभाला था। रास में वर्णन है :—

'अणहिलि एपुर मंझारि, नरनारी जोवण मिलिय।
कियउ सु तेजउ साहु जसु एवड़उ उच्छव लिय।'[1]

उस अवसर पर ७०० साधुओं और २४०० साध्वियों को वस्त्र भेंट किया था। आपकी रचना 'चैत्यवंदनकुलक' प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत पट्टाभिषेकरास का समय रचना में इस प्रकार दिया गया है,
तेरह सय सत्तहत्तरइ किन्नंग इगारसि जिट्ठ।

सुर विमाणु किरि मंडियउ नंदि भुवणि जिणिदिट्ठ।

इसकी भाषा पर अपभ्रंश का कुछ अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके प्रारम्भ की चतुष्पदी उदाहरण के रूप में आगे उद्धृत है :—

'सयल-कुशल-कल्लाण-वल्ली, धरण संति जिणेसरु।
पणमेविण जिणचंद सूरि गोयम समु गणहरु।

कवि सुल्तान कुतुबुद्दीन की अनुकंपा का वर्णन करता हुआ आगे लिखता है—

कुतुबुद्दीन सुरताण राउ, रंजिउ स मणोहरु।
जगि पयडउ जिणचन्दसूरि सूरिहिं सिरसेहरु।६।

पाटोत्सव के निमंत्रण सभी संघों को कुंकुमी पत्रों द्वारा भेजे गये थे—

'त संघ बयणि आणंदियउ, जाल्हण तणउ मल्हार।
त देस दिसंतर पाठवए कंकुडली सुविचार।'

इस कृति के दूसरे घात के २४ वें छन्द के पश्चात् के छंद दो पदों के हैं और इससे पूर्व के छन्द चतुष्पदी हैं। इसकी अन्तिम (३८वीं) द्विपदी निम्नाङ्कित है :—

'गुणि गोयम गुरु अेसु पढ़हिं सुणहिं जे संथुणहिं।
अमराउर तहं वासु धम्मिय धम्मकलसु भणइ।३८

पाटोत्सव का वर्णन सरल भाषा में किया गया है। पाटोत्सव के कारण घर-घर में मंगलकारी वातावरण छा गया। इस सम्बन्ध में एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :—

१. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० १९

घरि घरि ए मंगलचार, पुन्न कलस घर घरि ठविय ।
घरि घरि ए वंदरवाल, घरि घरि गूडी अभविय ।'

धर्मसूरि—आपकी कृति 'समेतशिखर तीर्थ नमस्कार' १४वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है किन्तु इनके सम्बन्ध में अन्तिमरूप से कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है। एक 'धर्म' नामक कवि ने सं०१२६६ में 'जंबूस्वामिरास' लिखा, जो महेन्द्रसूरि के शिष्य थे और जिनका विवरण १३वीं शताब्दी में दिया जा चुका है। श्री अ० च० नाहटा ने एक अन्य धर्मसूरि का उल्लेख किया है जिनका शाकम्भरी के चौहान नरेश ने सम्मान किया था। उनके शिष्य आनंदसूरि तथा आनंदसूरि के शिष्य अमरप्रभसूरि थे जिन्होंने 'निबद्धतीर्थमालास्तवन (सं० १३२३) लिखा है। प्रस्तुत रचना 'समेत-शिखरतीर्थनमस्कार' के लेखक यही धर्मसूरि हो सकते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये :—

'इय सम्मेत गिरिंद वीस जे सिद्ध जिणेसर,
मोह गुरुय तम तिमिर पसर भयहरण दिणेसर।
ते संधु अंतिय भत्तिराइ, सुपसाइ महामुणि।
'धम्मसूरि' पायाणदिंतु, चिंतिय सुह जे मुणि।[1]

इसमें कुल आठ गाथायें हैं, इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है :—

'असुर अमर खयरिंद, पणमिय पय पंकय।
जसु सिरि बीस जिणिंद, पत्त सासय पय संपय।
वर अच्छर सुरसरिय सरिसु, तरुवर सुमणोहर।
सो समेय गिरिंद नमउ, तित्थह सिर सेरह।'

कवि के सम्बन्ध में अधिक सूचनायें नहीं हैं, किन्तु यह निश्चित-रूप से कहा जा सकता है कि इसकी भाषा मरुगुर्जर है। भाषा के आधार पर ये आदिकालीन कवि ही प्रतीत होते हैं। सम्मेतशिखर, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों पर कई अज्ञात कवियों की छोटी-छोटी कृतियाँ उपलब्ध हैं, वे सब इसी समय की हैं।

(मंत्री) **धारसिंह**—आपकी रचना एक विशेष काव्यरूप को लेकर पाठकों के सम्मुख आती है। रचना का नाम है 'श्रीनेमिनाथधुल'। 'धुल' नामक काव्य विधा का नमूना कम मिलता है। यह रचना भी १४वीं शताब्दी की ही है। इसमें नेमिनाम की स्तुति की गई है। इसकी भाषा

---

१. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' १६९ और जैन गु० क० पृ० ५०

प्राचीन मरुगुर्जर है जिसमें यत्रतत्र अपभ्रंश के शब्द प्रयोग मिले जुले हैं। भाषा के नमूने के लिए कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं। पहले इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'सहज सलूणड़ी नारि मिलीअस तेवड़ तेवड़ीए।
राउलडा घर बारि, नेमिकुमार वर जोयतीए।१।
पूच्छइ पूच्छइ राजकुमारि कहिन बहिन बर किमु हुउ ए।
सणउ तम्हि सहिय विचारि, जिण परिवर मइं पामिउ ए।'[1]

इसके अन्तिम पद्य में कवि ने अपने नाम के साथ मंत्रि शब्द का प्रयोग स्वयम् किया है; किन्तु विशेष विवरण ज्ञात नहीं हो सका है।

इण परि नेमि कुमार, गुण गाइं सवि कामिणी ए।
राणीय राजिमती भत्तार, मंत्रि धारिसिंघ स्वामिणी ए।

पद्म या पउम—आप १४वीं शताब्दी के उत्तम कवियों में गिने जाते हैं। आपकी तीन रचनायें—(१) नेमिनाथफागु सं० १३७०, (२) सालीभद्र कक्क और (३) दूहामातृका—प्रकाशित हैं। इनमें से नेमिनाथफागु तो प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है और दो रचनायें 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रकाशित हैं।

नेमिनाथफागु का प्रारम्भ वंदना-मंगल चरण के बाद वसंत ऋतु के वर्णन से किया गया है और १०वीं कड़ी तक वह चलता है। ११वीं कड़ी में कवि राजुल और नेमि का संक्षिप्त उल्लेख करके फागु समाप्त कर देता हैं। वसंत ऋतु में गुर्जर देश की रमणी की शोभा का शृंगारिक रूप वर्णन करता हुआ कवि पद्म कहता है :—

'पीण पयोहर अपच्छर गूजर धरतोय नारि,
फागु खेलइ ते फरि फरि नेमि जिणेसर बारि।
सिरि सींदूरीय सथथलउ भमरमाला जिसी वाणी,
फागु खेलइ मन रंगिहि हंसगमणि मृगनयणि।'[2]

फाग का अन्तिम छन्द द्रष्टव्य है जिसकी भाषा सरल एवं संगीतमय है—

'हंस सरोवर जिम मिल्या महुयर जिम वणराय,
पउम भणइ तिम सामिअ चलणे भुज्झ मनु जाय।'

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जैन कवि पृ० ५५
२. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ५३ और जै० गु० क० भाग १ पृष्ठ ११ तथा भाग ३ पृष्ठ ४०६

रेवंतगिरि रलियामणउ सोह ए सुखर सार,
भविया भाविहि पणमयउ जिम पामउ भवपार ।१४।

सालिभद्रकक्क में शालिभद्र के संयमश्री धारण करने की सुन्दर ढंग से चर्चा की गई है। इस रचना में रचनाकार का समय तथा उसकी गुरु-परम्परा आदि नहीं दी गई है। इसमें शालिभद्र द्वारा अपनी माता से संयम ग्रहण करने के लिए आग्रह और माँ द्वारा उसकी कठिनाइयाँ बताकर उन्हें इससे विरत रखने का प्रसंग बड़ा मार्मिक है। इसकी भाषा में गुजराती शब्दरूप अधिक मिलते हैं। इसका प्रारम्भिक पद्य द्रष्टव्य है—

'भलि मंजणु कम्मारिबल वीरनाहु पणमेवि,
पउम भणइ कक्क करिण सालिभद्द गुणकेइ ।
'गारव वज्जिय विन्नवउं मग्गउ माइ ।
जइ मोकलउं तउ व्रतु लियउ तुम्हइ पांय पसाइं ।'

इसमें 'मोकलउ' गुजराती शब्द और जइ, तइ आदि अन्य प्रयोग द्रष्टव्य हैं। इसमें प्रत्येक दोहा वर्णमाला के अक्षर क्रम से चलता है और कृति की समाप्ति 'क्ष' से आरम्भ होने वाले दोहे से हुई है। इसमें कुल ७१ छन्द हैं। अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'इह कहियउ कक्कह कुलउ इकहत्तरि कडुयाह,
भवियउ संजमु मणि धरउ पढ़हु गुणहुं निसुणेहु ।७१।'[1]

इसकी तीसरी कृति 'दूहामातृका' में कुल ५७ दोहे हैं। इन दोहों द्वारा धर्म सम्बन्धी उपदेश दिया गया है। इसके प्रथम दोहे में जिनवंदना है, यथा:

'भले भले विणु जगत गुरु पणमउं जगह पहाणु ।
जासु पसाइं मूढ़ जिय पावइ निम्मल नाणु ।'[2]

और अन्तिम दोहा इस प्रकार है—

'मंगल महासिरि सरिसु सिवफल दायकु रम्मु ।
दूहामाई अक्खियइ पउमिहि जिणवर धम्मु ।' ५७ ।[3]

कवि शरीर की क्षण भंगुरता का संदेश देता हुआ लिखता है—

'उप्पल दल जलबिंदु जिव तिव चंचलु तणु लच्छि,
धणु देखंता गाइस ए दइ मन मेलत अच्छि ।'

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ६३
२. वही पृ० ६७
३. वही पृ० ७१

पराया दोष देखने वाले मूर्ख को सम्बोधित कर कवि कहता है—

'अणहूंता पयडेसि तुहु दोस पराया मूढ़,
निय दोसण पव्वय सरिस ते सवि कारिस गूढ़ ।'

इस प्रकार की सरल बोलचाल की भाषा में सामान्य लोगों की तरह उपदेश दिया गया है।

मातृका एक विशेष प्रकार का काव्य रूप है जो बारह खड़ी पर आधारित है इसमें वर्णक्रम से दोहों को रखा जाता है। इसमें भी 'अ' से चलकर 'क्ष' पर रचना समाप्त होती है। यह भी कक्क की ही शैली की रचना होती है इसीलिए शायद कक्क का नाम धर्ममातृका भी है। इन दोनों में धर्माचरण का उपदेश है किन्तु अत्यन्त सरल एवं ग्राह्य है।

पद्मरत्न—आपकी रचना 'श्री जिनप्रबोध सूरि वर्णन' में १० गाथायें हैं। इसके आदि पद्य में जिनप्रबोध सूरि की मां सिरिया देवी और उनकी जन्मभूमि का वन्दन किया गया है यथा :—

'पुहवि पहाणइ थाराउद्रि धण कणय समिद्ध ए।
जायउ जो जगिसारु श्रीचन्द कुलि गयणि भाणु सिरिया देवि—
—कुक्खि उप्पन्नउ गुणह भंडारु (१)

इसका अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

'एसउ गुरु जिण प्रबोध सूरि जो पणमए,
अविचल भाविहिं जो सुमरेइ ।
'पउमरयण' मुनि इम भणइ सोमण
वंछिउ फलो दुलहो तुरिउलहेइ ।'[1]

इनकी भाषा में काव्योचित लय-प्रवाह की कमी है किन्तु भाषा स्वाभाविक मरुगुर्जर है।

प्रज्ञातिलक—सं० १३६३ में रचित 'कच्छुलीरास' प्रसिद्ध ऐतिहासिक रचना है। इसके लेखक प्रज्ञातिलक कहे जाते हैं किन्तु यह सर्वथा निर्विवाद नहीं है। यह रचना कोरंटा (जोधपुर) में हुई। श्री अ० च० नाहटा ने राजस्थानी साहित्य के आदिकाल में लिखा है कि सं० १३६८ में प्रज्ञातिलक के समय में रचित कच्छुलीरास प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित

१. श्री अ० च० नाहटा मरु-गुर्जर जैन कवि पृ० २५-२६

है।'[1] इससे लगता है कि उनके समय इसे किसी ने भी लिखा होगा किन्तु प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में इसे प्रज्ञातिलक कृत कहा गया है और श्री मो० द० देसाई ने भी जं० गु० क० भाग १ में प्रज्ञातिलक की रचना बताया था किन्तु भाग ३ में उन्होंने इसे उनके किसी शिष्य की रचना बताकर लेखक पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है अतः यह सर्वथा निश्चित न होते हुए बहुमत प्रज्ञातिलक के साथ है और यहाँ इस रास को उनकी कृति के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

अग्निकुंड से उत्पन्न परमार वंशीय राजपूतों के शासन काल में आबू-गिरि की तलहटी में कच्छुलीपुरी नामक एक नगरी थी जहाँ धर्मशील लोग निवास करते थे। इसी कच्छुली ग्राम में विधिमार्गीय श्री प्रभसूरि (धर्म-विधि प्रकरण के कर्त्ता) के शिष्य माणिकप्रभ ने पार्श्व जिनमंदिर की स्थापना कराई थी। इस रास में उसी कच्छुलीपुरी का वर्णन होने के कारण इसका नाम कच्छुली रास पड़ गया है। इसके प्रारम्भ में पार्श्व जिन की वन्दना की गई है :—

'गणवइ जो जिम दुरीउ विहडंण, रोल निवारण तिहुयण मंडण,
पणभवि सामीउ पास जिण।

अनल कुंड संमति परमार राज करइ तहिं छे सविचार,
आबू गिरिवरु तहिं पवरो।'[2]

इसमें माणिकप्रभसूरि और उदयसिंह सूरि का उल्लेख किया गया है। 'माणिक पहु सूरिनामू श्रीय सूरि प्रतीछीउ, कछूलीपुरि पास जिण भूयणि अहिणिउ, या 'उदयसिंह सूरि कीउ नाम नाचंति ए नारिगण गच्छमरु सयल समपीजए।' अन्त में रचनाकाल और कुछ अन्य विवरण इसमें दिया गया है :—

'कमल सूरि निअ पाटि सई हाथि प्रज्ञासूरि ठवीओ,
षमीउ षमावीउ जीवु अणसणि आवा सूधु कीओ।

× × ×

जिण सासणि नहचंदु सुहगुरु भवीयहं कलपतरो
ता जगे जयवंत ऊम्हाउ जा जगि ऊगउ सहसकरो।

१. श्री अ० च० नाहटा परम्परा पृ० १७४
२. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ५९

तेरे त्रिसठइ रासु कोरंटावडि निम्मिउ,
जिणहरि दिंत सुणंत माणवंछिय पुरवउ।'[1]

इसमें कई सूचनायें हैं। प्रथम यह कि प्रज्ञासूरि को कमल सूरि ने अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था। दूसरे यह कि यह रास सं० १३६४ में लिखा गया और तीसरे यह कि यह रास कोरंटा में रचा गया था। इसकी भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न मरुगुर्जर है। यह छोटा रास है। इसमें कच्छुली गाँव का बड़ा मनोरम वर्णन किया गया है। कवि कहता है कि इस नगरी में हिमगिरि के समान धवल पार्श्व जिन का मन्दिर है। यहाँ के श्रावक माणिक प्रभसूरि की भक्ति करते हैं। उनके पट्टधर उदयसिंह सूरि हुए जिन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण' नामक ग्रन्थ लिखा। उनके पट्ट पर कमलसूरि और कमलसूरि ने अपने पट्ट पर प्रज्ञासूरि को प्रतिष्ठित किया। इन्हीं प्रज्ञासूरि के शिष्य प्रज्ञातिलक ने यह रास कोरटावाड में लिखा था। अतः जब तक कोई पुष्ट प्रमाण यह सिद्ध करने के लिए न मिले कि यह रचना प्रज्ञातिलक की नहीं है इसे प्रज्ञातिलक की रचना मानना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

फेरु (ठक्कुर)—आप कन्नाणा (राजस्थान) निवासी थे और खरतरगच्छीय जिनचन्द्र सूरि के भक्त श्रावक थे। आपके पिता श्री चन्द्र ठक्कुर घांधिया गोत्रीय श्रेष्ठि थे। आप अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी थे, और प्रायः दिल्ली में रहते थे। आपने अपने अनुभव के आधार पर द्रव्य परीक्षा, वास्तुसार और गणितसार आदि रचनायें प्राकृत में लिखीं। आपकी सात रचनाओं का सम्पादन मुनिजिनविजय ने 'रत्नपरीक्षादि सप्त ग्रन्थ संग्रह' नाम से किया है। आपकी अधिकतर रचनायें प्राकृत और अपभ्रंश में रची गई हैं। मरुगुर्जर में इनकी प्रथम प्राप्त रचना सं० १३४७ में लिखित 'श्री युग प्रधान चतुष्पदिका' है। इसके अलावा सं० १३७६ में लिखित 'गुरावली' की भाषा का मूलाधार मरुगुर्जर है किन्तु अपभ्रंश का प्रभाव उस पर अपेक्षाकृत अधिक है। युग प्रधान चतुष्पदिका (२८ गाथा) की रचना कन्नाण में हुई है। यह रचना राजस्थान भारती वर्ष ६ अंक ४ में प्रकाशित है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

'सयल सुरासुर वंदिय पाय, वीरनाह पणमवि जग ताय।
सुमरे विणु सिरि सरसइ देवि, जुगवर चरिउ भणिसु संखेवि।'

१. प्रा० गु० का० सं० पृ० ६२

इसकी अन्तिम पंक्तियों में लेखक और रचना से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ है अतः उन्हें भी आगे उद्धृत किया जा रहा है—

'संघ सहिउ फेरु इम भणइ, इत्तिय जुग पहाण जो थुणइ।
पढ़इ गुणइ निय मणि सुमरेइ, सो सिवपुरि वर रज्जु करेइ।'

रचनाकाल और स्थान—तेरह सइतालइ मह मासि, रायसिहर वाणारिय पासि।

चन्द्र तणुभवि इय चउपइय, कन्नाणइ गुरु भत्तिहि कहिय।

अन्तिम और २८ वां छन्द इस प्रकार हैं—

'सुरगिरि पंचदीव सब्बेवि, चंद सूरि गह रिक्ख जिबेवि,
रयणयरधर अविचल जाम, संघु चहुव्विह नंदउ ताम।'[1]

इस प्रकार हम देखते है कि चतुष्पदिका में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि का गुणानुवाद किया गया है और इसकी भाषा मरुगुर्जर है तथा इसमें चौपई छन्द का प्रयोग किया गया है। गुरावली में गुरु परम्परा का वर्णन किया जाता है और उसका सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्व होता है। इसमें गुरुओं का गुण वर्णन किया जाता है।

महेश्वर सूरि—आपकी कृति 'संयममंजरी' ३५ दोहों की छोटी रचना है जिसमें रचना और रचनाकार का कोई विवरण नहीं दिया गया है परंतु इसकी हस्त लिखित प्रति सं० १३६५ की प्राप्त है अतः यह इससे पूर्व की रचना होगी। इसी समय की लिखित महेश्वर सूरि कृत 'कालकाचार्य कथानक' की हस्त लिखित प्रति भी प्राप्त है। हो सकता है कि इन कृतियों के रचनाकार एक ही महेश्वर सूरि हों जिनका समय १३ वीं शताब्दी का अन्तिम या १४ वीं शती का प्रथम चरण होगा। इतना निश्चित है कि 'संयममंजरी' की रचना सं० १३६५ से पूर्व हुई होगी, अतः उसका विवरण १४ वीं शताब्दी में देना उचित लगा। इसमें संयमित जीवन का माहात्म्य एवं तत्सम्बन्धी उपदेश दिया गया है। इसमें पाँच पापों--हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह की घोर निन्दा की गई है और लोगों को इनसे बचने का सन्देश दिया गया है।

मेरुतुङ्ग - आप नागेन्द्रगच्छीय चन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १३६१ में बर्द्धमानपुर (वढ़वाणा) में पाँचसर्गों में विभक्त एक विशाल

१. नाहटा, मुरु-गुर्जर जैन कवि पृ० २६

कथाप्रबन्ध 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के नाम से लिखा। जैन ग्रन्थकारों में चरित्र लिखने की पद्धति पुरानी है जिनमें मुंज, भोज, सिद्धराज, कुमारपाल जैसे राजाओं और वस्तुपाल, तेजपाल, जगडू आदि अमात्यों के चरित्र लिखे गये हैं। १४ वीं शताब्दी में उसी प्रकार की महान रचना 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' है जिसमें शालिवाहन, वनराज इत्यादि चावडा राजाओं, मूलराज, मुंज, भोज आदि अन्य राजपूत राजाओं का विस्तृत एवं प्रामाणिक वर्णन मिलता है। इतिहास के साथ तत्कालीन सामाजिक गतिविधियों का यह प्रामाणिक दस्तावेज है। आधुनिक विद्वान् इसे राजतरंगिणी के ढंग की विश्वसनीय रचना मानते हैं। गुजरात के इतिहास के लिए तो यह एक अकेला ग्रन्थ ही पर्याप्त है।

इसके प्रथम सर्ग विक्रमांक प्रबन्ध में बेताल, महाकवि कालिदास, परकायप्रवेश विद्या और सिद्धसेन दिवाकर आदि से सम्बन्धित कथायें हैं। दूसरे सर्ग में भोज तथा भीम प्रबन्ध है जिसमें माघ, धनपाल, मयूर, बाण और मानतुंग आदि महान् लेखकों का उल्लेख है। तीसरे सर्ग में सिद्धराज प्रबन्ध है जिसमें मीनलदे, हैमव्याकरण, रामचन्द्र, जयमङ्गल आदि का विवरण है। चौथे सर्ग में कुमारपाल प्रबन्ध और वस्तुपाल तेजपाल का जीवनवृत्त भी है। इसके पाँचवें सर्ग में कई स्फुट प्रबन्ध कथायें हैं जिनमें परमर्दि, पृथ्वीराज, भर्तृहरि, वाग्भट्ट, आदि का उल्लेख है। इस प्रकार यह तत्कालीन इतिहास का विश्वकोष है। इसमें अपभ्रंश के मुक्तक और कहीं-कहीं मरुगुर्जर के पद्य-दोहे आदि भी मिल जाते हैं। यद्यपि मरुगुर्जर साहित्य की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नहीं है किन्तु जैन साहित्य में इसका अप्रतिम स्थान होने के कारण इसका यहाँ उल्लेख आवश्यक था। भाषा के सन्दर्भ में इसके दोहे उद्धृत किए जा चुके हैं इसलिए यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। मरुगुर्जर की रचना न होते हुए भी इसमें तत्कालीन मरुगुर्जर की भाषिक स्थिति की अच्छी झलक मिलती है, अतः इस विश्वविख्यात रचना का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

मुनि जिनविजय और श्री हरिवल्लभ भयाणी ने इसका सम्पादन करके इसे भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित कराया है। इसके अतिरिक्त इस रचना के अन्य संस्करण भी प्रकाशित हैं। 'विचारश्रेणिस्थविरावली' आदि इनकी अन्य रचनायें भी प्राप्त हैं किन्तु वे सभी अपभ्रंश या प्राकृत से सम्बन्धित हैं, अतः मरुगुर्जर साहित्येतिहास में उनका विवरण आवश्यक नहीं है।

मोदमंदिर - आप खरतर गच्छीय कवि थे। आपकी दीक्षा सं० १३१० में हुई थीं। इन्होंने 'चतुर्विंशति जिनचतुष्पदिका' नामक २७ छन्दों की एक रचना की है जिसका रचनाकाल १४ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है। यह रचना 'चउपइ' छन्दों में लिखी गई है।[1] अन्य विवरण नहीं प्राप्त हो सका है।

मंडलिक—आपने सं० १३६० के आसपास 'पेथड़ रास'[2] की रचना की। ६५ पद्यों की इस रचना में पोरवाडवंशीय श्री पेथड साह का चरित्र चित्रित किया गया है। श्री भोगीलाल सांडेसरा इसे सं० १३६० के आसपास की रचना मानते हैं किन्तु श्री मो० द० देसाई[2] इसे १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचना बताते हैं। मुझे श्री सांडेसरा का मत इसलिए अधिक समीचीन लगता है क्योंकि रासनायक संघपति पेथड़साह १४ वीं शताब्दी के महापुरुष थे और इन पर आधारित रचना १४ वीं शताब्दी की ही होनी चाहिये। आप चंडसिंह के पुत्र थे। आबूतीर्थ पर स्थित लूणिगवसही का आपने जीर्णोद्धार कराया था।

प्रस्तुत रास की भाषा प्रभावशाली मरुगुर्जर है। भाषा के उदाहरणार्थ इसके आदि और अन्त से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

आदि "विणय वयणि वीनवउं देवि सामिणि वागेसरि।
हंसगमणि आकाश भमणि तिहूयण परमेसरि।
वीर जिणिंदह नमीय चलण चउविहु श्री संघहिं।
कवड जक्ख जक्खाधिराज समरीय मनरंगिहिं॥"

अन्त सोमनाथ चदपह वंदीय देखीउ वलीउ जाम।
दिउ पीयाणं हिवमन रहिसउ, मंडलिक भणइइमि॥ तहि नाचिन०
दिउ पीयाणं वेगि तहिं हरीयाला सूडा रे
सूरवाहे संपत्त मनीला सूडा रे।
प्राग्वाट वंश मौक्तिक व्य० पेथड रास समाप्त।"[3]

जैन समाज में एक अन्य पेथड कुमार या पृथ्वीधर की भी बड़ी ख्याति है जो उपकेश वंशीय देद नामक बनिया के पुत्र थे, परन्तु सुवर्ण सिद्धि योग की प्राप्ति से देद बड़े सम्पन्न हो गये थे। इनके सुपुत्र पेथड बड़े

१. श्री अ० च० ना० 'परम्परा' पृ० १७३

२. प्रा० गु० का० संग्रह, पृ० १५९ पर प्रकाशित।

३. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० १ पृ० ३६

दानी तथा आचारवान् थे। इन्होंने कई पुस्तक भण्डार और जिनालय आदि बनवाये तथा बड़ा यश अर्जित किया था। इनका पुत्र झाझड़ बड़ा प्रसिद्ध व्यापारी और समाज हितैषी व्यक्ति था। ये अवन्ति प्रदेशान्तर्गत नान्दुरी के निवासी थे। रत्नमंडन मणि के सुकृतसागर में इनका विवरण उपलब्ध है।[1]

रल्ह (राज सिंह) आपकी प्रसिद्ध रचना 'जिणदत्त चरित्र' सं० १३५४ में लिखी गई है। कवि ने स्वयम् रचनाकाल इस प्रकार बताया है-

"संवत तेरह से चउवण्णे भादव सुदि पंचम गुरु दिण्णे।
स्वाति नखत चँदु तुलस्ती कवइ रल्हु पणवइ सुरसती।२८।"[2]

सर्वप्रथम राजस्थान के जैन शास्त्रभांडारों की ग्रन्थसूची भाग ४ में उसके सम्पादक डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इसके हस्तलिखित प्रति की सूचना दी थी। यह प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटौदी के शास्त्र भण्डार से उपलब्ध हुई। उसी प्रति के आधार पर इस कृति का सम्पादन डॉ० कासलीवाल और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है। लिपिकार ने इसे कथा और चउपइ नाम दिया है और कवि 'रल्ह' ने इसे चरित, पुराण और चउपइ कहा है। जैन चरित काव्यों में जीवनचरित्र और कथा-आख्यायिका के लक्षणों का समन्वय किया गया है अतः इसे चरित्रकाव्य ही कहना उचित है। इसकी कुल पद्य संख्या ५४३ है।

कथानायक जिणदत्त की कथा जैन साहित्य में लोकप्रिय रही है। इसकी चर्चा प्राकृत कोष 'अभिधान राजेन्द्र' में और नेमिचन्द्र के शिष्य सुमतिगणि की प्राकृत रचना में हुई है। सस्कृत में आचार्य गुणभद्र कृत जिनदत्त चरित्र और अपभ्रंश में कवि लाखू (लक्ष्मण) कृत जिणदत्त-कहा (सं० १२५७) प्राप्त हैं। रल्ह ने इन्हीं के आधार पर जिणदत्त का चरित्र चउपइ छन्द में प्रस्तुत किया है। कवि ने लिखा है—

"मइ जोयउं जिणदत्त पुराणु, लाखु विरयउ अइस पमाणु।"

रल्ह के बाद भी इसकी परम्परा चलती रही और रयधू, गुणसमुद्र सूरि तथा बख्तावर सिंह आदि कवियों ने इस पर आधारित अपनी रचनायें लिखीं।

१. मो० द० देसाई—जैन सा० नो इतिहास पृ० ४३०

२. कवि के पिता का नाम अभइ या आते और माता का नाम सिरीआ था। वे जैसवाल जाति के श्रावक थे। कवि का नाम रल्ह और राजसिंह दोनों मिलता है। दे०—जिणदत्तचरित स० डॉ० कासलीवाल एवं डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है। मगध देश में बसन्तपुर के नगरसेठ का पौत्र जिनदत्त बड़ा योग्य एवं सुन्दर था। वह कई प्रदेशों विशेषतया सिंहल द्वीप आदि की यात्रायें करता है और कई सुन्दरियों से विवाह करता तथा अतुल सम्पत्ति प्राप्त करता है। इसके कथानक में भी चामत्कारिक घटनाओं और अलौकिक कार्यों का बाहुल्य है। यह रोमांचक कथाकाव्य परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। ऐसी कथाओं में कथानायकों का चरित्र अद्भुत शौर्य, अलौकिक प्रतिभा और चामत्कारिक शक्तियों से सम्पन्न दिखाया जाने की रूढ़ि प्रचलित हो गई थी। ऐसी रचनाओं के प्रारम्भ में वीर, श्रृंगार से सम्बन्धित युद्ध और विवाह आदि की अनेक घटनायें और उनके पश्चात् नायक को अपने पूर्वभवों का ज्ञान, अन्ततः वैराग्य तथा संयम साधना द्वारा निर्वाण की प्राप्ति का वर्णन करना इनकी बधी बधाई परिपाटी थी।

भाषा :—जिणदत्त चरित की भाषा को पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर कहना उचित है। भूमिका में विद्वान् सम्पादकद्वय ने लिखा है :—

"जिणदत्त चरित की भाषा को हम पुरानी हिन्दी के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।"[1] अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं के बीच की भाषास्थिति का परिचय देने वाली रचनाओं में इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

काव्य रूप की दृष्टि से यह एक चरित काव्य है जिसका नायक सेठ जिणदत्त धीरोदात्त, वीर, साहसी एवं अनेक सद्गुणों से सम्पन्न है। अपने पराक्रम से वह राजा बनता है किन्तु अन्त में संयम धारण करके मानव-जीवन का परमलक्ष्य-निर्वाण प्राप्त करता है। रसों की दृष्टि से विचार करने पर इसमें श्रृंगार सम्बन्धी कई सुन्दर स्थल मिलते हैं जैसे विलासमती का सौन्दर्य वर्णन, सिंहलद्वीप की राजकुमारियों का रूपवर्णन आदि। इसी प्रकार अनेक युद्धों के बीच वीर रस का भी अच्छा परिपाक जगह-जगह हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन, विदेश यात्रा वर्णन, सामाजिक जीवन का वर्णन आदि कई उत्तम वर्णनात्मक स्थल हैं। श्रृंगार वर्णन का एक नमूना देखिये :—

"चंपावण्णी सोहइ देह, गल कंदलह तिण्णि जसु रेह।
पीणत्थणि जोव्वणमयसार उर पोटी कडियल वित्थार।"

काव्य में कहीं कहीं कवि ने अपना नाम भी दिया है यथा :—

"नाद विनोद कथा आगली, पहिरी रयण जडी कंचुली।
इकु तहि अस्थि देह की किरणी अवर 'रल्ह' पहिरइ आभरणी।।"

1. जिणदत्तचरित 'भूमिका' पृ० २३

वर्णनों में वसंतपुर में बसने वाले २४ 'व' कारों का वर्णन, वृक्ष-वनस्पतियों का वर्णन भी मनोहर है यथा :—

"वणिकु बंभण वइद वासीठ, वाढ़इ,
वेसा, वरुड वंदराविवारी विहारहं।......
'तह वसंतपुर रल्ह कइ छइ चउवीस वकार।"३१।

इसका अन्तिम छन्द निम्नलिखित है :—

"जो जिणदत्त कउ सुणइ पुराणु. तिसको होइ णाणु निव्वाणु।
अजर अमर पउलहइ निरुत्तु, चवइ रल्ह अभइ कउ पुत्तु।
गय सत्तावन छहसय मांहि, पुन्नवंत को छापइ छांह।
तक्कु पुराण सुणि उ नउ सत्थ, भणइ रल्हु हउ ण मुणउ अत्थु।"

अर्थात् छह सौ में ५७ छन्द कम कुल ५४३ छन्द संख्या है इसे जो सुनेगा वह निश्चित अजर अमर पद प्राप्त करेगा।

रल्ह ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

"जइसवाल कुलि उत्तम जाति, बाईसइ पाउल उतपाति।
पंचऊलिया आते कउपूतु, कवइ रल्हु जिणदत्त चरितु।"[1]

मुनि राजतिलक—आप जिनप्रबोध सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १३३२ में ३५ पद्यों की एक छोटी रचना 'शालिभद्र रास' लिखा। इसमें शालिभद्र के भोगी से योगी बनने की प्रेरणास्पद कथा कही गई है। शालिभद्र राजगृही का एक सम्पन्न श्रेष्ठी था। वह बड़ा विलासी था किन्तु अन्त में बड़ा संयमी बन गया था। इसकी भाषा में राजस्थानी प्रयोगों की अधिकता है। यह जैनयुग वर्ष २ में प्रकाशित रचना है। हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास के खंड ३ में इसे पृ० ३२२ पर मुनि राजतिलक की रचना कहा गया है। राजतिलक जिनप्रबोधसूरि के शिष्य बताये गये हैं। श्री अगरचन्द नाहटा और श्री मो० द० देसाई ने अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं किया है। श्री भँवरलाल नाहटा ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम के स्वर्णजयन्ती के अवसर पर राजस्थानी एवं हिन्दी जैन साहित्य की गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए शालिभद्ररास (सं० १३३२) को जिनप्रबोध सूरि की रचना बताया है।[2] चूँकि नाहटा जी ने ऐसा कोई आधार नहीं दिया है जिससे यह रचना मुनिराज तिलक के बजाय उनके गुरु जिनप्रबोध सूरि की सिद्ध हो और

१. हिन्दी सा० का बृ० इतिहास भाग ३ पृ० ४०३

२. पार्श्वनाथ विद्याश्रम स्वर्ण जयन्ती स्मारिका पृ० ४३

न कहीं अन्यत्र ऐसा उल्लेख मुझे मिल सका है अतः सहसा उसे स्वीकार करना कठिन होने के कारण इसे मुनिराजतिलक के नाम पर ही रहने दिया गया है। इसकी भाषा का नमूना या उद्धरण नहीं प्राप्त हो सका किन्तु बृहद् इतिहास में इसे मरुगुर्जर की रचनाओं के साथ परिगणित किया गया है अतः यह मरुगुर्जर की रचना मानी गई है। श्री भँवरलाल नाहटा ने इसे राजस्थानी की रचना कहा है।

राजकीर्ति—आपकी रचना 'चउवीसजिनस्तवन'[1] (गाथा २५) १४ वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है, किन्तु श्री देसाई ने राजकीर्ति के नाम के आगे प्रश्न चिह्न लगा कर छोड़ दिया है और उनसे सम्बन्धित कोई विवरण नहीं दिया है। उन्होंने नाहटाजी के पास सुरक्षित एक प्राचीन प्रति के हवाले से इसके आदि और अन्त के पद्य उद्धृत किये हैं जिन्हें यथावत् यहाँ उद्धृत किया जा रहा है--

आदि "उज्ज्वल केवल नाणधर, रिसहेसर तुह पाय।
पय दिण पणमउँ जेम मुज्झु इय निम्मल हुइ काय।"

अन्त "इय प्रासादिहि थुणियमइ, जे सवे मज्झार।
चउवीसवि जिण कुणउसिव, राईकित्ति वित्थार।२५।"

इन दो पद्यों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह रचना मरुगुर्जर की है।

राजवल्लभ—श्री हरिप्रसाद गजानन 'हरीश' ने 'गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी को देन' नामक पुस्तक में राजवल्लभ की कृति 'थूलिभद्दफाग' का उल्लेख किया है और इसका रचनाकाल सं० १३४० बताया है।[2] कवि और उसकी कविता के सम्बन्ध में उन्होंने कोई सूचना नहीं दी है। अन्य साहित्येतिहास ग्रन्थों में भी सम्बन्धित विवरण उपलब्ध न हो सकने के कारण सम्प्रति यह सूचना मात्र ही प्रेषित है।

रामभद्र—आपकी रचना 'शान्तिनाथकलश' (१० गाथा) को श्री नाहटाजी ने १४ वीं शताब्दी की कृति बताया है। उन्होंने इसके आदि और अन्त के पद्य ही उद्धृत किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खण्ड १ पृ० ४०७

२. डॉ० हरीश, गु० जै० कवियों की हिन्दी को देन, पृ० २५७

आदि "असुर सुरिन्द नरिन्द विंद, वंदिय पय पउमह।
सन्ति जिणँदह न्वहण समउ, वज्जिय छल छउमह।
अवर कज्ज सावज्ज सव्वि, वज्जिय कय पुन्नह।
नवउ कलसु हउं भणिसु तुहि, भवियहु आपन्नहु।१।"

इसके अन्तिम दो छन्द निम्नलिखित हैं –

"दप्पण भद्दासण नंदिवत्त, सिरिवच्छ मच्छ तह कलस जुत्त।
वर वद्धमाण सत्थिय विसिट्ठ, जिण पुरओ विहि इय मंगलट्ठ।
इय सन्ति जिदणंह उवरि गिरिंदह, अमरइहि किउवन्हवणु जिम,
तिव तुम्हिवि न्हावउ जिम सुहु पावउ, रामभद्दु पभणेइ इम।"[1]

श्रावक लखमसी—आपकी कृति 'जिनचन्द्रसूरिवर्णनारास'[2] संवत् १३४१ के आसपास की लिखी ४७ पद्यों की रचना का उल्लेख डॉ० हरीश ने किया है। जिनचन्द्र सूरि का आचार्य काल सं० १३४१ से १३७६ तक स्वीकृत है। अतः रचना निश्चय ही १४ वीं शताब्दी की होगी। इसमें आ० जिनचन्द्र सूरि के जन्म, दीक्षा, पदोत्सव के बाद अन्त में गुरु परम्परा का वर्णन है। इसके आदि और अन्त के पद्य उद्धृत हैं—

आदि "पास जिणेसर बीतराहु, पणम विणुमत्ति।
कर जोडति सुय देवि नमिवि कारउ विन्नत्ति।
चरिउ रइसु मणि रायहंसु पहु जिणचंद सूरि।
नचहुँ भवियहु भावसारु गय कलिमल दूरि।१।'

अन्त "जुग पहाण पहु जिणचंद सूरि, पयट्ठउ निय पयाव जसु पूरि।
लक्खम सीहु वन्नवइ अवधारि, अम्ह हिव दग्गइ गमणु निवारि।४७।"

लक्खण ने वि० सं० १३१३ में अपने आश्रयदाता मन्त्री कृष्ण के आग्रह पर 'अणुवयरयणपइउ' की रचना की है। इसमें श्रावकों के पालन करने योग्य अणुव्रतों और गृहस्थ धर्म के नियमों का वर्णन किया गया है। नाना व्रतों का महत्त्व प्रकट करने के लिए सरस शैली में नाना कथायें कही गई हैं, किन्तु यह रचना निश्चय ही अपभ्रंश की है अतः इसका विशेष विस्तार अपेक्षित नहीं है। इनकी एक छोटी रचना 'चन्दन छट्ठी कहा' भी प्राप्त है किन्तु उसकी भाषा भी अपभ्रंश ही है।

लाखम (लक्ष्मण देव)—आपने ४ संधियों में 'णेमिणाह चरिउ' की रचना की है जिसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५१० की प्राप्त है अतः यह

१. श्री अ० च० नाहटा, मरु गु० जै० कवि पृ० ४२–४३
२. डॉ० हरीश—'आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध' पृ० २५६

रचना अवश्य ही १४ वीं शताब्दी की होगी। यह कवि मालवा के गोणंद का निवासी और श्री रयणदेव का पुत्र था। यह चरित्र २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र पर आधारित है। इसमें राजीमती की वियोग दशा का मार्मिक वर्णन किया गया है। इसमें धर्म-उपदेश के साथ नगरों का वर्णन एवं वियोग वर्णन मुख्य रूप से सुन्दर बन पड़ा है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसमें मुख्य रूप से अपभ्रंश के छन्दों—पद्धडिया, धत्ता इत्यादि का अधिक प्रयोग किया गया है। कथा सुपरिचित है। नेमिनाथ बलि पशुओं को देख विरक्त हो जाते हैं और तपश्चर्या के लिए चले जाते हैं। राजीमती विरह से व्याकुल हो तड़पने लगती है। इसमें उपदेशात्मक स्थल पर्याप्त हैं फिर भी काव्यात्मक स्थलों से यह अछूती रचना नहीं है। इसकी भाषा का उदाहरण देखिये :—

"जसु गेहि अण्णु तसु अरुइ होइ, जसु भोजसत्ति तसु सगुण होइ।
जसु दाण छाहु दविणु णत्थि, जसु दविण वासु अइ लोहु अत्थि।
जसु मयण राउ तसु णत्थि भाम, जसु भाम तासु उच्छवण काम।"[1]

इसकी भाषा में कुछ अपभ्रंश का पुट होते हुए भी प्रसादगुण सम्पन्न एवं सरस भाषा है। इसमें सुभाषितों और सूक्तियों का समावेश करके कवि ने भाषा को अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

लक्ष्मीतिलक उपाध्याय—आप खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य और अभयतिलक के अनुज तथा गुरुभाई थे। आप बड़े विद्वान् एवं उत्तम कवि थे। आपने सं० १३११ में १०१३० श्लोकों का बृहद् काव्य 'प्रत्येकबुद्धचरित्र' पालणपुर में लिखा। आपकी दूसरी कृति शान्तिनाथदेवरास सं० १३१३ में लिखी गई जिसकी कुल पद्य संख्या ६० है। आपने सं० १३१७ में 'श्रावकधर्मप्रकरणबृहत्वृत्ति' जालौर में लिखी जिसमें १५१३१ श्लोक हैं। इनमें से शान्तिदेवरास ही मरुगुर्जर की रचना है। इस रास में १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र संक्षेप में किन्तु सुन्दर ढंग से कहा गया है। आ० जिनपति सूरि ने सं० १२५८ में 'उद्धरण कारित शान्ति जिनालय' की प्रतिष्ठा खेड़नगर में की थी। सं० १३१३ में उदय सिंह के राज्यकाल में आ० जिनेश्वर सूरि ने जालौर में शान्ति जिनालय की प्रतिष्ठापना की। उसी ऐतिहासिक घटना पर यह रास आधारित है। अतः इसकी रचना सं० १३१३ या ठीक उसी के

१. हि० सा० का० बृ० इति० भा० ३ पृ० २६५ (ना० प्र० सभा, काशी)

आसपास हुई होगी। यह रास जालौर के शान्ति जिनालय में अभिनीत भी किया गया था जिसका आधार निम्न पंक्तियाँ हैं :—

"जे संती सरबारि परि नच्चहि गायहि विविध,
ताह होउ सविवार, खेला खेली खेम कुशल।५७।
ऐहु रासु जे दिंति खेला खेली अइ कुशल,
बंभ संति तह संति, मेघनादु विखेतल करल।५८।
एहुरासु वहु भासु, लच्छि तिलय जिणि निम्मयउ,
ते लहंति सिववासु, जेनियमणि ऊलटि दियहिं।५९।
महि कामिणि रवि इंदु कुंडल जुयलिण जास हुइ,
ताम संति जिण इंदु अनुइय रासु विचिरु जयउ।६०।[1]

रास से सम्बन्धित कुछ अन्य पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं :
"जालउरि उदयसिंह रज्जि सोवनगिरि, उवरिस्से संति ठाविउ जिणेसर,
सुरी पवर पासाय मज्झंमि संवच्छरे फगुण सिय चउत्थि तेरहइ तेरूत्तरे।४८।"

अर्थात् यह रास उदयसिंह के समय सं० १३१३ फागुन चतुर्थी को लिखा गया।

इस रास की भाषा को श्री नाहटाजी ने राजस्थानी कहा है। राजस्थान में रचना होने के कारण इसकी भाषा पर राजस्थानी प्रभाव भले ही ज्यादा हो पर इसकी भाषा वस्तुतः मरुगुर्जर ही है। प्राचीन रासों का लघु आकार नृत्य और अभिनय के लिए सुविधाजनक होता था। यह रास भी उसी प्रकार का लघुकाय होने के कारण अभिनीत हुआ होगा। यह रास सम्मेलन पत्रिका के ४७।४ भाग में प्रकाशित हो चुका है।

वस्तिग या वस्तिभ—श्री नाहटाजी ने लेखक का नाम वस्तिभ लिखा है किन्तु श्री मो० द० देसाई ने इन्हें वस्तिग या वस्तुपाल बताया है यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाय कि ये वस्तुपाल (वस्तिग) प्रसिद्ध अमात्य वस्तुपाल नहीं हो सकते क्योंकि वे १३ वीं शताब्दी में हो गये। उनका समय सं० १२७५ से १३०३ तक माना जाता है जब कि प्रस्तुत वस्तिग १४ वीं शताब्दी के कवि हैं। इनकी रचना बीस विहरमान रास (स्तव) सं० १३६८ माह शुदी ५ शुक्रवार को लिखी गई है। रास के आदि में स्वयम् लेखक ने रचनाकाल इस प्रकार बताया है :—

'विहरमान तित्थयर पाय-कमल नमेविय, केवलधर दुन्नि कोडि
सवि साधु नमेविअ।
जिण चउवीसइ पाय नमेसुं, गुरुयां सहि गुरु भत्ति करेसुं।

1. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' १६८ (यह रास नाहटाजी के संग्रह में सं० १४९३ की लिखित प्रति में सुरक्षित है)

समरिय सामिणि सारद देवि, पढ़िसिउं जिण वीसइ संखेवि।
संवत् तेर अठसट्ठइ माह मसवाडइ, पाँचमि हुई शुक्रवारहि
पहिलउ पखवाडर।
इय आरम्भिय अभिनव रासो जिम हुई भमण मरण विणासो।
मुझ मूरख नवि बोलवा ढाऊं, पुण गुरुयां श्री संघ पसाउ ॥[1]

इसकी अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है :—

'लोटा गणे बस्तिग भणइ अे नरे, सामि अे वीनती अवधारी।
कर्म नटावइ नचावीउं अे नरे, चउदह रज्जह मझारि॥

यह रचना 'जैनयुग' पु० सं० ५ पृ० ४३८ पर प्रकाशित है।

वस्तिग के नाम से कुछ और रचनायें भी मिली हैं इनमें से चिहुंगति चौ० काफी प्रसिद्ध कृति है, किन्तु इसका रचना काल निश्चित न होने से श्री मो० द० देसाई इसे १५ वीं शताब्दी की रचना बताते हैं। ऐसा लगता है कि उनका यह अनुमान इस रचना की सं० १४६२ की लिखित प्रति पर आधारित है। यदि हस्तलिखित प्रति १५ वीं शताब्दी की प्राप्त होती है तो यह कहाँ सिद्ध होता है कि कवि भी १५ शताब्दी का होगा। प्रस्तुत कवि १४ वीं शताब्दी की रचना 'वीरविहरमान' का लेखक भी हो सकता है। वस्तिग एक प्रसिद्ध जैन कवि समझे जाते हैं और उनकी एक ही रचना उनकी कीर्ति का आधार न होगी। अतः ऐसा अनुमान है कि चिहुंगति चौ० भी उन्हीं वस्तिग की रचना होगी। इसमें जीव की चार गति अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देव बताई गई है। इसकी ९४ चौपाइयों में अनेक योनि में भटकते चारों प्रकार के जीवों को भयंकर दुख झेलते हुए बताया गया है। उनमें से अत्यन्त पुण्यवान जीव को उत्तम गुरु मिलने पर पाँचवीं गति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके आदि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

सेत्तुंज वंदिअ तीरथराउ, गोयम (गुरु या) गुणहर करउ पसाउ।
वागवाणि हउं समरइ देवि चहुंगति भमणि कहू संखेवि॥

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भाषा के नमूने के लिए उद्धृत की जा रही हैं—

मूरख माहि मूंपहिलीलीह, जिण धर्म माहि वसउ सवि दीह।
कालउं गहिलऊं बालिठाऊं, तेऊ पुण सुह गुरु तणउ पसाउ॥
रामतिनी छइ भू धणी टेव, गुरुया संघनी नितु करु सेव।
अज्ञान पणइ आसातन थाई, बस्तिग लागइ श्री संघ पाय॥ ९४॥

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०३।

इनकी दो अन्य रचनाऐं भी प्रकाशित हैं; उनमें से एक 'रात्रिभोजनं' में रात्रिभोजन के दोषों पर प्रकाश डाला गया है और दूसरी 'रहनेमी राजीमती' तो जैनजगत् की अति लोकप्रिय कथा 'नेमिराजमती' पर आधारित है। अतः इसकी काव्योचित सरसता स्वयंसिद्ध है।

विनयचन्द्र सूरि—आप श्रीरत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। आपकी रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' 'बारव्रतरास' और 'आनन्द प्रथमोपासक संधि' नामक मरुगुर्जर की रचनायें उपलब्ध हैं। आपकी प्रथम रचना 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित है। यह ४० पद्यों की रचना है। इस बारहमासे में कवि ने राजीमती के पति-विरह का काव्यमय वर्णन बड़े सरस ढंग से किया है। यह बारहमासों की परम्परा में काफी प्राचीन है जिसमें श्रावण से प्रारम्भ करके आषाढ़ मास तक होने वाले राजुल के विरह कातर मनोभावों एवं प्रकृति के उद्दीपन विभावों का मनोहर वर्णन किया गया है। श्रावण का वर्णन देखिये :—

"श्रावणि सरवणि कडुय मेहु गज्जइ, विरहरि झिज्झई देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि! सहियइ केम।"

इसका फाल्गुन वर्णन जायसी के वियोग वर्णन की भाँति अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है, यथा—

"फागुण वागुणि पन्न पडंति, राजल दुरिक कि तरु रोयँति।
गब्भि भलिवि हउं काइ न मूय, भणइ विहुंगल धारणि धूय।२३।"

इस बारहमासे की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

"सोहग सुन्दरु धण लावन्तु, सुमरिव सामिउ सामलवन्नु।
सखि पति राजल चडि उत्तरिय, बार मास सुणि जिम वज्जरिय।१।"

और इसकी अन्तिम पंक्तियाँ निम्नाङ्कित हैं :—

"निम्मल केवल नाणु लहेवि, सिद्धि सामिणि राजल देवि,
रयणसिंह सूरि पणमवि पाय, बारहमास भणिया मइभाय।४९।"

आपकी दूसरी रचना 'बारव्रत रास' सं० १३३८ में लिखी गई। यह ५३ पद्यों की रचना है। इसके अन्त में इसका रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

"तेरसइ आठ त्रीसी सावय धम्मुव अेस सवि,
रयणसिंह सूरि सीसि विनयचन्द्र सूरि उद्धरीय।

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' संख्या २

पास जिणंद पसाउ सानिधि सासणदेवि तणइ,
जे उपदेश कराइ ते मणवंछिय सुह लहइ।"[1]

आपकी तृतीय कृति 'आनन्द प्रथमोपासक संधि' के आदि और अन्त की पंक्तियाँ भाषा के नमूने की दृष्टि से आगे उद्धृत की जा रही हैं :--

आदि "अरहँ देवो सुगुरु सुद्ध धम्म पँचनवकारो,
धन्नाणं कयत्थाणं निरन्तर वसइ हिययमि।"

अन्त "सिरि रयणसिंह सूरि गुरुवअेसि,
सिरि विणयचंद तसु सीसि लेसि।
अज्झयण पढमु अेह सत्तमंगि,
उद्धरिय संधि बंधेण रंगि।"

प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में उपदेशमाला कथानक (उवअेसमाल कहाणय) को भी श्री विनयचन्द्र की रचना बताया गया है। जै० गु० कवियों भाग १ में इसका रचनाकर्त्ता श्री विनयचन्द्र सूरि को लिखा गया है किन्तु भाग ३ में उन्होंने इसका सुधार करके श्री उदयधर्म को इस रचना का लेखक बताया है। श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रारम्भ से ही उदयधर्म को उपदेशमाला कथानक का लेखक घोषित किया था अतः इससे पूर्व उदयधर्म के नाम पर इस कृति का विवरण दिया जा चुका है। अब यह निर्णय सुधी जनों को करना है कि वस्तुतः विनयचन्द्र सूरि 'उवअेसमाला कहाणय' के लेखक हैं अथवा उदयधर्म।

श्री विनयचन्द की तीन रचनायें ही उन्हें मरुगुर्जर का एक श्रेष्ठ कवि साबित करने के लिए पर्याप्त हैं। इन रचनाओं की भाषा से उवअेसमाला कहाणय की भाषा की संगति भी नहीं बैठती क्योंकि उसकी भाषा पर अपभ्रंश का भरपूर प्रभाव दिखाई पड़ता है जब कि इन तीनों रचनाओं की भाषा स्वाभाविक मरुगुर्जर है। आपने सं० १३२५ में पर्युषण कल्पसूत्र पर निरुक्त भी लिखा था। इस प्रकार आप जैन धर्म के आचारवान सूरि, उत्तम कवि और निरुक्तकार हैं।

वीरप्रभ--आपकी रचना 'श्री चन्द्रप्रभ कलश' (१६ गाथा) उपलब्ध है जिसका आदि अन्त आगे उद्धृत किया जा रहा है :--

आदि "अत्थि इह भरहिवर नयरि चंदाणणा,
जत्थ रेहंति नर-नारी चंदाणणा।[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४००
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० क० पृ० ३८

अन्त "सड्डु सगुणहु जे न्हवहि चंदप्पहं,
विहिय मुहकोस बहु तो सदयकुप्पहं।
कुगुरु कुग्गाह परिचत्तइय विहिरया,
लहहिं णे झत्ति निव्वाण सुहसंपदा।"

श्रीधर--भविष्यदत्त कथा, चन्द्रप्रभचरित, वड्ढमाण चरिउ, शान्तिजिनचरित आपकी उपलब्ध रचनायें हैं आपका रचना काल श्री कामताप्रसाद जैन १४ वीं शताब्दी बताते हैं।[1] पं० परमानन्द जैन एवं अन्य बहुतेरे विद्वान् इन रचनाओं को अधिक से अधिक १३ वीं शताब्दी की बताते हैं। इन कृतियों की भाषा भी मरुगुर्जर की अपेक्षा अपभ्रंश के ज्यादा करीब है। इसलिए इन्हें प्राचीन कवि मानकर इनका उल्लेख पहले कर दिया गया है।

शान्तिभद्र--आपकी रचना का नाम 'चतुर्विंशति नमस्कार' (२५ गा०) है जिसका रचनाकाल १४ वीं शताब्दी है किन्तु संवत् निश्चित नहीं हो सका है। इसकी प्रतिलिपि सं० १३८५ की लिखित प्राप्त होने से यह १४ वीं पूर्वार्द्ध की रचना होगी। इसके प्रारम्भ का छन्द, जो यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, पढ़ने से इसकी भाषा अपभ्रंश से प्रभावित प्रतीत होती है यथा :--

"पढम जिणवरजण मणानन्द,
सुरनाह संथुय चलण भरह जणय जय पढम सामिय।
संसार वण गहण दव दत्त दोस अपवग्ग गामिय।
लोयालोय पयासयर पयडिय धम्माहम्म
सुविहाणउं तुहु रिसय जिण, दुज्जय निज्जिय कम्म।१।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :--

"जसु सावयरसाहु वर चित्त
सुपसत्थ सुपसन्न मण निसि विरामि थिरु करिवि नियमणु
चउवीह तित्थयर सुप्पहाइ जे थुणहिं अणु दिणु
ते संसारि महाजलहि, उत्तारहिं अप्पाणु।
पावह दुक्खह खउ करहिं 'संतिभद्दु' कल्लाणु।२५।[2]

इसकी भाषा को देखते हुए इसे शुद्ध मरुगुर्जर की रचना नहीं कहा जा सकता। इसमें जान-बूझकर 'संतिभद्दु' ने 'ण' की अतिशत आवृत्ति कर रखी है। द्वित्त की प्रवृत्ति जैसे 'दुज्जय' निज्जिय, सुप्पहाइ, अप्पाणु आदि को

१. श्री कामताप्रसाद जैन--हिन्दी जै० सा० का सं० इ० पृ० ३२
२. श्री अ० च० नाहटा--मरुगुर्जर जैन कवि पृ० ३६

देखते इसकी भाषा को स्वाभाविक मरुगुर्जर नहीं कहा जा सकता। इसका विषय तो शीर्षक से ही स्पष्ट है। इसमें २४ तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है।

शान्त सूरि--आपकी कृति का नाम 'सीमधंर स्तवनम्' है, इनका समय १४ वीं शती है। शान्ति सूरि नामक कई महापुरुष जैन इतिहास में हो गये हैं। चन्द्रगच्छ, नागेन्द्रगच्छ, पूर्णतल्लगच्छ, सांडेरगच्छ, खंडेरकगच्छ आदि भिन्न-भिन्न गच्छों में कई शान्ति सूरि हुए हैं। इनमें कुछ कवि और लेखक भी हैं। इनमें से 'जीव विचार' नामक ग्रन्थ के कर्त्ता शान्ति सूरि अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत स्तवन के लेखक इनमें से कौन शान्ति सूरि हैं यह निर्णय नहीं हो पाया है। इस रचना में कुल ८ गाथायें हैं उनमें से पहली और आठवीं गाथा भाषा के उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जा रही है। इसमें सीमंधर स्वामी का स्तवन किया गया है।

आदि "जंबूवर दीवह महाविदेह, सूणि घणि घणहां सय पंच देहु।
सीमंधर स्वामी विहरमाण, वसहंक-सयर सोवन्न माण।१।"

अन्त "संदेशे ओलग करउं देव, ऊमाहउ हीय न माइ हेव।
ईणि खेमि वसंता खेंति पूरि, दय मुक्ति भणय श्री शांति सूरि।८।"[1]

इसकी भाषा निश्चय ही सरल मरुगुर्जर है और कवि १४ वीं शती का प्रतीत होता है किन्तु कवि के सम्बन्ध में निश्चित विवरण प्राप्त नहीं है।

सहज ज्ञान—आप खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपने अपने श्रद्धेय आचार्य को लक्ष्य करके ३५ गाथाओं की 'श्री जिनचन्द्र सूरि विवाहलउ' नामक रचना लिखी जिसमें आचार्य श्री की संयम श्री के साथ परिणय का रूपक प्रस्तुत किया गया है। यह रचना १४ वीं शताब्दी की है किन्तु इसका रचनावर्ष निर्णीत नहीं है। इसकी प्राप्त प्रति में रचना की आदि के दो छन्द खंडित हैं, अतः इसका चौथा पद्य नीचे उद्धृत किया जा रहा है :--

"विविह विन्नाण वर धम्म कम्म जुया, रहेए रूवधर गेह लच्छी।
सीलगुण धारिणी तासु सहचारिणी, सरसइ महुर झुणि वीण पाणि।४।

इसका अन्तिम ३५ वाँ पद्य इस प्रकार है :--

"एहु जुगपवर वीवाहलउ जे पढ़इ, जे दियइ भाविया रंगभरे।
तास सासण सुरा हुंति सुपसन्न, सहजज्ञान मुनि इम भणए।३५।"[2]

१. श्री अ० च० नाहटा— मरुगुर्जर जैन कवि पृ० ५४

२. श्री अ० च० नाहटा— मरुगुर्जर जैन कवि पृ० २८

'विवाहलउ' नायक काव्यप्रकार जैन कवियों में लोकप्रिय रहा है जिसमें आचार्यों के संयम धारण और दीक्षा-महोत्सव का प्रायः विवाह की भाँति वर्णन रहता है।

सारमूर्ति—आप खरतरगच्छीय कवि थे। आपने सं० १३९० ज्येष्ठ शु० ६ सोमवार को 'जिनपद्म सूरि पट्टाभिषेक' नामक एक रचना की जिसमें जिनपद्म सूरि के आचार्य पद-महोत्सव का वर्णन है। जिनपद्म सूरि को श्री तरुणप्रभ सूरि के आचार्यत्व में ज्येष्ठ शु० ६ सोमवार वि० सं० १३९० को पट्टाभिषिक्त किया गया था और नाम जिनपद्म सूरि रखा गया था, अतः यह उसी समय की रचना है। जिनपद्म सूरि के पिता खीमड़ वंशीय लक्ष्मीधर के पुत्र श्री आबाशाह थे। रास से यह भी सूचना मिलती है कि यह महोत्सव शाह हरिपाल ने बड़े उत्साहपूर्वक सम्पन्न कराया था। जिनपद्म सूरि के गुरु आचार्य जिनकुशल सूरि एक बार विहार करते देराबर पधारे और वहाँ कई धार्मिक कृत्य सम्पन्न कराये। अपना आयुष्यपूर्ण जानकर श्री जिनकुशल सूरि ने तरुणप्रभ को आदेश देकर स्वर्गारोहण किया था, तदनुसार श्री तरुणप्रभ सूरि ने जिनपद्म को पट्टासीन किया। इस रास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

"सुरतरु रिसह जिणिंद पाय, अनुसर सुयदेवी
सुगुरु राय जिणचन्द सूरि गुरु चरण नमेवी।
अमिय सरिसु जिणपद्म सूरि पय ठवणह रासू।
सवणं जल तुम्हि पियउ भवि लहु सिद्धिहिं तासू।"

इसका अन्त निम्नाङ्कित पंक्तियों से हुआ है जिनमें रचनाकाल आदि दिया गया है : —

"विक्कम निव संवछरिण तेरह सइ नऊएहि (सं० १३९०)
जिट्ठि मासिसिय छट्ठि तहि, सुह दिणि ससिवारेहि।
इहुपय ठवणह रासु, भाव भगति जे नरदियहि,
ताई होइ सिववासु सारमुत्ति मुणि इम भणइ।"[1]

यह रास ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह में प्रकाशित है और कुल २९ पद्यों की रचना है। इसके उद्धरणों का सन्दर्भ उसी संग्रह में देखा जा सकता है। इसकी भाषा मरुगुर्जर है जिसपर राजस्थानी का प्रभाव थोड़ा प्रकट होता है। इस प्रकार की रचनाओं का मात्र ऐतिहासिक सूचनाओं की दृष्टि से महत्त्व होता है।

---

१. ऐ० जै० काव्यसंग्रह और श्री मो० द० देसाई-जै० गु० क० भा०३ पृ० ४०६

सुधाकलश—आप मलधारी राजशेखर सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १३८० में संगीतोपनिषद् की रचना की है जिसमें उदाहरणस्वरूप बीच-बीच में कुछ पंक्तियाँ तत्कालीन लोकभाषा में रचित गीतों की मिलती हैं जिनसे जनता की बोलचाल की भाषा का अनुमान करने में सहायता हो सकती है। चूँकि यह मरुगुर्जर की रचना नहीं है इसलिए यह सूचना मात्र अलम् है।

सोममूर्ति—आप खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। आपने अपने गुरु श्री जिनेश्वर सूरि के स्वर्गवास के तुरन्त बाद सं० १३३१-३२ के आसपास 'जिनेश्वर सूरि संयम श्री विवाह वर्णनारास' लिखा। आपकी अन्य रचनायें 'जिन प्रबोध सूरि चर्चरी', 'जिन प्रबोध सूरि बोलिका' और 'गुरावली रेलुआ' हैं। प्रथम रचना 'श्री जिनेश्वर सूरि संयम श्री विवाह वर्णनारास' ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह और जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय नामक दो संग्रहों में प्रकाशित प्रसिद्ध रचना है। यह ३३ पद्यों का प्राचीन काव्य है जिसके नायक खरतरगच्छीय आचार्य जिनेश्वर सूरि की दीक्षा खेडा ग्राम में दस वर्ष की अवस्था में आ० जिनपति सूरि द्वारा सम्पन्न हुई थी। इसमें 'दीक्षा' को संयमश्री नाम देकर उसके साथ जिनेश्वर सूरि के विवाह का आध्यात्मिक रूपक प्रस्तुत किया गया है। जिनेश्वर सूरि के बचपन का नाम अम्बडकुमार था। वे अपनी माँ से संयमश्री के साथ विवाह का आग्रह करते हैं और खेड नगर में वह दीक्षाकार्य (विवाह) सम्पन्न होता है। रास में इसका विवरण दिया गया है। आप जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। आपके पिता मरोटकोट निवासी श्री नेमिचन्द्र भण्डारी थे और आपकी माता का नाम लखमा दे था। आपका जन्म सं० १२४५ में और दीक्षा सं० १२५५ में हुई तथा आपका दीक्षा नाम वीरप्रभ पड़ा। खरतरगच्छ की पट्टावली से पता चलता है कि सं० १२७८ में सर्वदेवाचार्य द्वारा जालौर में आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया था और आपका नाम जिनेश्वर सूरि पड़ा था।

'विवाहला' काव्य की परम्परा भी १४ वीं शताब्दी से ही प्रारंभ हुई और १७-१८ वीं शताब्दी तक प्रचलित रही। इसका विशेष परिचय श्री आ० च० नाहटा ने 'विवाहला और मंगल काव्य की परम्परा' नामक लेख में दिया है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव इसकी प्राचीनता का प्रमाण है। भाषा के नमूने के लिए कुछ पद्य यहाँ दिये जा रहे हैं। बालक अम्बड संसार की असारता का अनुभव करके अपनी माता से आग्रह करता है :—

"परणिसु संयमसिरि वर नारी भाइ माए मज्झु मणहु पियारी;
जासु पसाइण वंछिउ सिज्झए वलवि न संसार मिं पडिज्जए।१।"

इसका आदि का छंद इस प्रकार है :—

"चिन्तामणि मणि विवियत्थे, सुहियय धरेविण पास जिण,
जुग पवइ जिणेसर सूरि मुणिराउ थुणिस हउ भत्तिआपणउ।१।"

अन्त अेह विवाहलउ जे पढ़हि जे दियहि खेला षेलि रंग भरि।
ताह जिणेसर सूरि सुपसन्नु इमि भणइ भविय गणि सोममुत्ति।३३।[1]

इन पंक्तियों से यह संकेत मिलता है कि यह रास मूलतः खेलने गाने के लिए लिखा गया था और इस प्रकार के रास बाद में उत्तरोत्तर आकार में बड़े होते गये तथा चरित काव्य बन कर केवल पाठ्य-विधा के रूप में परिवर्तित हो गये।

आपकी दूसरी रचना 'जिन प्रबोध सूरि चर्चरी १६ गाथा की रचना सं० १३३२ के आसपास लिखी गई क्योंकि इसमें जिनप्रबोध सूरि के पद स्थापना का वर्णन है, यथा :—

"विजयउ विजयउ कोड़िजुग जिन प्रबोध सूरिराउ,
विप्फुरत वर सुरि गुण रयण अलंकियकाउ।१।

इसका अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

"जिनप्रबोध सूरि गुरु तणिय जे चाचरि पभणति,
सोममुत्ति गणि इम भणइ पुण्य लच्छि ति लहति।१६।"[2]

जिनप्रबोध सूरि का आचार्य काल सं० १३३१ से ४० तक का है। जिनप्रबोध सूरि बोलिका मात्र १२ गाथा की छोटी रचना है। इसके आदि और अन्त के पद्य निम्नाङ्कित हैं :—

आदि 'तियलोय सामिणि हंस गामिणि, देव कामिणि पणमिया।
अन्नाण वल्लरि दलण कत्तरि, मणि धरेविणु सारया।
अन्त "लघेवि वेगिण जिमु भवोयदि, जिट्ठि पुरु पावहु थिर।
इमि सोममुत्ती भणइ तसु पय, भत्तउ वयरं वरं।१२।"[3]

इनकी चौथी रचना 'गुरावली रेलुआ' (१३ गाथा) में जिणेश्वर सूरि की वन्दना है। इसके आदि का पद्य इस प्रकार है :—

१. जैन ए० गुजर काव्य संचय पृ० २२५
२. श्री अ० च० नाहटा जै० मरु गु० क० पृ० २४ और २५
३. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० ७ और भाग ३ पृ० १४७५

"वसहि मग्गु जिणि पयड़ करि सहि,
अणहिल पाटणि वाईय जगि जस ढक्क।
सो जिणेसर सूरि गुरु रयणु मणि,
झायहिं जे नर ते संसारह चुक्क।"

इसका अन्तिम पद्य भी भाषा के नमूने के लिए प्रस्तुत है :—

"एह गुरावली जो पढइ जो मणि अवधारइ रंगिहिं जो गायइ।
सोममुत्ती गणि इय भणइ सो नरु संसारह दुहह जलंजलि देइ।"

ये सभी रचनायें १४वीं शताब्दी की अपभ्रंश मिश्रित मरुगुर्जर भाषा की कृतियाँ हैं। इनमें जिनेश्वर सूरि और जिनप्रबोध सूरि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सूचनायें हैं। अतः काव्य की अपेक्षा खरतरगच्छीय आचार्य परम्परा का परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

सोलणु—आपकी रचना चर्चरिका ३८ पद्यों की है जो प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित है। इसके प्रारम्भ में २४ जिन और सरस्वती की वन्दना है यथा :—

"जिण चउबीस नमेविणु सरसइ पय पणमेवि।
आराहउं गुरु अप्पणउ अविचलु भाव धरेवि।"

इसके दूसरे छन्द में लेखक और रचना का नाम है यथा :—

"कर जोडिउ सोलणु भणइ जीविउ सफल करेसु।
तुम्हि अवधारह धंमियउ चच्चरि हउं गाएसु।"[1]

इसमें गिरिनार पर स्थापित नेमि के दर्शनार्थ तीर्थ की यात्रा का महत्त्व बताया गया है। यात्रा के कष्ट से कुछ लोग विरत हो जाते हैं पर जो उत्साही सच्चे भक्त हैं वे सहर्ष जाते हैं और दर्शन का आनन्द प्राप्त करते हैं यथा :—

"पाइ चहुट्टइ कक्करीउ उन्हालइ लूबाई।
जे कायर ते बलिया जे साहसिय ते जाइं।"

पर्वत पर पहुँचकर यात्री गिरनार की प्राकृतिक शोभा का आनन्द पाता है यथा :—

"नीझर पाणिइ खलहलइ वानर करहिं चुकार,
कोइल सद्दु सुहावणउ तहिं डुंगरिगिरिनार।"

इसका अन्तिम पद्य देखिये :

"डुंगरडा अधोकरि लग्गउ सीयलि वाउ,
हूय पुण नवदेहडी अमुँलि कियउ पसाउ।"[2]

---

१. प्राचीन गु० का० संग्रह पृ० ७१-७२
२. वही पृ० ७४

अर्थात् पर्वत की ठंडी हवा यात्रा की सारी थकान हर लेती है और यात्री को नवस्फूर्ति प्रदान करती है।

चर्चरिका एक लोक काव्य है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसमें निश्चित तिथि नहीं है किन्तु बहिर्साक्ष्यों के आधार पर यह १४वीं शताब्दी की रचना ठहरती है।

हेमभूषणगणि—आपने सं० १३४१ के आसपास 'युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि चर्चरी' लिखी।[1] सं० १३४१ में जिनप्रबोध सूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्र सूरि आसीन हुए। उन्हीं के सम्बन्ध में २५ पद्यों की प्रस्तुत रचना श्री हेमभूषण गणि ने उसी समय की है। इस रचना से सम्बन्धित उदाहरण नहीं प्राप्त हो सका किन्तु विषय वस्तु स्वयम् प्रकाशित है।

आ० जिनदत्त सूरि से सम्बन्धित चतुष्पदी, फागु आदि अनेक रचनायें प्राप्त हैं किन्तु उनके रचनाकारों का नाम-धाम ज्ञात नहीं है।

अज्ञात कवि कृत रचनायें—अज्ञात कवियों की ऐसी कृतियों में 'जिनचन्द सूरि फागु' २५ पद्यों की एक रचना है जो सं० १३४१ के आसपास ही लिखी गई होगी। इसके प्रारम्भ में पाटण के तीर्थंकर शान्तिनाथ की स्तुति है। यह तो स्पष्ट है कि कोई खरतरगच्छीय विद्वान् ही इसका लेखक है। यह पद महोत्सव वैशाख सं० १३४१ में हुआ था अतः रचना का प्रारम्भ वसंत श्री के वर्णन से हुआ है। इसमें मदन का आक्रमण और सूरि द्वारा मदन पराजय का रूपक बाँधा गया है। वसंत वर्णन सम्बन्धी एक उद्धरण प्रस्तुत है :—

"अरे पुरि पुरि आबँला मउरिया कोइल हरखियदेह।
अरे तहिं ठए टुहकए बोलए मयणह केरिय खेह।"

यह रचना प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है। इसका प्रारम्भिक छन्द निम्नलिखित है :—

"अरे पणमवि सामिउ संत जु सिव वाडलि उरितारु
अरे अणहिलवाडा मंडणउ सव्वह तिहुयण सारु।
अरे जिण पवोह सूरि पाटिहि सिर संगमु सिरिकंतु।
अरे गाइवउ जिनचन्द सूरि गुरु, कामल देवि कउपुतु।१।

अन्त की दो पंक्तियाँ भी आगे दी जा रही हैं :—

"सिरि जिणचन्द सूरि फागिहिं, गायहिं जे अतिभावि।
ते बाउल अरु पुरुसला, विलसहिं सिवसुह सावि।"२५।

१. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १७३

छन्द सं० पाँच से बीसवें छन्द तक प्रति के त्रुटित होने के कारण मदन विजय प्रसंग नहीं छप पाया है।

अज्ञात कवि कृत 'श्री जिणचन्द्र सूरि चतुष्पदी' १० गाथा की कृति भी जिणचन्द्र सूरि पर ही आधारित है। इसका आदि और अन्त उद्धृत किया जा रहा है :—

आदि "पहिलउं प्रणमउ वीर जिणिंदु, जसुपय सेव करइ अमरिंदु।
युग प्रधान जगि हूयउ नामि, तसु पट्टि श्री सोहम सामि।[1]

अन्त "मेरु महीधरु जा गिरि सारु, महियलि जा जिणि धम्म विचारु।
जावय चंदु सूरु दिप्पंतु, तिम जिणचन्द सूरि भवि जयवंतु।"[2]

अज्ञात कवि कृत 'सप्तक्षेत्री रास'—इस प्रकार की रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय है। यह 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। इसमें रचयिता का नाम स्पष्ट नहीं है किन्तु लगता है कि इसके लेखक जयवन्त होंगे। इसकी रचना का समय स्पष्ट इंगित है यथा :—

"संवत तेर सत्तावीसए माह मसवाडउ,
गुरुवारि आवीय दसमि पहिलइ पखवाडइ।"

अर्थात् यह रास सं० १३२७ माह सुद १०, गुरुवार को लिखा गया था। इसकी कुल पद्य संख्या ११९ है। इसमें जैन धर्म के सात पवित्र क्षेत्रों-जिनमूर्ति, जिनमन्दिर, जैनशास्त्र, साधु, साध्वी और श्रावक-श्राविका का महत्त्व बताया गया है। ये उत्तम क्षेत्र हैं जहाँ लगाया हुआ धन कई गुना पुण्य पैदा करता है। दोहे-चौपाइयों में लिखा यह रास मरुगुर्जर भाषा के प्राचीन रूप का उत्तम उदाहरण है। काव्यत्व की दृष्टि से यह सामान्य कोटि की कृति है। सात क्षेत्रों का उल्लेख करता हुआ कवि लिखता है :—

"इह सातइ क्षेत्र इम बोलिया आगम अणुसारे।"[3]

रचना के प्रारम्भ की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

'सवि अरिहंत नमेवी सिद्ध सरि उवझाय,
पनरकर्म भूमि साहू तीह पणमिय पाय।
जिण सासण मांहि जा सारो, चउदह परवतणउ समुधारो।
समरिउ पंच परमिष्टि नवकारो, सप्तक्षेत्रिहिव कहउ विचारो।

१. देखिये प्राचीन फागु संग्रह
२. श्री अ० च० नाहटा म० गु० जै० क० पृ० २८
३. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ५८

प्रारम्भ में बारह व्रतों का माहात्म्य बताया गया है जिनमें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि को गिनाया गया है। जिन मंदिरों का निर्माण और जीर्णोद्धार, जिनबिंब की स्थापना और उनका महत्त्व बताया गया है। गुरु के सम्बन्ध में कवि आदरपूर्वक इस प्रकार लिखता है :—

"गुरु आवंता कीजइ अभिगमणउं दीजइ भक्ति थोभ वंदनउ।"

समय के साथ मान्यतायें बदलती हैं। इसमें गिनाये सात क्षेत्रों में से आगम ग्रंथों का लेखन, पारायण, साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका का महत्त्व तो आज भी प्रासंगिक है किन्तु स्थानकवासी जैसे सुधारवादी सम्प्रदायों के लिए जिन बिम्ब और जिन मंदिर का महत्त्व क्रमशः अप्रासंगिक होता जा रहा है। जिनभक्ति, गुरुभक्ति आज भी समग्र जैन समाज में आदर की वस्तु है अतः इस रास की उपयोगिता आज भी भाषा के अलावा धर्म की दृष्टि से भी अक्षुण्ण है। इसकी अन्तिम पंक्ति में 'जयवंत' शब्द आशीर्वचन ही लगता है किन्तु शायद यह कवि का नाम हो। पंक्ति इस प्रकार है :—

"निम्मल जे ग्रह नक्षत्र तारिका व्यापई,
जयवंत श्री संघ अनइजिन सासणु। ११९

जिन पूजा के प्रसंग में नाना प्रकार के आभूषणों और फूलों का वर्णन भी कवि ने रुचि के साथ किया है। उस समय मंदिरों में जो तालबद्ध रास, डंडिया रास आदि खेले जाते थे उनका भी संकेत इसमें मिलता है यथा:—

"बइसइ सहूइ श्रमण संघ सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता।
तीछे तालारास पड़इ, बहु भाट पढ़ंता।
अनइ लकुटां रास जोवई, खेला नाचंता।४८।
सविहू सरीषा सिणगार, सवि तेवड तेवडा।
नाचइं धामीय रंग भरे तउ भावइ रुडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता।
तालमानु छन्द गीत, मेलु वाजित्र वाजंता।४९।
तिविलां झालरि भेरु, करडिकंसाला बाजइं।
पंचशब्द मंगलीक हेतु जिणभुवणइ छाजइं।
पंचशब्द वाजंतिमाटु, अंबर बहिरंती।
इण परि उच्छवु जिणभुवणि, श्री संघु करतंउ।५०।[1]

१- श्री अ० च० नाहटा—'परम्परा' पृ० १७२-१७३

(बांछो १) अज्ञात--'बारव्रत चौपइ[1]' गाथा ४३ का विवरण श्री मो० द० देसाई ने दिया है। इन्होंने लेखक का नाम बांछो अनुमानित किया है। चौपइ का प्रथम छन्द निम्नाङ्कित है :--

"बीर जिन चरण जुग भगति स्यु बन्दीउ।
तासु मुह पेखि भुक्ष हिअय आणंदिउ।
धम्म विहु भेदि जिण नाहि पचडीकउं।
सुगुरु वयणेण मह सवण-बस मांगउं।

यह रचना ढालों में बद्ध है। इसकी भाषा के उदाहरणार्थ दो पद्य आये उद्धृत हैं :—

"मइं लद्धऊ जिण-धर्मसार, जिणि लहीअे भवजल निहि पार।
इम पालिज्जइअे अनतिचार, अे आपइ अनुक्रमि सिव उदार।४९।"

इसका अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

"संविभाग प्रति वरसना, जोग छतइ पणवीस।
उदय हुइ सर्व बिरतिनु, हुं वंछउ ते दिन जगदीस।४३।"

इस छन्द में आये 'वंछउ' शब्द से ही शायद श्री देसाईजी ने लेखक का नाम बांछो अनुमानित किया है किन्तु यह कामना के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है।

अज्ञात कवि कृत 'स्तम्भतीर्थ अजित स्तवन[2]' २५ गाथा की रचना सं० १३४१ में हुई है। इसकी प्रतिलिपि श्री अ० च० नाहटाजी के संग्रह में है। इसका प्रथम पद्य निम्नाङ्कित है :—

"लावन्नमय कलियं सोहग्ग विलास बंधुरं धणियं।
पणमेविण जिण भजियं तस्से भणामि किं चरियं।"

इसकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। इसका अन्तिम छन्द देखिये जिसमें रचनाकाल का संकेत भी है--

"जो नयरि पल्हणि सूरि जिणेसर हत्थि कमलि पयट्ठिऊ।
विक्कम तेरह ईगुणवीसइ बहुय देव अहिट्ठिऊ।
तित्तीस भूरि गुरुव अेसहिं खंभ नयरि समाणिउ।
इकताल वच्छरि देव मंदिरि देव सु विहि संघि निवेषिउ।२४।"

खंभात (स्तम्भतीर्थ) में अजित भगवान् की प्रतिष्ठा का उल्लेख इसमें मिलता है। रचना सामान्य कोटि की है। भाषा में एकरूपता नहीं है। कहीं संस्कृत की तो कहीं अपभ्रंश की छाप दिखाई देती है।

१. श्री मो० द० देसाई—जैं० गु० क० भाग ३ खड २ पृ० १४७५
२. श्री मो० द० देसाई—जैं० गु० क० भाग ३ खड १ पृ० ४०२

अज्ञात कवि कृत 'अनाथी कुलक[1]' (३६ कड़ी) का समय भी १४ वीं शताब्दी है। इसका प्रथम छन्द जिन वंदना से सम्बन्धित है यथा—

"पणमिवि सामीय वीर जिणिंद लोयालोय पयास दिणिंदा।
अन्नाथिय अजाणमेअ, भणिसि किंपहि तुहि निसुणेउ।"

अन्त में कवि कहता है : -

"केवल सरि सइवर आवेइ, क्रमि क्रमि सिद्धि सुष पामेइ।
पढ़इ, गुणइ जो ऐह चरित्तो, विधिहुं थुणिउ तस जनम पवित्तो।
ते संसार दुख परिहरी, जाइ बसेसि ते सिवपुरी।"

इसकी भाषा स्पष्ट और सरल मरुगुर्जर (पुरानी हिन्दी) है। 'ते संसार दुख परिहरी' अर्द्धाली तो तत्कालीन हिन्दी का भी अच्छा उदाहरण है। इसमें अनाथी मुनि का जीवनादर्श प्रस्तुत किया गया है।

अज्ञात कवि कृत 'धना संधि' (६१ गाथा) १४ वीं शताब्दी की रचना कही गई है।[2] इसमें तपस्वी धन्ना के तप के माध्यम से तप का माहात्म्य समझाया गया है। इसका प्रथम छंद देखिये :—

"समरिय समरस तणउ निहाण, वीर जिणेसर तिहुयण भांण।
वीर कहइ जो नवमइ अंगइ, धन्ना संधि कहिसु मन रंगइ।१।

प्रथम छंद की भाँति ६० वें छंद में भी वीर भाषइ' शब्द आया है और ऐसा लगता है कि यह 'वीर' शब्द कवि के नाम का सूचक है। छंद देखिये :—

"सहस्स छत्रीस साहुणी (सा) रऊ चद सहस्स मुनिवर परिवार।
तेह मांहि धन्नु तपसी दीषइ श्रेणिक आगलि श्री वीर भाषइ।"

यहाँ वीर भगवान् महावीर का भी अर्थ देता है। अस्तु; इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

"तपथी काया निरमल थाइ, कुमन कुचित्त अे दूरि पुलाई।
अे तप सोहग-तरुवर कंद, तपि लहियइं जग परमाणंद।"

इसकी भाषा तत्कालीन लोक प्रचलित सरल मरुगुर्जर है। अज्ञात कवियों द्वारा लिखित १४ वीं शताब्दी में मरुगुर्जर साहित्य के अन्तर्गत ऐसी छोटी-छोटी कृतियों का मिलना स्वाभाविक है क्योंकि उस समय तक इस नवोदित भाषा के साहित्य का सही मूल्याङ्कन न हो पाने के कारण रचनाओं और रचनाकारों पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया होगा।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०७
२. वही ३ पृ० ४०८

अज्ञात कवि कृत 'अनाथी मुनि चौपइ'[1] (६३ गाथा) इसी शताब्दी की रचना है। इसका प्रथम पद्य प्रस्तुत है :—

"सिद्धि सविहु नइ करुं प्रणाम, ते पणि पामउं उत्तम ठाम।
सिद्धि सविहूं नमू करजोड़ि, भव भवना जिम भाजूं खोडि।१।

उत्तराध्ययन में वर्णित अनाथी मुनि की कथा के आधार पर किसी अज्ञात कवि ने यह चौपइ लिखी है। इसका अन्तिम छन्द निम्नाङ्कित है :-

"पक्षीनी परि हलूया थाय, मोह वगति वचारण अे मनसांहि।
अनाथी कुमर तणी चउपइ, उत्तराध्ययन वी समई कही।६३।"

इसकी भी भाषा सरल, स्वाभाविक मरुगुर्जर है। लगता है कि ऐसी तमाम रचनायें सामान्य जनता के उपदेशार्थ सामान्य कवियों द्वारा जन-भाषा में लिखी गईं और उनके विवरण आदि सुरक्षित नहीं रखे जा सके। इसकी प्रति मुनि जसविजय के संग्रह में सुरक्षित है।

अज्ञात कवि कृत 'केसी गोयम संधि' भी इसी समय की रचना है। १४ वीं शताब्दी में संधि संज्ञक रचनायें लिखी जानी प्रारम्भ हुईं, और इनकी परम्परा १७ वीं शताब्दी तक चलती रही। धना संधि की चर्चा पहले की गई है। तेजा कृत 'आनन्द संधि', जयशेखर सूरि कृत 'शीलसंधि' आदि इसी प्रकार की रचनायें हैं जो अपभ्रंश-मिश्रित भाषा में लिखी गई हैं। श्री अ० च० नाहटा ने अपने निबन्ध 'अपभ्रंश भाषा के संधि काव्य की परम्परा' में ऐसी रचनाओं का परिचय दिया है जो 'राजस्थानी निबन्ध माला' में प्रकाशित है। 'केसी गोयम संधि गाथा ७०' का परिचय श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४११ पर दिया है और उसे १४ वीं शती की कृति कहा है। उसकी अन्तिम कड़ी इस प्रकार है :—

"इय करवि विचारुसंजमभारु, पालेविण जे मुक्ख गया।
ते गोयम केसी चिंति निवेसी झायह भवीय आणंद भया।७०।"

श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ खण्ड २ पृ० १४७४ पर 'केसी संधि' नामक एक कृति का उल्लेख १३ वीं शताब्दी में भी किया है। हो सकता है ये दोनों एक ही रचनायें हों या दोनों दो शताब्दियों की अलग-अलग अज्ञात कवियों द्वारा लिखी गई दो रचनायें हों, यह अनिर्णीत है।

हेमतिलक सूरि शिष्य कृत हेमतिलक सूरि संधि' (गाथा ४०) भी इसी समय की रचना है। हेमतिलकजी नायोरु नगर के गंधी परिवार के बीजउ साहु के पुत्र थे। बालक का नाम दोलउ पड़ा। एक बार गड्डगच्छ

---

1. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०८

के जयशेखर सूरि नायउरि गये और उनके उपदेश से वैराग्यवान होकर बालक ने उनसे दीक्षा ली। इस संधि में इन घटनाओं के साथ हेमतिलक सूरि के संयम, तप, विहार और शरीर त्याग तक का वर्णन मिलता है। रास के विषयवस्तु और भाषा का परिचय देने के लिए दो छन्द आगे प्रस्तुत हैं :—

"मुणिहिं मुणीतइ समइ सुहारसि। बारहत्तरइ माह बदि बारसि।[1]
गच्छ सीख देविणु मुह चित्तू। हेमतिलक सूरि दिव संपत्तू।
जसु महिम करतंह गणि गुणवंतह, जिण सासणु उज्जोइयओ।
सो गुरु निअ गच्छहं अणु मुणि सत्थहं संघहमण वंछिय दियओ।

यह कृति 'परिषद पत्रिका' में प्रकाशित है। इसकी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इसकी भाषा में कहीं-कहीं व्यञ्जनलोप की प्रवृत्ति के अलावा अपभ्रंश का अनावश्यक प्रभाव लक्षित नहीं होता। इसमें मरुगुर्जर भाषा का सहज आभास मिलता है।

अज्ञात कवि कृत 'युगवर गुरु स्तुति' (गाथा ६) १४ वीं शताब्दी की रचना है जिसे जिनचन्द्र सूरि के किसी अज्ञात शिष्य ने लिखा है। इसके प्रथम छन्द में ही जिनचन्द्र सूरि के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनायें हैं, यथा :-

"देघा कुलि सिरि देवराय मंती सुपसिद्धउ।
कोमल देवि कलत्त तासु सीलहि सुपसिद्धउ।
तास पुत्त सिरि खंभराउ बालुवि गुण सायरु।
लइय दिक्ख गुरु रायपासि, सिक्खइ किरियाकरु।
जाबालि नयरि वीरह भुवणि जिण पबोह गुरु चक्कवइ।
जिणचंद सूरि तसु नामु धरि गुरु उच्छव नियपयठवइ।"[2]

इसका अन्तिम छन्द आगे उद्धृत है जिसकी भाषा पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव प्रकट होता है :—

"गणहर सुहम्म सामिय पमुह दुप्पसह सूरि पज्जंते।
वंदे कय कल्लाणे गुणप्पहाणे गुण विहाणे।६।"

इसका अनुमानित रचना काल सं० १३४१ के आसपास होना चाहिये।

अज्ञात कवि कृत 'अंतरंगरास' (६७ कड़ी) भी इसी समय की कृति है। इसका प्रथम छन्द निम्नाङ्कित है :—

---

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ३०
२. वही

"श्री जिनवर पाअे नमी प्रणमी मुनिराय।
शरणागत हूँ आवीऊ स्वामी तम्ह पाय।
वीर जिणेसर वीनवुं करउसेवक सहकार।
बार बिलंब खमइ नहीं तह्मे जगि आधार।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

"सकल हुज्यो मन बीनती होज्यो स्वामी सेव।
सद्गुरु पाअे सेवा हुज्यो भवि भवि हव देव।६७।[1]

इसकी प्रतिलिपि जस विजय संग्रह से प्राप्त हुई।

अज्ञात कवि कृत 'कर्मगति चौपइ' में जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त 'कर्मविपाक' के महत्त्व को बताया गया हैं। इसमें कुल ३८ छन्द हैं। इसका प्रथम छन्द मंगलाचरण है यथा :—

"वीर जिणेसर पाय नमेवि, समरऊं अंबिक सासण देवि।
सरसति मुझ मति दइ सारदा, कवीयण नाम जयइं तुझ सदा।१।
स्वामिणि वर्णिसु कर्म प्रबन्ध, जेहना मोटा घणा संबन्ध।
जीव योनि चउरासी लाख, सहू विगूचइ कर्म विपाक।

इसका अन्तिम पद्य भाषा के उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा रहा है–

"वर्धमान श्री वीर जिणंदा, जस पइ सेवइं सुरनर इंदा।
गुण अनंत गुरअडि तुझ तणी, वीतराग तुं त्रिभुवन धणी।
करूं बीनती बे कर जोडि आठ कर्म वंधण मुझ छोडि।
तुंहजि दयापर देव जिणंद सेवक नइ मति करि आणंद।३८।"[2]

अज्ञात कवि कृत 'रत्न शेखर रास' या 'चतुःपर्वी रास' एक बड़ी रचना है। इसकी प्रति में २६८ पद्य हैं। इसमें दोहा, चौपाई के साथ कई प्रकार के देशी, ढाल आदि का प्रयोग किया गया है किन्तु रचनाकाल या अन्य विवरण नहीं दिये गये हैं।

इसका प्रथम दोहा देखिये :—

"सयल सिद्धि मन शुद्धि नमी तीर्थंकर जिनराय।
चौसठि सुरवर भत्तिम्भर नमि निरंतर पाय।

इसका अन्तिम पद्य प्रस्तुत है :—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४०९

२. वही पृ० ४१०

असु कवियण कहे मदमोडि, धरमि सरव टले वली खोडि ।
धरमइं लहइ संपदा कोडि, वरीइ सिव रमणीनी जोडि ।२६८।[1]

लगता है कि इसकी अन्तिम कुछ कड़ियाँ छूट गई हैं और यह प्रतिलिपि अपूर्ण है । शायद आगे की कड़ियों में रचना और रचनाकार सम्बन्धी विवरण रहा हो ।

अज्ञात कवि कृत **'मातृका चउपइ'** प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित है । इसमें संयम का संदेश दिया गया है । इसमें कुल ६४ छन्द हैं । इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

"त्रिभुवन सरणु सुमरि जगनाहु जिव फिट्टइ भव दवं दुहदाहु ।
जिणि अरि आठ करम निर्द्दलीय नमो जिन जिम भवि नावउवलिय ।[2]

शरीर की क्षणभंगुरता की उपमा कमलपत्र पर पड़े जल विन्दु से देता हुआ कवि संसार की असारता का संकेत इस प्रकार करता है :—

"उप्पल दल ऊपरि जिमनीरु तेसउँ चंचलु जीव सरीरु ।
धणु कणु रइणु सइणु तिम सहू दीसइ धम्म एक्कु घर रहू ।१५।

यह संसार दुःख का भंडार है "इणि संसारि दूख भंडारि', इस भव सागर को वही पार कर सकता है जिसने समकित (जैन धर्म की दीक्षा) स्वीकार कर लिया हो, यथा —

"एकह परि पामिसि भवपारु जइ समकित कर अंगीकारु ।
वीरनाथु कहइ आगमि तोइ, विणु समकित सिद्धनवि होइ ।"[3]

कवि का दृढ़ विश्वास है कि जिण उपासना के बिना उद्धार नहीं हो सकता :—

"जग तारणु जिउ जग आधारु, जिण विणु अवरि नहीं भवपारु ।'

जैन साहित्य के भक्तिभाव का एक उदाहरण निम्न पंक्तियों में अवलोकनीय है :—

'णव णव परि मग्गउ भव चारु, सामीअ अम्हारीय सारु ।
असरण सरणु तुहुं जिजगनाहु, भवि पडंत अह्म देजे बाहु ।"

रचना का अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

"जा ससि सुरु भूयणु व्याप्पंति, जा ग्रह नक्षत्र तारा हुंति ।
जा वरतइ बसुह व्याप्पंति तां सिवलच्छि करउ मंगल चारु ।६४।

इसकी भाषा में प्रासादिकता और प्रवाहशीलता है । भाषा अपभ्रंश के आग्रह से मुक्त स्वाभाविक मरुगुर्जर है ।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४१०
२. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ७४
३. वही पृ० ७५

श्री अगरचन्द नाहटा ने अज्ञात कवि कृत एक रचना **'मातृका बावनी'** की सूचना दी है। मातृका चउपइ और मातृका बावनी अलग अलग रचनायें हैं जैसा कि दोनों के आदि और अन्त के छन्दों से स्वतः स्पष्ट है। **'मातृका बावनी'** के आदि और अन्त की पंक्तियाँ मिलान के लिए प्रस्तुत की जा रही हैं :

आदि "भले भणं माइ धरु जोइ, धम्मह मूलु सुसमकतु होइ।
समकतु विणु जा क्रिया करेइ, तातह लोहि नीरु धालेइ।"

अर्थात् सम्यकत्व के बिना सभी क्रियायें वैसे ही काफूर हो जाती है जैसे गर्म तवे पर पड़ी जल की बूँदें क्षण भर में छनछना कर लुप्त हो जाती हैं। इसका अन्तिम पद्य देखिये :

"एहु विचारु हियइ जो धरइ, सूधउं धम्मु विचारिउ करइ।
सुहगुरु तणा चलण सेवंति, ते नर सिद्धि सुक्खु पावंति।
जइ संसारु तरवेउ करउ, सतगुरु तणा वयण अणुसरहु।
जइ संसारह करिसउ छेहु, सुद्धं धम्मु विचारिउ लेहु।"[1]

चौदहवीं शताब्दी में बोली, कलश, स्तवन और स्तोत्र जैसी छोटी-छोटी अनेक रचनायें अज्ञात कवियों द्वारा लिखी हुई प्राप्त हैं जिनका विवरण श्री अ० च० नाहटा ने 'मरुगुर्जर जैन कवि' में दिया है। आदिनाथ बोली, श्री नेमिनाथ बोली (गा० ७) श्री स्थूलिभद्र बोली (२८ गा०) आदि बोली काव्यविधा के साथ कई कलश जैसे श्री युगा दिदेव जन्माभिषेक कलश (गाथा २०) श्री चन्द्रप्रभ स्वामिकलश (११ गा) श्री वासुपूज्य कलश (गा० ८), शान्तिनाथ कलश (गा० १०), श्री वीरजिण कलश (गा० ५) सर्वजिन कलश आदि कलश सम्मिलित हैं। स्तवनों के अन्तर्गत सीमधंर स्वामी स्तवनम्, कोका पार्श्वनाथ स्तवन (गा० ३०), गिरनार तीर्थ स्तवनम्, जिनस्तवना, साऊका पार्श्वनाथ स्तवनम् के अलावा तमाम पद, गीत, वीनती नामक रचनाओं का विवरण उक्त ग्रन्थ में देखा जा सकता है। उन्हें ज्यों का त्यों दुहराने से कोई लाभ नहीं है। भाषा के नमूने के लिए उक्त रचनाओं से दो-चार उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। इनमें से किसी की भाषा पर अपभ्रंश का मुलम्मा और कहीं मरुगुर्जर पर संस्कृत का पानी चढ़ाया गया है। संस्कृत की गमक निम्न पंक्तियों में देखिये :—

"देव देविंद विंदेंण गिरि मन्दरे देव चन्दप्पह स्सामिणो सुन्दरे।
जम्म मज्जण महो जह समारंभिओ, किंपि जंपेमि संपइ तहाँ विम्हिओ।"[2]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ३८
२. श्री चन्द्रप्रभ स्वामी कलश—वही पृ० ४१

इसी प्रकार अपभ्रंश का मुलम्मा 'युगादिदेव कलश' की इन पंक्तियों में साफ झलक रहा है :—

जस्स पय पंकयं निप्पडिम रुवयं सुर असुर नर खयर वयसी कपं ।[1]
तस्स रिसहस्स भत्तीइ मज्जण विहिं, किंपि पभणेमि तुम्हि कुणह
सवणातिहिं ।

अधिकतर कृतियों की भाषा सहज, सरल मरुगुर्जर है जिनके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। 'स्थूलिभद्र गीतम्' (गा० ८) की भाषा का नमूना देखिये :

"तासुदेखि गुण गुरि मन रंजिउ दुक्खरु भासइ ।
तसु गुण थणिवि करिवि जो भासइ, तसु घरि सिरि आवासइ ।"[2]

यहीं नहीं, कहीं कहीं भाषा काव्योचित प्रवाहमय और मधुर भी है यथा—

"सिरि सोहंत फणामणि मालं, अट्ठमि चंद सरिख सम भालं ।
रवि ससिहर कुंडल संकासं वंदे साऊ जिणहरि पासं ।[3]

अन्त में 'श्री अंतरीक पार्श्वनाथ स्तवनम्' की अन्तिम पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें किसी अज्ञात कवि ने वाराणसी के पार्श्वनाथ का उल्लेख किया है—

"पोस दसमिहि पोस दसमिहि जम्मु सुपसिद्धु ।
वाराणसि वरनयरि आससेग नरनाह मंदिरि ।
वम्मा उरि संभालिउ मेरुसिहरिन्हविउ पुरंदरि ।
कमठ असुर गय मय महणि, केसरि जिम वलवंतु ।
सिरिपुर मंडणु पास जिणु, अतंरीउ जयवंतु ।५।[4]

१४वीं शताब्दी की इस रचना में 'वाराणसी' शब्द का प्रयोग इस शब्द के प्राचीन प्रचलन का उदाहरण है। पार्श्व भगवान की यह जन्मस्थली है। इसमें सिरीपुर के पार्श्वनाथ (अन्तरीक) की वंदना है।

१. श्री अ० च० नाहटा—मरु गु० जै० कवि पृ० ४१
२. वही पृ० ५३
३. वही पृ० ५७
४. वही पृ० ६२

ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में अज्ञात कवि कृत एक गीत 'जिणदेव सूरि गीत' शीर्षक से संकलित है। सम्पादक इसे १४वीं शताब्दी में लिखा गया मानते हैं। अतः उसका भी संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। जिणदेव सूरि जिणप्रभ सूरि के पट्टधर थे। शाह कुलधर इनके पिता और वीरणी उनकी माता थी। आपने अपने दादागुरु जिनसिंह सूरि से दीक्षा ली थी और अपने व्यक्तित्व तथा वक्तृत्व से शाह मुहम्मद को प्रभावित किया था। आप ज्ञान-विज्ञान, छन्द-अलंकार, काव्यशास्त्र और नाटक आदि के उत्तम ज्ञाता थे। आपके दो पट्टधर हुए, एक जिनमेरु और दूसरे जिनचन्द्र सूरि। इस गीत में यह सब विवरण संक्षेप में दिया गया है। इसमें कुल आठ ही छन्द हैं। इसका प्रारम्भिक छन्द निम्नांकित है—

"निरुपम गुण गण मणि निधानु संजमि प्रधानु'
सुगुरु जिणप्रभ सूरि पट उदयगिरि उदयले नवल भाणु।"

उनके प्रभाव से मुहम्मद शाह ने कन्नाड़ापुर मंडण वीरप्रभु को सम्मानित किया था। यथा :—

"जेहि कन्नाड़ापुर मंडणु सामिउं वीर जिणु।
महमदराइ समप्पिउं थापिउ सुभलगनि सुभदिवसि।
घणु जिनसिंह सूरि दिखियाउ धनुचन्द्र गच्छ,
धनु जिणप्रभ सूरि निजगुरु जिणिनिज पाटिहिं थापियउ।"[1]

शास्त्र ज्ञान और तपश्चर्या में इनकी तुलना वज्रस्वामी से की गई है। इन्हें वादियों का गर्व चूर्ण करने वाला कहा गया है। इसके अन्त की पंक्तियाँ देखिये :—

"वादिय मलगल दलण सीहो विमल सीलधरु।
छत्रीस गुणधर गुण कलिउ चिरजयउ जिणदेव सूरि गुरु।"

कुछ विशेष प्रकार की काव्य विधाओं का प्रारम्भ १४वीं शताब्दी की विशेष साहित्यिक उपलब्धि है इनमें संधि, रेलुआ, धवल, चर्चरी, कलश, चंद्रायणा, बावनी, बोली, धुल आदि उल्लेखनीय हैं और इनके उदाहरण दिये गये हैं। काव्य प्रकारों के सम्बन्ध में श्री नाहटा का तत्सम्बन्धी लेख ना० प्र० पत्रिका, वाराणसी में पठनीय है जिनका संदर्भ यथास्थान

१. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० १४

दिया गया है। 'कलश' नामक काव्यरूप के कई उदाहरण मरुगुर्जर जैन कवि में संकलित है जिनसे अनुमान होता है कि यह काव्य विधा शायद उस समय लोक प्रचलित थी। बोली और धुल संज्ञक एकाध रचनायें ही उपलब्ध हुई हैं जैसे स्थूलिभद्र बोली (गाथा २८) अज्ञात कवि कृत रचना है।[1] मंत्री धारिसिंह कृत श्री नेमिनाथ धुल का परिचय दिया गया है यह शायद धवल की रूपान्तर है। इस काल में तलहरा' संज्ञक एक ही रचना प्राप्त हुई है और संभवतः इसकी परम्परा आगे नहीं चल पाई। अज्ञात कवि कृत 'अम्बिका देवी पूर्व भव तलहरा' नामक ३० पद्यों की इस रचना को श्री अ० च० नाहटा जी ने 'हिन्दी अनुशीलन' में प्रकाशित कराया था।

□

1. श्री अ० चं० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० ४७

अध्याय ४

मरु-गुर्जर जैन साहित्य (१५ वीं शताब्दी)

१५ वीं शती के मरु-गुर्जर जैन साहित्य की पीठिका

राजनीतिक पृष्ठभूमि

सं० १३५६ में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात पर अधिकार किया और अपने साले तथा विश्वसनीय सरदार अलप खाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। गुजरात अभियान के समय उसने एक हजार दीनार में मलिक काफूर नामक एक दास को वहीं क्रय किया। यह गुजरात का हिन्दू था और बाद में मुसलमान बन गया। यह रूपवान और गुणवान था। इसने अपने रूप और गुण से सुल्तान को वश में कर लिया था। अलाउद्दीन के अन्तिम दिनों में वह साम्राज्य का एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता हो गया था। उसकी सत्ता और शक्ति लोलुपता बढ़ती गयी। उसने साम्राज्य को स्वयं हस्तगत करने के लिए तरह-तरह की चालें चलनी शुरू की। सर्वप्रथम उसने अलप खाँ को मरवा कर अपने मार्ग से प्रतिद्वन्दी को हटा दिया। अलप खाँ बादशाह का केवल साला ही नहीं था बल्कि वह बड़े शाहजादे खिज्र खाँ का श्वसुर भी था और चाहता था कि खिज्र खाँ को राजगद्दी पर शीघ्र बैठाया जाय। अलप खाँ की मृत्यु के बाद मलिक काफूर ने बादशाह से वसीयत लिखवा कर खिज्र खाँ की जगह सबसे छोटे शाहजादे शहाबुद्दीन को राजगद्दी का वारिस घोषित कराया। खिज्र खाँ को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। अलाउद्दीन की रुग्णावस्था और निरन्तर बढ़ती अक्षमता के कारण साम्राज्य में जगह-जगह विद्रोह होना शुरू हो गया। अलप खां के मरते ही गुजरात में विद्रोह हो गया। चित्तौड़ से भी सुल्तान के अधिकारियों को खदेड़ दिया गया। देवगिरि और पश्चिमी सीमांत प्रदेश में भी विद्रोह भड़क उठा था। अलाउद्दीन विवशतापूर्वक जीतेजी अपनी आंखों के सामने अपने साम्राज्य को टूटते और तहस-नहस होते देख कर पागलों की तरह बौखला उठा था। अन्ततः सं० १३७३ में उसकी तड़प-तड़प कर मृत्यु हो गई। यह भी कहा जाता है कि उसके खूबसूरत दास मलिक काफूर ने उसे विष देकर मरवा डाला था।

उसकी मृत्यु के बाद अपनी पूर्व योजना के अनुसार उसने ६ वर्षीय शहाबुद्दीन उमर को सम्राट् घोषित कर सत्ता पर पूरा कब्जा जमा लिया। उसने अलाउद्दीन की विधवा मलिका-ए-जहां और खिज्र खां के दो छोटे भाइयों-शादी खां और मुबारक खां को भी बन्दी बना लिया और साम्राज्य

पर नामधारी सुल्तान शहाबुद्दीन उमर के नाम पर स्वयं निरंकुश शासन करने लगा, किन्तु अलाउद्दीन की मृत्यु के कुल ३५ दिन बाद ही मलिक काफूर का भी वध कर दिया गया। शहाबुद्दीन उमर को हटा कर उसका बड़ा भाई कुतुबुद्दीन मुबारक शाह राजगद्दी पर बैठा। यह भी अत्यधिक विलासी और अकर्मण्य था। अपने दास खुसरो पर वह पूर्णतया आश्रित रहने लगा। खुसरो भी गुजरात का हिन्दू था जो बाद में मुसलमान हो गया था। वह बड़ा चालाक था। जब गुजरात में अलप खां के समर्थकों ने विद्रोह किया तो उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचलने में खुसरो की चालाकी से मुबारक शाह को बड़ी कामयाबी मिली थी अतः शीघ्र ही मुबारक शाह उसके चंगुल में फँस गया। गद्दी पर बैठते ही मुबारक शाह ने अपने तीनों भाइयों का वध करवा दिया और खुसरो पर पूर्णतया आश्रित हो गया। सं० १३७७ में (कुल चार वर्ष बाद) खुसरो ने मुबारक शाह का वध करवा दिया और राजसत्ता स्वयं हस्तगत कर लिया। यह बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। इसके अत्याचार जब काफी बढ़ चले तो उसका विरोध करने के लिए अमीर-उमरा एकजुट होने लगे। जूना खां (पीछे मुहम्मद तुगलक) ने अपने पिता गाजी मलिक को, जो पंजाब का सूबेदार और एक शक्तिशाली सरदार था, दिल्ली बुलवाया। गाजी मलिक ने चार-पांच महीने के भीतर ही खुसरो का वध करके गयासुद्दीन तुगलक के नाम से सल्तनत पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार खिलजी वंश चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक समाप्त हो गया और दिल्ली की गद्दी पर नये राज-वंश (तुगलक वंश) का शासन प्रारम्भ हुआ।

तुगलकों ने सं० १३७७ से सं १४७० तक लगभग एक सौ वर्ष दिल्ली पर शासन किया। राजसत्ता तो बदली किन्तु अ० खिलजी की हिन्दू विरोधी नीति, लूटपाट और अत्याचार का क्रम बन्द नहीं हुआ। अस्थिर शासन और अधिकारियों के अत्याचार-शोषण के विरुद्ध गुजरात और राजस्थान में प्रतिरोध भी होता रहा। विद्रोह की आग भी सुलगती रही। मु० तुगलक के समय गुजरात में अफगान, तुर्क, राजपूत सत्ताधारियों और हिन्दू राजाओं ने मिल कर विद्रोह कर दिया। उस समय गुजरात का शासक मलिक मकबूल था। विद्रोहियों ने उस पर आक्रमण करके शाही खजाना लूट लिया। विद्रोह की खबर पाकर मु० तुगलक गुजरात पहुँचा। उस समय वहां 'तगी' नामक एक मोची विद्रोहियों का नेतृत्व कर रहा था। तगी ने नैहरवाला, खम्भात, भड़ौच आदि कई स्थानों पर कब्जा कर लिया था। मु० तुगलक के गुजरात पहुँचने पर तगी वहां से भागकर थट्टा

(सिन्ध) चला गया। सुल्तान भी थट्टा की तरफ रवाना हुआ किन्तु रास्ते में बीमार पड़ा और सं० १४०८ में उसका देहान्त हो गया। यह एक असफल शासक समझा जाता है और नये सिक्के चलाने, राजधानी बदलने जैसे कार्यों के कारण पागल भी समझा जाता है किन्तु वह प्रतिभावान, सहिष्णु और ईमानदार व्यक्ति था। उसमें धार्मिक कट्टरता नहीं थी। गुजरात के महान् जैनाचार्य जिनप्रभसूरि सं० १३८५ में इससे मिले थे। उसने इन्हें पर्याप्त सम्मान दिया था तथा जैन धर्म की उन्नति के लिए अनेक आदेश जारी किए थे। वह उदारतापूर्वक धन दान भी देता था। उसके शासन काल में जैन धर्म के लिए सरकारी वातावरण पूर्णतया अनुकूल रहा।

उसके बाद फिरोज तुगलक सं० १४४५ तक शासन करता रहा, इसके स्थिर शासन-काल में १५ वीं शती का पूर्वार्द्ध रोजी, व्यापार और प्रजा के जीवन यापन के कार्य कलापों के लिए सुविधाजनक था। इसकी मृत्यु के बाद गद्दी के दो दावेदार हो गये और परस्पर छीना-झपटी करने लगे। सं० १४५१ में मुहम्मदशाह गद्दी पर बैठ गया किन्तु नसरत खाँ गद्दी हथियाने की जीतोड़ कोशिश करता रहा। केन्द्रीय सत्ता विभाजित और कमजोर हो गई। मौका पाकर गुजरात, मालवा के सूबेदार स्वतन्त्र हो गये। सं० १४५५ में तैमूरलंग भारत पर चढ़ आया। वह बड़ा क्रूर और महत्वाकांक्षी था। उस खूंखार लुटेरे ने कत्लेआम और जमकर लूट-पाट की। अगणित लोगों को दास बनाया। कहा जाता है कि प्रत्येक सैनिक को बीसों दास-दासियां मिली थीं। मुहम्मदशाह युद्ध क्षेत्र से भागकर गुजरात की तरफ चला गया और तैमूर के जाने के बाद पुनः दिल्ली लौटा। सं० १४६९ तक किसी प्रकार वह गद्दी पर बना रहा। उसकी मृत्यु के साथ ही तुगलक वंश समाप्त हो गया और सैयद खिज्रखां ने सैयद वंश की नींव डाली। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से १५ वीं शताब्दी के तीन चरणों में दिल्ली सल्तनत पर तुगलक वंश का शासन रहा और उनकी नीतियां ही देश की सामाजिक स्थितियों का निर्धारण करती रहीं। इस शताब्दी के अन्तिम चरण में तैमूर का आक्रमण, तुगलक वंश का अन्त और सैयद वंश की स्थापना महत्त्वपूर्व राजनीतिक घटनायें हैं जिनका भारतीय जन-जीवन पर व्यापक एवं दूरगामी प्रभाव पड़ा।

१४ वीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत में दो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे। सं० १३७७ में मुबारक शाह के वध के साथ खिलजी वंश का अन्त

और उसके स्थान पर गयासुद्दीन तुगलक के गद्दी पर बैठने के साथ-साथ तुगलक वंश के शासन काल का प्रारम्भ। इस प्रकार १४ वीं शताब्दी के तृतीय चरण से लेकर १५ वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक दिल्ली में तुगलकों का शासन रहा। इनके शासनकाल के अन्तिम दिनों में अमीर तैमूर का आक्रमण देश के लिए सबसे भयंकर दुर्घटना साबित हुई। परिणामतः लड़खड़ाती हुई तुगलक शक्ति का पतन हो गया और दिल्ली की राजलक्ष्मी सैयदों के हाथ चली गई।

सांस्कृतिक पीठिका—इस काल में विभिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए। बहमनी, विजयनगर, गुजरात, मालवा और जौनपुर के स्वतन्त्र राज्य इसी समय स्थापित हुए थे। इन स्वतन्त्र राज्यों में कला-साहित्य और धर्म-दर्शन की स्थिति सँभली। विविध कलाओं में नवीन प्रान्तीय शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। फिरोज तुगलक असहिष्णु और अविवेकी बादशाह था। उसने अधिकारियों को नकद-वेतन देने के बजाय जागीर देने की प्रथा को प्रश्रय दिया। इन जागीरदारों ने साम्राज्य के भीतर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। वह स्वयम् अयोग्य था और खर्च का बोझ साम्राज्य पर बढ़ रहा था। फलतः प्रजा का शोषण बढ़ गया। सं० १४५६ में गुजरात की राजधानी अहमदाबाद बनाई गई। राजधानी बदलने में नाम से एकबार पुनः प्रजा कांपी थी किन्तु कोई बड़ा हादसा नहीं हुआ।

इस कठिन काल में जैन साधु और आचार्यों ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से शासकों को प्रभावित कर धर्मरक्षण एवं सम्बन्धित साहित्य-सृजन का महत्त्व-पूर्ण कार्य बराबर जारी रखा। वे धर्म-ग्रन्थों की रचना तथा उनकी सुरक्षा का उपाय करते रहे। कृष्णर्षि गच्छ के महेन्द्र सूरि ने मुहम्मद शाह को अपनी निर्लोभ वृत्ति और अपरिग्रह भाव से काफी प्रभावित किया था। उसने भी इनकी महात्मा के रूप में बड़ी अभ्यर्थना की थी। इस सम्बन्ध में रणजीत राम का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "अलाउद्दीन खिलजी के सरदारों ने जब गुजरात के हिन्दू राजाओं को पराजित कर दिया उस समय जो अंधाधुंधी और अव्यवस्था का समय आया उसमें ब्राह्मणों ने शारदा देवी की सेवा त्याग दी किन्तु मन्दिरों की रक्षा, धर्म की प्रभावना और शारदा देवी की उपासना में जैन साधु निरन्तर लगे रहे।[1] इस युग के जैनाचार्यों में खरतरगच्छीय जिनराज सूरि ने

१. श्री मो० द० देसाई जैन—साहित्यनो इतिहास पृ० ४४८।

सं० १४४४ में आदिनाथ की प्रतिष्ठा चित्तौड़ में कराई और सं० १४४९ में खंभात के श्रीमाली हरपति शाह ने गिरनार के नेमिनाथ प्रासाद का जीर्णोद्धार कराया। मन्दिर-मूर्ति की प्रतिष्ठा, संघयात्रा, पुस्तक-लेखन एवं विहार और प्रवचन द्वारा धर्म की प्रभावना का कार्य करनेवाले जैनाचार्यों में खरतरगच्छीय आचार्य जिनभद्र सूरि और जिनवर्द्धनसूरि का नाम चिर स्मरणीय रहेगा। इन्होंने अनेक जिनालयों की प्रतिष्ठा कराई, पुस्तक-भंडार स्थापित करवाये, जगह-जगह पुस्तकालयों की स्थापना करवाई। पुस्तकों की जीर्ण-प्रतियों और नष्ट मूर्तियों का उद्धार करवाया। जिन वर्द्धन सूरि ने पिप्पलक शाखा का प्रवर्त्तन किया।

तपा० आ० सोमसुन्दरसूरि इस युग के युगपुरुष थे। गुर्जर साहित्य के इतिहास में (सं० १४५६ से १५०० तक) १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध उनके नाम से सोमसुन्दर युग कहा जाता है। वे इस काल के साहित्य महारथी थे। जैनाचार्यों में उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और वे राजमान्य आचार्य थे। इन्होंने धर्म की प्रभावना में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। इसी प्रकार अन्य साधु-साध्वियों ने इस विपरीत काल में भी धर्म की रक्षा और प्रभावना का कठिन कार्य किया था।

साहित्यिक पीठिका—जैनाचार्यों द्वारा या तो स्वयम् या उनके संरक्षण तथा प्रोत्साहन से दूसरे लेखकों द्वारा विपुल जैनसाहित्य लिखा गया। उसकी एक संक्षिप्त झलक यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। इस काल में गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य खूब लिखा गया।[1] राजशेखर सूरि ने, जो दिल्ली में सुल्तान मुहम्मद शाह से सम्मानित हुए थे, बड़े सुन्दर गद्य में चतुर्विंशति प्रबन्ध (प्रबन्धकोश) नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें २४ ऐतिहासिक प्रबन्ध हैं। इन्होंने सं० १४१७-१९ में कौतुककथा (अन्तर कथा संग्रह) लिखा और श्रीधरकृत न्यायकंदली पर पंजिका भी लिखी। सं० १४०६ में जिनचन्द्र सूरि की शिष्या गुणसमृद्धि महत्तरा ने प्राकृत में अंजनासुन्दरी चरित्र (५०४ श्लोक) जैसलमेर में लिखा। किसी महिला द्वारा प्राकृत में लिखी संभवतः यह प्रथम रचना होगी। मेरुतुंग ने सं० १४०९ में कामदेवचरित और सं० १४१३ में सम्भवनाथचरित लिखा। बृहद्गच्छीय साधु गुणभद्र के शिष्य मुनिभद्र सूरि ने मुनिदेवसूरिकृत शान्तिनाथ चरित के आधार पर नया शान्तिनाथ चरित लिखा। इस

१. देखिये—श्री मो० द० देसाई—'जैन साहित्यनो इतिहास' पृ० ४४०।

कवि को फिरोज शाह के दरबार में भी प्रतिष्ठित स्थान मिला था। जिनेश्वर सूरि के शिष्य सोमकीर्ति ने सं० १४११ में कातन्त्रवृत्तिपंजिका लिखी। खंडिल गच्छ के कालिकाचार्य सन्तानीय भावदेव सूरि ने पार्श्वनाथ चरित्र लिखा। इन्हीं भावदेव सूरि ने एक कालिकाचार्य कथा भी लिखी थी। कृष्णर्षिगच्छीय महेन्द्र सूरि के शिष्य जयसिंह सूरि ने सं० १४२२ में कुमारपाल चरित्र लिखा। इनके गुरु महेन्द्रसूरि की मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली में बड़ी मान-प्रतिष्ठा की थी। इन्होंने यन्त्रराज नामक ज्योतिष-ग्रन्थ पाँच अध्यायों में लिखा। इस युग में आँचलिक महेन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य जयशेखर सूरि एक बड़े विद्वान् कवि हुए हैं जिन्होंने प्रबोध-चिन्तामणि, उपदेश चिन्तामणि सावचूरि, धम्मिल चरित्र आदि नाना ग्रन्थ विविध भाषाओं में लिखे थे। इन्हीं महेन्द्रप्रभ सूरि के प्रसिद्ध शिष्य मेरुतुंग ने व्याकरण, दर्शन, धर्म आदि नाना बिषयों में तमाम रचनायें की थी। इस युग के तपागच्छीय देवसुन्दर सूरि आचार्य के शिष्यों में ज्ञान सागर, कुलमंडन, गुणरत्न, साधुरत्न और महाकवि सोमसुन्दर आदि उल्लेखनीय लेखक हुए थे। वीरांक हम्मीर महाकाव्य के कर्त्ता नयचन्द्र सूरि ग्वालियर के तोमरवंशी राजा वीरम के दरबार के प्रतिष्ठित कवि थे। इन्होंने रम्भामंजरी नामक नाटिका भी लिखी थी।

इस काल में बहुत सी प्रतियाँ ताड़पत्रों पर लिखी गईं और तमाम पुरानी ताड़पत्रीय प्रतियों का जीर्णोद्धार कराया गया। नये शास्त्रभंडार स्थापित कराये गये। इस प्रकार न केवल विविध भाषाओं में विविध विषयों पर विविध विधाओं में साहित्य का सृजन हुआ बल्कि उसकी सुरक्षा का सुन्दर प्रबन्ध भी जैनधर्मावलम्बियों द्वारा किया गया।

जैसा पहले कहा गया १५ वीं शती का उत्तरार्द्ध सोमसुन्दर सूरि और उनके गुरु-भ्राताओं एवं शिष्यमंडल से प्रभावित युग है, इसीलिए इसे सोमसुन्दर युग भी कहा जा सकता है अतः इनका परिचय विस्तारपूर्वक आगे स्वतन्त्र रूप में दिया जायेगा। इस काल की अन्य कलाओं में स्थापत्य की दृष्टि से धरणशाह द्वारा निर्मित राणकपुर मन्दिर, जैसलमेर स्थित लक्ष्मण विहार नामक पार्श्वजिनालय और अहमदशाह द्वितीय द्वारा निर्मित अहमदशाह की जामामस्जिद उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

१५ वीं शताब्दी से मरुगुर्जर साहित्य में एक नया मोड़ आता है। इस शताब्दी की प्रारम्भिक कुछ रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है

परन्तु उत्तरार्द्ध की भाषा काफी सरल और स्वाभाविक होती गई है। इस शताब्दी में विविध प्रकार की रचनायें की गई हैं विशेषतया रास साहित्य के स्वरूप में बड़ा परिवर्तन हुआ। बड़े-बड़े रास लिखे जाने प्रारम्भ हुए जो चरित काव्य बन गये। लोक कथाओं के आधार पर भी आख्यान काव्य मरुगुर्जर में इसी समय से प्रारम्भ हुए। इस बहुरंगी और समृद्ध साहित्य का परिचय आगे दिया जा रहा है।

असवाल—आपने सं० १४७९ में 'पासणाह चरिउ' लिखा, जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र १३ संधियों में लिखा गया है। इस रचना में पद्धडिया छन्द का अधिक प्रयोग हुआ है। कवि के पिता का नाम लक्ष्मण पण्डित बताया गया है।[1] इसकी भाषा पर अपभ्रंश की थोड़ी छाप झलकती है।

आसायत—श्री मो० द० देसाई ने इन्हें जैनेतर लेखक बताया है।[2] आपकी रचना का नाम है हंसाउली–हंस वच्छ चौपइ। यह रचना जैन कथा पर आधारित है और १५वीं शताब्दी की रचना है अतः इसे यहाँ स्थान देना समीचीन है। सौभाग्यमण्डन गणिकृत 'हंस वच्छराज कथा' नामक प्राचीन कृति पर यह रचना आधारित है। इसकी कथा के सम्बन्ध में विशेष विवरण जानने के लिए श्री केशवराम शास्त्री कृत कविचरित देखा जा सकता है। यह एक प्रसिद्ध लोककथा है। देसाई ने इसे १६वीं शताब्दी की रचना भी माना है।[3] किन्तु पहले इन्हें पन्द्रहवीं का जैनेतर कवि बताया था इसलिए इनका विवरण १५ वीं शताब्दी में दिया गया है। सं० १५१३ में लिखित इसकी प्रति प्राप्त है अतः यह निश्चय ही १५ वीं शती की रचना होगी। इस कृति की भाषा के उदाहरणार्थ इसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

आदि "अमरावइ संमाणं, प्रत्यक्ष प्रमाणं, अवर नयराणं।
पुर पट्टण पयठाणं, अयठाणं वीर बावनया॥"

चउपइ "शिखर बद्ध दस सहस प्रासाद कनक कलस धन नरवइ नाद।
गोदावरीनुं निर्म्मल नीर, पुर पहिठाण वसइ तसुतीर॥"

---

१. पं० परमानन्द जैन—जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, भाग २ पृ० १३०।

२. मो० द० दे०—जै० गु० क०, भाग ३ पृ० २१०८।

३. वही पृ० ४५८।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"गाहा दुहु वस्तु चउपइ, सुजिस्सइ च्यारि बत्रीसां हुई।
जूअली त्रिणसइ विशाला, तिण मोहमाया जाला ॥
सुणंता दोष दरिद्र सविटलइं, भणइं असाइत त्रिह अफलां फलई।[1]

यह लोकप्रिय कथा है अतः इसकी बहुत प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें पाठभेद भी हैं किन्तु उतने विवरण में जाने का यहाँ अवसर नहीं है। इसकी भाषा मरुगुर्जर है।

उदयकरण—इनकी रचनाओं—कयलवाड़ पार्श्वस्तोत्र और जीरावला-पार्श्वस्तोत्र को सं० १४२७ में रचा हुआ श्री नाहटा जी मानते हैं अतः इनका विवरण १५ वीं शती में होना था किन्तु उन्होंने **जैन मरुगुर्जर कवि** भाग १ में इन्हें १४ वीं शताब्दी की रचनाओं के साथ रखा है अतः इनका विवरण १४ वीं शती में दिया गया है और वहीं देखा जाय।

उदयवंत—विवरण 'विनय प्रभ' के अन्तर्गत देखा जाय।

कर्णसिंह—आप प्राग्वाट् वंश के श्रावक कवि थे। आप ने १५वीं शताब्दी में 'चैत्य प्रवादी रास' लिखा जिसमें सोरठ देश में स्थित चैत्यों का भक्तिभाव से स्मरण किया गया है। इसकी ४० पत्रों की प्रति में कुल ११२ कड़ियाँ उपलब्ध हैं। प्रति के अपूर्ण होने के कारण अन्त का विवरण नहीं प्राप्त है। भाषा के नमूने के लिए उसके निम्नाङ्कित उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"जिन चउवीसउ चलण नमेऊ, सामिणि सरसति मनि समरेऊ।
अनंइ प्रणमि सुहु गुरु चरण ॥१॥
प्रागवंसि करणसी संघदासो, चैत्रप्रवाडिहिं कीधउ रासो,
भवीयाणहं दुरीयं हरऊ ॥२॥
पहिलूं वण्णिसु सोरठ देसो, विमलाचल बिम्ब संख्या कहिसो,
सुगति पुरीयभवीयां सुणउ।"[2]

इसकी भाषा सामान्य बोलचाल की मरुगुर्जर है। इसमें सोरठ देश का वर्णन रुचिकर है। चैत्यों का वर्णन कवि ने आस्तिक भाव से किया है किन्तु रमणीयता अपेक्षाकृत कम है।

---

१. श्री मो० द० दे०—जै० गु० क०, भाग १ पृ० ४६-४७।

२. श्री मो० द० दे०—जै० गु० क०, भाग ३ पृ० १४८५।

कवियण—१५वीं शताब्दी की एक रचना 'मातृकाफाग' (गाथा ३१)को कवियण की कृति श्री नाहटा जी ने बताया है। वैसे कवियण शब्द कवि के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत रचना में उस शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया गया है :—

"हव कर जोड़ीय वीनवऊं, दीन वयण संभारि।
क्षमा करेज्यो भवियण, कवियण ए आचारु।३०।[1]

पता नहीं कवियण शब्द व्यक्तिवाचक है अथवा कवियों के लिए सामान्य संबोधन मात्र है किन्तु श्री अ० च० नाहटा ने इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में लिया है अतः यहाँ भी कवियण को एक व्यक्ति विशेष मान लिया गया है जिसने मातृकाफाग लिखा होगा। इसमें अकारादि क्रम से छन्द रखे गये हैं। तीसरा छन्द 'आ' से प्रारम्भ होता है—

"आगलि दो दो लोहड़ीय, जीभड़ी वोलिय आलु।
उंकारस्य मागमि आगमि, कहीयस्य सारु ।३।"

इसका प्रथम छन्द निम्नांकित है :—

"अहे जिण चलणा सिर नमिय, पानिय सहि गुरु भागु।
माईय बावन्न आक्षर, पारवरीय करि फागु।

इसका अन्तिम ३१वाँ छन्द इस प्रकार है :—

"माईय अरथ जे बूझइ, सूझइ ईण संसारि।
पाठ दिश्या सवि छहिसिइं ए, लहसिइं सुख नर नारि।३१।"

कान्ह—आपकी दो रचनायें प्राप्त हैं। (१) नेमिनाथ फाग-बारमास (गाथा २२), (२) अंचलगच्छ नायक गुरु रास सं० १४२० खंभात गा० ४०। कवि कान्ह श्रीमाल छांडा कुल के थे। प्रथम रचना नेमिनाथ फाग एक बारहमासा है जिसमें वर्ष के बारह महीने में राजुल का विरह व्यथित जीवन दर्शित है। इसमें कथा का आधार कम और मार्मिक वर्णन अधिक है। आषाढ़ में नायिका की विरहव्यथा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

"घुरि आसाढहं ऊनयु, गोरी नयणे नेह।
गाढइ गाजिम पापिउ, च्छानउवरिस न मेह।"

वर्षा की अंधेरी रात विरहिणी के लिए कैसी पीड़ादायक है, इसकी अभिव्यक्ति इस छन्द में देखिये :—

"निसि अंधारि अेकली, मधुरइ वासइ अे मोर।
विरह सताइ पापीउ, बालंभ ही एक ठोर।"[2]

१. श्री अ० च० नाहटा—जैन मरु गुर्जर कवि पृ० ११०

२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८१

फाग का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है :—

"अहे तोरणि वालंभ आवीउ, यादव केरु चंद।
पसू देखी रथ वालीउ, विहु वसि हूउ विछंद।१।"

इसी प्रकार कष्ट पूर्वक बारह महीने विरहिणी काटती है पर प्रिय नहीं मिलता :—

"बार मासह माहितां, जे च वडेरु होइ।
पभणइ राणी राइमइ, नेमि न मेलइ कोइ।'

अन्तिम छन्द देखिये :—

"कान्ह भणइ सणि राइमइ, मेलिसु तोरु सामि
आठ भवंतर प्रीतडी, सिद्धि ऊपरि ठांम।२२।"

इसके कई स्थल सरस भावों से ओतप्रोत हैं और रचना में काव्य सौष्ठव की झलक मिलती है। भाषा भी काव्योचित मधुर और प्रसादगुण सम्पन्न मरुगुर्जर है।

आपकी दूसरी रचना 'अँचलगच्छ नायक गुरु रास' शुद्ध साम्प्रदायिक रचना है और इसकी भाषा कहीं-कहीं अपभ्रंश से बोझिल है, उदाहरणार्थ इसका प्रथम छंद आगे दिया जा रहा है।

आदि "रिसह जिणु नमिवि गुरु वयण अविचल धरी।
पंच परमेट्ठि महमंतु मनिदृढु करी।
अंचल गच्छि गछराय इणि अणुकमिइ।
सुगुरु वन्नेसुउ गुरुभत्ति मदविक्कमिइ।"१।

आगे इसके दो छन्द दिए जा रहे हैं जिनसे भाषा के अलावा रचना और रचनाकार सम्बन्धी कुछ विवरण भी प्राप्त हो सकते हैं यथा—

"खंभाइत बर नयर मझारि, दीवाली दिनु अनु रविवारे,
संवत चउदविसोत्तरइए।३७।
श्रीमाली छांडा कुलि जाउ, कान्ह तणइ मनि लागउ भाउ,
नवउ रासु सो इम करइए।३८।

अर्थात् छांडा कुलोत्पन्न कान्ह कवि ने सं० १४२० में यह रचना खंभात में की। इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'लच्छी तास सयंवरि आवइ, एउ रासु जो पढइ पढावइ।
कान्ह कवीसर इम भणइ ए।४०।"[1]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—मरुगुर्जर जैन कवि पृ० ६५

इसकी भाषा यत्रतत्र अपभ्रंश से प्रभावित है किन्तु सामान्य रूप से सरल और सुबोध मरुगुर्जर है।

गुणचन्द्र सूरि—आपने वसन्त फागु (१६ गाथा) १५ वीं शताब्दी में लिखा। यह फागु 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है। फागु में रचना काल नहीं दिया है। गुणचन्द्र नामक जैन आचार्य वि० १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में दो तीन हो गये हैं। प्रस्तुत फागु के लेखक कौन से गुणचन्द्र सूरि हैं यह जानने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं है। भाषा के स्वरूप के आधार पर ही सम्भवतः प्राचीन फागु संग्रह के विद्वान् सम्पादक द्वय ने (श्री मोतीलाल सांडेसरा एवं श्री सोमाभाई पारेख) इसे १५ वीं शती की कृति माना है। इस फागु की एक विचित्रता यह है कि जैन रचना होते हुए भी इस फागु में कोई धार्मिक कथानक नहीं है। एक जैन साधु द्वारा शुद्ध ऐहिक आधार पर लिखा शृङ्गार रस से ओत-प्रोत, नख-शिख के परम्परित वर्णन से युक्त यह एक विरला काव्य है। अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप निम्नाङ्कित दोहा प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

'कामिणि कारणि भमरल, भमतु माझिम राति।
काची कलिय म भोगवी, भोगवी नव नवि भाँति।"[1]

वसन्त और शृङ्गार का युगपत् वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

'जसी तरुवर पाखँडी, आखँडी काजलिरेह,
बालपणानु नेहडुं वालमं काइं ऊवेखि।'

भिन्न भिन्न प्रदेशों की कामिनियों की सौन्दर्य विशेषताओं को प्रकट करता हुआ कवि आगे लिखता है :—

"अहे मचकं दिहि मन मोहिउ, लहिकाइ लाइ म मासि।
चतुर सुरंगी सुन्दरी गूजरि केरी नारि।९।"

इसी प्रकार मरहठी, सोरठी आदि नारियों का भी वर्णन मिलता है। कवि एक सुन्दरी के कण्ठहार के हीरे से पूछता है :—

"अहे हीरडा तइ हरि पूजीउ, कि जागु सिवराति,
गोरी कण्ठ न ऊतरि सारी दीह नी राति।"

तो हीरा जवाब देता है :—

---

१. 'प्राचीन फागु संग्रह' फागु संख्या १३ पृ० ५६

"अहे नइ हरिमइ आराहीउ, नवि जागु सिवराति,
गोरी कण्ठ न ऊतरि, माहरी उत्तम जाति।"

एक जैन कवि का उत्तम जाति के प्रति यह भाव भी उल्लेखनीय है। रचना के अन्त में कवि का नाम है किन्तु रचना काल आदि से सम्बन्धित अन्य विवरण नहीं है, यथा—

'अहे वसन्त क्रीडा तीह अति करि, आणंद मुनिनी पूरि।
मन रंगि एम बोलि, श्री गुणचन्द्र सूरि।१६।"

इस फागु का प्रारम्भ निम्नलिखित दोहे से हुआ है :—

अहे फागुण फली अ बीजोरडी, पुहतलु मास बसन्त।
बनि वनि तरुअर कूंपला, केसू कसम अनन्त।१।

यह फागु काव्यत्व की दृष्टि से एक सरस रचना है और उद्दाम यौवन के रस को उच्छलित करने वाले काव्य-प्रकार फागु के अनुरूप है। इसकी भाषा पर गुर्जर का प्रभाव मरु की अपेक्षा अधिक है। सब कुल मिलाकर यह मरुगुर्जर का एक सरस जैन काव्य है।

गुणरत्न सूरि - आप नायल गच्छीय गुणसमुद्र सूरि के प्रशिष्य और गुणदेव सूरि के शिष्य थे। आपने इसी शताब्दी में 'ऋषभ रास' और 'भरत बाहुबलि 'पवाडा' नामक दो रचनाएँ कीं। ऋषभ रास में ऋषभदेव का पावन चरित्र चित्रित है। इसका प्रारम्भ निम्न पंक्तियों से हुआ है :—

"आदि अक्षर ॐकारसिउं, अरिहंस पणम्योसु
रासबंध रिसहेसनु नव नव रस वन्नेसु।
नायलगच्छ गुणदेव गुरु, पामी सुगुरुपसाऊ,
गुण रयण सूरि इमि ऊचरी वन्नसु वनिताराउ।
वंश इखागह हूँ तविसु, आणी अति घण भत्ति।
गुणतां गण गिरुयडि चडि, सरसत्ति आपु मत्ति।"[1]

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

"केवल दीपक त्रिभुवन भांण, समोसरण मांहि करि बषांण।
गुणरत्न सूरि स्वामी जयवंत, प्रथम प्रबन्ध ऋषभ जयवन्त।१४३।
इति ऋषभ चरिते प्रथम प्रबन्ध।'

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ३०

'भरत बाहुबलि पवाडा' के अन्त में 'इति श्री भरथ बाहुबलि सम्बन्धे द्वितीयो प्रबन्ध' लिखकर यह शंका उत्पन्न कर दी है कि ये दोनों एक ही रचना के दो भाग हैं या दोनों दो स्वतन्त्र प्रबन्ध ग्रंथ हैं ? 'पवाडा' का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

"पढम जिणेसर पाय नमु नित, सेत्रुञ्ज केरो स्वामि,
अहृदिस आदित नाम जपनां, दुरगति नासि नाम।"

यह अडताल चौपइ छन्द है, इसे लेखक ने 'पवाड़ा' कहा है, यथा—

"आदि कूअरि करूं वीनती, ब्राह्मी अम वर दीजि,
भरथ बाहुबलि तणो पवाडो, तुझ पसामिं कीजि।५।"

इस पवाडे के अन्त की पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं :—

'अे जपंता अंगि पाप न लागि, अविहउ सुख अनन्त।
श्री गुणरत्न सूरी इमं बोलि, श्री आदिनाथ जयवंत।३९७।"

अपने नाम के अनुरूप यह एक विस्तृत पवाडा है और प्रबन्ध काव्य की मान्यताओं के करीब है। इस पवाडे में जैन संसार की सुपरिचित भरत और बाहुबलि की कथा का आख्यान किया गया है। इसकी भाषा स्वाभाविक और सरल मरुगुर्जर है। यह रचना १५ वीं शताब्दी की है। इस सम्बन्ध में श्री देसाईजी ने कई आधार दिए हैं इनमें प्रमुख आधार यह है कि इनके गुरु गुणसमुद्र सूरि ने सं० १४९२ में पंचतीर्थ के बिम्ब की प्रतिष्ठा कराई थी। अतः इसे १५वीं शती की रचना मानना युक्तियुक्त लगता है।

चांप-चंप—आपने सं० १४४५ में भट्टारक देवसुन्दर सूरि रास लिखा। इसमें उक्त सूरिजी का चरित्र ५५ पद्यों में लिखा गया है। यह रचना अभी अप्रकाशित है। इसकी प्रति श्री नाहटाजी के संग्रह में है।[1] चंप कवि कृत नलचरित्र या 'नल दवदंती रास'[2] भी १५वीं शताब्दी की रचना है, इसलिए यह अधिक सम्भव है कि दोनों - चाँप और चंप—एक ही कवि हों। नलचरित्र की प्रति खण्डित है अत रचना सम्बन्धी अधिक विवरण नहीं प्राप्त है। यह सं० १४९८ के आसपास की रचना कही गई है। इसका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

---

१. श्री अ० च० नाहटा 'राजस्थानी साहित्य का आदिकाल' परम्परा' विशेषांक पृ० १८१ सं० श्री नारायण सिंह भाटी

२. श्री मो० द० देसाई 'जै० गु० क०' भाग ३ पृ० ४३४-४३५

"आदि नरवर आदि नरवर आदि भगवन्त,
आदीश्वर श्री आदिजिन।
आदिनाह आदिहिं प्रसिधउं। आदि जोगी गुरनिमीउ,
आदि वण वन्यास लीधउ।
आदिधम्म प्रकासीयउ, आदिहिं अरिहंत देव।
आदि लगइ अहनिसि अमर, करइं जुगलपय सेव।१।"

इसमें १७९ के बाद २४० कड़ी तक खण्डित है। २४१ और २४२ के बाद पुनः प्रति खण्डित होने से वांछित विवरण नहीं उपलब्ध हो सके हैं। अन्तिम पंक्तियों को देखने से लगता हैं कि एक-दो कड़ियों के बाद ही रचना समाप्त होने वाली थी क्योंकि आशीर्वादात्मक पंक्तियाँ रचना के अन्त की ही सूचक लगती हैं, यथा –

'अेकमनां जे नित आराधइ, तेह घरि दिन-दिन संपति बाधइ।
थोड़इ सेविइ फल घणुंअे, उत्तम जिन संपूरु दीठउ,
जिम जिम जोइइ ..."

आगे खण्डित है। यह प्रति मांडण कृत सिद्धचक्ररास के साथ एक ही प्रति में प्राप्त हुई है, इसके अलावा भाषा की दृष्टि से भी मांडण कृत सिद्धचक्ररास और नल दवदंतीरास एक ही समय की रचनायें लगती हैं। मांडण श्रेष्ठिकृत सिद्धचक्ररास सं० १४९८ की रचना है अतः इसका भी रचनाकाल इसी के आसपास होगा। देवसुन्दर सूरि रास का रचनाकाल सं० १४४५ कहा गया है। इस कथन के लिए श्री अ० च० नाहटा ने कोई प्रमाण प्रकाशित नहीं किया है। इससे यह शंका भी होती है कि एक ही कवि की दो रचनाओं के बीच ५० वर्ष का लम्बा अन्तराल क्यों है? क्या इनके दोनों लेखक दो व्यक्ति तो नहीं हैं? यह पहेली विद्वानों के समक्ष हल के लिए प्रस्तुत है।

जयकेशर मुनि आपकी रचना 'जयतिलक सूरि चउपइ' (३२ गाथा) १५ वीं शती की रचना है। यह एक ऐतिहासिक चउपइ है जिसमें कवि ने जयतिलक सूरि का, जो तपागच्छीय अभयसिंह सूरि के शिष्य थे, गुणानुवाद किया है। इसके प्रथम दो छन्द निम्नलिखित हैं—

"सामिणि सरसति तणइ पसाइ, नितु मन वांछित कवित कराइ।
अम्ह मनि आज ऊपनु भाउ, भगतिहिं वन्निसु सुहगुरु राय।
गरुया अभयसिंह सूरींद, तास पट्ट उज्जोयण चन्द।
तपागच्छ मंडणु गुणवंत, सिरि जयतिलक सूरि जयवंत।१।"[1]

इसके ३२वें (अन्तिम) छन्द में लेखक का नाम आया है, किन्तु अन्य अपेक्षित विवरण अनुपलब्ध है, यथा—

"इण परि जे नितु सुहगुरु थुणइ, तेउ चउपइ जे श्रवणिहि सुणइ।
जयकेसरि मुणिवर इम कहइ, ऋद्धि वृद्धि मंगल ते लहइ।३२।"

इसकी १६ वीं शताब्दी की लिखित प्रतिलिपि भारतीय विद्या मन्दिर, बम्बई में उपलब्ध है।

जयतिलक सूरि—इसी शताब्दी की लिखी हुई जयतिलक सूरि की 'गिरनार चैत्य परिपाटी' नामक रचना (१८ गाथा) उपलब्ध है। इसका प्रथम छन्द देखिये—

"सरसति वरसति अमिय ज वाणी,
हृदय कमल अब्भिंतर आणी, जाणीय कवियणि छन्दो।"
गिरिनार गिरिवरहज केरी,
चैत्र प्रवाड़ि करूउ नवेरी, पूरीय परमाणंदो।१।

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है—

"हूँ मूरख पणइ अच्छुं अजाण, श्री जयतिलक सूरि बहु मानं,
मानु मन मांहि ऐहो।
पढ़इ गुणइ जे ए नवरंगी, चेत्य प्रवाड़ि अतिहि सुचंगी,
चंगीय करइं सुदेहो।१८।"[2]

इसकी भाषा 'ण'कार की बहुलता के अलावा अन्य दृष्टियों से बिल्कुल पुरानी हिन्दी के करीब है। 'ण'कार की बहुलता राजस्थानी या अपभ्रंश का प्रभाव हो सकता है। यह एक सरल और संक्षिप्त रचना है जो मरुगुर्जर भाषा में रचित है।

जयमित्रहल्ल—आप दक्षिण भारतीय दिगम्बर विद्वान् प्रतीत होते हैं। आपकी दो रचनाओं -वड्ढमाण कव्व (वर्द्धमान चरित्र) या सेणिउ चरिउ तथा मल्लिणाह कव्व (मल्लिनाथ चरित) का समय वि० की १५वीं शताब्दी बताया गया है। वर्द्धमान चरित्र देवराय के पुत्र होलिवर्मा को समर्पित है। यह ग्यारह संधियों की रचना है। इसमें तीर्थंकर

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि, पृ० ७२
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि, पृ० ७३

वर्द्धमान का चरित्र वर्णित है। प्रसंगतः तत्कालीन मगध सम्राट बिम्बसार या श्रेणिक का उल्लेख भी आ गया है। इन्होंने अपने गुरु का नाम पद्मनन्दि और पुत्र का नाम अल्ह साहु बताया है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५४५ की प्राप्त है अतः रचना अवश्य इससे पूर्व की होगी।

आपकी दूसरी रचना 'मल्लिणाह कव्व' में १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का चरित्र वर्णित है। भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक होने से यह रचना १५वीं शताब्दी की अन्य स्वाभाविक मरुगुर्जर में लिखी रचनाओं से दूर पड़ गई है। वड्ढमाणकव्व पर अपभ्रंश का प्रभाव इससे भी अधिक है अतः कुल मिलाकर जयमित्र हल्ल को अपभ्रंश का कवि मानने के पक्ष में ही अधिक विद्वान् हैं, इसलिए इनकी रचनाओं के विवरण, उद्धरण आदि नहीं दिये गये हैं।

जयमूर्ति गणि —आपने १५वीं शताब्दी में ६४ गाथाओं की एक रचना 'मातृका' नाम से लिखी है। इसमें चौपई छन्द का अधिक प्रयोग हुआ है। भाषा सरल मरुगुर्जर है। उदाहरण स्वरूप इसके आदि और अन्त की पंक्तियाँ प्रस्तुत करता हूँ—

आदि "आदि प्रणव समरु सविचार, बीजी माया त्रिभुवनि सार।
श्रीमंत मणी जपु निशिदीस, अरिहंत पय नितु नामुसीस।
गणहर गरुउ गोयम सामि, अखय निधि हुइ तेहनइ नामि।
नवनिधान तहं चऊदय रयण, जे नितु समरइ गौतम वयण।२।

अन्त "गौतम माइय अविगत हुई, अनुभवि जयमूरति गणि कही।
लोकालोकि एहनु व्यापु यति जाणइ जोइ आपु।६४।"[1]

इसकी भाषा पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर है। नाहटा जी ने इस प्रकार की कई रचनाओं—मातृका फाग, मातृका, दीपक माई, आत्मबोध मातृका और श्रृङ्गार माई आदि का विवरण म० गु० जै० कवि में दिया है।

जयवल्लभ गणि —आप माणिक्य सुन्दर सूरि के शिष्य थे अतः आपका लेखन काल उसी समय के आसपास होगा। आपकी रचना 'स्थूलभद्र बासठिओं का समय १५वीं शताब्दी निश्चित है। इसमें स्थूलभद्र की पुरानी परिचित कथा बासठीओ नामक नई काव्य विधा में प्रस्तुत की गई है। श्री देसाई[2] ने इसकी भाषा को जुनी गुजराती कहा है। उन्होंने इसका कोई उद्धरण नहीं दिया है अतः भाषा के सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कह पाना संभव नहीं है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—मरुगुजर जैन कवि पृ० १११

२. श्री मो० द० देसाई—जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ४८८

जयशेखर सूरि—आप महेन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपने त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध अथवा परमहंस प्रबन्ध, नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ धवल, स्तवन, वीस विहरमान वीनती, अर्बुदाचल वीनती, शत्रुंजय वीनती आदि लिखा है। आपकी रचना शीलसंधि संधिकाव्य की परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। संस्कृत में आपने 'अजित शान्तिस्तव' आदि लिखा है। आपने सं० १४६० के आसपास द्वितीय नेमिनाथ फागु (४९ गा०) लिखा जो 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है। आप मेरुतुंग सूरि के गुरुभाई और महेन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य थे। महेन्द्रप्रभ सूरि अञ्चलगच्छ के संस्थापक आचार्य आर्यरक्षित सूरि की परम्परा में सिंहतिलक सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४३६ में नृसमुद्र नगर में उपदेश चिन्तामणि (१२००० श्लोक) नामक बृहद् ग्रंथ लिखा। सं० १४६२ में खंभात में आपने प्रबोधचिन्तामणि नामक ग्रंथ संस्कृत में लिखा, उसी पर आधारित मरुगुर्जर भाषा में त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध लिखा गया है। आपने संस्कृत में धम्मिल महाचरित महाकाव्य, जैनकुमारसंभव आदि ग्रंथ भी लिखे थे। त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध की भाषा को पुस्तक की प्रस्तावना में श्री लालचन्द पंडित ने जुनी गुजराती कहा है। इसकी तुलना में नरसी मेहता और मीराबाई की भाषा अर्वाचीन लगती है। इसी की भाषा को लक्ष्य करके प्रो० मणिलाल नमुभाई द्विवेदी ने कहा है कि गुजराती भाषा को गुजराती रूप देने वाले जैन लेखक ही हैं।[1] इसमें अनेक प्रकार के छन्द जैसे दूहा, चौपई, छप्पय आदि, अनेक राग जैसे ध्रुपद, अेकताली, गूजरी और देशी ढाल-वस्तु आदि का प्रयोग किया गया है। यह ४१८ कड़ी का एक विस्तृत प्रबन्ध काव्य है। भाषा और शैली के नमूने के तौर पर इसके आदि और अन्त की कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं—

आदि "पहिलुं परमेसर नमी, अविगतु अविचल चित्ति।
समरिसु समरसि झीलती, हंसासणि सरसत्ति।
मानस सरि जां निम्मंलइ, करइ कुतूहल हंसु,
तां सरसति रंगि रहइ, जोसी जणइ डंसु।२।"[2]

इसका अन्तिम छन्द प्रस्तुत है:—

"कल्प कामधेनु अे होई, अे चिन्तामणि अवर न कोई।
अेह जि शिवपुरीनउ पंथ, जीवन अेहजि सविहुं ग्रन्थि।

१. श्री मा० द० देसाई—जै० गु० क० भा० १ पृ० २४-२५
२. वही

मूलिमंत्र मणि अे मनि मानि, तप जपनउ फल एहज ध्यानि,
इणि सविसंपद आवइ पूरि, इमि बोलइ जय शेहर सूरि ।४४७।"
त्रिभुवनदीपक अेह प्रबन्ध, पापतणउ नासर नर गंध,
जा गयणांगणि ध्रुथिर थाइ, जां महियल दिणयर शशिराइ।४८।

जैसा श्री देसाई का कथन है कि इसकी भाषा गुजराती है तो इससे मेरा यह कथन अधिक स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि जुनी गुजराती और पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर में केवल नाम भेद है, तत्वभेद नहीं है। इस काव्य की प्रशंसा में प्रसिद्ध विद्वान् केशवलाल ध्रुव ने कहा है कि इस काव्य के बन्ध की सरलता, वाणी का प्रसाद और कविता की गमक किसी अन्य रचना में सुगमता से नहीं मिलती। इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आप जुनी गुजराती या मरुगुर्जर के उच्चकोटि के लेखकों में अग्रगण्य हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा पहले कहा जा चुका है आपने संस्कृत और प्राकृत में भी अनेकानेक बृहद् ग्रन्थ गद्य और पद्यबद्ध लिखे हैं।

'नेमिनाथ फागु' नाम से आपकी दो रचनायें प्राप्त हैं। प्रथम फागु गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज में छप चुका है और दूसरी फागु प्राचीन फागुसंग्रह में संकलित अन्तिम रचना है। इसका रचना काल सं० १४६० के आसपास बताया गया है। प्रथम फागु के आदि अन्त की पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं :—

आदि "जिणि जगि जीतउ समरसि, अमर शिरोमणि कांमु।
विलसइ सिद्ध सयंवर, संवर गुणि अभिरामु।
निरुपम निपुण निरंजन, रंजन जन मन चारु।
पामीय सुहगुरु आइसु, गाइसु नेमिकुमार।

अन्त "निज यश दिसि दिसि व्यापअे, थापअे चउविह संघ।
सूरउ तेहज सामिय ध्यामिय कामिय रंग।
कवितु विनोदिहिं सिरिजय सिरिजयसेहर सूरि।
जे खेलइ ते अर्वपद संपद पामइ पूरि।

इसमें कुल ५८ कड़ियाँ हैं। रचना में लेखन काल उल्लिखित नहीं है।

द्वितीय 'नेमिनाथ फागु जो प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है, ४९ कड़ी की रचना है। इसके आरम्भ की पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :—

आदि "पणमिय सिवगति गामीय, सामीय सवि अरिहंत।
सुरनर नाह, नमसिय, दंसिय सयल दुहंत।
गाइसु मण अणुरागिहिं फागिहिं नेमिकुमार।
जिणि जगि सयल विदीहउ, जीतउ भुजबलि मारु।"

अन्त 'नव जुव्वण भरि सील सबलु सोहागिंहि सारो।
मणवंछिय फल देउ देउ, सिवि देवि मल्हारो।
सिरि महिंदप्पह सूरसीसि जयसेहरि कीजइ।
फागु एउ भवियण वसन्त ऋतु रसिहिं रमीजइ।"

रास में काम का लुभावना वर्णन है। वसन्त आया, काम त्रिभुवन जीतने चला, कवि लिखता है—

"विहसिय रतिपति ऋतुपति तउ अवतरिउ वसन्त।
भुवण पराजय संयुहु वम्मुह चरिउ हंसंतु।'

सभी वसन्तोत्सव में लीन हो जाते हैं किन्तु नेमि इससे अलग रहते हैं। उन पर न तो काम का और न ऋतुराज का कोई उद्दीपक प्रभाव पड़ता है; लेकिन कृष्ण की पत्नियों और माँ ने समझा-बुझाकर उन्हें राजुल से विवाह के लिए तैयार किया। इस अवसर पर कवि ने मौका पाकर राजुल के रूप का बड़ा मोहक वर्णन किया है यथा—

"तिवलिय सुललिउ उपद देसु पुण नाहिं सलूणिय।
देखिय विडलु निय बंविबु शिरु कवणि म धूणिउ।"[1]

विवाह की तैयारी, बारात का प्रस्थान और नेमि की शोभायात्रा का वर्णन प्रभावकारी है। तोरणद्वार पर पहुँच कर वहाँ बँधे बलिपशुओं को देख कर नेमि को विरक्ति होती है और लोगों के लाख समझाने-मनाने के बावजूद वे रेवंत पर्वत पर जाकर तपस्या में लीन हो जाते हैं। इसप्रकार नेमि राजुल की इस बहुचर्चित कथा के आधार पर कवि जयशेखर ने यह मनोरम फागु लिखा है।

इनकी एक अन्य कृति भी नेमिनाथ पर ही आधारित है जिसका नाम है—'नेमिनाथ धवल।' इसमें कुल १३ गाथायें हैं। इसके आदि और अन्त की पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

आदि "द्वारिका घरि घरि मंगल चारु, समुद्रविजयनरवर तणऊअे।
सिवदेवि माडि तणउ मल्हाइ, नेमिकुमर वर परिणीइ अे।
उग्रसेन राय तणीय कुमारि, राजल रुपि रलीयामणी अे।
अन्त राणी राजलि तणउ आनन्द कविजण केतलउं केवलई अे।
जय जय जगगुरु नेमि जिणिंदु, जीणि तेउइ जइ पूरीउ अे।"

यह मंगल गीत एक प्रकार का लोकगीत होता है जो विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गाया जाता है। इसकी भाषा भी साहित्य गुणसम्पन्न सरस मरुगुर्जर है।

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० २४४

जयसागर उपाध्याय[1]—आप जिनराजसूरि (खरतर गच्छ) के प्रथम शिष्य थे। संस्कृत भाषा में रचित पृथ्वीचन्द्र चरित्र में अपना परिचय देते हुए इन्होंने अपने दीक्षागुरु का नाम जिनराजसूरि और विद्यागुरु का नाम जिनवर्धन सूरि बताया है। जयसागर उपाध्याय के सम्बन्ध में श्री अ० च० नाहटा ने अपना एक लेख 'शोधपत्रिका' में प्रकाशित कराया है, विशेष जानकारी के लिए उसे देखा जा सकता है। आप संस्कृत, प्राकृत, मरुगुर्जर आदि भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे और इन सभी भाषाओं में आपने रचनायें की हैं। आपकी उल्लेखनीय कृतियों का नाम आगे दिया जा रहा है :—(१) जिन कुशल सूरि चतुष्पदिका सं० १४८१, मलिक वाहणपुर। इसका संक्षिप्त संस्करण गुरुभक्तों में बहुत लोकप्रिय है और नित्य पाठ किया जाता है, (२) चैत्यपरिपाटी सं० १४८७, (३) वयरस्वामि गुरु रास सं० १४८९ जूनागढ़, (४) अष्टापद बावनी, (५) नेमिनाथ विवाहला, (६) गिरनार वीनती, (७) कल्याणमन्दिर भाषा, (८) नगरकोट्ट महातीर्थ चैत्य परिपाटी (गाथा १७), (९) गौतम रास (१२ गा०), (१०) अष्टादश तीर्थ बावनी (५४ गा०), (११) चौबीस जिन स्तोत्र (१४ गाथा) इत्यादि। इनमें जैसा कहा जा चुका है 'जिन कुशल सूरि चतुष्पदी' सबसे लोकप्रिय रचना है। उसके आदि और अन्त के छन्द उद्धृत किए जा रहे हैं :—

आदि "रिसह जिणेसर जो जयउ, मंगल केलि निवास,
वासव वंदिय पयकमल जगहेतु पूरइआस।
अन्त—काइं करहु पृथिवीपति सेवा, काइं मनावउ देवी देवा,
चिंता आणइ काइं मनि।
बारबार दुइ कवितु भणीजइ, श्रीजिनकुशल सूरि समरीजइ,
सरइं काज आयास विणु।
संवत् चउद इगासिय वरिसिहिं, मलिकहणपुरकरिमन हरिसिहिं,
अजियजिणेस पसायवसि।
कियउ कवित हुइ मंगलकारण, विघन हरइ पर पाप निवारण,
कोइ म संसउ करहमनि ॥६९॥

श्री जयसागर महोपाध्याय कृत श्री जिनकुशलसूरि चतुष्पदिका को दादा जिनकुशलसूरि नामक पुस्तक श्री अ० च० नाहटा ने प्रकाशित

१. श्री मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग १ पृ० २७, भाग ३ खंड १ पृ० ४३०-४३१ और भाग ३ खंड २ पृ० १४७९

किया है। यह कुल ७० पद्यों की रचना है। इसका अन्तिम (७० वाँ) पद्य निम्नाङ्कित है :—

"जयसागर उवझाय तिम, इम जो सुहगुरु गुण अभिनन्दइ।
रिद्धि समृद्धिहिं सो चिरुनन्दइ, मनवंछित फल तासु हवइए ॥७०॥"

इसकी भाषा में सहज प्रवाह, गेयता और ऋजुता होने के कारण यह भक्तों का कण्ठहार है। इसे सभी कंठस्थ करते और नित्यपारायण करते हैं। इसकी भाषा स्वाभाविक मरुगुर्जर है। इस पर अपभ्रंश का यत्किंचित् प्रभाव भी नहीं है। सम्भवतः जनता में इतनी लोकप्रिय होने के कारणों में एक इसकी लोकप्रिय भाषा शैली भी है। "दादा जिनकुशल सूरि" नामक पुस्तक के सम्पादक श्री अ० च० नाहटा के साथ श्री भँवरलाल नाहटा भी हैं। इनकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना चैत्यपरिपाटी (गाथा २१) सं० १४८७ की लिखी एक ऐतिहासिक रचना है। इसमें पाटण, रायपुर, महसांणा, शत्रुंजय, पालिताणा, गिरनार, जूनागढ़ आदि के चैत्यों का उल्लेख है। इसके आदि की पंक्तियाँ देखिये :—

"मनोरंगि मई आपणइ बुद्धि पामी, ज जणऊंफिरी वंदियइ भुवणसामी।
ता आणंदि जे वंदिया भवसारं, वली ते जिणे वंदियो वारवारं ॥१॥"

अन्त "इय दोसनासण पयड सासण सहुपयाषण केविया।
बहु ठांणसंठिय देवजिणवइ भावभत्तिहिं सेविया॥
ते आज चहुविअ संघ मंगल रंग दाण समग्गला।
मह दिंतु निव्वुह सुजहूसागर बोधिलाल समुज्जला ॥२१॥"

यह प्रकाशित रचना है।

'नगरकोट्ट महातीर्थ चैत्य परिपाटी' (गा० १७) की प्रारम्भिक पंक्तियाँ नमूने के लिए प्रस्तुत हैं :—

मुझ मनि लागिय खँति जलंधर देसह भणिय।
तीरथ वंदण रेसि, नगरकोट्टि तउ आवियउ॥

'वयरस्वामिगुरु रास' सं० १४८९ जूनागढ़ की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये—

"जूनइगढ़ि श्री नेमि पसाइ, श्री जयसागर वरकाय उवझाइ;
(१४८९) चउद निव्यासी वछर हो, इमि गणहर सुविहाण थुणीजइ।
उच्छव मंगल रास रमीजइ, श्रेय शांति संपत्ति करो॥"

अन्त में 'चतुर्विशति जिन स्तुति' नामक लोक प्रचलित रचना के आदि और अन्त की पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं ताकि उनके स्फुट स्तवनादि का प्रतिनिधित्व हो जाय :—

आदि "सुविहाणइ जइ आज मईं दीठउं रिसह जिणेस,
नयण कमल जिम उल्लसइ, ऊगिउ भलइं दिणेस ।१"

अन्त "इय कवित्त सुच्छंदिहिं, मन आणंदिहि जयसागर उवझाय किय,
जो पढ़इ सुठाणिहिं मधुरिय वाणिहिं, सो नर पामइ सुखसय ।४।"

इसमें साहित्यिक सौन्दर्य तो सामान्य कोटि का है किन्तु ऐतिहासिक सूचनायें असाधारण कोटि की उपलब्ध हैं जिनसे जैन धर्म और तत्कालीन बृहत्तर भारतीय जन-जीवन को समझने में सुगमता हो सकती है। इनकी सभी रचनाओं के उद्धरण देना या उनके विवरण प्रस्तुत करना अपनी सीमा के कारण सम्भव नहीं है। यहाँ तो उनकी पुस्तकों की सूचना, कुछ पुस्तकों के उद्धरणों द्वारा उनकी भाषा शैली का नमूना और समग्र रूप से उनके लेखकीय व्यक्तित्व का मूल्याङ्कन करना ही अभीष्ट है।

जयसिंह सूरि –(कृष्णर्षीय) आप कृष्णर्षि या कन्हरिसि के शिष्य थे अतः कृष्णर्षि या कन्हरिसि संतानीय जयसिंहसूरि कहे जाते थे। आपने सं० १४२२ में अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'कुमारपाल चरित' संस्कृत में लिखा था। मरुगुर्जर में लिखी आपकी दो फागु रचनायें उपलब्ध हैं— प्रथम नेमिनाथ फागु और द्वितीय नेमिनाथ फागु। ये दोनों फागु श्री भोगीलाल सांडेसरा द्वारा सम्पादित प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित हैं। इनका समय भी सं० १४२२ के आसपास ही होगा।

पुराने समय से फागु रचना की दो पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। एक शैली के प्रतिनिधि श्री जिनपद्मसूरि और श्री राजशेखर सूरि हैं जिसमें कृति को भासों में विभक्त करके दोहा-रोला आदि छन्दों में लिखा जाता है। दूसरी शैली की प्रतिनिधि रचना 'वसन्त विलास फागु' है जिसमें आन्तर प्रास या आन्तर यमक वाले दोहों में पूर्ण काव्य रचना की जाती है। प्रस्तुत फागुओं में से प्रथम फागु प्रथम पद्धति की और द्वितीय फागु द्वितीय शैली की रचना है। प्रथम फागु में कुल २९ कड़ी है। इसमें नेमि के जन्म के बाद वसन्त वर्णन का प्रसंग लिया गया है। कवि लिखता है कि भ्रमर गुंजार करते हैं मानो ऋतुराज की विरुदावली बखानते हैं यथा :—

"भमई भमर मधुपानमत्त झंकारु करंता,
रितुरायह किरिभट्ट थट्ट वरकित्ति पढंता।
पसरिउ परिमलु मलइ वाउ दसदिसि पूरंतो,
भामिणि कामिणि मनह मांनि तक्खणि चूरंतो ।।

एक दिन जलक्रीड़ा के समय कृष्ण की रानियों ने इनसे विवाह का प्रसंग चलाया और विवाह के लिए तैयार किया। इनका विवाह राजीमती से निश्चित हो गया। राजीमती की रूपशोभा का वर्णन कवि करता है, यथा--

"दप्पण निम्मल तसु कपोल नासा तिलफूला।
हीरा जिम झलकंत दंत पंतिहि नहि गुल्लु।
अहिरु प्रबालउ कंठु करइ कोइल सइ वादो,
राजल वाणिय वेणु वीणु ऊतारइ नादो॥"

यह रूप वर्णन प्रथम भास से प्रारम्भ होकर दूसरे भास में भी चलता रहता है। वह शरीर शोभा के साथ-साथ राजुल के स्वभाव-सौन्दर्य का भी सूक्ष्म चित्रण करता है। कवि कहता है :--

विनय विवेक विचारसील लीला सुविसाला,
रंभु तिलुत्तमु सरिस रुव सा राजल बाला।

इधर माता ने पुत्र नेमिकुमार का शृंगार किया। विवाह के लिए बरात चली, दोनों ओर का मंगल उत्साह अवर्णनीय था, परन्तु बँधे पशुओं को देखकर उन्हें घोर वैराग्य हो गया और विवाह को गले का फंदा समझकर वे तपस्या के लिए रेवंतगिरि पर चले गये।

रनिवास में समाचार मिलते ही वहाँ कोहराम मच गया। राजुल झंझा से छिन्नवल्लरी के समान भूमि पर लोट-लोट कर विलाप करने लगी। आनन्दोत्सव का सम्पूर्ण दृश्य क्षणभर में घोर विषाद और करुणा में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार जैन मतानुसार रास का अन्त शान्त रस में हो गया। रास के अन्त में कवि ने लिखा है :--

"भविय जिणेसर भवण रंगि रितुराउ रमेणउ,
कन्हरिसि जयसिह सूरि किउ फागु कहेवउ।"[1]

इस प्रकार यह प्रथम फागु काव्यत्व तथा कथाशिल्प की दृष्टि से एक उत्तम रचना बन पड़ी है। इसकी भाषा प्रसाद एवं माधुर्य गुण सम्पन्न, यत्रतत्र अलंकारों से विभूषित काव्योचित मरुगुर्जर है।

इनकी दूसरी कृति नेमिनाथ फागु द्वितीय (४९ कड़ी) की अपेक्षाकृत कुछ बड़ी रचना है। यह वसन्त वर्णन से प्रारम्भ होती है, वसन्त की शोभा का वर्णन कवि के शब्दों में देखिये :--

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० १२ से १६ तक।

"बनि वंनि कुसुमहि विहसइ बनसइ भृंग भ्रमंति।
पेषिति विरहिणि चंपय संपय कंप करंति॥"

इसमें भी भ्रमरों की उपमा भाटों से दी गई है जो तत्कालीन दरबारी प्रभाव का द्योतक है, यथा--

"फिरि फिरि वनि वनि मधुकर निकर करइं झंकारु।
जीतउ जगु करि अमरसु समरसु किरि जयकारु॥१०॥"[1]

इसी वसन्त में नेमिकुमार के विवाह का निश्चय और राजुल की रूप-शोभा का परंपरित ढंग से नखशिख वर्णन आदि किया गया है। प्रायः वे ही उपमायें यहाँ भी मिलती हैं जिन्हें हम प्रथम फागु में देख चुके हैं, यथा :—

"गजपति करवर पीवर उरुय हरिणी जंघ,
कमल सुकोमल नवदल पददल गुणिहि अलंघ।"

इसके पश्चात् विवाहोत्सव के वर्णन के अन्तर्गत बारात का प्रस्थान और दोनों पक्षों का साजशृंगार वर्णन करने के बाद बलिपशुओं को देखकर नेमिनाथ के विरक्त होने की घटना का वर्णन पूर्ववत् किया गया है किन्तु इसमें राजुल का विलाप ज्यादा मार्मिक है। नेमि अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हैं। वे दीक्षा लेते हैं और तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

"केवल नाणिहि वणिहि देदिउ संसय कंदु,
सीधउ सिवपुर गामिउ सामिउ नेमि जिणंदु।
कीन्हउ कन्हमुनीसर गणहर जयसिंह सूरि,
फागुरे सुणतह पापु पणासइ दूरि॥"[2]

आप एक प्रतिभाशाली आचार्य और उत्तम रचनाकार थे। जैन साहित्य की लोकप्रिय कथा—नेमिकुमार पर आधारित इनके दोनों फागु साहित्य की उत्तम कृतियाँ हैं। इनके शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य नयचन्द्र सूरि ने प्रसिद्ध राणा हम्मीर पर महाकाव्य लिखा था। आपके शिष्य-प्रशिष्यों की लम्बी और समृद्ध परम्परा मिलती है।

जयानन्द सूरि—आपका आचार्य काल सं० १४२० से १४४१ तक था।[3]

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० १८

२. प्राचीन फागु संग्रह पृ० २१

३. श्री मो० द० देसाई—जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ४४३

देवरत्न सूरि आपके पट्टधर थे जिनके चरित्र पर आधारित उनके किसी शिष्य ने 'देवरत्न सूरि फागु' लिखा है जो जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में प्रकाशित है। अतः आपका समय १५ वीं शताब्दी निश्चित है। आपकी एक रचना **'स्थूलिभद्र चरित'** का उल्लेख श्री मो० द० देसाई ने किया है किन्तु इस कृति का विवरण नहीं दिया है। श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग 1 पृ० १३ पर इनकी एक अन्य रचना 'क्षेत्र प्रकाश रास' का नामोल्लेख किया है किन्तु भाग ३ पृ० ४१२ में लिखा है कि भाग १ में 'क्षेत्र प्रकाश रास' का कर्त्ता भूल से जयानन्द सूरि को लिखा गया था, वस्तुतः इसके कर्त्ता ऋषभदास हैं जो १७ वीं शताब्दी में हुए, अर्थात् यह रचना १७ वीं शताब्दी की होगी। ऐसी स्थिति में इस रचना का विवरण देना उपयोगी नहीं समझा गया क्योंकि रचना विवादग्रस्त है और जब तक कुछ निश्चित रूप से न ज्ञात हो सके, रचना का लेखक किसे कहा जाय ? क्षेत्र प्रकाश का रचनाकाल श्री देसाई ने सं० १४१० के आसपास बताया है।

जिनभद्र सूरि—आप खरतरगच्छ के प्रभावशाली आचार्य थे। आपका आचार्य काल सं० १४७५ से सं० १५१४ तक था। आप श्री जिनराज सूरि के शिष्य थे। आपके पिता का नाम धाणिक और माता का नाम खेतल दे था। आपका जन्म सं० १४४९ में हुआ। आपके बचपन का नाम रामण-कुमार था। आप उच्चकोटि के साधक, विद्वान् एवं प्रतिभाशाली लेखक थे। आपने सं० १४७५ के आसपास 'महावीर गीत' लिखा। आपने मरुगुर्जर में लिखे गीत के अलावा जिनसत्तरी (प्राकृत) और सूरिमंत्रकल्प (संस्कृत) आदि की भी रचना की। आपने हजारों जीर्ण प्रतियों का उद्धार कराया और अनेकानेक शास्त्रभण्डार स्थापित कराये जिनमें जैसलमेर का जिनभद्र सूरि ज्ञान भण्डार लोकविश्रुत है।

आपकी प्रस्तुत मरुगुर्जर की रचना 'महावीरगीत' एक मनोहर गीत है। आठ गाथा की यह रचना साँचौर में लिखी गई। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

"त्रिभुवन गुरु चउवीसमउअे।
समरवीअे सिरि वर वीर, तसु हउं चरिय वक्खाणिसउअे।
प्राणतइ अे चविय देवलोकि, त्रिसला दे कुखि अवतरिऊअे॥"

इस गीत की अन्तिम पंक्तियाँ भी प्रस्तुत हैं :—

"सच्चउर नयरिहि गुरुय रंगिहि जीवनवल जिणि भग्गउ।
हम्मीर जसु भय जाइ नट्ठउ वीर चलणा लग्गउ।

सो देव सामिय सुगुरु सिरि जिणभद्र सूरिहि सेविउ।
यहबोधि दायक हवउ संघइ सिवसिरी सुह संथिउ।"[1]

जिनरत्न सूरि—खरतर गच्छीय प्रसिद्ध आचार्य जिनरत्न सूरि १४ वीं शताब्दी में हो गये किन्तु आपकी रचनायें—'अर्बुदालंकार श्री युगादिदेव स्त०' और 'नेमिनाथ स्त०' का समय सं० १४३० के आसपास बताया जाता है अतः ये अवश्य कोई दूसरे जिनरत्न सूरि होंगे। तपागच्छीय जिनशेखर सूरि के शिष्य जिनरत्नसूरि इन रचनाओं के लेखक हो सकते हैं क्योंकि उनका समय वि० सं० १४३० या १४४० के आसपास ठहरता है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १४३० की लिखी श्री नाहटा जी के संग्रह में सुरक्षित है अतः और पहले की रचना भी हो सकती है। ये दोनों 'स्तवन' हैं अतः विषय तो स्पष्ट ही है।

जिनवर्द्धन सूरि—आपको आचार्य पद सं० १४६१ में मिला था। अतः आपने पूर्वदेशतीर्थमाला (गा० ३२) इसी के आसपास लिखी होगी। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

"हियय सरोवरे धरिय गुरुराय, सूरि जिणराय पयारविंद।
विणय बहुमाणहि पुव्वबर देसि, संठिया थुणउ तित्थाणबंद ॥१॥"
पहिलउं सच्चउर नयरि पणमेवि, वीरजिणेसर कप्परुक्ख।
तयणु सिरि रयणपुरि संति तित्थंकर, वंदउ नासिया सयल दुख ॥२॥

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भी भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत हैं :—

"इम्म जम्मठाणइ सिरि निहाणइ गाम नयरहि संसिया।
सिरि सकल जिणवर घण गुणालय लक्खराय नमसिया॥
जिण बिंब सग्गि पयालि महीयलि, जे असासय सासया,
ते नमउँ पूयउथुणउ भत्तिहिं, सिद्धिमग्ग पभासया ॥३२॥"[2]

जिनवर्द्धमान सूरि—आपकी रचना 'तपोगच्छ गुर्वावली' सं० १४८२ से पूर्व लिखी गई। यह प्राच्य भारती विद्याभवन की त्रैमासिकी के प्रथम अंक में प्रकाशित है। यह गच्छ के गुरुओं की क्रमवार सूचना प्राप्त करने की दृष्टि से पठनीय है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये—

वितरतु मंगलमाला समस्त संघस्य वर्द्धमान जिन,
यत्पट सेवा संप्रति, कल्पलता भीष्ट फलदाने।

× × ×

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४७८
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ८२

प्रतिबोधित अनेक भव्य जीवसमाज अपश्चिम तीर्थाधिराज;
श्री वर्द्धमान स्वामि श्री संघ रहइ मंगलीकमाला करउ।"

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

"गुज्जर मालव मेदपाट मरहट्ठ कलिंगिहिं
सिंधु जलपथि कन्यकुब्जि कर्णादि सुभोटिहिं,
हरभुज कोसल पमुह देस जसु कीत्ति अगज्जइ।
जां दिणयर वरचंद मेरु पुहवीतलि छज्जइ।
तां वीरनाहजिणवर थिकउपंचासम वर पाटधर।
सिरि गच्छ संघ परिवार सहित, सोमसुन्दर गुरु जयउ चिरु।"[1]

ऐसी रचनाओं से साहित्यिक स्थलों की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु इनका गच्छ सम्बन्धी इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान होता है।

जिनशेखर -आप जिन तिलक सूरि के शिष्य थे। आपने १५ वीं शताब्दी में किसी समय 'चतुर्विशति नमस्कार' नामक २४ छंदों की एक छोटी रचना की। इसके आदि और अन्त के छन्द भाषा के उदाहरणस्वरूप आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

आदि "तिहुअण-मंडण विमल नाहिकुल-कमल दिवायर।
आयर पर सुरनर वरिंद, वंदिय गुणसायर।
अयसइ सयल निवास आस पूरिय परमेसर।
पंच धणुस्सय देह माणव सहंकजिणेसर।
सिरि मरुअेवा अंगरुह, सोवन वन्न सरीर।
अदीसरभवियहं जयउ, गरुउ गुणिगंभीर।"

इसका अन्तिम पच्चीसवाँ छन्द निम्नाङ्कित है :—

"चउविह सिरि संघह थउ गुण-रयणायर वृन्द
वद्धमाण तित्थेसधर, चउवीसमउ जिणंद।"[2]

इससे पूर्व लेखक का नाम आया है, यथा—

"सिंह सुलंछण सत्तहत्थ तण गौर मणोहर,
सिरि जिणतिलय सूरीस सीसपभणइ सिरि सेहर ॥२४॥"

भाषा सरल मरुगुर्जर है। इसमें २४ तीर्थंकरों की वंदना की गई है।

---

१. श्री मो० द० देसाई —जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८४
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८४-८५

जिनोदय सूरि—आप गुजरात में पालनपुरनिवासी श्री इन्द्रपाल की पत्नी धारण देवी की कुक्षि से सं० १३७५ में पैदा हुए थे। आपका जन्म नाम समर था। सं० १३८२ में जिनकुशल सूरि ने आपको दीक्षा दी और नाम सोमप्रभ रखा। सं० १४१५ में जब आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तो आपका नाम जिनोदय सूरि पड़ा। आपको सं० १४९६ में वाचनाचार्य की पदवी जैसलमेर में बड़े धूमधाम से दी गई की और आचार्य पद-प्रतिष्ठा समारोह खम्भात में तरुणप्रभ सूरि के आचार्यत्व में सम्पन्न हुआ था। आपकी रचना 'त्रिविक्रमरास'[1] का श्री मो० द० देसाई ने उल्लेख तो किया है किन्तु इसका विवरण, उद्धरण कुछ भी नहीं दिया है।

डूंगरु—आपकी रचना 'ओलभंडा बारहमासा' (गाथा २८) १५ वीं शताब्दी की कही जाती है। यह रचना प्रकाशित है। श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९२ पर इसका विवरण दिया है किन्तु रचनाकाल सं० १५३५ के करीब बताया है। अतः श्री देसाई के अनुसार यह कवि १६ वीं शताब्दी का ठहरता है किन्तु श्री अ० च० नाहटा ने मरुगुर्जर जैन कवि में इन्हें १५ वीं शताब्दी में रखा है। अतः इस कवि का रचनाकाल अनिश्चित है। इसके बारहमासे का प्रारम्भ देखिये :—

"तोरणि वालंभु आवीउ, जादव कुल केरउचंदु।
पसूय देखि रहुवालीउ, विहिविसि हूउ विच्छंदु ॥१॥"

रचना नेमिनाथ के प्रसिद्ध कथा-संदर्भ पर आधारित है और राजुल की विरह व्यथा का बारहमासे के रूप में वर्णन किया गया है। नेमि ने संयम स्वीकार किया, कवि कहता है :—

"नयणां नेहु भरे गयउ सुनेमिकुमारु।
रेवइया गिरिवरि सरि चडीउ लीधउसंयम भारु।"

इसका अन्तिम दो पद्य देखिये :—

"राजुलि जीसिउं रायमइ, पहुतउ सिद्धि सिलाहं
डुंगरु स्वामि गायतां, अफलां फलीइं ताहं।"[2]

अन्त में दूसरा छन्द "नयणा नेह भरे···" वाला पुनः दुहराया गया है। इस प्रकार कुल छन्द संख्या २८ हो गई है। इसकी कथा में मार्मिकता है और भाषा सरल प्रवाहपूर्ण है। अतः पाठक का मन रमता अवश्य है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १७
२. श्री० अ० च० नाहटा मरु-गु० जै० कवि पृ० १०३-१०४

तरुणप्रभ सूरि— आप प्रसिद्ध गद्य लेखक थे। १५ वीं शताब्दी में बोल-चाल की गुर्जर भाषा में अनेक टीका ग्रन्थ, बालावबोध एवं गद्य ग्रन्थ लिखे गये जिनमें सं० १४११ में रचित आपकी गद्य रचना 'षडावश्यक बालावबोध' ऐतिहासिक महत्त्व की कृति है। इनके ग्रन्थों द्वारा तत्कालीन बोल-चाल की भाषा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट होता है आप जिनचन्द्र सूरि और जिनकुशल सूरि के शिष्य थे। आपके विद्यागुरु यशःकीर्ति और राजेन्द्रचन्द्र सूरि थे। आपने षडावश्यक बालावबोध फिरोज शाह तुगलक के राज्यकाल में बाहड मन्त्री के प्रपौत्र ठाकुर बलिराज के आग्रह पर लिखा था। आपकी गद्य रचनाओं का विवरण गद्य के इतिहास के साथ यथास्थान विस्तारपूर्वक किया जायेगा।

आपकी पद्यबद्ध रचना बीस विहरगान जिन स्तवन[1] का उल्लेख श्री मो० द० देसाई ने किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति (सं० १४३० कार्तिक की लिखित) श्री नाहटाजी के संग्रह में सुरक्षित है। श्री देसाई ने इसका कोई उद्धरण नहीं दिया है। आपने बारव्रत के ऊपर अनेक कथायें भी गद्य में लिखी हैं जो 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' में संकलित हैं। गद्य खण्ड में इनका विवरण दिया जायेगा।

तेजवर्द्धन—आपकी रचना 'भरत बाहुबलीरास'[2] का समय १५ वीं शताब्दी बताया गया है। श्री मो० द० देसाई ने अपने जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ४८८ और जै० गु० क० भाग पृ० ३४ पर इस रचना का मात्र नामोल्लेख किया है किन्तु विवरण उद्धरण कहीं नहीं दिया।

दयासागर सूरि—आपकी रचना 'धर्मदत्त चरित्र' का उल्लेख हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्येतिहास 'मिश्रबन्धु विनोद' में है। श्री मो० द० देसाई ने श्री जै० गु० क० भाग १ पृ० ३५ पर इसका उल्लेख किया है। मिश्रबन्धु विनोद के आधार पर श्री नाथूराम प्रेमी ने भी अपनी पुस्तक में इसका विवरण दिया है किन्तु श्री मो० द० देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४३० पर लिखा है कि "पं० लालचन्द के अनुमानानुसार यह रचना माणिक्यसुन्दर सूरि द्वारा संस्कृत में लिखी हुई है। इसमें प्रसंगत कहीं-कहीं गुजराती-हिन्दी के पद्य अवश्य आ गये हैं। अतः रचना के विवादा-

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ खण्ड १ पृ० ४४ और भाग ३ खण्ड २ पृ० १४७६

२ श्री मो० द० देसाई—जैन साहित्यनो इतिहास पृ० ४८८ और देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० ३५

स्पद होने के कारण उसका उल्लेख मात्र कर दिया गया है। अधिक विवरण अपेक्षित नहीं समझा गया है।

देवदत्त—(बहरा ऊदा सुत) आपकी रचना का नाम है 'श्री जिनभद्र सूरि धुवड' यह १५ वीं शती की रचना है। इसका आदि-अन्त आगे उद्धृत किया जा रहा है :—

आदि "सिसिगच्छ मंडण मयण रिण खंडण धीणग नंदनए।
मिलि सुहरसण अमृत वरिसणु, वाणी सुललितु ए।

अन्त "जिनराज सूरि पाट चिंतामण भद्द सूरि गुरु सुहकरुए।
भणै देवदत्त बहरा ऊदा सुत सहि छाहड़ सुहकरण को।"[1]

इसमें शायद कुल दो गाथायें ही प्राप्त हैं। इसकी प्रति अभय जै० ग्रन्थालय में उपलब्ध हुई। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है।

देवप्रभ गणि—आप सम्भवतः हर्षपुरीयगच्छ के आ० यशोभद्र के शिष्य थे। आपने १५ वीं शताब्दी में 'कुमारपाल रास' (४३ पद्य) की रचना की है जो भारतीय विद्यामन्दिर पत्रिका में प्रकाशित है।[2]

देवरत्न सूरि शिष्य (अज्ञात) कवि ने अपने गुरु के जीवनचरित पर आधारित 'देवरत्न सूरि फागु' सं० १४९९ में लिखा। यह फागु ऐ० जै० गु० काव्य संचय में प्रकाशित है। इसका लेखक संस्कृत का विद्वान् मालूम पड़ता है क्योंकि फागु का प्रारम्भ संस्कृत में लिखित मंगलाचरण द्वारा किया गया है। फागु के बीच-बीच में भी संस्कृत के सुन्दर छन्द हैं। भाषा में भी तत्सम शब्दों की बहुलता के कारण लय और छन्दप्रवाह मनोहर बन पड़ा है। तत्सम शब्दों की योजना निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है, यथा—

"त्रिभुवन गगन विमासन दिणयर नयर जीरावुलि वास रे।
नमिन निरंजन भवभय भंजन, सज्जन रंजन पास रे।"[3]

छन्द में गति और लय की सुन्दरता के दृष्टान्त स्वरूप निम्नाङ्कित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

---

१. श्री अ० च० नाहटा — म० गु० जै० क० पृष्ठ ८५

२. श्री अ० च० नाहटा — परम्परा पृष्ठ १८१

३. ऐ० जै० गु० का० संचय पृ० १५१

"निम्मल निज कुल कमल दिवाकर, सायर सम गम्भीर रे।
अनुदिन नव नव माइ मनोरथ, रथवर सारथि धीर रे।
सहसि मनोहर शशिकर निरमल, कमल सुकोमल पाणि रे।
गज गति लीला मंथर चालइ, बोलइ सुललित वाणि रे।,"

इस रास से भी देवरत्न सूरि के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं जैसे श्री देवरत्न सूरि पाटणवासी बहोरा करणिज और उनकी पत्नी कतिकदे के सुपुत्र थे। आपका जन्म नाम जावड़ था। इन्होंने सं० १४६६ में दीक्षा ली। इनके गुरु श्री जयानन्द सूरि थे। रास में कहा गया है कि दीक्षोपरान्त इनके कठोर संयम व्रत को तोड़ने के लिए मदन ने वसंत को भेजा। इसी संदर्भ में कवि ने वसंत का मनोरम वर्णन किया है, यथा--

"फूलभरि लहकार लहकइ, टहकइ कोयल वृन्द।
पारिध पाडल महिमह्या गहिगहि या मुचकुंद।"

रमणियाँ वसंत ऋतु में नवीन परिधान धारण करके नाचती गाती हैं-

"ब्रनि बनि गायन गायई, वासइ मलय समीर।
हंसिमसि नाचइ रमणीय, रमणीय नव नवचीर।"[1]

इस प्रकार कामदेव ने देवरत्न सूरि को संयम से डिगाने का अनेक प्रयत्न किया किन्तु आप अविचलित रहे। ये उच्चकोटि के संत थे और समय आने पर श्री जयानन्द सूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए। आपने लोकमंगल का महान् कार्य किया। इस फाग का अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

"संवत् चउद नवाणं वरिसइ,
ऋतु वसंत जन महनइ दिवसइ मन रंगिहिं सुविशाल;
फागबंधी अे गुरु वीनती भाव भगति,
मोलिम संजुती कीधी रास चउशाल।
गणहर श्री देवरत्न सूरि सर इमी विनती करी,
जे नरवर वंदइ भगतिहिं सार।
तिह धरि विलसइ नवनिधि अहनिशि,
सवि सुहसंपद नितु हुइतीह वसि वंछिय सिद्धि अपार।

१. ऐ० जै० गु० का० संचय पृ० १५४

६५ कड़ी की यह फागु अलग-अलग प्राचीन छन्दों में सुन्दर काव्य का उत्तम नमूना है। इसकी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अवश्य है किन्तु मूल ढाँचा मरुगुर्जर का ही है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग से यह भाषा काव्योचित बन गई है। इसमें स्थान-स्थान पर काव्य-सौन्दर्य युक्त सरस स्थल मिलते हैं जिनके कारण यह सामान्य रचना भी काव्यत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हो गई है।

देवसुन्दर—आप चन्द्रगच्छीय श्री सोमतिलक के शिष्य थे। आपने १५ वीं शताब्दी में 'उत्तम ऋषि संघस्मरण चतुष्पदी' नामक चौपई लिखा है जिसकी काव्यभाषा प्राचीन गुर्जर (मरुगुर्जर) है। इसमें तीर्थंकर, गणधर और अन्य साधु यतियों का सादर स्मरण-वन्दन किया गया है। संभवतः इन्हीं देवसुन्दर सूरि के किसी शिष्य ने 'काकबन्धि' नामक काव्य लिखा है।

देवसुन्दर सूरि शिष्य—संभवतः कुल मंडन सूरि[१] ने 'काकबंधि' चौ० सं० १४५० के अन्तर्गत लिखा। कुलमंडन सूरि तपागच्छीय देवसुंदर सूरि के शिष्य थे और सं० १४५० के आसपास इन्होंने 'मुग्धावबोध औक्तिक' संस्कृत में लिखा था। यदि इन्हीं ने वह 'कक्क' भी लिखा हो तो वह रचना भी इसी के आसपास अर्थात् सं० १४५० के आसपास की होगी।

एक 'देवसुन्दर रास' चॉप कवि ने भी लिखा है जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है। वे सम्भवतः भट्टारक चैत्यवासी थे। धम्मकक्क या काकबंधि अभी अप्रकाशित रचना है। अतः इसका विवरण और उद्धरण नहीं प्राप्त हो सका।

धनप्रभ—आपने 'श्री नेमिनाथ झीलणा' नामक लोकगीत लिखा है। इसकी भाषा सरल और लय मधुर है। यह मंगलोत्सवों पर गाया जाने वाला गीत है। शुभ अवसरों पर महिलायें लोकगीत गाती हैं। इसके प्रारंभ का छंद देखिए :—

> 'राजलदे वरदेव देवर, रूपिणि गाइसो झीलणू ए।
> ऊलटीउं मन हेय यादव जिण गुणि, लागु छइ रह कहउ ए।
> वउलसिरि वरमाल पहिरणि, करणीय फूलडे गुथीऊं अे
> सिव दिवि सुत सुकुमाल सुललित, सेवत्रड़े सइरू सिणगारीउंए।"

इस गीत के अन्तिम दो छंद निम्नलिखित हैं :—

१. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १८१ और श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२५

"मृगमद कुंकुम नीरि वावन. चंदनि सींगी संपूरिए।
नायक नेमि शरीरि बलि बलि, बलबलि करइं ते छांटणुए।
इसी अपूरब रीतिगुण, रयणायर रामतड़ी रमइए।
पूरइ मननी प्रीति, धनप्रभ गाइतां सवि सुख पामीइं ए।"[1]

धनपाल - आपकी चर्चा अन्य पूर्ववर्ती धनपालों के साथ की गई है। आपकी रचना 'बाहुबलि देवचरिउ' सं० १४५४ की रची हुई मानी जाती है। आप गुजरात के पुरवाड वंशीय श्री सुहडप्रभ की धर्मपत्नी सुहडा देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। इसमें १८ संधियां हैं जिनमें जैन धर्म के प्रथम कामदेव बाहुबलि का चरित्र अंकित किया गया है। यह रचना गुजरात के वासद्धर की प्रेरणा से लिखी गई। इसमें कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों और विद्वानों का उल्लेख किया है। इस कृति के बीच बीच में संस्कृत के पद्य भी मिलते हैं जिनसे यह धारणा बनती है कि कवि न केवल मरुगुर्जर अपितु संस्कृत का भी अच्छा जानकार था।

धनराज--आपने सं १४८० में 'मंगल कलश विवाहलु' १७० पद्यों में विरचित किया है। विवाहलु एक विशेष प्रकार के मंगलगीत हैं जो दीक्षा के अवसर पर गाये जाते हैं, इनकी भाषा सरल होती है। इन्हें कलश भी कहा जाता है। प्रस्तुत कलश में भी मालवा की उज्जैनी नगरी की शोभा और दीक्षोत्सव का वर्णन किया गया है। इसका प्रारम्भिक पद्य प्रस्तुत किया जा रहा है :--

"परम गुरु आदि जिण नमवि पभणेसु, मंगलकलश वीवाहलउए।
पुहवि मनोहरो मालव देश नामि, परिणामि रलियामणउ ए।
उज्जेणो वरनयर सुविशाल, पूरिय घण कण रयण खाणि।
सिंधु अरिगंजणी दिव्य तण, भूपाल वयर सिंहा वर नरिंदो।१।"[2]

अन्त इसा करमनउ सुणउ विचार, मंगलकलश विरतउ संसारि
देवलोक पंचमइ जिजाइ, भवि भीजइ वलिसिद्धि लहेइ।
संवत्सरि विक्रम नइ कही, चउदह सइ असीयइ ए सही,
मंगलकलश चरितु सुविशाल, धन्नराजि इम कहिय विसाल।
पढइ गुणइ एक मना सही, तिहि धरि आवइ नवनिधि सही।"[3]

१. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' म० गु० जै० कवि पृ० १०४
२. श्री अ० च० नाहटा म० गु० जै० कवि पृ० ८७
३. वही

पद्यों की भाषा देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनायें लोक-गीतों की तरह होती थीं अतः इनकी भाषा बोलचाल के काफी करीब होती थी। ऐसी रचनाओं द्वारा तत्कालीन बोलचाल की स्वाभाविक लोकभाषा का अनुमान किया जा सकता है।

नयचन्द्र--आप जयसिंह सूरि के प्रशिष्य और प्रसन्नचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपकी दो रचनायें सं० १४४० के आसपास की उपलब्ध हैं। उनमें 'वीरांक हम्मीर महाकाव्य' प्रसिद्ध है। दूसरी रचना 'रम्भामंजरी' एक नाटक है। ये ग्वालियर के तोमरवंशी राजदरबार में कवि थे। आपके महाकाव्य का नायक हम्मीर है। इसमें हम्मीर के समकालीन राजाओं पृथ्वीराज आदि का भी वर्णन है। रंभामञ्जरी का नायक जयचन्द है जिसमें दो पृष्ठों में केवल उसका विशेषण-विरुद बखाना गया है; लेकिन इन दोनों पुस्तकों में पृथ्वीराज और जयचन्द का युद्ध, राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयम्वर आदि का उल्लेख नहीं है। इसके आधार पर कई आलोचक पृथ्वीराज रासो की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं; परंतु सच पूछा जाय तो नेयचन्द्र की ये दोनों रचनायें भी इतिहास की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय नहीं मालूम पड़ती। इसमें परमर्दिचंदेल, चौलुक्यराज भीमदेव और अन्य राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन नहीं मिलता। रम्भामंजरी की भी अधिकतर घटनायें जयचन्द के प्रामाणिक इतिहास से कम मेल खाती हैं। इन दोनों कृतियों में ऐतिहासिक विवरण बहुत कम है और जो थोड़े से हैं वे प्रायः इतिहास सम्मत नहीं हैं।

वीरांक हम्मीर महाकाव्य की भाषा डिंगल कही गई है किन्तु यह भी मरुगुर्जर की एक चारणशैली है। भाषा वैज्ञानिक अन्तर कम है। इसमें वीर और शृङ्गार रस का यत्र तत्र सुन्दर परिपाक हुआ है।

नरसेन--'श्रीपालचरित' और 'वर्द्धमान कथा नामक दो रचनायें आपने १५ वीं शताब्दी में लिखी हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में न तो रचनाकाल दिया है और न अपना परिचय दिया है, हस्तलिखित प्रति के आधार पर इनका समय अनुमानतः १५वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है। श्रीपाल चरित्र में श्रीपाल और मयनासुंदरी की प्रेमकथा है। श्रीपाल अनेक सुंदरियोंसे विवाह करता है। कालान्तर में संजममुनि से अपने पूर्वभवों की कथा सुनकर उसे विरक्ति होती है और तपस्या करके वह निर्वाण प्राप्त करता है। इस कृति में कवि ने दिखलाया है कि सच्चा धार्मिक व्यक्ति अनेक आपदाओं

---

१. श्री कामता प्रसाद जैन --हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ ३४

का सहन करता हुआ अन्ततः अविचलित रहता हुआ अपने सदाचार से सारी बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है। मयनासुन्दरी दिगम्बर मुनि के पास शिक्षा के लिए जाती है और अनेक विद्या और कलाओं के साथ संस्कृत भाषा, देशी भाषा के तीन छन्द-गाथा, दोहा और छप्पय का भी ज्ञान प्राप्त करती है। इस उल्लेख से कवि का संस्कृत और देशी भाषा के प्रति लगाव व्यक्त होता है। इस कृति की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव भी पर्याप्त है अतः कवि अपभ्रंश का भी जानकार मालूम पड़ता है यथा—

"जिण वयणउ विणिग्गय सारी, पणविय सरसइ देवि भंडारी।
सुकइ करतु कव्वु रसवतंउ, जसु पसाइ वुहयणु रंजत्तउ।"

आपकी दूसरी रचना 'वर्द्धमान कथा' में तीर्थंकर वर्द्धमान का चरित वर्णित है। यह कृति काव्यत्व की दृष्टि से प्रथम कृति की तुलना में न्यून है किन्तु इसमें तीर्थंकर भगवान का चरित चित्रित होने के कारण इसका धार्मिक महत्त्व अधिक है। इसकी भाषा वैसी ही अपभ्रंश गर्भित है जैसी 'श्रीपाल चरित्र' की है। अतः विशेष उद्धरण आवश्यक नहीं है।

पद्मतिलक– आपने २८ छन्दों में 'गर्भ विचार स्तोत्र'[1] नामक स्तोत्र लिखा है। इसमें गर्भवास के दुःखों का भयानक वर्णन किया गया है। यह कोट कांगड़ा के तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्ति को लक्ष्य करके लिखी गई है। इस रचना में लेखक के जीवनवृत्त और गुरु परम्परा आदि पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। इसकी भाषा मरुगुर्जर है। भाषा के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं--

"पुव्व पुण्य संजोगि पुणवि मणुवत्तणु पाविउ,
विविह दुक्ख णव मास सडद गब्भिहिं संताविउ।
रमणि नाभितलि नाल काटि दुहुं पुप्फहं अच्छइ।
कोसागारिहिं ता मुहेंठि पुण जोनि पडित्थइ।"[1]

पद्मानन्द सूरि--इसी समय (१५ वीं शताब्दी) आपने एक स्तोत्र 'श्री चउवीसवटा श्री पार्श्वनाथ नागपुर चैत्य परिपाटी स्तोत्रम्' (९ गाथा) नाम से लिखा है। आपकी दूसरी रचना एक स्तुति है जिसका नाम श्री चउवीसवटा पार्श्वनाथ स्तुति' (गा० ४) है। इसकी तीसरी प्राप्त रचना का नाम 'श्री वर्द्धनपुर चैत्य परिपाटी स्तवनम् (गा० ९) है। इन सबका विषय तीर्थंकरों की स्तुति और चैत्यों तथा बिम्बों की वन्दना है। भाषा नमूने के लिए कुछ उद्धरण आगे दिए जा रहे हैं:—

१. डा० प्रेमसागर जैन—हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० ५९

प्रथम कृति की अन्तिम दो पंक्तियां पहले प्रस्तुत हैं :—

'इय बहु विह भत्तिहिं विहि सम्मतिहिं, आराधउ जिणवर सयल।
श्री परमाणंद सूरि देसण मणिधरि, सावय कुलु कीजइ सफल।'

दूसरी रचना का प्रथम छंद निम्नांकित है—

'सयल सुहकारणो भविय जण तारणो, नाम गहणेण दुह दुरिय निलारणो।
नयरि नायउरि जसु अधिक महिमा गुणो, जयउ श्री पासु चउवीस वट्टय जिणो।'

तीसरी रचना की अन्तिम दो पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'आराधउं अरिहंत पदमाणंद सुरि इम भणए।
ते रिधि वृद्धि जयवंत, जे प्रणमइ जिण प्रहसम ए।'[1]

इन तीनों रचनाओं की विषय वस्तु और भाषा प्रायः एक जैसी है। स्तोत्र, स्तुति, स्तवन आदि भक्ति विषयक रचनाओं में कवि की तल्लीनता उसके काव्य पक्ष की अपेक्षा अधिक ध्यातव्य होती है।

परमानन्द—आपकी एक रचना 'शत्रुंजय चैत्य परिपाटी' (गा० ४१) का उल्लेख श्री नाहटा जी ने किया है किन्तु कवि के नाम के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया है। रचना के अन्त में कवि का नाम इस प्रकार है :—

'सेत्रुंज गिरिवर सियं धणीय नरेसूया, ऊगिउ अभिनव चंद,
सूरति परमानंद दिय नरेसूया, टालइ सवेवि छिंद।४०।'

यह शब्द कवि का नाम भी हो सकता है और 'आनन्द' अर्थ का बोधक भी हो सकता है। इसका प्रथम छंद इस प्रकार है :—

'सरसति सामिणि नमिय पाय, सिरि सेमिय्र केरी।
चैतु प्रवाडिहिं (क)रि विहेव, मनि रंगि नवेरी।'[2]

अन्तिम छन्द भाषा के नमूने के लिए उद्धृत किया जा रहा है :—

'रिद्धि वृद्धि कल्याण करी नरेसूया, बोले चैत्य प्रवाडि एह।
तीरथ यात्रा फल दियए नरेसूया, निरमल करय सुदेह।'

प्रसन्नचन्द्र—आप जयसिंहसूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'रावणि पार्श्वनाथ फागु' प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है। इसका रचना काल सं० १४२२ है। रावणि अलवर के पास एक गाँव है। वहाँ स्थापित पार्श्व-

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जैन कवि पृ० ९९-१००
२. वही पृ० १०२

नाथ की मूर्ति की प्रशस्ति में यह फागु लिखा गया है। इसके प्रारम्भ में कवि ने वसंत की बनश्री का मनोहर वर्णन किया है। मन्दिर में पूजन का प्रभावशाली वर्णन इस फागु की १६ कड़ियों में किया गया है। इसमें चार भास हैं और प्रत्येक भास दूहा और रोला में पद्यबद्ध है। वसंत में प्राकृतिक शोभा का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

'अह दक्षिणु बाइउ वाउराउ रितु तणउ पहूतउ,
दिसि दिसि हरसि रमंत, लोउ मनमथ गुणि गूहउ।'

ऐसे मनोरम समय में पार्श्वनाथ की पूजा का प्रारम्भ होता है। पूजा के लिए अपेक्षित शान्त वातावरण की अपेक्षा प्रकृति के उद्दीपक मादकता का अधिक प्रभावकारी वर्णन कवि ने किया है। पूजा-आरती के साथ फागु समाप्त होता है। फागु की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'वादिय जयसिंहसूरि पट्टह सिणगारो,
प्रसन्नचन्द सुणि इम भावि पभणइ गणहारो।१६।'[1]

पृथ्वीचन्द—आप इन्द्रपल्लिय गच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४२६ के आसपास 'मातृका प्रथमाक्षर दोहक' की रचना ५८ गाथाओं में की है। इसके आदि के दो छंद आगे प्रस्तुत हैं :—

'अप्पइं अप्पऊ बूझि करि जे परप्पइ लीणु
सुज्जिदेव अम्ह हरसण, भवसायर पारीण।
माई अयर धुरि धरिवि वर दूहय छंदेण,
रस विलास आरंभियउ सुकवि पुहवीचंदेण।२।

इसके अन्तिम दो छंद भाषा के नमूने और रचना सम्बन्धी विवरण की दृष्टि से उद्धरणीय हैं, यथा—

रुद्दपल्हि गच्छह तिलय, अभयसूरि सीसेण
रस विलासु निप्पाइयउ, पाइय कव्वरसेण।५३।
पुहविचंद कवि निम्मविय पढ़िदूहा चउपन्न,
तसु अणसारिहिं ववहरहिं पसरइ कित्तिखन्न।५४।"[2]

पहुराज—आप खरतरगच्छीय जिनोदयसूरि के श्रावक भक्त थे। आपने सं० १४१५ से १४३१ के बीच किसी समय जिनोदय सूरि गुण वर्णन

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० २४
२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४-७७

नामक काव्य की रचना की। श्री जिनोदय सूरि का आचार्य काल सं० १४१५ से १४३१ तक स्वीकृत है। श्री अ० च० नाहटा ने इसका रचना काल सं० १४२० के लगभग माना है।[1] यह रचना 'प्राचीन ऐ० जै० काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। इसमें जिनोदय सूरि का गुणगान किया गया है। इसका प्रारम्भिक छन्द इस प्रकार है—

"किणि गुणि सोववि तवण, सिद्धिहिका भति तुम्ह हो मुणिण।
संसार फेरि डहणं, दिक्खा बालाणए गहण।१।

उसके आगे कवि का नाम इस प्रकार है :—

"पहराज भणइ तुइ विन्नइ, अजउं भवणु किणि गुणि तबहि।"

अपने गुरु के शील-संयम का बखान करता हुआ कवि लिखता है :—

"कवणि कवणि गुणि थुणउं कवणि किणिमेय वखाणउं।
थूलभद्द तुह सील लब्धि, गोयम तुह जाणउ।
पाव पंक भउ मलिउ दलिउ कंदप्प निरुत्तउ।
तुह मुनिवर सिरि तिलउ भविय कप्पयरु पहुत्तउ।
जिण उदय सूरि मणहर रयण सुगुरु पट्टधर उद्धरण,
पहुराज भणइ इम जाणि करि फल मनवंछित सुहकरणु।५।"

छठाँ पद्य खंडित है। उसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

"जिण उदयसूरि गणहर रयणु सुगुरु पट्टधर उद्धरण
पहुराज भणइ इम जाणिकरि सयल संघ मंगलुकरण" ।६।[2]

रचना का साम्प्रदायिक महत्व है और कवि की गुरुभक्ति का अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार के धार्मिक साहित्य में गुरु का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत है और जैन साहित्य में ऐसी रचनाओं की संख्या गणनातीत है।

बच्छ भण्डारी—आपकी तीन रचनायें—'आदिनाथ धवल, नवपल्लव, पार्श्वनाथ कलश और मृगांकलेखारास' उपलब्ध हैं। आदिनाथ धवल का समय श्री नाहटा जी ने सं० १४७१ बताया है।[3] श्री मो० द० देसाई ने इनकी दूसरी रचना 'पार्श्वनाथ कलश' को १६ वीं शताब्दी की कृति बताया है। उनका कथन है कि कवि बच्छ भंडारी देपाल का समकालीन मालूम पड़ता है। इनकी रचनायें भी एक ही प्रति से प्राप्त हुई हैं और देपाल

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ६६
२. प्रा० ऐ० जैन काव्य संग्रह पृ० ४०
३. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ८१

१६वीं शताब्दी के कवि थे अतः यह कवि भी १६वीं शताब्दी का होगा।[1] किन्तु यह कथन अधिक प्रामाणिक नहीं लगता क्योंकि आदिनाथ धवल में रचनाकाल स्वयं कवि ने दिया है। उससे वह १५वीं शती का कवि ठहरता है, पंक्तियाँ देखिये —

> 'बच्छ भंडारी इम भणइ आदिसर अवधारि।
> अत्तकालि आउउ थइ, अम्ह निरया गइ निवारि।
> विद्या संक्षि एकहुत्तरइ, धुरि कहउ कार्ति मास
> एक धउल तिहां भणउ, कहितां पुण्य प्रकाश।'[2]

इसमें रचनाकाल सं० १४७१ कार्तिक मास बताया गया है। अतः एक कवि की एक रचना १५वीं शती में और दूसरी १६वीं में हो; यह उचित नहीं लगता। दीर्घायु कवि १५वीं के अन्तिम चरण से १६वीं के प्रथम चरण में भी सृजनशील रह सकता है लेकिन श्री देसाई जी ने रचनाकाल नहीं दिया है अतः इनका विवरण १५वीं शताब्दी में ही समीचीन लगता है। इनकी तीसरी रचना 'मृगांकलेखारास' की प्रति सं० १५४४ से पूर्व की प्राप्त है अतः यह रचना १५वीं शती के अन्तिम चरण की हो सकती है। इनकी तीनों रचनाओं से भाषा के नमूने प्रस्तुत किए जा रहे है जिनका मिलान करने से भी तीनों रचनायें एक ही कवि की मालूम पड़ती हैं। सर्वप्रथम मृगांकलेखारास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

> 'गोयम गणहर पय नमेवि, बहु बुद्धि लहेसु
> मृगांक लेखा सतीय चरिय मनि सुद्धि कहेसु,
> सोलइ सरोमणि गुणि निलुअे मनि मांन न आणइ।
> मनसा वाचा कायकरी ते सील बखाणइ।'[3]

इसका अन्तिम पद्य देखिये :—

> 'मृगांक लेखा तणूयं चरित्र, समकित सतरी मांहि पवित्र,
> तेहथू कविउं सत्त आधारि, असत्य ते भिद्दादुकड़ सार।४०२।'

यह ४०४ कड़ी की लम्बी रचना है किन्तु इसमें रचनाकाल और कवि सम्बन्धी विवरण अनुपलब्ध है। कवि ने इसे स्वयम् प्रबन्ध काव्य कहा है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६५ और भाग ३ पृ० ५००

२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ८१

३. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६३

इस समय तक रास का आकार बढ़कर प्रबन्ध काव्य जैसा हो चुका था। इस रास में मृगांकलेखा के सतीत्व का महत्व वर्णित है। रचना काव्यमय है। इनकी दूसरी रचना 'नवपल्लव पार्श्वनाथ कलश' है। इसमें सौराष्ट्रान्तर्गत मंगलपुर स्थित पार्श्वनाथ की स्तुति है। आदि और अन्त इस प्रकार है—

आदि 'श्री सौराष्ट्र देशमध्ये श्री मंगलपुर मंडणो दुरित विहंडणो।
अनाथनाथ असरण सरण त्रिभुवन जनमन रंजनो।
२३मो तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ तेह तणो कलश कहीशु।

भाषा पर गुर्जर का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। इसका अन्तिम पद्य देखिये :—

'इमि भणे वच्छ भंडारी निजदिन अम मन अे अरिहंत,
अेहवा नीलवरण नवरंग जिनेसर, जयो जयो जयवंत।'[1]

इनकी तीसरी रचना की अन्तिम पंक्तियाँ पहले ही उद्धृत की जा चुकी हैं। उसका प्रारम्भ इस प्रकार है :—

आदि राग सामवेदी—
'जिण चउवीसं आराहिसिउ ए, अम्हि आदि जिणेसर गाइसिउं ए।
कवि जणणी अम्ह मुखि वसइ ए, तु बुद्धि प्रकाश मनि उल्हसइए।'

इसकी हस्तलिखित प्रति भी सं० १५४५ की लिखी हुई है और इसका रचनाकाल सं० १४७१ है तो इसी प्रकार सं० १५४४ की लिखी मृगांकलेखारास का भी रचनाकाल सं० १४७१ के आसपास ही होगा। ये तीनों रचनायें वच्छ भंडारी की ही हैं। आप श्रावक कवियों में महत्वपूर्ण कवि हैं।

भावसुन्दर—आप तपागच्छीय सोमसुन्दर सूरि के शिष्य थे। आपने १५वीं शताब्दी में किसी समय 'महावीर स्तवन' लिखा जिसके आदि, अन्त की पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं :—

आदि 'पणमवि सरसय माय पाय नितु बे कर जोडिय।
श्री सोमसुन्दर सूरि राओ नितु समरवि नाम,
जंगम तीरथ सकल मणि बिय बोहस डांण।
पंच महावय धरणधार धुरि पंचाचारो, पंचेन्द्रिय वसिकरण
मयणजीतउ सपरिवारो।[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० ६३
२. वही पृ० ३३-३४

अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

ऊलट रस अेक मनि, अेक चित्ति करि भावसुन्दर,
जिम नासइ असुह सिवि संपयंति सुखह परंपरि।

× × ×

तां नितु नवी परि नितु चडावइ, अधिक यान विहारयं,
श्री संघ सहितु मणि तवनउ, स जयति श्री वीर जिणिंद अे।

इनमें कवि या कविता सम्बन्धी कोई विशेष विवरण नहीं है।

भीम—श्री मोहनलाल द० देसाई ने इन्हें जैनेतर कवि बताया है किन्तु इनकी रचना 'सदयवत्स प्रबन्ध' की कथा जैन-धर्म से सम्बन्धित है। श्री चीमनलाल दलाल ने अपने लेख 'सदयवत्स सावलिंगानी कथा'[1] में इसका उल्लेख किया है। इसकी भाषा को श्री देसाई ने जुनी गुजराती कहा है किन्तु वस्तुत: यह मरुगुर्जर भाषा की ही रचना है। अत: इसका विवरण यहाँ उचित है। इसका रचनाकाल १५वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। ६८९ छन्दों का यह एक विस्तृत प्रबन्धकाव्य है। इसमें गाहा, पद्धड़ी, वस्तु, दूहा, चोपइ, अडिल्ल, मडलय, षट्पदी राग, धुल, धन्यासी इत्यादि प्राचीन छन्द और राग प्रयुक्त हुए हैं। कवि ने इसकी रचना नवरसों में की है, देखिये ५वाँ छन्द :—

'सिंगार हास्य, करुणारी वीरो भयाण बीभत्सो, अदभत्त
सांत नवे रस जस वन्निस सदइ वच्छस्स।५।'[2]

इसमें मालव देश की उज्जैन नगरी के राजा पुहरवच्छ के राजकुमार सूदइ कुमार की कीर्ति का वर्णन किया गया है। सूदइ कुमार या सदयवत्स की कथा जैन जगत् की जानी पहिचानी कथा है। इसमें कवि भीम ने उसका गुण वर्णित किया है यथा,

'कवि भीम तासु गुण वन्नवइ, जो हरसिद्धी लवधवर।'

इसमें यथावसर सभी रसों का विभिन्न परिस्थितियों में वर्णन किया गया है। इसकी कुछ प्रतियों के अन्त में रचना का विवरण अनुपलब्ध है पर एकाध में यह विवरण मिलता है यथा,

---

१. जैन साहित्य संशोधक खंड १ अंक ३ पृ० १३५
२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० २११०—१२ तक

'कुमर सवे आवीनिमल्या, मान सहित गाढा झलहल्या,
　　राज करिइ राय सरि सूर, भणइ गणि ते घर उछव धार।
संवत १५ पंचोतेर नाम, पाटणनयर मनोहर ठाम।
　　भीम कविअे रचीउ रास, भणिइ भणावइ पूरि आस।'

इससे १६वीं शताब्दी का कवि सिद्ध होता है किन्तु देसाई इन प्रतियों को प्रामाणिक नहीं समझते और उन्होंने भीम की गणना १५वीं शताब्दी के अन्तर्गत की है। अतः यहाँ १५वीं शती के मरुगुर्जर कवियों के साथ भीम और उनकी रचना सदयवत्स प्रबन्ध का विवरण प्रस्तुत किया गया है। रचना पाटण में होने के कारण इस पर गुर्जर का प्रभाव अवश्य मरु की तुलना में अधिक है।

भैरइदास—आप की प्राप्त रचना का नाम 'जिनभद्रसूरि गीतम' केवल दो गाथा की छोटी रचना है। यह १५वीं शताब्दी की रचना है। इसकी भाषा जैसा आगे दिए गये उद्धरणों से स्पष्ट मालूम होगा हिन्दी के अधिक समीप है किन्तु पुरानी हिन्दी, पुरानी गुजराती आदि के लिए एक सामूहिक नाम मरुगुर्जर दिया गया है अतः इसे भी मरुगुर्जर की ही रचना कहा जायेगा। उदाहरणार्थ इसके आदि और अन्त के छन्द उद्धृत किए जा रहे हैं :—

आदि　'मनमथ दहन मलिनि मन वर्जित, तप तेज दिनकरु ए।
　　महिम उदधि गुरु या गच्छ गणधरा सकल कलानिधिए।
　　वादि तरकि विद्या गज केसरि, जोग जुगति यति संपुन्नु,
　　आप वसिकरणि सुखनिधि, संघ सभापति मडणु। १।'

अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

　　'चतुर्दिश प्रगट अमृत रस पूरित, ज्ञानि गे रेखग।
　　पंच महाव्रत मेरु धुरंधर, संजम सुगृहितु ए।
　　जिनराज सूरि पाट ससि सोभत भणति भैरइ दासु मणहरुमा।
　　जिणभद्र सूरि सुगुरु गुणवदउ, मन वंछित फल पामउए।'[1]

इसका विषय शीर्षक से स्वतः स्पष्ट है। इसमें कवि ने अपने गुरु जिनभद्र सूरि का वदन किया है। भाषा अति सरल बोलचाल की पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा, म० गु० जै० पृ० ८५-८६

मांडण सेठ—आप एक श्रेष्ठी श्रावक कवि थे। आपने सं० १४९८ में 'सिद्धचक्र श्रीपाल रास' की रचना की। रास के अन्त में लेखक ने अपना नाम और रचनाकाल आदि दिया है अतः पहले सम्बन्धित पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं :—

'ज्यारि भव मर्त्यलोकि, ज्यारि होसि देवलोकि।
तुमइ भवि पहुचिस्यु तम्हि मुगति पुरी।
मूरष मांडणि भण्यु, रास सिद्धचक्र तणु।
संखेपिउ कहिसु गुरुवचनि करी।
सिद्धचक्र तणा गुण, बोलिय न जाणू पण।
अेह रास सहू भणु मुगति मारग तणु।
रिद्धि वृद्धि नवनिधि जिम लहु।
चऊद अट्ठाणवइ, कार्तिक मासि तीणइ। सुकलपक्ष पञ्चमी गुरु।
भणता हुइ उल्हास। गुरुवचनि कीधु रास।
कूडु खरु हुइ संघ मया उद्धरु।[1]

इसकी कुल पद्य संख्या २५८ है। इसका प्रथम पद्य वस्तु इस प्रकार है :—

'रिसह सामीय र पठम अे जिणराय,
नाभिराय कुलि अवतरिउ, जुगलधर्म निवारि कारण।
मरु देव्या ऊपरि वरिऊ, सयल लोअ दुहदुरीय टालण।
त्रिहु भुवनहिं उद्योतकर, प्रणामु मुगति दातार।
इम जाणी पूजा करूँ जिम पामउ भवपार।१।'

आपने इस रास में श्रीपाल की कथा का सुन्दर वर्णन काव्योचित ढंग से किया है। भाषा सरल मरुगुर्जर है।

माणिक्यसुन्दरसूरि—आप आंचल गच्छीय श्री मेरुतुंग के शिष्य थे। श्री देसाई ने कवि का नाम माणिक्यसुन्दरसूरि और माणिक्यचन्द्रसूरि दोनों दिया है। आपने संस्कृत, मरुगुर्जर आदि कई भाषाओं में कई रचनायें की हैं जिनमें चतुःपर्वी चम्पू, श्रीधर चरित्र सं० १४६३, शुकराज कथा और गुणवर्म चरित्र आदि उल्लेखनीय हैं। आप गुजरात के एक सामन्त शंख के सभापंडित थे। वहाँ उन्होंने ४ सर्गों में 'महाबल मलय-

1. श्री मो० द० देसाई, जैन गुर्जर कवि भाग ३ पृ. ४३३-४३४

सुन्दरी' चरित लिखा। इनकी रचना 'चन्द्रधवल धर्मदत्तकथा' भी उल्लेखनीय है। आप अपने गद्यग्रन्थ 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' (वाग्विलास) के लेखक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। यह रचना सं० १४७८ में लिखी गई प्रारम्भिक मरुगुर्जर गद्य की महत्वपूर्ण कृति है। यह 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। इसका विवरण गद्यखंड में दिया जायेगा।

मरुगुर्जर भाषा में रचित आपकी महत्वपूर्ण कृति है—'नेमीश्वर चरित फागवंध' इसमें ९१ गाथायें हैं। यह श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित रचना है। इसके प्रथम तीन श्लोक संस्कृत में हैं। कवि की अन्य संस्कृत रचनाओं की सूची पहले दी जा चुकी है। इस रास में संस्कृत के छंदों के अलावा सामान्य रूप से काव्यभाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता है। इससे लगता है कि कवि संस्कृत भाषा में अच्छी गति रखता है। भाषा के नमूने और लय प्रवाह के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ इस रचना से उद्धृत की जा रही हैं :—

'नमउं निरंजन विमल समाविहि, भाविहिं महिम निवास रे,
देव जीरापल्लि वल्लिय नवधन, विधन हरइ प्रभुपास रे।'[1]
इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ आगे दी जा रही हैं—
'कय अक्षर जिम बे तिहि मिलीया, सुन्दर परमब्रह्म सिउं मिलीया,
दुख वजित विलसंति।
रसि जु नेमिजिण चरिय सुच्छंदिहिं, कृतमति भुणइ सुणइ
आणंदिहिं तसु मंगल नितु हुंति।९१।'

आप संस्कृत और मरुगुर्जर भाषा के गद्य और पद्य दोनों विधाओं के अच्छे लेखक थे। 'नेमिश्वर फागु बन्ध' का विषय नेमिराजुल पर आधारित स्वयम् काफी सरस एवं मधुर है दूसरे कवि ने काव्य-विधा के रूप में फागु नामक अत्यन्त सरस शैली स्वीकार किया इसलिए इस रचना में सरसता और काव्य सौन्दर्य उच्चकोटि का उपलब्ध होता है।

माणिक्यसूरि—आपकी रचना 'राजीमती उपालंभ स्तुति' गाथा १८ का समय श्री नाहटा जी ने १५वीं शताब्दी बताया है। पता नहीं ये माणिक्यचन्द्रसूरि ही हैं या अन्य माणिक्यसूरि। आपकी रचना का आदि देखिये :—

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४४३

'पसूवाड़ दीठउ प्रभो जीण बेलां, तजी राज राजीमती तीणं हेलां,
हुसां जीव संघारु रे जीण जाति, पछइ पाछिला काज रे तीणं भांति ।१।'

इसका अन्त देखिये :—

'मन वचनि कायाकरी सीलपाली, रमइ रायमइ मुगति सिउं हाथि ताली ।
कहइ सुगुरु माणिक्यसूरि महुरवाणी, जयउसंघ समुदाय राजलि राणी ।१८।'[1]

इसकी भाषा लोकभाषा के सदृश है जबकि माणिक्यचन्द्रसूरि की भाषा अधिक तत्सम प्रधान, परिष्कृत और साहित्यिक भाषा है अतः ये दोनों सम्भवतः एक कवि नहीं हैं। इसीलिए इनका विवरण अलग अलग दिया गया है।

मालदेव—आप बहुरा गोत्रीय श्रावक कवि थे तथा तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के भक्त थे। आपकी रचना नन्दीश्वरस्थ प्रतिमा स्तवन या नन्दीश्वर चौ० (गाथा ५४) का आदि इस प्रकार हुआ है :—

'पणमवि सिद्ध सवे करजोडि सिरसा केवलि धुरि दोइ कोडि ।
साधु प्रसादिइं सदफल लेसु, तीरथ नंदीसर वंदेसु ।१।

इसका अन्तिम पद्य देखिये—

'सिरि देवसुन्दर सूरि पयमत्त, बउहुरा मालदे निरमल चित्त,
नंदीसर वर कहिउ विचार, पठइं गुणइं तीहं लच्छ अपार ।५४।'[2]

मालदेव नाम के एक प्रसिद्ध कवि १७वीं शताब्दी में हुए हैं, उनसे यह कवि भिन्न है।

मुनि महानन्दि—आप भट्टारक वीरचन्द के शिष्य थे। आपने 'बारक्खड़ी दोहा अपरनाम पाहुड़ दोहा' लिखा जिसकी सं० १६०२ की लिखी प्रति आमेर के शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित है। इसकी भाषा अपभ्रंश मिश्रित है लेकिन उच्चकोटि की आध्यात्मिक रचना है। इसमें कुल ३३३ दोहे हैं जिसमें नीति और अध्यात्म के साथ बीच-बीच में सरस दोहे भी है। यथा :—

खीरह मज्झह जेम घिउ, तिलह मज्झि जिम तिलु ।
कट्ठिहु आगणु जिम वसइ तिम देहहि देहिल्लु ।।२२।

मुनि महानन्दि की रचना आनन्दतिलक का विवरण १४वीं शताब्दी में दिया जा चुका है। यह रचना भी उसी कोटि की है और अधिक सूक्ष्मता

१. श्री अ० च० नाहटा, म० गु० जै० कवि पृ १०३
२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८५

से मिलान करने पर शायद यह रचना आनन्दतिलक का ही रूपान्तर हो। डा० कासलीवाल ने इस रचना का नाम आनन्दतिलक बताया है किन्तु श्री अ० च० नाहटा ने उसका प्रतिवाद वीरवाणी वर्ष ३ अंक २१ में किया है और रचना का नाम महानन्दि बताया है, हो सकता है यह 'बारक्खड़ी' भी वही रचना हो। भाषा और भाव का साम्य इस अनुमान को पूरा बल देता है।

मुनिसुन्दर सूरि—आप तपागच्छीय आचार्य थे। आपने शान्तरास की रचना सं० १४४५ में की है इसका उल्लेख मात्र श्री मो० द० देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२२ पर किया है। कोई विवरण-उद्धरण नहीं दिया है। इस रचना का उल्लेख डा० हरीश ने भी अपने शोधग्रन्थ के पृष्ठ २५८ पर किया है किन्तु उद्धरण नहीं दिया है अतः कवि की भाषा शैली का नमूना नहीं दिया जा सका है।

मेरुतुंग—आप आँचल गच्छीय श्री महेन्द्रप्रभसूरि के पट्टधर थे। आपका जन्म सं० १४०३, दीक्षा सं० १४१८, आचार्य पद पर प्रतिष्ठा सं० १४२९ और गच्छ नायक पद पर स्थापना सं० १४४६ में हुई थी। सं० १४७१ में आपका स्वर्गवास हुआ था। आप नागेन्द्रगच्छीय चन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य प्रसिद्ध ग्रंथ प्रबन्धचिन्तामणि के लेखक मेरुतुंग से भिन्न हैं। आप जयशेखर के गुरुभाई और समकालीन थे। आपने कातन्त्र व्याकरण पर बाला० वृत्ति लिखी। आपने कुछ छोटे-छोटे स्तोत्र, स्तुति आदि पद्य में भी लिखे हैं परन्तु आपका यश गद्यकार, बालावबोधकार के रूप में ही अधिक है।

मेरुनन्दन गणि—आप खरतरगच्छीय आ० जिनोदयसूरि के शिष्य और मरुगुर्जर के बड़े यशस्वी कवि थे। आपने मरुगुर्जर में अनेकों रचनायें की हैं जिनमें से कई प्रकाशित और प्रसिद्ध हैं। आपने सं० १४३२ में 'श्री जिनोदरसूरि विवाहलउ, सं० १४३२ में ही 'जीरावल्ला पार्श्वनाथ फागु' लिखा। प्रथम रचना विवाहलउ ऐ० जै० काव्य संग्रह में और द्वितीय रचना 'फागु' प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है। पार्श्वनाथ फागु पं० लालचन्द भगवान दास गांधीकृत जीरावल्ला पार्श्वनाथ सम्बन्धी पुस्तक में भी प्रकाशित है। इसके अलावा आपने श्री गौतम स्वामि छन्द (गा० ११), श्री स्थूलिभद्र मुनीन्द्रच्छंदासि (गाथा ८), सीमंधर स्तवन (गा० ३१) और श्री अजित शान्तिस्तवन आदि भी लिखा है।

आपने संस्कृत में भी बहुत से स्तोत्रादि लिखे हैं जिनका विवरण श्री नाहटा जी के लेख में जो वल्लभ विद्या विहार पत्रिका में प्रकाशित है, देखा जा सकता है। मरुगुर्जर में ज्ञानछप्पय, जिणोदयसूरि छंदासि आदि सुन्दर कृतियाँ हैं। 'विवाहलउ' के अनुसार आचार्यश्री का जन्म सं० १३७५ में रुद्रपाल श्रेष्ठि की धर्मपत्नी धारक देवी की कुक्षि से हुआ था। आपका परिवार प्रह्लादनपुर में निवास करता था। जिनोदयसूरि जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर थे। सं० १४१५ में वाचनाचार्य सोमप्रभ को गच्छनायक पद देकर उनका नाम जिणोदयसूरि रखा गया था। आपका बचपन का नाम समरा था। आपको जिनकुशलसूरि के उपदेश से वैराग्य हुआ और उन्हीं के द्वारा सं० १३८२ में इनकी दीक्षा हुई थी। इस विवाहलउ में जिनोदयसूरि की समस्त जीवन कथा है किन्तु इसका मुख्य विषय उनकी दीक्षा ही है। दीक्षा कुमारी के साथ जिनोदयसूरि के विवाह का रूपक वर्णन बहुत सुन्दर है। श्री जिनोदयसूरि का स्वर्गवास सं० १४३२ में हुआ। इसलिए इसी समय के आसपास यह विवाहलउ लिखा गया होगा। इसके प्रारम्भ और अन्त की पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं :—

आदि 'सयल मण वंछिय, काम कुम्भोवम, पास पय-कमलु पणमेवि भत्ति।
सुगुरु जिणउदय सूरि करिसु विवाहलउ, सहिय उमाहलउ मुज्झ चित्ति।
अत्थि गूजरधरा सुदंरी सुदंरी, ऊखरे रयण हरोवमाणं।
लच्छि केलिहरं नयरु पल्हणपुरं, सुरपुर जेम सिद्धाभिहाणं।'

यह रचना ऐ० जै० काव्य संग्रह के अलावा जै० ऐ० गु० काव्य संचय में भी प्रकाशित और बहुचर्चित रचना है। इसकी अन्तिम पंक्तियां देखिये :—

अेहु सिरि जिणउदय सूरि निय सामिणो, कहिउ मइ चरिउ अरुमंद बुद्धि,
अम्ह सो दिक्खु गुरु देउ सुपसन्नउ, दंसण नाण चारित सुद्धि।
अेह गुरुराय विवाहलउ जे पढ़इ जे गुणइ जे सुणंति,
उभयलोके वि वे लहइं मणवंछियं मेरुनन्दन इमि भणंति।४४।'

१५वीं शताब्दी की मरुगुर्जर भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इस विवाहलउ का बड़ा महत्व है। दीक्षाकुमारी से परिणय का आग्रह करते हुए समर कहते हैं :—

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० १८ और भाग ३ पृ० ४२०
श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ६२ और परम्परा पृ० १८०

'अह सयल लक्खणं जाणि सुवियक्खणं सूरि दट्ठणं समरकुमारं।
भणय तुह नन्दणो नयण आणंदणो परिणओ अम्ह दिक्खा कुमारि।'[1]

दीक्षोत्सव का वर्णन देखिये :—

'बाजइ मंगलतूर गुहिर सदि दियइ धवल वरनारि विविह परि।
इण परि तेर वियासि संवच्छरि, समरिगुलाडणु परिणइ वयसिरि।'

जैसा कहा जा चुका है सं० १३८२ में यह दीक्षोत्सव सम्पन्न हुआ था, उसी उत्सव का वर्णन इस विवाहलउ का मुख्य वर्ण्य विषय है।

श्री जीरावल्ला पार्श्वनाथ फागु सं० १४३२ की रचना मूलरूप से प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है। जीरावल्ला आबू के पास एक गाँव है। यह एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ है जिसके पार्श्वनाथ मन्दिर की बड़ी महिमा है। यह फागु उसी पर आधारित है। पार्श्वनाथ की यात्रा के निमित्त एक सज्जन अपनी पत्नी से वार्ता करते हैं। उस समय वसन्त ऋतु की बड़ी सुहावनी छटा छिटकी हुई है, वातावरण यात्रा के लिए बड़ा प्रेरणादायक है, उस वातावरण में मन्दिर की रम्यशोभा, स्तुति-पूजा आदि का वर्णन इस फागु का मुख्य वर्ण्य विषय है। ६० कड़ी का यह काव्य आन्तर प्रास वाले दूहाबन्ध में लिखा गया है। लेकिन देसाई इसे ३० कड़ी की रचना बताते हैं।[2] लगता है कि वे चार पंक्तियों की एक कड़ी गिनते हैं। अस्तु, मन्दिर में उपस्थित नाना प्रदेश एवं जाति की रमणियों की शोभा के वर्णन का लोभ कवि संवरित नहीं कर पाता और लिखता है :—

गूजरडी गुणवंतिय तंतिय सर अवतारि,
मधुर वयण जब बोलइ तोलइ कुण संसारि।

सरलित अंग लता जिम ताजिम नमतीय बंकि,
सोरठणी मनि गउलिय कउलिय मानि न लाकि।'[3]

इस प्रकार की प्रादेशिक शोभा से युक्त नाना वस्त्राभूषणों से अलंकृत महिलाओं का वृन्द उल्लासपूर्वक नृत्य कर रहा है। चारों ओर प्रकृति में वसंत की मादकता छाई हुई है। कवि लिखता है :—

१. जै० ऐ० गु० काव्य संचय पृ० २३४
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२०
३. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ३७

'बहुफलि नमइ वीजुउरिय मउरिय अंब रसाल,
सहज सुभागहि रूयडला सूयडला खेलय डाल।'

अन्त में इसके प्रारम्भ और अन्त का छन्द उद्धृत करके यह विवरण समेट रहा हूँ :—

आदि 'समरवि त्रिभुवन सामणि कामणि सिर सणगारु,
कवियण वयण ज वरसइ सरस अमिउ अणारु।
विधन विणासण सासण सामिउ पासकुमार,
गायवि सिरि जीराऊलि राऊलिउ फल सारु।'

अन्त 'चउद बत्रीसइ संवति संमति ले गुरु पासि,
जीराउलि पति गाईउ छाईउ जग जस वासि।
पासह फागु सनंदउ चंदउ जा अभिराम,
सोहइ मेरु सुनंदउ मुनि जन वामु।६०।'

इसमें रचना का समय सं० १४३२ दिया गया है। अतः दोनों रचनायें एक ही समय की लगती हैं। इनकी अन्य रचनाओं के भी कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। सीमन्धर स्तवन का आदि और अन्त देखिये—

आदि 'अतिरस हरिस रसेण विहसिय, लोयण मण वयण,
थुणिसु भावि निय सांमि सिरि सीमंधरु जिणु रयणु।१।

अन्त 'इयतत्ति सत्तिभरेण निम्मिउ सत्थ संघ वगोयरी,
अक्खीण धीरिम मेरुनंदण मुत्ति सिरि सीमंधरो।'

अजित शान्ति स्तवन—यह प्रकाशित रचना है (रामविलास या रत्न समुच्चय नामक संग्रह में)

आदि 'मंगल कमलाकंद अे सुभ सागर पूनमचन्द अे,
जय गुरु अजित जिणंद अे, शान्तिसर नयणानंद अे।

अन्त 'इमि भगतिहि भोलिम तणी अे, सिरि अजिय संति जिणत्थुय भणीये,
सरणि बिहु जिण पाय अे, श्री मेरनंदणु उवझाय अे।[1]

गौतम स्वामि छंद—गाथा ११ सं० १४१५ और दूसरा गौतम स्वामि छंद गाथा १० का उदाहरण—

प्रथम गौ० छन्द का आदि 'अट्ठ छन्द दस दूहड़ा छप्पहु अडिल्ला दुन्नि।
जे निसुणइ गोयम तणा ते परिवरियइ पुन्नि।

1. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग पृ० १९

द्वितीय गौ० छन्द का अन्त देखिये :—

'सो वीर सीसु सूरीस वरु, महिम गरिम गुणि मेरु गुरु।
सिरि गोयम गणहरु जयउ चिरु, सयल संघ कल्याण करु।

इसी प्रकार श्री स्थूलिभद्र मुनीन्द्रच्छंदासि गाथा ८ और द्वितीय छंदांसि गाथा २५ है।

इसके प्रथम का आदि 'जो जिण सासणि कमल वणिहि हंस जेम विक्खाउ।
सो वन्निसु सोवन्न तणु थूलिभद्द मुणिराउ।१।

दूसरे का अन्तिम छंद :—

'उब्भिय उ हत्थु जिणि सील गुणि महिम सुरद्दुम देवकुरु,
सो थूलिभद्द संघह जयउ मयण विडवणु मेरु गुरु।२५।[1]

इस प्रकार इनकी तमाम कृतियों का बृहद् संसार है। आप उच्चकोटि के कवि और विद्वान् हैं।

मेघो (मेहो)—आपने सं० १४९९ में 'राणकपुर स्तवन' और उसी के आसपास 'नवसारी स्तवन' तथा 'तीर्थमाला स्तवन' लिखा। 'तीर्थमाला स्तवन' प्राचीन तीर्थमाला संग्रह और जैनयुग पुस्तक सं० २ के पृष्ठ १५२ से १५६ पर प्रकाशित है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'शेत्रुंज सामी रिसह जिणंद पायतणी उम्मूल कन्द।
पूज्या शिवसुख सम्पति दीइ, तूठे आप कन्हे प्रभु लीइ।१।'

इसका अन्तिम छन्द देखिये :—

'मेहउ कहइ मुगतिनुं ठाम, सदा लिउं तीर्थंकर नाम,
तीरथमाला भणउ सांभलउ, जाइ पाप छट हुइ निरमलु।९२।[2]

'राणकपुर स्तवन' का भी आदि और अन्त उद्धृत किया जा रहा है—

आदि 'वीर जिणेसर चलणे लागी, सरसती कन्हइ सुमति मइं मागी,
वृद्धि होइ जिम आयी।१।

अन्त 'भक्ति करी साहम्मी तणी, अेवं दरिदण दान,
चिहुदिसि कीरती विस्तरीअे, अेधन धरण प्रधान।

रचनाकाल 'संवत चदउ नवाणवइ अे धुरि काती मासे,
मेहउ कहइ मइं तवन कीयउं मनरंग उलासे। ४४।

---

१. श्री अ० च० नाहटा, मरु गुर्जर जैन कवि पृ० ६२-६३

२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० २८ एवं भाग ३ पृ० ४३६

'नवसारी स्तवन' भी एक स्तवन है किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भाषा तीनों स्तवन की सरल मरुगुर्जर है। तीनों स्तवन हैं अतः इनमें काव्य पक्ष सामान्य कोटि का है।

मंडलिक—आपकी रचना 'पेथडरास' का समय अनिश्चित है कुछ विद्वान् इसे १५वीं शती के प्रथमचरण की और कुछ १४वीं शती के अन्तिम चरण की रचना मानते हैं, अतः मैंने इस कवि और इसके काव्य का विवरण १४वीं शताब्दी में ही दे दिया है।

यशःकीर्ति—एक १३वीं शताब्दी के यशःकीर्ति का वर्णन, जो जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला के कर्त्ता कहे गये हैं, यथास्थान हो चुका है। प्रस्तुत यशःकीर्ति १५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखक तरुणप्रभ सूरि के विद्यागुरु थे। इन्होंने 'चन्दप्पह चरित' नामक खण्डकाव्य लिखा है जिसकी भाषा अपभ्रंश के अधिक करीब है। आपने दो अन्य प्रबन्ध काव्य भी लिखे हैं—पाण्डव पुराण और हरिवंश पुराण जिनकी भाषा अपभ्रंश प्रभावित मरु गुर्जर है। श्री देसाई ने चन्दप्पह चरित को सं० १५२१ के आसपास की रचना कहा है किन्तु अन्य सभी लेखक इन्हें १५वीं शताब्दी का लेखक मानते हैं। चूंकि इन कवियों को पूर्णतया मरुगुर्जर का कवि नहीं स्वीकार किया गया है और इनकी भाषा अपभ्रंश के अधिक निकट है अतः ये मरुगुर्जर की नवीन धारा की अपेक्षा अपभ्रंश की प्राचीन धारा के अधिक कवि हैं इसीलिए इनका विवरण अन्य अपभ्रंश कवियों के साथ प्रथम विषयप्रवेशान्तर्गत अपभ्रंश प्रकरण में ही दे दिया गया है।

रत्नमण्डनगणि—आप तपागच्छीय श्री नन्दिरत्न के शिष्य थे। आप ने 'नेमिनाथ नवरस फाग' (रंगसागर फाग) और 'नारी निरास फाग' नामक रचनायें मरुगुर्जर में की हैं। प्रथम रचना नेमिनाथ नवरस फाग तीन खण्डों में समाप्त हुई है। यह प्रकाशित रचना है, इसमें नेमिनाथ का लोक-विश्रुत चरित वर्णित है। प्रथम खण्ड के प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत के श्लोक हैं, इसी प्रकार द्वितीय खण्ड का भी प्रारम्भ और अन्त संस्कृत के श्लोकों से हुआ है इससे कवि का संस्कृत के प्रति प्रेम प्रकट होता है। तृतीय खण्ड के प्रथम श्लोक में नेमिकुमार का विवाह राजीमती से निश्चित किया जाता है. उस समय राजुल की शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

'गौरी पीन पयोहरा शशिमुखी वंधू करत्ताधरा,
हीराली रमणी यदंत कविता वर्णोल्लिसल्लोचना।

कन्या कोमल पाणिपाद कमला भत्तेम लीला गति,
गोविंदेन मुदोग्रसेन सविधेराजीमती मार्गिता।'[1]

इसकी भाषा मिश्र संस्कृत है। इसके प्रथम खण्ड में ३८, द्वितीय खण्ड में ४१ और तृतीय खण्ड में कुल ३४ छन्द हैं। यह एक विशेष भाषा-शैली थी।

'नारी निरास फाग' प्राचीन फागुसंग्रह में प्रकाशित है। इसमें कुल ५३ छन्द हैं। इसे शांतरस पयोराशि रासक भी कहा गया है। शान्तरस समग्र जैनकाव्य का पर्यवसान स्थल है किन्तु इस रास में नारी के प्रसंग में विशेष रूप से शान्तरस के अवतारणा का प्रयास कवि ने किया है क्योंकि नारी के सन्दर्भ में शृंगार तो स्वाभाविक है किन्तु शान्त की अवतारणा कठिन कार्य है। इसमें भी संस्कृत छंदों का प्रयोग किया गया है और बीच-बीच में मरु-गुर्जर के छन्द सजाये गये हैं यथा :—

'रति पहुती मधुमाधवी साधवी शमरस पूरि,
जिम महमही महीतल सीतल स्वजस कपूरि।
पद्मिनि कुल मधुराजलि राजलि जिणितजि खेमि,
जगि जगऊ नितनव सुरयण सुरयण मंडन नेमि।५१।[2]

यह वसंतविलास की पद्धति पर लिखा गया फाग है किन्तु वह पूर्ण शृंगारिक रचना है और यह शृंगार से निरास करने वाली रचना है अन्यथा इसकी समग्र संरचना वसंत बिलास फागु की तरह ही है। इन्होंने संस्कृत में अधिक रचनायें की हैं जैसे 'जयकल्पलता' 'मुग्ध मेधाकरालंकार' और 'सुकृतसागर' आदि। ये सब अलंकृत भाषा शैली की प्रसिद्ध रचनायें हैं। यह तो कहा गया है कि नारी निरास फाग में एक संस्कृत का छंद फिर एक मरुगुर्जर का छंद है और जो भाव मरुगुर्जर छंद में है वही संस्कृत के छन्दों में है। इसमें नारी के प्रत्येक अंग की आलंकारिक उपमा को अन्यथा रूप से घटित करके उससे विरक्त होने का उपदेश दिया गया है जैसे नेत्रों के सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति देखिये :-

'विकसित पंकज पाषडी, आषडी ऊपम चालि, ते विषसलिल तलावली
सा वलि पापिणि पालि।'

या 'नरग नगरि मुख पोलि, कपोलि कपाट-विचार, ज्योति जलणमय
कुंडल, कुण्डलगार न सार।२२।'[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४३९-४१

२. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ७१

इन पंक्तियों में त्रिबली को त्रिविध कपट की रेखा और क्षीणकटि को युवकों को क्षीण करने वाली बताया गया है। इस विषनारी के विपरीत जिसके मन में शमरस रूपी सुन्दरी का निवास होता है उसके जीवन में सुप्रभात का प्रकाश आता है। कवि लिखता है :—

'जेहमनि शमरस सुन्दरि वसइ अराति, ते मझसील सुदिरिसण-दरिसण दिउ सुप्रभाति ।५०।'[1]

इस प्रकार इस कृति में बड़े आलंकारिक ढंग से शम का सुन्दर चित्र नारी के विपर्यास से प्रस्तुत किया गया है।

रत्नवल्लभ— आपने स्थूलभद्र फाग (गा० २७) की रचना इसी शती में किया। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५१३ के आस-पास की प्राप्त होने से यह रचना १५वीं शती में ही लिखी गई होगी। भाषा और काव्यत्व के नमूने के लिए फाग का प्रथम और अन्तिम पद्य आगे उद्धृत किया जा रहा है :—

आदि 'पणमिय पास जिणिंद पय, अनु सरसइ समरेवी,
थूलभद्द मुणिवरु भणसु फागबंधि गुण केवी। १।
अन्त 'नन्दउ सो सिरि थूलभद्द, जो जगह पहाणो,
भलिऊ जिणि जग-मल्ल, सल्ल रयवल्लह माणो।
चेत्र मासि बहु हरसि रंगि इह गुणि गाअेवऊ,
खेला नियमणि ऊलटहिं तसु फागु रमेवऊ। २७।[2]

रत्नाकर मुनि—आपकी 'श्री नेमिनाथ वीनति' और 'आदिनाथ जन्माभिषेक' नामक रचनायें प्राप्त हैं। इनमें से 'जन्माभिषेक' २ प्रकाशित रचना है। इसे देपाल की स्नात्रपूजा के साथ प्रकाशित किया गया है। यह कवि देपाल का समकालीन था। इनके नेमिनाथ वीनति (गाथा १०) का प्रारम्भ इस छन्द से हुआ है :—

'गिरिनार गिरिअवर मौलि, बारवइपुरि मंडणउ ओ,
धन्ना ते नर-नारि, नमइ नेमि जे निम्मलउ ओ।
कज्जल कांति सरीर, सोहग - सुन्दर नेमि जिण,
करुणा सायर धीर, केवल लच्छीय केलियण। २।[3]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० १८३ और प्राचीन फागु संग्रह पृ० ७५
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२१
३. श्री अ० च० नाहटा, म० गु० जै० कवि पृ० १०५

अन्त सावीय सहस्स छत्तीस लख ठिनि तह नेमि जिण।
वास सहस्स सव्वाउं सिव करि सामिय सिवरमण।
इसु उज नेमि जिणंद मुणि रयणायर कित्तिधरो,
चउविह संघह देउ वर मंगल सो मुत्ति वरो।१०।'

आपकी द्वितीय रचना आदिनाथ जन्माभिषेक के आदि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'विनीय नयरी विनीय नयरी नामि निपगेहि,
मरुदेविहि ऊपरिसर राय हंस सारिच्छ सामिय,
सिरि रिसहेसर पढम जिण, पढम रायवर वसह गामिय,
वसह अलंकिय कणय तणु जागो जग आधार
तसु पय वन्दिय तसु तणो कहिशु जन्म सुविचार।१।

इसके अन्त की दो पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

'इणि परि सयल जिनेश्वरहिं करहु न्हवण बहुमत्ति।
मुनि रयणायर पावहर जिम तुम दियइ वरमुत्ति।१२।'[1]

इन दोनों रचनाओं के कर्त्ता रत्नाकर मुनि हैं। श्री अ० च० नाहटा ने 'परम्परा' में देवसुन्दर सूरि के शिष्य पं० रत्नाकर की रचना काकबंधि चौपइ २ (धम्मक्तक) सं० १४५० का उल्लेख किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति श्री नाहटा जी के संग्रह में है। श्री नाहटा जी ने इसका विशेष विवरण नहीं दिया है। अतः इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह रचना १५वीं शताब्दी में सं० १४५० की है।

रत्नाकर मुनि देपाल के समकालीन हैं अर्थात् १५वीं के अन्त और १६वीं के पूर्वार्द्ध में इनका रचनाकाल अनुमानित है। १६वीं शती में मेघ-नन्दन के शिष्य एक अन्य रत्नाकर पाठक हो गये हैं जिन्होंने शान्तिसूरि के प्राकृत ग्रन्थ 'जीव विचार' पर संस्कृत में वृत्ति लिखी थी।

काकबंधि के कर्त्ता पं० रत्नाकर इन सबसे भिन्न कवि हो सकते हैं जिनका विवरण अप्राप्य है। एक रत्नाकर सूरि रत्नाकर गच्छ के स्थापक हो गये हैं जो आ० हेमचन्द्र के समकालीन थे। इस प्रकार १२वीं-१३वीं शताब्दी से लेकर १५-१६ तक कई रत्नाकर नामक विद्वान् लेखक मिलते हैं जिनका निश्चित विवरण और कालक्रम अल्पज्ञात है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ४२

२. श्री अ० च० नाहटा, परम्परा १८१

रत्नशेखर सूरि—आप श्री तिलक सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४१९ में 'गौतम रास' नामक ७५ गाथा की रचना थिरउद्पुर में की। इसमें गौतम गणधर के पावन चरित्र को सात भासों में वर्णित किया गया है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'ओंकार तुम भाय वीर सिरिवन्न महन्तो।
हियै कमल झाएवि ध्यावेइ, वीर जिणवर अरिहन्तो।'
पभणिसु गोयम स्वामि तणो गुण संथव रासो,
जिणु निसुणो भो भविय लोय मणि हरखि उलासो।१।[1]

इसके अन्त की कुछ पंक्तियां दी जा रही हैं जिनमें रचना सम्बन्धी सूचनायें दी गई हैं यथा—

चौदह सयह गुणीसइ वरसै थिरउदपुरि गरुवउ मणि हरसै
रासु एहु गोयम तणौ।
रयणसिहर सुरीदिहिकियौ चौबिह संघ विविह परै,
रिद्धि वृद्धि मंगल सिरि दियौ।७५।'

राजतिलक—आपकी रचना 'जंबू स्वामी फाग' (गाथा ६०) सं० १४३० की लिखी प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है किन्तु सांडेसरा ने इस फागु के कर्त्ता का नाम अज्ञात बताया है। श्री अ० च० नाहटा जी ने इसे राजतिलक कृत कहा है किन्तु उन्होंने भी राजतिलक के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है इससे लगता है कि उन्हें भी कर्त्ता के सम्बन्ध में सन्देह है। श्री देसाई ने भी इस कृति को अज्ञात कवि कृत ही कहा है। इस रचना में काल निर्देश तो है किन्तु लेखक का नाम न होने से कर्त्ता का निश्चय नहीं हो पाता। अन्तर प्रास वाले ६० दूहों में यह फागु लिखा गया है और भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

जैनधर्म में नेमिनाथ और स्थूलिभद्र की भाँति जंबू स्वामी की कथा भी बड़ी लोकप्रसिद्ध है। आप मगधदेश की नगरी राजगृह के नगर श्रेष्ठि ऋषभदत्त और उनकी पत्नी धारिणी देवी के पुत्र थे। एक बार अपनी युवावस्था में वसंत ऋतु आने पर आप राजगृह के समीपस्थ वैभारगिरि पर क्रीड़ार्थ गये। कवि अवसर निकाल कर यहीं वसंत की वनश्री का मोहक वर्णन करता है। यहीं पर जंबू की सुधर्मा स्वामी से मुलाकात हुई और उनके उपदेश से इन्हें वास्तविक बोध और वैराग्योदय हुआ।

१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० ६४

घर लौटने पर माता ने विवाह का आग्रह किया। उत्सव होने लगे। इसी प्रसंग में कवि ने नारी के रूप और शृंगार वर्णन का अवसर निकाल लिया है। विवाहोपरान्त रात्रि में जंबू वासर घर में गये किन्तु रात्रि भर जागते रहे। इसी समय एक चोर आया जिसे जंबू स्वामी ने प्रतिबोध दिया और वह अपने ५०० साथियों के साथ इनका शिष्य हो गया। बाद में जंबू स्वामी की आठों पत्नियाँ भी दीक्षित हुईं। कठिन तपस्या और साधना करके जंबू स्वामी केवलज्ञानी हुए।

इस फागु में श्रेष्ठ कवित्व और प्रौढ़ भाषा शैली का परिचय मिलता है और लेखक सिद्धहस्त कवि मालूम पड़ता है। जंबू की रूप शोभा का वर्णन कवि इन शब्दों में करता है :—

'जंबु कुमरु तसु नंदनु नंदन तरु समुछायु
कायकांति बहुभासरु वासर नउ जिम राउ।
निरुवम रुवि पुरन्दर सुन्दर सोहग सारु,
कदलि दलावलि कोमलु निम्मल जस आधारु।[1]

उसके पश्चात् प्रकृति की वासंती छठा का वर्णन देखिये—

'परिमल केतिअ मातीय, जातिय जिम विहसंति,
महूयर तिम तिम रुणझुण रुण झुणकार करंति।
फल दल भारि मनोहर मोह रचइ सहकार,
मंजरि मउर बहकइ टहकइ कोइल सार।

तत्पश्चात् आठ कुमारियों के रूप का मोहक वर्णन किया गया है—

'मनमथ ठवीय पयोहर मोहर सावलि तुंग,
लवणिम भरीय अंकुरीय पूरीय रागि नितंब।'

इस रास की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं जिनमें रचनाकाल का उल्लेख है—

'चउदह तीस संवच्छरि मुच्छरि मानि विमत्तु,
जंबुय गुण अनुरागहिं फागिहिं कहीय चरित्तु।६०।

इसका संक्षिप्त विवरण श्री अ० च० नाहटा ने मरुगुर्जर जैन कवि पृ० ६८ पर दिया है।

राजलक्ष्मी—आप तपागच्छीय शिवचूला महत्तरा की शिष्या थीं। आपने सं० १५०० के आसपास शिवचूला गणिनी विज्ञप्ति (गाथा २०) की

1. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ३०

रचना की है। पोरवाड़ वंशीय गेहा की पत्नी बिल्हण दे की कुक्षि से जिन-कीर्ति सूरि और राजलक्ष्मी पैदा हुए थे। सं० १४९३ में देवलवाड़े (मेवाड़) में शिवचूला साध्वी को महत्तरा पद प्रदान किया गया था। उसी समय रत्नशेखर को वाचक पद प्रदान किया गया। इस अवसर पर महादेव संघवी ने बड़ा उत्सव किया था। यह विज्ञप्ति उसी समय लिखी गई होगी। यह रचना ऐ० जै० काव्य संग्रह के तृतीय भाग में प्रथम स्थान पर छपी है। इसका प्रथम पद्य निम्नांकित है :—

'शासन देव ते मन धरिए चउवीस जिन पय अणुसरीए।
गोयम स्वामि पसायलुए अमे गाइसि श्री गुरुणी विवाहलुअे।[1]

यह विज्ञप्ति भी एक प्रकार का विवाहलु है। वैसे आमतौर पर विवाहला दीक्षा के अवसर पर ही लिखे गये हैं किन्तु यह महत्तरा पद प्रदानोत्सव के अवसर पर लिखा गया है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं—

'द्रुपदि तारा मृगावतीए, सीताय मन्दोदरी सरसती ए।
सीलसती सानिध करइए, भणवाथी श्री संघ दुरिया हरइ।२०।

इसमें गणिनी शिवचूला का चरित चर्चित है। भाषा सरल एवं काव्यत्व सामान्य कोटि का है।

राजशेखरसूरि—आप मलधारी गच्छ के आचार्य तिलकसूरि के शिष्य थे। आपका जन्म प्रश्नवाहन कुल में हुआ था। आप अभयदेवसूरि की परम्परा में हर्षपुरीय अथवा मलधारी गच्छ के विद्वान् थे। यह गच्छ कोटिकगण की मध्यम शाखा से सम्बद्ध था। आप प्रसिद्ध विद्वान् एवं आचार्य थे। आपने संस्कृत गद्य में प्रबन्धकोश (सं० १४०५) नामक प्रसिद्ध रचना की है। इसके अलावा श्रीधराचार्यकृत न्यायकंदली पर पंजिका, विनोदकथा संग्रह (हास्यविनोद की लघु कथायें) स्याद्वादकलिका, स्याद्वाददीपिका और षट्दर्शनसमुच्चय आदि अनेक रचनायें संस्कृत में प्राप्त हैं। द्वयाश्रय (प्राकृत) पर भी आपने वृत्ति लिखी।

मरुगुर्जर में आपने सं० १४०५ के आसपास 'नेमिनाथ फागु' नामक छोटी किन्तु अत्यन्त सरस रचना की है। इसमें नेमि और राजुल की लोक-विख्यात मार्मिक कथा अनुस्यूत है। नेमिनाथ के भक्तिपूर्ण विरहभाव में

1. ऐ० जै० का० संग्रह पृ० ३३९ और श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० १०६

स्नात राजुल का समूचा जीवन ही पवित्रता, दृढ़ आस्था और भक्ति का हृदयस्पर्शी आख्यान बन गया है। यह फागु 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' और 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है। रास की कथा का सारसंक्षेप इस प्रकार है—

नेमिकुमार द्वारका के यादवराज समुद्रविजय और रानी शिवादेवी के सुपुत्र थे। उग्रसेन की पुत्री, राजीमती से विवाह के अवसर पर बलि के लिए बँधे पशुओं को देखकर इन्हें विरक्ति हुई, आपने कठोर तप करके तीर्थंकरत्व प्राप्त किया। आप जैनधर्म के बाइसवें तीर्थंकर हैं। राजीमती इनके विरह की आँच में अपने जीवन को तपःपूत करती रही। राजुल की विरह कथा का वर्णन अनेक जैनकवियों ने किया है अतः नेमि-राजुल सम्बन्धी विस्तृत साहित्य मरुगुर्जर में उपलब्ध है जिस पर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की अपेक्षा है। नेमिराजुल सम्बन्धी साहित्य के गहन अरण्य में प्रस्तुत रचना अपने काव्यत्व एवं ऐतिहासिक स्थिति के कारण विशिष्ट स्थान रखती है।

इसमें सात विभाग हैं। हर विभाग में एक दोहे के बाद रोला छन्द प्रयुक्त है। इसके आदि का छन्द इस प्रकार है—

'सिद्धि जेहिं सइवर चरिय ते तित्थयर नमेवि,
फागुबंधि पहु नेमि जिणु गुण गाओसउ केवी।१।

राजुल की नखशिख शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

'अह सामल कोमल केशपास, किरि मोर कलाउ।
अद्ध चंद समु भालु मयणु पोसइ भउवाउ।
अहर पवाल विरेह कंठु राजल सर रुडउ।
जाणु वीणु रणरणाइं, जाणु कोइल टहकडलउ।
किरि ससिबिंब कपोल कन्न हिंडोल फुरंता,
नासा वंसा गरुड़ चंचु दाडिम फल दंता। इत्यादि।[2]

राजुल का मर्मभेदी विलाप कवि ने बड़े कारुणिक ढंग से व्यक्त किया है। विवाह का उत्सव और धूमधाम अपने चरमबिन्दु पर पहुँचता है, चारों ओर नाच-गान, बाजे-गाजे का शोर हो रहा है—

'रुणुझुणु ए रुणुझुणु ए रुणुझुणु ए कडिघघरियाली।
रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए पय नेऊर जुयली।'

---

१. प्राचीन फागुसंग्रह और जै० गु० क० भाग १ पृ० १३

तभी अकस्मात् नेमि के वैराग्य का समाचार चारों ओर बिजली की तरह फैलकर सर्वत्र विषाद का वातावरण उत्पन्न कर देता है। पाले से हत झुलसी हुई कमलिनी के समान राजुल म्लान, विवर्ण मुख से विलाप करने लगती है, कवि इसका वर्णन इन शब्दों में करता है—

धरणि धसक्कइ पडउ देवि राजल विहलघंल।
रोवइ रिज्जइ वेसु रुबु बहुमन्नइ निप्फलु। २४।

अन्त में कवि कहता है :—

'राजल देवि सउ सिद्धि गयउसो देउ थुणीजइ।
मलहारिहिं रायसिंहर सूरि किउ फागु रमीजइ। २७।

गोपियों की पवित्र भक्ति के समान राजुल की विरहपूत भक्ति का वर्णन कृष्ण के चचेरे भाई नेमिकुमार को नायक बनाकर जैन साहित्य में काफी प्राचीन काल से होता आया है। भक्ति-आन्दोलन द्वारा इसे आगे चलकर काफी प्रेरणा मिली और नेमि-राजुल के मार्मिक प्रसंग पर काव्यत्व की दृष्टि से उच्चकोटि का प्रभूत साहित्य लिखा गया। राजशेखर कृत श्री पार्श्वनाथ स्तोत्रम् (१० गाथा) का विवरण श्री नाहटा जी ने दिया है।[1] इसका आदि और अन्त आगे प्रस्तुत है :—

आदि 'कमठासुर माण गिरिंद पवि भवियंग सरोज विबोह रवि।
सुरराय विणंमिय णेगमहं, विनुवामि जिणेसर पास महं। १।

अन्त 'सिरि अससेण नरेसर जाओ, इंदनील निलुप्पल काओ।
राय सिहरि संपूइय पाओ, पासु पसीयउ मे जिणराओ। १०।

आपकी यह रचना फागु के कोटि की तो नहीं है किन्तु उनका नाम इसमें स्पष्ट रूप से आया है अतः शंका का कोई आधार नहीं है। इन रचनाओं के आधार पर आप संस्कृत प्राकृत के साथ मरुगुर्जर के उच्चकोटि के कवि सिद्ध होते हैं। इन्होंने धार्मिक स्तोत्रम् आदि के साथ रसपूर्ण फागु जैसी काव्यात्मक कृति लिखकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा प्रमाणित कर दी है।

वस्तिग (वस्तो)—आप सम्भवतः रत्नप्रभसूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'चिहुंगति चौपइ' सं० १४६२ से पूर्व लिखी गई है क्योंकि सं० १४६२ की लिखी इसकी हस्तप्रति प्राप्त है। इसमें जीव की चार गति—

---

१. श्री अ० च० नाहटा म० गु० जै० कवि पृ० ५९ और जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४१२

मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देव तथा नानायोनियों में भटकते प्राणियों को प्राप्त होने वाले असह्य दुःखों का वर्णन किया गया है। १४वीं शती की रचना 'वीस विहरमान रास' के लेखक वस्तिग को ही चिहुंगति चौ० का भी लेखक मानकर इस कृति का परिचय १४वीं शताब्दी में वस्तिग के साथ दिया जा चुका है और जब तक निश्चित प्रमाणों से यह सिद्ध न हो जाय कि इन दोनों के लेखक दो वस्तिग हैं जब तक मेरा निवेदन है कि उक्त दोनों को एक ही व्यक्ति समझा जाय। इन्हें १४वीं शताब्दी का लेखक मानना ही उचित लगता है। चिहुंगति की अन्तिम दो पंक्तियाँ यहाँ पुनः उद्धृत की जा रही हैं :—

'रामतिनी छइ मू घणीं टेव, गुरुया संघनी नितु करु सेव,
अज्ञान पणइ आसातन थाइ, वस्तिग लागइ श्रीसंघ पाय।'[1]

रात्रिभोजन, रहनेमि राजीमती आपकी प्रकाशित रचनायें हैं। हो सकता है कि ये दोनों दो कवि हों; इस पर विचार करना आवश्यक है।

विजयभद्र—आप आगम गच्छ के आचार्य हेमविमल सूरि के प्रशिष्य एवं लावण्य रत्न के शिष्य थे। आपकी चार रचनायें मरुगुर्जर में प्राप्त हैं (१) कमलावती रास, (२) कलावती सतीरास, (३)हंसराज वच्छराज (सं० १४१० प्रकाशित) और (४)शील विषेशिखामण। कमलावतीरास का प्रारम्भिक पद्य पहले उद्धृत किया जा रहा है :—

'आदि नमु वीर जिणेसर दिणेसर अभिनवो हूणि,
भरत क्षेत्रे भरुअचि नगरनी शोभा जाणि,
मेघरथ राजा राजकरे धर्म जंपे,
इन्द्रनी रिद्ध जिसी तिसी तसघर संपि।१।'

इसके ७६-७७वें पद्य में गुरु परम्परा का वर्णन किया गया है अतः उन्हें भी आगे उद्धृत किया जा रहा है :—

'गच्छनगायक रे हेमविमल सूरि गहगहिया
गुणमंदिर रे पंडित श्रेणि सिरोमणि,
नित वांदइ रे लावण्यरत्न विद्याधणी
विजयभद्र भणे भले भावे।

---

१. श्री मो० द० देसाई भाग १ पृ० २३

किसी-किसी प्रति में इसकी अन्तिम पंक्ति इस प्रकार भी है, यथा—

'चारित्र पालि कर्म जालि केवली गुरु बेथया,
विजयभद्र मुनिवर जपे मोक्ष मन्दिर मा हिंया।'[1]

कलावती सती रास में कलावती के सतीत्व का माहात्म्य बताया गया है। इसका प्रारम्भिक पद्य इस प्रकार है :—

'भरत क्षेत्रि रे नयरी छि मगलावती,
शंष राजा रे राज करइ जैसिउ सुरपती।
एक दिवसे रे राई मंत्री बोलावीऊ,
दत्त मन्त्री रे देसाउर थी आवीउ।

इसका अन्तिम पद्य भाषा के नमूने के रूप में उद्धृत किया जा रहा है—

भूपनु सुत राज थापी लीघु संयम सुष भरिइ,
देवलोकि बिहु पुहतां सुगति जासि अवतरी,
कलावतीनी पछीय संझाय, न पडीइ संसारसिउं
विजयभद्र मुनिवर सतीयध्याइ, मोक्ष जइइ लीलसिउं।४९।

इसमें मंगलाचरण के बिना ही पहले छन्द से कथा प्रारम्भ कर दी गई है। कथा में कौतूहल तत्व की रक्षा की गई है। काव्यत्व सामान्य कोटि का है। कवि की दृष्टि शिक्षा या उपदेश की ओर ज्यादा है। इसकी भाषा सामान्य जनता के लिए सुगम है। इनकी अन्य दो रचनाओं–हंसराज वच्छ-राज (सं० १४११) और शीलविषेशिषामण का श्री मो० द० देसाई ने केवल उल्लेख किया है विवरण उद्धरण नहीं दिया है। उन्होंने शीलविषे और शीलविषे शिषामण नामक दो अलग-अलग रचनायें बताई हैं पर लगता है कि दोनों एक ही हैं।

कलावती सतीरास की किसी अन्य हस्तप्रति में ४९वीं कड़ी के बाद निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं जिनमें कवि परिचय है :—

'गुण गिरुआ रे मेरुआ परि जसु महमहिया,
गछनायक रे हेमविमल सूरि गहगहिया।
गुण मंडिरे पंडित श्रेणि सिरोमणि,
नित बांदउ रे लावण्यरत्न विद्या धणी।
लावण्यरत्न हुँ सुगुरु गाऊँ सदा जाऊँ भामणाइ,
कलावती मइं कवित कीधउं अंग प्रसादिइं गुरु तणइ।

---

१. मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० १४-१५
वही खण्ड ३ पृ० ४१५-१६

जे भविय भणसिइ अनइं सुणसइ कर्म हणसिइ स्त्री नरो,
विजयभद्र भणइ भलइ भाविइ वेगि वरसिइं सयंबरो ।७७।[1]

श्रावक विद्धणु—आप ठक्कुरमाल्हे–पुत्र कहे गये हैं। आप जिनोदय सूरि के भक्त श्रावक थे। राजगृह के पार्श्वनाथ मन्दिर में सं० १४१२ का शिलालेख (३८१ श्लोक) संस्कृत में लगा है उसके आप ही कर्त्ता कहे जाते हैं। आपकी मरुगुर्जर में लिखी 'ज्ञान पंचमी' सं० १४२३ की रचना है। यह ५४८ छंदों की विस्तृत रचना है। इसमें श्रुतपंचमी या ज्ञान पंचमी व्रत के माहात्म्य पर कथा के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। जिनोदय सूरि का आचार्य काल सं०१४१५ से सं०१४३२ तक मान्य है। अतः श्रावक विद्धणु का भी यही समय होगा। इनके बचपन का नाम बीधा था। इनकी मरुगुर्जर भाषा पर गुर्जर का प्रभाव अधिक मालूम पड़ता है। प्रमाण स्वरूप 'ज्ञान पंचमी' से कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं—

रचना का आदि :—

'जिणवर सासणि आछइ सारु, जासु न लाभइ अंत अपारु,
पढ़हु गुणहुं पूजहुं निसुनेहु, सियपंचमि फलु कहियउ ऐहु।'[2]

चौथे छन्द में कवि का नाम है, यथा—

आठ दल कमल ऊपनी नारि जोणि पयासिय वेजइ चारि,
ससि हरबिंबु अमिय रसु करइ, नमस्कार तसु विद्धनु करइ।४।

आगे कवि ने अपना और अपनी रचना का थोड़ा परिचय दिया है जैसे :—

'ठक्कर माल्हे पुत्तु विद्धणु पभणइं सुद्ध मअे
हरसिंहि लागउ चीतु चउदह सइ तेइ समइ अे।

इसका अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

'इह सियपंचमी तेमि चिरु णंदउ संसार माँह,
ते नर सिवपुर जांहि पढ़हि गुणहि जे संभलहिं ।५४८।

इसकी भाषा स्वाभाविक बोल चाल की मरुगुर्जर है। सामान्य जनों को श्रुतपंचमीव्रत का माहात्म्य समझाने के लिए लिखी गई इस रचना में काव्यत्व सामान्य कोटि का है।

भट्टारक विनयचन्द्र—आपको माथुर संघीय भट्टारक बालचन्द्र का शिष्य कहा जाता है। कुछ लोग इन्हें उदयचन्द्र (दिगम्बर) का शिष्य बताते

१. मो० द० देसाई जै०गु०क० भाग १ पृ० १४-१५ और भाग ३ पृ०४१५-१६
२. वही भाग ३ पृ० ४१८-४१९

हैं। आपकी कई रचनायें उपलब्ध हैं इनमें से कल्याणक रासु, 'णिज्झर पंचमी कहा रास' और विहाड़ कहा अपभ्रंश प्रभावित भाषा की रचनायें हैं और इन्हें मरुगुर्जर की रचना कहना उचित नहीं लगता। इनकी एक छोटी कृति 'चूनड़ी' बड़ी प्रसिद्ध है और इसकी भाषा भी मरुगुर्जर है। इसकी सं० १५७६ की लिखी हस्तप्रति प्राप्त है अतः यह १५वीं शताब्दी की रचना होगी। भ० विनयचन्द्र का समय अनिर्णीत है। कहा जाता है कि आपने चूनड़ी की रचना अजयनरेश के गिरिपुर स्थित राजविहार में किया था। गुजरात के इतिहास में अजयराज नामक दो नरेशों का उल्लेख मिलता है। त्रिभुवनगिरि या वर्तमान करोली का शासक अजयराज विक्रम की १४वीं शताब्दी में था और कुमारपाल का भतीजा अजयराज १५वीं के पूर्वार्द्ध में था अतः यह रचना या तो १४वीं के अन्तिम या १५वीं शती के प्रारम्भ में हुई होगी।

चूनड़ी औरतों की ओढ़नी को कहते हैं जिसे रंगरेज नाना प्रकार के बेलबूटों से सजाता है। यह ३१ पद्यों की 'चूनड़ी' नामक रचना चूनड़ी को ही प्रतीक बनाकर लिखी गई है। एक मुग्धा नायिका अपने पति से ऐसी चूनड़ी की प्रार्थना करती है जिसे ओढ़कर जिनशासन में कुशलता प्राप्त हो सके। इस प्रकार धार्मिक भावों को ही चूनड़ी का रूपक प्रदान किया गया है। कबीर की 'झीनीझीनी बीनी चदरिया' इससे यदि परवर्ती रचना हो तो प्रभावित कही जा सकती है। जो हो, दोनों में पर्याप्त भाव साम्य है। भ० विनयचन्द की भाषा का नमूना निम्न उद्धरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है :—

'हीरा दंतपंति पडयंती, गोरउ पिउ बोलइ विहसंती
सुन्दर जाइ सु चेइ हरि दप्पण, महुदय किज्जउ सुहय सुलक्खण।'[1]

भाषा की थोड़ी सी बानगी देखने से तो कवि उच्चकोटि का प्रतीत होता है किन्तु इसके काव्य पक्ष का विस्तृत विवरण उपलब्ध न हो सकने के कारण वास्तविक मूल्यांकन सम्भव नहीं है।

विनयप्रभ—आप खरतर गच्छीय दादा जिनकुशल सूरि के शिष्य थे। आपने संस्कृत, अपभ्रंश और मरुगुर्जर भाषा में काफी रचनायें की हैं। नरवर्म चरित्र सं० १४११ खंभात, महावीर स्तवन विमलाचल ऋषि जिन-

१. श्री कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जै० सा० का सं० इ० पृ० ७१ और हि० सा० बृ० इ० भाग ३ पृ० ३४७

स्तवन, शान्ति जिनस्तवन, तमालताली पार्श्व स्तवन, तीर्थयात्रा स्तवन आदि आपकी संस्कृत भाषा की रचनायें हैं। चतुर्विंशति जिनस्तवन, सीमंधर स्तवन और तीर्थमाला स्तवन आदि आपकी अपभ्रंश की रचनायें हैं। वीतराग विज्ञप्ति (१३ पद्य) और गौतम रास (४७ पद्य सं० १४१२) आपकी मरुगुर्जर की रचनायें हैं। इनमें से गौतम रास सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना है। हजारों श्रावक इसका नित्यपाठ करते हैं और यह पचीसों पुस्तकों में छप चुका है। यह रचना उन्होंने सं० १४१२ कार्तिक शुक्ल १ खंभात में अपने भाई के दारिद्रय निवारणार्थ लिखी थी; इसलिए धनकामी इसका पारायण बड़ी आतुरता से करते हैं। कुछ लोग इसे उदयवंत कृत लिखकर या विजयभद्र कृत बताकर भ्रम उत्पन्न करते हैं किन्तु रास की ४३वीं गाथा में स्पष्ट 'विणयपहु उवज्झाय थुणिज्जइ' लिखा है अर्थात् विनयप्रभ उपाध्याय ने लिखा है। गौतमरास का वैज्ञानिक अध्ययन महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने 'गौतमरास परिशीलन' में किया है। इस रचना के १८ वर्ष बाद सं० १४३० की लिखित प्राचीन स्वाध्याय पुस्तिका में यह रास तथा विनयप्रभ कृत अन्य कई स्तोत्रादि प्राप्त हुए हैं। प्रति बीकानेर के ज्ञान भंडार में सुरक्षित है।

श्री विनयप्रभ का जन्म सं० १३६७ से ७२ के बीच किसी समय होना चाहिये। आपकी दीक्षा सं० १३८२ में हुई और यदि उस समय वे १०-१५ वर्ष के रहे हों तो यही जन्म समय निकलता है। आपके साथ ही जिनोदयसूरि (सोमप्रभ) भी दीक्षित हुए थे। जिनलब्धसूरि इनके सहपाठी थे। इन्हें १३९४ से १४०६ के बीच कभी उपाध्याय पद प्राप्त हुआ होगा। संभवतः इनका गृहस्थ नाम उदयवंत रहा हो। अतः कुछ प्रतियों में रचनाकार के रूप में उदयवंत का नाम भी मिलता है। सं० १४३२ में जिनोदय सूरि का स्वर्गवास हुआ और सं० १४३३ में उनके पट्ट पर जिनराजसूरि प्रतिष्ठित हुए। इसी बीच कभी विनयप्रभ का भी देहावसान हुआ होगा क्योंकि इसके बाद इनकी कोई विशेष रचना न तो मिलती है और कोई सूचना मिलती है।

गौतमरास की संक्षिप्त कथा—मगध देश के गुब्बर ग्राम में वसुभूति के पुत्र इन्द्रभूति बड़े रूपवान, गुणवान और प्रतिभावान थे। एक बार भगवान महावीर के पावा पधारने पर आपने अपने संशय उनके समक्ष रखे जिन्हें महावीर ने तुरन्त दूर कर दिया और उससे प्रभावित होकर

१. महोपाध्याय विनयसागर-गौतमराज परिशीलन पृ० ८१-८२

इन्द्रभूति ने उनसे दीक्षा ली और गणधर बने। गौतम गणधर को अपने गुरु के प्रति बड़ा लगाव होने के कारण उन्हें केवल ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ अतः महावीर स्वामी ने अपनी मृत्यु के पूर्व उन्हें कहीं अन्यत्र भेज दिया। इस घटना से ही गौतम को यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि कैवल्य के लिए वीत-राग होना आवश्यक है——

'खाचो ए एह वीतराग, नेह ने जेहने लालिओ ए,
तिणो समे ए गोयम चित्तराग विरागे वलिओ ए।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में गौतमरास की बड़ी मान्यता है। इसकी बीसों प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इस रास में महावीर के समय की सामाजिक स्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। यह एक ऐतिहासिक रचना है। इसका प्रथम पद्य देखिये :——

'वीर जिणेसर चरण कमल कमलाकय-वासउ,
पणमवि भणिसु सामि साल गोयम गुरु तसउ।
भणु तणु वयण एकंत करिवि निसुणु ह भो भविया,
जिम निवसइ तुमि देह-गेह गुण गण गहगहिया।'

इसमें छन्द १ से छठें छंद तक मात्रिक छंद-रोला और चतुष्पदी का प्रयोग किया गया है। इसके बाद रड्डा और अन्य पुराने छन्द भी प्रयुक्त हैं। भ० महावीर का गुण वर्णन करता हुआ कवि कहता है :——

'चरम जिणेसर केवल नाणी, चितविह संघ पइट्ठा जाणी,

पावापुरी सामी संपत्तउ, चउविह देवनिकायहिं जुत्तउ।' इसके बाद गौतम के शिष्य बनने का प्रसंग वर्णित है :——

'मान मेलि मद ठेलि करि भगतिहिं नम्यउ सीस तउ।
पंच सपांसु व्रत लियो ए, गोयम पहिलउ सीसतउ।
नाम लइ आभास करइ ते पण प्रतिबोधय जउ। २०।'[1]

गौतम स्वामी के भव्य व्यक्तित्व का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :——

'सात हाथ सुप्रमाण देह रुपिहिं रम्भावरु,
नयण वयण कर चरणि जिणवि पंकज जलि पाडिय।

रचनाकाल का निर्देश ४५वें पद्य में देखिये :——

'चउदह सय बारोत्तर वरसइ। गोयम गणहर केवल दिवसइ
कियो कवित उपगार-परउ, आदिहिं मंगल ए पभणीजउ।

१. गौतमरास परिशीलन पृ० ११४

रास का ४७वां और अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

"कुंकुम चंदन छड़ो दिवरावउ माणिक मोतिनउ चउक पुरावउ।
रमण सिंहा सणि वेसणु ए, तिह वइसि गुरु देसना दइसी।।
भविक जीवना काज सरेसी, नितनित मंगल उदय करउ।४७।"

श्री मो०द० देसाई ने किसी अन्य प्रति से इस पद्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

आदिहिं मंगल अेम भणीजइं,
परवि महोछवि पहिलूं दीजइ, रिद्धि वृद्धि कल्याण करो।[1]

इसमें अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया गया है, यथा अनुप्रास का उदाहरण देखिये—

विनय विवेक विचार सार गुण गणहु मनोहर
(या) नयण वयण कर चरण जणवि पंकज जल पाडिय।
रूपक-'चउदह विज्जा विविह रूव नारी रस लुद्धइ।
उपमा-'क्रोध मान माया मद पूरा, जापइ नाण जिम दिन चोरा।

रस—इस रास के ३३वें छन्द से ३६वें छन्द तक गौतम स्वामी के विचार मंथन से अन्ततः शान्तरस का स्पष्ट परिपाक हुआ है। इसका प्रतिपाद्य गौतम की जीवनगाथा के काव्यमय वर्णन द्वारा जैन धर्म का अन्तिम लक्ष्य 'शम' की प्राप्ति है। इसकी भाषा आदर्श मरुगुर्जर है जिसमें यत्रतत्र अपभ्रंश की झलक मिल जाती है। इसमें राजस्थानी और गुजराती के प्रचलित शब्दरूप प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे चउदह, कल्याण करिज्जइ, विलसइ, पूनम, पढ़म, होसइ, वयण, थाण्या आदि राजस्थानी शब्दों के अलावा इणि, नरवइ, गिहबासे, तिहुयण, नाण, जेम, पेखवि, हुअउ, चउविह आदि गुजराती शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इसमें साहित्यिक टकसाली भाषा के स्थान पर सर्वसाधारण बोलचाल की भाषा का रूप दृष्टिगोचर होता है। वाक्य रचना सरल और भाषा बोधगम्य है। रचना में नाना प्रकार के छंदों और अलंकारों का प्रयोग किया गया है। विनयप्रभ रचित तीर्थमाला का प्रकाशन श्री अ० च० नाहटा ने जैनमाला में किया है। इनकी दूसरी रचना 'वीतराग विज्ञप्ति' का विवरण उपलब्ध नहीं हो सका अतः उसका विवरण देना संभव नहीं हुआ।

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० १६

वीरनन्दन—आपकी रचना का नाम 'पुरुषोत्तम पंच पाण्डव रास' (२४ गा०) है। यह १५वीं शताब्दी की रचना है किन्तु रचनावर्ष निश्चित नहीं है। इसमें पाण्डवों की कथा जैन मतानुकूल वर्णित है। इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

"पंडु नरेसर निय कुमरु, परिणवि सानंदु,
हत्थिणाहउरि पुरि आवियउ, साथि करिउ गोविंदु ।१।

रचना के अन्त में कवि का नाम मिलता है लेकिन रचना सम्बन्धी अन्य विवरण उपलब्ध नहीं होते, यथा :—

"जादव पांडव कुमर सवे ते गुणहि समिद्धा,
उत्तिम धम्म पवित्र गुत्त तिहु भुवणि प्रसिद्धा;
राज करतउ घरह जगत्र रिषि तीरथ वंदउ,
जसु वित्थारह रिद्धि वृद्धि पावहु वीरुनंदउ ॥२४॥[1]

शान्ति सूरि—आपकी १५वीं शती की एक छोटी रचना 'श्री अर्बुदाचल हीयाली' (६ गाथा) प्राप्त है। हीयाली एक विशेष प्रकार का काव्य रूप है जो प्रहेलिका या बुझौवल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति शायद प्रहेलिका से हुई होगी। इसे हीयाली या गूढ़ा भी कहते हैं। 'वज्जालग्ग' में हीयाली एक पद्यवाली रचना के रूप में मिलती है किन्तु जैन ग्रन्थों में १५ वीं शताब्दी तक पांच से दस पद्यों तक की हीयाली मिलने लगती है। अमीर खुसरो की 'पहेली' भी प्रहेलिका या हीयाली का ही रूपान्तर है। इसका पहला पद्य देखिये :—

"विमल दंड नायक नी वसही सोजि अष्टापदि देउ।
न्हवणइ नीरि निरमल थाइजि, जइ कोइ जाणइ भेउ।

इसका अन्तिम पद्य भी नमूने के तौर पर प्रस्तुत है :—

'नहीयलि घण गाजतु सभँलि कायर कंपइ देहइ,
बारहमास सदा फलदायक, सुरहउ अविचल गेह।
शांति सूरि भणइ अम्ह हीयाली जे नर कहइं एह,
भटकइ झलहंती ते पामइं, जाण मांहि जगि रेह।[2]'

हीयाली की भाषा सरल और भाव गूढ़ होते हैं। यह एक प्रकार का लोक काव्य है जो प्रायः जानकार लोगों को कंठस्थ होता है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२२

२. श्री अ० च० नाहटा, म० गु० जै० कवि पृ० ११६

शिवदास—आप चारण कवि-साहित्यकार थे। राजस्थानी साहित्य में 'वचनिका' एक विशेष प्रकार का साहित्यरूप है। आपकी रचना 'अचलदास खीची री वचनिका' सं० १४७२ के आसपास लिखी एक प्रसिद्ध रचना है। यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना १५वीं शताब्दी के राजस्थानी साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है। इसका विवरण गद्य खण्ड के अन्तर्गत दिया जायेगा।

शालिभद्र सूरि—आप पूर्णिमागच्छ के कवि थे। आपने सं० १४१० में नादउद्री में देवचन्द्र के अनुरोध पर 'पाँच पाण्डव रास' लिखा। यह प्राचीन जैन रास संग्रह, (बड़ौदा) में प्रकाशित हो चुका है। इसमें पाँचों पाण्डवों का जीवनवृत्त जैन मतानुकूल कथा में परिवर्तन करके प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रारम्भिक दो पद्य प्रस्तुत हैं :—

'नेमि जिणंदह पय पणमेवी, सरसति सामिणि मणि समरेवी।
अंबिकि माडी अणुसरइ। १।
आगह द्वापर माहि जुबीतो, पंचह पंडवतणउ चरीतो।
हरषि हीयानइ हुं भणऊं। २।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं जिनमें रचना का स्थान और समय दिया गया है :—

'सेत्रुंजि तित्थि चडेवि पांचह पंडव सिद्धि गया अे,
पंडव तणउ चरीतु जे पढ़अे जो गुणअे संभलअे,
षाक तणउ विणासु तसु रहइँ अे हेलां होइसि अे।
नीपनउ नयरि नादउद्री बच्छरी अे चउद दहोतर अे।
तंदुल खयालीय सूत्र माझिला अे भव अम्हि ऊधर्या अे।
पूनिम परव मुणिंद सालिभद्र अे सूरिहिं नीमीउ अे।
देवचन्द्र उपरोधि पंडव अे रासु रसाउलि अे।'[1]

सालि सूरि—आपकी रचना भी महाभारत की कथा पर आधारित है जिसका नाम 'विराट पर्व' है। शालिभद्र सूरि अपना नाम सालिभद्र सूरि भी लिखते हैं, सम्भव है कि उसमें से 'भद्र' हट गया हो और सालि सूरि रह गया हो तथा 'पाँच पाण्डव रास' के कर्त्ता शालिभद्र सूरि और विराट् पर्व के कर्त्ता सालिसूरि एक ही व्यक्ति हों। इसकी कथा और नाम की समानता को देखते हुए की मो० द० देसाई ने भी दोनों के एक ही व्यक्ति होने की

१. श्री अ० च० नाहटा, 'परम्परा' पृ० १७९ और देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४१३

सम्भावना व्यक्त की है। दोनों का रचनाकाल भी प्रायः एक ही है। दोनों रचनायें 'प्राचीन जैन रास संग्रह' में एक साथ ही प्रकाशित हैं। इसका मंगलाचरण इन पंक्तियों से प्रारम्भ हुआ है :—

'कासमीर मुख मंडण माडी, तूं समी जगि न कोई भिराडी।
गीत नादि जिम कोइलि कूजइ, तूं पसाइ सवि कुतिग पूजइ। १।
× × ×
पंच पंडवि वनंतरि बिमासिउं, तेरिमूं बरस केमि गमिसिउं।
बुद्धि नारदि महारिषि आपी, मध्यदेश रहियो तुम्हि व्यापी। ३।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भाषा के नमूने के लिए प्रस्तुत हैं :—

'गिऊ कौरवाधिपति सैन्य समस्त हारी,
गिउ पार्थ उत्तर सहिउमनु हर्ष भारी।
आणिउ विराट चिहु पाण्डव हर्ष पूरि,
कीधउ कवित्त इहह कुतिगि सालिसूरि।[1]

कवि ने इसमें रचना सम्बन्धी विवरण नहीं दिया है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १६०४ की प्राप्त है अतः यह रचना निश्चय ही १५वीं शताब्दी की होगी। इसकी भाषा मरुगुर्जर है।

(भट्टारक) सकल कीर्ति—आप सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। उन्हीं से इन्होंने संस्कृत भाषा और शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया था। आपका जन्म सं० १४४३ में हुआ। आपके पिता का नाम श्री करमसिंह और माता का नाम श्रीमती शोभा था। आपका परिवार अणहिलपुर पट्टण में रहता था। आप जाति के हुंबड वैश्य थे और बचपन का नाम पूर्णसिंह था। आपने १८ वर्ष की अवस्था में साधुजीवन ग्रहण कर लिया।[2] इन्हें ३४ वर्ष की अवस्था में आचार्य का पद प्राप्त हुआ और उसी समय से इनका नाम सकलकीर्ति पड़ा। आपका संस्कृत और मरुगुर्जर भाषा पर पूर्ण अधिकार था और इन भाषाओं में आपने प्रचुर साहित्य लिखा है। डॉ० कासलीवाल ने आपके लिखे २७ ग्रन्थों की सूचना दी है।[3] आपके महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची यहाँ दी जा रही है :—

आपकी संस्कृत रचनाओं में मूलाचार प्रदीप, व्रतकथा कोष, नेमिजिन चरित्र, प्रश्नोत्तरी पासकाचार, आदिपुराण, उत्तरपुराण, शान्तिनाथ

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४१४-४१५
२. देखिए—भट्टारक सकल कीर्ति रास
३. डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत, व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

चरित्र, वर्द्धमान चरित्र, मल्लिनाथ चरित्र, यशोधर चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, सुकुमालचरित्र, सुदर्शनचरित्र, सद्भाषितावलि, सिद्धान्तसार दीपक, कर्मविपाक, तत्वार्थसारदीपक, आगमसार, पुराण संग्रह, श्रीपाल चरित्र, जंबू स्वामी चरित्र, द्वादशानुप्रेक्षा, अष्टाह्निका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा आदि उल्लेखनीय हैं। आपकी मरुगुर्जर भाषा में लिखी पांच-छह रचनायें उपलब्ध हैं उनमें 'आराधना प्रतिबोधसार, नेमीश्वर गीत, णमोकार फलगीत, सोलहकारण रास, सार सीखामण रास, शान्तिनाथ फागु महत्वपूर्ण हैं। इन सबका रचना काल १५ वीं शताब्दी है। ईडर की भट्टारकीय गद्दी पर सं० १४७७ में सकलकीर्ति विराजमान हुए। यह तिथि भ० सकलकीर्ति रास के आधार पर दी गई है। डॉ० प्रेमसागर जैन ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में इसे सं० १४४४ बताया है किन्तु वह ठीक नहीं मालूम होता। आपके कई ग्रन्थों जैसे यशोधर चरित्र, मल्लिनाथ चरित्र और सुदर्शन चरित्र आदि में तत्कालीन इतिहास से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें संकलित हैं। पुस्तक लेखन के अलावा आपने धर्म की प्रभावना के लिए बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। आपने अनेकों मंदिर-मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई। आपकी जीवनी से पता चलता है कि आप अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में राजस्थान में और उत्तरार्द्ध में अधिकतर गुजरात में विहार करते रहे इसलिए आपकी मरुगुर्जर भाषा की रचनाओं में यह अन्तर कालक्रम के अनुसार स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा पर राजस्थानी और उत्तरकालीन रचनाओं पर गुर्जर का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। डॉ० कासलीवाल ने इनकी भाषा को हिन्दी कहा है। वस्तुतः ये पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर की रचनायें हैं। आपके अनुज और शिष्य ब्रह्म जिनदास ने भी मरुगुर्जर में उच्चकोटि का प्रचुर साहित्य लिखा। आपके दूसरे शिष्य भुवनकीर्ति भी बड़े विद्वान् और यशस्वी लेखक थे। भ० सकलकीर्ति ने अपनी रचनाओं और क्रियाओं से मरुगुर्जर प्रदेश में नवीन चेतना का स्फुरण किया था। आप की कीर्ति का बखान कई कवियों जैसे सकलभूषण, शुभचन्द्र आदि ने मुक्तकण्ठ से अपनी रचनाओं में किया है। आपका स्वर्गवास महसाणा (गुजरात) में सं० १४९९ में हुआ। आप पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम महाकवि और आचार्य हैं।

सकलकीर्ति की (पु० हिन्दी) मरुगुर्जर की रचनाओं का परिचय—'णमोकार फलगीत' आपकी प्रथम भाषा रचना कही जाती है। १५ पद्यों

की इस छोटी रचना में णमोकार मन्त्र का माहात्म्य बताया गया है। इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। आपकी दूसरी रचना 'आराधना प्रतिबोधसार' ५५ पद्यों की सुन्दर कृति है। 'सार सीखामण रास' में चार ढालें हैं। इसका रचनाकाल सं० १४७९ से ९९ के बीच कोई वर्ष हो सकता है। इसमें सरस शैली में धर्मोपदेश किया गया है। इसमें भी राजस्थानी का अनुपात अधिक है। सार सीखामण रास की चौथी ढाल में शिक्षा देता हुआ कवि कहता है :—

'योवन रे कुटुम्ब हरिधि, लक्ष्मी चंचल जाणीइए।
जीव हरे सरण न कोइ, धर्म बिना सोइ आजीइए।
संसार रे काल अनादि, जीव आगि घणु फिरयुए।
अेकलि रे आवि जाइ, करम आगे गलि थरयुए।
कायथी रे जु जु होइ कुटुम्ब परिवार बेगलुए।
खिमा रे खडग धरेवि, क्रोध विरी संघाणीइए।' इत्यादि[१]

'सोलहकारण रास' तथा शान्तिनाथ फागु (तीर्थंकर शान्तिनाथ का संक्षिप्त जीवन चरित्र) में मरुगुर्जर के साथ कहीं-कहीं प्राकृत की गाथा और संस्कृत के श्लोक भी निबद्ध हैं। 'सोलह कारण रास' एक कथात्मक कृति है जिसमें 'सोलहकारण' व्रत के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है। इस रास की अन्तिम पंक्तियां देखिये :—

'एक चित्ति जे व्रत करइ, नर अहवा नारी,
तीर्थंकर पद सो लहइ, जो समकित धारी।
सकलकीर्ति मुनि रासु कियउए सोलहकारण,
पढ़हि गुणहि जो साभंलहि तिन्ह सिव सुह कारण।'[२]

शान्तिनाथ फागु की भाषा सरस एवं मनोहारी है। भाषा का नमूना देखिये :—

'नृत सुत रमणि गजपति रमणी तरुणी सम कीडते रे।
बहुगुण सागर अवधि दिवाकर सुभकर निसिदिन पुण्य रे।
छंडिय मय सुख पालिय जिनदिख सनमुख आतम ध्यान रे।
कणसण विधना मूमीअ असुना आज्ञा जिनवर लेवि रे।'[३]

१. डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल रा० जै० सन्त कवि पृ० १८
२. वही पृ० १९
३. वही पृ० २०

इनकी मरुगुर्जर की रचनायें छोटी हैं और संख्या में भी कम हैं किन्तु भाषा अध्ययन की दृष्टि से (विशेषतया हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती) इनका विशेष महत्व है। आपकी छोटी रचना 'मुक्तावलि गीत' में गुजराती प्रयोग अधिक है अतः यह रचना भट्टारक सकलकीर्ति के उत्तर कालीन जीवन की होगी जब वे अधिकतर गुजरात में विहार कर रहे थे। नेमीश्वर गीत और मुक्तावलि गीत संगीत प्रधान रचनायें हैं। इनकी भाषा में लय, गेयता और प्रवाह दर्शनीय है। इस प्रकार भ०सकलकीर्ति न केवल मरुगुर्जर बल्कि समग्र जैन साहित्य के एक महान स्तम्भ सिद्ध होते हैं।

सधारु—(दिगम्बर) इनके पिता का नाम साह महराज और माता का नाम सुधनु था। आप एरच्छ नगरवासी थे। आपका प्रबन्ध काव्य 'प्रद्युम्न चरित्र' कृष्ण कथा की जैन परम्परा पर आधारित है। यह काव्य सं० १४११ में मध्यप्रदेश के एलिचपुर नामक स्थान में लिखा गया था। इसकी छन्द संख्या ७०० है। प्रद्युम्न के लौटने की सूचना नारद से प्राप्त होने पर रुक्मिणी की उत्कंठा का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'षण षण रुपिणि चढ़इ आवास, षण षण सो जोवइ चौपास।
मों सो नारद कह्यउ निरुत्त, आज तोहिं घर आवइ पूत। १।'[1]

इस विस्तृत महाकाव्य में इस प्रकार के अनेक मार्मिक प्रसंग वर्णित हैं जिनका काव्यत्व की दृष्टि से महत्व है। इसकी भाषा काव्योपयोगी मरुगुर्जर है। सधारु जैन साहित्य के जाने-माने लेखक हैं जिन्होंने मरुगुर्जर का उत्तम प्रयोग किया है।

समधर—आपने सं०१४३७ से पूर्व 'नेमिनाथ फागु' लिखा। इसमें कुल १५ गाथायें हैं। यह 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित फागु है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १४३७ की प्राप्त है अतः रचना इससे कुछ पूर्व की ही होगी। काव्यकर्त्ता समधर के सम्बन्ध में भी अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। एक समधर या समुद्र विख्यात् मंत्री मंडण के भाई थे। मंडण स्वयं उत्तम कवि थे। शायद समधर उनके भाई हों या अन्य कोई श्रावक कवि रहे हों।

यह फागु दूहा छंद में लिखित है। जिसकी प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ में लटकणियाँ की तरह 'अरे' शब्द आया है इससे यह लगता है कि यह फागु गाने के लिऐ मुख्यतः लिखा गया था। रचना का आदि देखिये—

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन--हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० ३६

'सरसति सामणि पणमवि, नमवि अंबिक हियइ,
फागु छंदि समुधर भणइ, नेमि चरिउ निसुणेवि। १।

फागु के प्रारम्भ में वसंत का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

'अरे कोइलि सादु सोहावणउ मोरि मधुर वासंति,
अरे भवरा रणझण रुणुकरइ, किरि किन्नर गायंती।'[1]

इसी वसंत क्रीड़ा के अवसर पर नेमिकुमार की मां बोली कि कृष्ण ने सोलह सहस्र रानियों से विवाह किया, क्या तुम एक से भी नहीं करोगे ? उसी समय उनकी भाभियाँ भी हँसी उड़ाने लगीं :—

'अरे ऊरहि ऊरहि आहयइ के कैसे ताणंति,
अरे काहउं नेमि नपुंसको एक रमणि न करंति।'

आगे उग्रसेन की कन्या राजीमती का रूप-गुण वर्णन किया गया है। फिर वही कथा है, बलि पशुओं को बँधा देखकर नेमि को विरक्ति होती है और वे संयम स्वीकार कर लेते हैं। रचना का अन्त देखिये :—

'अरे समुधरु भणइ सोहावणउ फागु खेलउ सविचार,
अरे निमिकुमरु मतु मेल्हउ मुक्ति रमणिदातार।२८।'

प्रा० फागु संग्रह में प्रकाशित फागु की इन अन्तिम पंक्तियों से जै० गु० क० भाग ३ में उद्धृत पंक्तियों में पाठभेद मिलता है यथा—

समधर भणइ सोहावणइ, फागु खेलउ सुविचारु,
अरे निसदिन न मेल्हउ नेमि मुक्ति दातारो।'[2]

भाषा सरस, प्रवाहमय एवं गेय है। यह फागु मुख्य रूप से एक गेय रचना है।

समयप्रभ—आप खरतर गच्छीय कवि थे। आपने सं० १४७५ के बाद किसी समय ऐतिहासिक रास 'जिनभद्रसूरि पट्टाभिषेक रास' लिखा। इसकी प्रति खंडित होने से सम्पूर्ण पाठ उपलब्ध नहीं है। इसमें जिनभद्र सूरि के पट्टाभिषेक की घटना वर्णित है। पट्टाभिषेक की तिथि ज्ञात है अतः यह रचना भी उसी के आसपास की होगी। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां भी खंडित हैं। कवि माता खेतल देवी का वर्णन करता हुआ लिखता है :—

'विनय विवेक विचार सार गुण गण सम्पन्नी,
सोहग लावन्न केलि गेह वर चंपावन्नी।

१. प्राचीन फागुसंग्रह पृ० ४१-४२

२. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४८१-८२

रास के ४३वें पद्य में कवि का नाम आया है, यथा :–

'जइ सुरगुरु निय बुद्धिहि आणइ, तोही प्रभु गुण पार न जाणइ।
सइमप्रभ गणि इम कहइ अे।'

इसका अन्तिम छंद इस प्रकार है :–

'जा द्रूय ग्रह तारा रवि शशिहर, तां नंदउ जिनभद्रसूरि गणधर,
चउविह संघह परिवरिउ अे।४५।'[1]

१५वीं शताब्दी की रचनाओं और रचनाकारों में इसका उल्लेख डा० हरीश ने भी अपनी पुस्तक में किया है। रचना सामान्य कोटि की है किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं के लिए पठनीय है।

समरा—आपकी रचनाओं 'नेमिचरित रास' 'अष्टापद स्तवन' और अष्टमी स्तवन (६४ कड़ी) में से प्रथम रचना नेमिचरित रास' 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है। इस फागु का अधिकांश भाग राजुल की विरहोक्ति के रूप में कहा गया है। कथा सुपरिचित होने के कारण केवल सूत्र रूप से संकेतित की गई है। इसी प्रकार पद्मकृत फागु में भी १० कड़ी में वसंत वर्णन और शेष केवल चार कड़ियों में ही नेमि-राजुल की कथा सिमटी हुई है। नेमिचरित रास मात्र १० कड़ी की रचना है। इसमें विरह वर्णन के लिए ही पूरा अवकाश नहीं मिलता है तो कथा के लिए कवि कहां से अवसर निकाल सके। एक विरहोक्ति देखिये, जिसमें राजुल चंदा से नेमि का समाचार पूछती है :—

'चंदा कहि न संदेशडउ वीनतडी अवधारि,
शुधि पूच्छउं यादव तणी तू जाइसि गिरिनार।६।

इसका आदि इस प्रकार है :—

'अहे हरिणां हरिणां हरवइं काइं कीऊ पोकार,
तोरणि आविऊ वली गयऊ नेमि चडिउ गिरिनारि।
अहे अंग विलूरइ आपणउं हरि हरि नेमिकुमार,
अहे कंकण फोणइ रायमइ, भोडइ नवसर हार।'

कवि का नाम इस छन्द में आया है :—

'मुगति रमणि यादवि करी राजल हुइ अगेवणि।
अहे करजोडी समरउ भणइ, नमो नमो नेमिकुमार।'[2]

---

१. श्री मो० द० दे० जैन गु० क० भाग ३ पृ० १४८०-८१

२. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ५१

इसमें विरह की उक्तियाँ मर्मस्पर्शी हैं। यह छोटी रचना काव्यत्व की दृष्टि से बड़ी सफल रचना है। 'नेमिचरितरास' की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

'असो अमावस केवल नाण, नेमि तणु तु निरवार,
राजमती सु सुसइ गउ, बावीसय जणेसर भउ।
भगति राणी राजल तणउ योग, पढ़त भणंता नासइ रोग।
नेमि चरित्र सूसा नारी सुणइ पाप पणासइ समरुउ भणइ।२८।[1]

'अष्टापद स्तवन' का प्रारम्भ इन पंक्तियों से कवि ने किया है :—

'सरसति अमरिति वसति मुखि वाणी, नाभि कमलि जाणी सहनाणी,
आणी रिदय विचारो।'
सा सारदा समरू सयराणी, जिन शासनि सिद्धान्त वरवाणी,
पाणी लोकाचारो।'

'अष्टमी स्तवन' से भी भाषा-भाव के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ आगे प्रस्तुत की जा रही हैं :—

'अरे केवली केरो दाखीओ, भाखीओ सुगुरु सुसाध,
भसौय समरो अे तीरथ अनरथ हणय विराध,
सुध पूरब केवल भाखीओ, केवल सद्गुरु दाखीओ,
चरणवी समरो कह न जणु, परब तीरथ नमो जिणाणु'।६४।'

काव्यत्व की दृष्टि से ये दोनों स्तवन सामान्य कोटि के हैं। भाषा सरल मरुगुर्जर है। सामान्य श्रद्धालुओं के पूजा-पाठ की दृष्टि से इन स्तवनों की भाषा भी जनसामान्य की भाषा ही रखी गई है। काव्यत्व का उत्तम निदर्शन आपकी प्रथम रचना 'नेमिचरितरास' में ही हुआ है। जैन साहित्य में नेमिचरित है ही ऐसा कि 'कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।'

सर्वानन्द सूरि—सर्वानन्द सूरि नाम के दो-तीन कवियों का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में मिलता है। एक सर्वानन्द सूरि १४वीं शताब्दी में हो गये हैं जिनकी चन्द्रप्रभचरित नामक अपभ्रंश रचना का उल्लेख किया गया है। १५वीं शताब्दी में कम से कम दो सर्वानन्दसूरि मिलते हैं एक जगडू चरित के लेखक हैं और दूसरे प्रस्तुत कृति 'मंगल कलश चौ०' के लेखक हैं। हो सकता है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों। 'मंगलकलश चौ०' के

---
१. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० १०८

कर्त्ता सर्वानन्द सूरि को श्री मो० द० देसाई ने क्रियागच्छ का विद्वान् बताया है। कृति में रचना सम्बन्धी विवरण नहीं है। इसका प्रथम पद्य देखिये :—

'सयल मंगल सयल मंगल मूलु मुणि नाह।
आबुगिरि आदि जिण पाय पउम पणमेवि भाविणु।
कछोली मुख मंडणु पासनाहु उखरि धरेविणु,
वागुवाणि सुम वयणले अवतरी अक्षरमाल।
मंगलकलश चरित हिल भणसिउ रलिअ रसाल।१।'[1]

चौपई बंध में रचित इस रचना में १३० पद्य हैं। इसमें महापराक्रमी राजा मंगलकलश का महान् चरित्र चित्रित है। इसके अन्तिम दो छंद इस प्रकार हैं :—

'राजा ग्रहीउ ताम सुबुद्धि, घर घर बारत लीधी रिद्धि,
छूटइ मंगलकलश उपरोधि, देश नीकालिउ अणि विरोधि।१२९।
मंगलकलश निवेसिउ राजि, सुर सुंदर हूउ संजम काजि
ताम निसाणी बलीउ थाऊ, मंगलकलश महाबलि राउ।१३०।'

साधुकीर्ति—आप बड़ा तपगच्छीय आ० जिनदत्त सूरि के शिष्य थे। आप १७वीं शताब्दी के साहित्यकार और आषाढ़भूति प्रबन्ध के कर्त्ता साधुकीर्ति से भिन्न हैं। आपकी कई रचनायें मरुगुर्जर भाषा में लिखित प्राप्त हैं जिनमें मत्स्योदरकुमाररास, विक्रमकुमार रास सं० १४९९, गुणस्थानक विचार चौपइ ४६ कड़ी, सवत्थवेलि प्रबन्ध (ऐ०) और कीर्तिरत्न सूरि गीतम उल्लेखनीय हैं। अन्तिम रचना 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। मत्स्योदर कुमार रास का उल्लेख डॉ० हरीश ने भी १५वीं शताब्दी की रचनाओं में किया है। यह रास मुख्यतया चौपई छन्द में लिखा गया है। इसके अन्त की दो पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :—

'बड़तप गच्छ श्री जिनदत्त सूरि, तास सीस जंपइ गुणभूरि,
साधुकीर्ति गणि रचीउ रासि, भणउ गुणहु तस पूगइ आस।१५७।'

'गुणस्थानक विचार चौ०' भी चौपइ छन्द में लिखी ४६ कड़ी की रचना है। इसका प्रथम पद्य प्रस्तुत है :—

'स्वामिय जिणवर चउविह भेय, समरिय गोयम लब्धि समेय।
चउद गुणठाणां तणु विचार, संखियइं तुं बोलिसु सार।१।

---

१. मो० द० देसाई जैन गु. क. भाग १, पृ० ३५ और भाग ३ पृ० ४४४

इसका अन्तिम पद्य देखिये :—

'गुण ठाणानु अेह विचार, जे जानइ ते तरइ संसार,

वाचक साधुकीरति इम कहइ, ते निश्चय सासय सुख लहइ।४६।'[1]

'कीर्तिरत्नसूरि गीत' में कीर्तिरत्न सूरि की कीर्ति का बखान किया गया है। इसकी अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं :–

'सुहगुरु थवणा पढ़इ गुणइ वांचता आपण वयण सुणइ।

कुशल मंगल तसु पुण्य थुणइं, श्री साधु कीरति पाठक पभणइ।१४।'[2]

'सवत्थ बेलि प्रबन्ध' के आदि और अन्त का छन्द निम्नवत् है :–

आदि 'जिणवर जग गुरु जगतउ, पहिलउ प्रणमूं पास,

जासु पसायउ संपजइ, विधि विधि सवे विलास।१।'

अन्त 'जो लगि मेरु महीधर निश्चल जांलगि ध्रू रविचंद,

जां लगि दीप सवे जयवन्ता सागर जाम अमन्द।

तो लागि श्री जिणचंद मुणीसर सुखइ करउ चिरराज,

साधुकीरति गणि इमि पयपइ पूरउ वंछित काज।५४।'

इस प्रकार इनकी रचनाओं के कुछ उद्धरणों के आधार पर इनकी भाषा और भाव-कल्पना शक्ति का भलीभाँति अनुमान होता है। ये उत्तम कोटि के कवि प्रतीत होते हैं।

साधुहंस—आप तपागच्छीय आ० जिनशेखर सूरि के प्रशिष्य और जिनरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४५५ में 'शालिभद्र रास' और 'गौतम पृच्छा चौपइ' नामक रचनायें लिखीं। शालिभद्र रास का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है :–

'देवि सरसति देवि सरसति सकल संसार,

जस नामिइ कवि जन सवे बुधि अतिहि सरस वाणीय।

वीणा पुस्तक धारिणीते सामिणि मन मांहि आणीय,

कर जोड़ी कवियण भणइ, सुहगुरु पाय पणमेवि।

सालिभद्र धना तणां चरीय रचेलु संखेवि।१।

अन्त में रचना इस प्रकार दिया गया है :—

'संवत चउदह पंचावनि वरसि, आसो सुदि विजयानइ दिवसि,

जिन वचने करि सद्दहिउ, भाविइ भगति हैयडउ धरिउ।२१९।[3]

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० कवि भाग १ पृ० ३४-३५, भाग ३ खण्ड १ पृ० ४४२ और भाग ३ खंड २ पृ० १४८०-१४८१

२. दे० ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह

३. मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० २२ और भाग ३ पृ० ४२३

गौतम पृच्छा चौपइ की प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

'प्रणमी वीर मुगतिदातार, जाणउं तु गोयम गणहार,
हइउइ आणी पर उपकार, पूछई धर्माधर्म विचार ।१।

अन्त 'गौतम सामि पूछिउ जेतलउ, श्री महावीर कहिउं तेतलउं'
पुण्य पाप कीधा फल होई, उत्तम जीव आण नित हीउ ।
पूछ उत्तर छइ अठतालीस चिहुं आगली चउपइ त्रिणि वीस ।
भण्या गुण्यानउ अेहज मर्म, साधुहंस कहइ कीजइ नितुधर्म ।'

इसमें गौतम गणधर द्वारा पूछे गये प्रश्न और भ० महावीर द्वारा दिये गये उत्तरों को सरल और मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धसूरि—आपने सं० १४७६ में 'पाटण चैत्य परिपाटी' नामक ६४ गाथा की एक रचना निर्मित की। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'निय गुरु पाय पणमेवि, सरसति सामिणी मन धरिय ।
हियडइ हरस धरेवि, गोयम गणहर अणुसरिय ।
पभणिसु चैत प्रवाडि अणहिलपुर तट्टण तणिय ।
मुझ मन खरीय रहाड़ि, दिउ मति निरमल अति घणीय ।१।

इसकी अन्तिम पंक्तियां आगे उद्धृत की जा रही हैं :—

'पट्टण प्रसिद्ध हरखि किद्धी चैत प्रवाड़ि सुहामणि ।
भणतां गुणतां श्रवणि सुणतां, अतिह छइ रलियामणी ।
पभण्या जिकेइ नाम तेइ, अवर जे छइ ते सही,
छिहुत्तर वरसइ, मन हरिसइ सिद्ध सुरिंदइ कही ।६४।'[1]

इसमें रचनाकाल और लेखक का नाम आदि विवरण दिया गया है। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है।

सोमकुंजर—आपकी रचना 'खरतरगच्छ पट्टावली' ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह में प्रकाशित है। खरतरगच्छ की महत्ता का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

'वखाणियइ गिरि मांहि गरुअउ जेम मेरु महीधरो,
मणि मांहि गिरुगउ जेम सुरमणि जेम ग्रहगणि दिणयरो ।

१. श्री अ० च० नाहटा--म० गु० जैन कवि पृ. ८३

जिम देवदानव मांहि गरुअ गज्जए अमरेसरो।
तिम सयल गच्छह मांह गरुअउ राजगच्छ सुरवरतरो।[1]

इसकी अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है :—

'इम भणइ भगतिहि सोमकुंजर जाम चंद दिणंदउ।'

सोमतिलकसूरि—आप रुद्रपल्लीय गच्छ के संघतिलक के शिष्य थे। इनका दूसरा नाम विद्यातिलक भी था। उन्होंने षट्दर्शन सूत्र टीका, जयकीर्ति कृत शीलोपदेश माला पर शीलतरंगिणी नामक वृत्ति और सं० १४२४ में कुमारपाल निबन्ध लिखा। यह पता नहीं कि यह प्रबन्ध काव्य मरुगुर्जर भाषा में लिखा है या अपभ्रंश में, अतः इसका विशेष विवरण नहीं दिया जा रहा है। एक दूसरे सोमतिलक सूरि ने क्षेत्र समास और नवतत्व पर अवचूरि लिखी। 'अंचलमत निराकरण' नामक शुद्ध साम्प्रदायिक रचना भी उन्हीं की है। आप सम्भवतः सोमप्रभसूरि के शिष्य थे। आपके शिष्य जयानन्दसूरि ने स्थूलिभद्र चरित लिखा है।[2]

सोमसुन्दरसूरि—आप तपागच्छीय जयानन्द सूरि के शिष्य थे। आप जैन लेखकों में अग्रगण्य हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत और देशी भाषाओं में गद्य और पद्यबद्ध अनेक रचनायें लिखी हैं। श्री मो० द० देसाई ने १५वीं शती के उत्तरार्द्ध (सं० १४५६ से १५०० तक) को सोमसुन्दर युग कहा है। आप इस युग के युगपुरुष माने जाते हैं। आपने सं० १४८१ में प्राकृत, संस्कृत और गुजराती की मिश्र रचना 'नेमिनाथ नवरस फागु' लिखा। आपने मरुगुर्जर में सं० १४५० में आराधना रास और सं० १४८१ में स्थूलिभद्र कवित्त लिखा।

आपका जन्म गुजरात के प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में सज्जन नामक श्रेष्ठि की पत्नी माल्हण देवी की कुक्षि से सं० १४३० में हुआ था। सं० १४३७ में आपने तपागच्छीय आचार्य जयानन्द सूरि से दीक्षा ली थी। बड़े अध्यवसाय पूर्वक आपने विविध शास्त्रों का अध्ययन किया और धुरन्धर विद्वान् हो गये। सं० १४५७ में देवसुन्दरसूरि ने पाटण में आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

इस अवसर पर नरसिंह सेठ ने बड़ा उत्सव किया और आप तपागच्छ के ५०वें पट्टधर बने। आप अपने समय के बड़े प्रभावशाली आचार्य थे। आपकी

---

१. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० ४३
२. श्री मो० द० देसाई—जै० सा० नो इतिहास पृ० ४६२-४७१

कीर्तिकौमुदी का विस्तृत प्रकाश 'सोम सौभाग्य' नामक काव्य में बिखरा हुआ है। आपने अनेक जिनालयों का निर्माण कराया, बिंबों की प्रतिष्ठा कराई और संघयात्राओं का आयोजन कराया। आपके शिष्यों की संख्या भी काफी बड़ी थी। आपने हजारों धर्म ग्रन्थों की प्रतियाँ करवाई और जीर्ण प्रतियों का जीर्णोद्धार कराया। इस प्रकार आप १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की प्रायः सभी गतिविधियों के प्रेरणास्रोत थे। अतः उस काल को सोमसुन्दर युग कहना अत्युक्ति नहीं है। मुनिसुन्दरसूरि, जयचन्दसूरि, भुवनसुन्दर सूरि, जिनकीर्ति सूरि और रत्नशेखर सूरि तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने इस युग की धार्मिक तथा साहित्यिक-उन्नति में बड़ा योगदान किया। इस युग में उदयनन्दि, लक्ष्मीसागर, शुभरत्न, जिनमण्डन, चरित्ररत्न, सत्यशेखर, हेमहंस, पुण्यराज, विवेकसागर, ज्ञानकीर्ति आदि वाचक, उपाध्याय, पंडित जैसी उपाधियों से विभूषित नाना ग्रन्थों के उत्तम लेखक हो गये हैं।

इस काल के खरतरगच्छीय आचार्यों में जिनभद्र सूरि और जिनवर्द्धन सूरि बड़े प्रभावशाली आचार्य थे। इन लोगों ने भी तत्कालीन धार्मिक और साहित्यिक वातावरण को उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया था। इस प्रकार यह युग समग्र रूप से जैनधर्म भी उन्नति का युग था और खरतरगच्छ तथा तपागच्छ के इन महान् आचार्यों द्वारा धर्म की खूब प्रभावना हो रही थी।

सोमसुन्दर की रचनायें :—सोमसुन्दर सूरि ने संस्कृत में भाष्यत्रय चूर्णि, कल्याणक स्तवन, रत्नकोश, नवस्तवी आदि रचनायें की हैं। आपने गुर्जर गद्य में उपदेशमाला बाला० १४८५, योगशास्त्र बा०, षडावश्यक बाला०, आराधना पताका बाला०, नवतत्व बाला०, षष्ठी शतक बाला० सं० १४८६ में लिखा। इस प्रकार आप मरुगुर्जर के समर्थ गद्यकार भी थे।

मरुगुर्जर भाषा की महत्वपूर्ण काव्य रचना आपने 'नेमिनाथ नवरस फागु' लिखी है। इसकी भाषा का उदाहरण देखिये :—

'समर बिशारद सकल विशारद सारद या पर देवी रे,
गाइसु नेमि जिणिंद निरंजन रंजन जगह नमेवी रे।

इसका एक छन्द और प्रस्तुत है :

'धवल आसाढ़नी आठमी नाठं महामेवनारी,
नेमि जिणेसर सिवपुरि वपुरि गयु गिरिनारि।

'आराधना रास' की भाषा का निश्चय मूलपाठ के अभाव में नहीं हो पाया, अतः विवरण देना संभव नहीं है।

स्थूलिभद्र कवित्त—मरुगुर्जर की रचना है। इसका एक उदाहरण देखिये—

'आज सखी मझ सफल विहाणउं, नयणि मलिउ जवनाह,
कोशा कहइ कोइ वेस अपूरव, करिअल कमल निवाह।'
बहिनी बोलिवो नाह आगलि, कीजइ कहि कुण मती।
हाथि दंड कांधि कांबलड़ी ऊधऊ मुहि मुंहपती।

इस छन्द में आये मुँहपती को लेकर यह प्रश्न उठाया जाता है कि लोकाशाह से पूर्व मुख पर मुँहपत्ति शब्द का तात्पर्य यदि वर्तमान स्थानकवासी साधुओं की मुँहपत्ति से हो तो रचना बाद की हो सकती है, किन्तु अधिकतर विद्वान् यह मानते हैं कि हाथ में लिए होने पर भी उसका नाम मुँहपत्ति ही था और इसे पुरानी रचना ठहराते हैं किन्तु यहाँ 'मुहि' शब्द का प्रयोग विचारणीय है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

'चान्द्र गछि गिरुआ सुपसाइ सिरि सोमसुन्दर सूरि
अेकासीइ कवित्त अे कीधऊ अति घण आणंद पूरि।७०।

७०वें छन्द के बाद प्रति त्रुटित होने से रचना का विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता।

इसी काल के आसपास एक दूसरे सोमसुन्दर सूरि भी हो गये जिन्होंने सं० १५१० में स्याद्वाद सम्बन्धी एक रचना मेवाड़ के राणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) के शासनकाल में किया था। हो सकता है कि इन दूसरे सोमसुन्दरसूरि की भी कुछ रचनायें आ० सोमसुन्दर सूरि के नाम से गिनी जाने लगी हों क्योंकि उनका देहावसान सं० १४९९ में हो गया किन्तु सं० १५०२ की लिखी नवतत्व बालावबोध को उनकी रचनाओं में गिना जाता है। शायद इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी मिल जाँय, अस्तु। आ० सोमसुन्दर सूरि युग निर्माता महापुरुष, धर्माचार्य और महान् साहित्यकार थे।

सोमसुन्दर सूरि आदि शिष्य—आपकी दो रचनायें, नेमिनाथ नवभव स्तव (३४कड़ी) और 'महावीर २७ भव स्तव' उपलब्ध हैं। यह आदि शिष्य कौन था यह तो ज्ञात नहीं हो सका किन्तु दूसरी रचना के अन्त में 'भलउ' शब्द को रचना का कर्त्ता भी माना जा सकता है। वे पंक्तियाँ देखिये :—

'गुरुश्री सोमसुन्दर सूरि पुरंदर वसु सेवक कर जोड़ी दोइ 'भलउ' भणि,
जिण देवा भवि भवि सेवा देज्यो अम्ह सेवक भणीअ।३०।[2]

१. मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० २९-३०, भाग ३ पृ० ४३९
२. वही भाग १ पृ० ४४१-४२

महावीर २७ भव स्तव के प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—
'गोयम गणहर पाय लागऊं करिवा कवित शकति हुँमागु मझकरी पसाउ,
जयउ जिण बीर अखय सुखवासी, सतावीस भव हुँ भणिसु विमासी,
सफल करिसु नर जन्मु'। १।

आपकी प्रथम रचना 'नेमिनाथ नवभव स्तव' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

'जय जय नेमि जिणंद, समुद्रविजय राय कुल तिलुअे,
तिहुयण मयणानन्द मुख जिम पूनिम चंदलउअे।

× × ×

अभिनव गुरु गोयम अहव कि सोहम सिरि सोमसुन्दर पवर,
गुरु सिरि मुणिसुन्दर सूरि पुरन्दर सिरि जयचन्द मुणिदवर
गुरु सिरि जिनकीरति ग्यारइ गणधर ताससीस इम भणइ अे।
जो भविअ भणेसि भाव सुणेसि चिंतामणि करि तेहतणइ अे।

श्री मो० द० देसाई ने भी जै० गु० क० भाग १ द्वितीय संस्करण पृ० ४८ पर यह अनुमान किया है कि 'महावीर २७ भवस्तव' के अन्त में आया 'भलउ' शब्द रचनाकार का नाम हो सकता है। भाषा की दृष्टि से ये दोनों रचनायें मरुगुर्जर का प्रकृत रूप प्रस्तुत करती हैं। काव्यत्व का इनमें प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रायः ऐसी रचनायें शुद्ध धार्मिक दृष्टिकोण से प्रेरित होने के कारण इनमें कवि सरसता और काव्यत्व पर विशेष ध्यान नहीं दे पाता।

हरसेवक—आपने सम्भवतः सं० १४१३ ? में 'मयणरेहा रास' लिखा। इसमें सती मदनरेखा का चरित्र चित्रित किया गया है। इसके अन्त में रचना काल का उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया मिलता है, यथा—

'गाम ककडीअे कर्यो चोमासो, संवत चौदो तेरा मांयो।'[1]
दूसरी प्रति में, गाम केकडी कीनो चोमासो, वरस चवदोतरा मांहि।'[2]
मिलता है।

इसलिए रचनाकाल का निश्चय नहीं हो पाता। यह एक विस्तृत रास है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० १७
२. वही भाग ३ पृ० ४१९

'जूआ मांस दारु तणी, करे वेश्याशु जोष,
जीव हिंसा चोरी करे, परनारी नो दोष

× × ×

व्यसन सातमु परनारी नु प्रत्यक्ष पाप दीखायु
रावण पदमोत्तर मणिरथ राजा तीनु राज गमांयु।'[1]

इसमें गुजराती के साथ मारवाड़ी, राजस्थानी के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इसे शा भीमसी माणेक ने प्रकाशित किया है।

हरिकलश—आप धर्मघोष गच्छ के पद्मानन्द सूरि के शिष्य थे। आपने 'कुरुदेश तीर्थमाला स्त्रोत्रम्', पूर्व-दक्षिण देश तीर्थमाला एवं अनेक तीर्थ-माला स्तोत्रम् जिनमें श्री गुजरात सोरठ देश तीर्थमाला, वागड़देश तीर्थमाला, दिल्ली मेवाती देश चैत्य परिपाटी, आदीश्वर वीनती और जीरावल्ला वीनती प्रमुख तीर्थमालास्तोत्र, स्तव, वीनती आदि हैं, की रचना की। इन रचनाओं की भाषा के नमूने आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिनसे यह पता चलता है कि कवि की भाषा पर हिन्दी का बड़ा स्पष्ट प्रभाव था। सच तो यह है कि १५वीं शताब्दी तक हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी काफी मिलती-जुलती भाषायें थी और लेखक इनके शब्दों का बिना किसी भेदभाव के अपनी रचना में प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ हरिकलश कृत 'श्री गुजरात' सोरठ देश तीर्थमाला स्तोत्रम् (१९ गा०) का प्रारम्भिक पद्य देखिये :—

'चउबीस जिणवर पणमवि सुन्दर, हियइ हरषु आणेवि घण।
सिवलच्छी दायग तिहुयण नायक, तीरथमाला थुणउ जिण।

इसका अन्तिम पद्य देखिये :—

'इतिय तित्थमाला अति रसाला, पुण्यशाला मणहरा,
भाविहिं गममिय पुण्य दंसिय जग प्रसंसिय जिणवरा।
सिरि धम्म सूरिहिं गच्छ भूरिहिं भत्ति पूरिहिं सुन्दरो।
हरिकलसि मुणिवरि भावु धरि करि, थुणिय सुघरि सुहकरो।१९।[2]

इसी प्रकार वागड़ देश तीर्थमाला स्तोत्रम् (गाथा ११) का भी आदि, अन्त दिया जा रहा है :—

आदि 'जिण नमिय सुमंगल बागड़ मंडल भाविहि निमल ते थुणउं।
अरिहंत अराहउं पुण्य विसाहउं, लीजइ लाहउं भव तणउ।१।

१. मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १७
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गुर्जर जैन कवि पृ० ९६-९९

अन्त 'इय थुणिय जिणिंदा उत्तरादेस इंदा,
गिरिपुर नगरत्था जेमया दिट्ठतित्था।
जिकिवि पुण अदिट्ठा जे तिलोए गरिट्ठा,
वर जिणहर वन्दे तेवि भावेण वन्दे।' ११।

जीरावला वीनती (गाथा ९) का एक उदाहरण उनकी वीनती संज्ञक रचनाओं की प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। रचना का आदि और अन्त इस प्रकार है :—

'सोहग सुन्दर पास जिणेसर, जीराउलिवर नयर नरेसर सेस रचियपय सेव।
सफल मणोरह मेरिउसामी, मन ऊलरि तसु सिरवर नामी, पामी सुहसय हेव।

अन्त 'जीरावलि मंडण दुरिय विहडंण पास जिणेसर भत्ति भरे।
विनविउं हरिकलसिहिं नवनिधि बिलसहिं जे प्रणमइं तुह चलण परे।'

'आदीश्वर वीनती' की अन्त की पंक्तियों से प्रकट होता है कि ये धम्म-सूरि वंशी थे।

'इय धर्म्म सूरि वंसिहि मुणि हरिकलसिहिं बिनविउ जिणबर इक्कुमणि,
मुझ देज्यो ते दिणु भवि भवि अणुदिणु, सेवु तुम्ह पयकमल जिणि।'[1]

इस प्रकार इनकी तीर्थमाला और वीनती संज्ञक रचनाओं के कुछ उद्धरण उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये गये जिनसे इन रचनाओं की भाषा और भावात्मक स्थिति का अनुमान पाठक कर सकें।

हलराज—आपने मेवाड़ के आघाट नगर के पार्श्व जिनालय में सं० १४०९ में 'स्थूलिभद्र फागु' नामक अपनी रचना लिखी। उस समय तक स्त्रियाँ मिलकर फाग खेलती थीं और फागु काव्य प्रधानतया गाये जाने के लिए ही लिखे जाते थे। इस फागु में इस तथ्य की ओर संकेत निम्नांकित पंक्तियों से मिलता है :—

'वरु तरुणी मिलि दियइं, रास एक फागु खेलावइं।
तसु अंगणि नव निधि रमइं संपति घरि आवइं।

फागु का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'सरसति सामिणी वीनवऊं बेकर जोडेवी,
थूलभद्र मुनिवर चरित्र, कहिस्यऊं गुण केवी।
नंदराय पाडलीय नयरि, तहि राज करेइ,
तासु लणइ अधिकार, विप्र सगडाल तणेइ।'[2]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—मरु गुर्जर जै० कवि पृ० ९९

२. श्री मो० द० देसाई जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ४२-१३
और श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० १७

शकडाल मंत्री के पुत्र स्थूलिभद्र और पाटलिपुत्र की परम सुन्दरी नगरवधू कोशा की प्रसिद्ध प्रेमकथा का सूत्र लेकर यह फागु लिखा गया है। फागु के अन्त में जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रेम-शृङ्गार का पर्यवसान शान्त में दिखाया गया है। भोगी स्थूलिभद्र का चरित्र परम संयमी योगी और आत्मज्ञानी के रूप में परिणत हो गया है।

रचनाकाल का उल्लेख कवि ने इन पंक्तियों में किया है :—

'चउदह सइ विक्रम समइ नउकइ संवच्छरि,
बैशाख सुदि तेरसि अेहु फागु नवलि करि।
मेदपाट आघाट नयरि श्री पास प्रसादो,
कीयउं कवित हलराज भणइ, अम्हि मणि आणंदो।'

फागु सरस कथा का आधार लेकर चला है और कवि में केवल उपदेशक वृत्ति नहीं है अतः इसमें रमणीय स्थल पर्याप्त मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से भी रचना अवलोकनीय है।

हीरानन्दसूरि—आप पीपल गच्छीय श्री वीरप्रभसूरि के शिष्य थे। आप राजस्थान के उत्तम कवियों में गिने जाते हैं। आपने वस्तुपाल तेजपाल रास सं० १४८४, विद्याविलास पवाड़ो सं० १४८५, दशार्णभद्ररास, जंबू स्वामी विवाहलो सं० १४९५ सांचौर, कलिकाल रास सं० १४८६ और स्थूलिभद्र बारहमासा (२८ कड़ी) नामक रचनायें मरुगुर्जर भाषा में लिखी हैं। वस्तुपाल तेजपाल गुजरात के महायशस्वी मंत्री बंधु थे। इनका विवरण पहले दिया जा चुका है अतः विषय वस्तु का विस्तार न करके केवल भाषा शैली के नमूने के लिए कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं :—

'वीरदीवह वीरदीवह सूरि गुरु पट्टि, सिरी वीरप्पह सूरि वीरबाह सासणि प्रसिद्ध।
पिप्पल गच्छहि गुणनिलु, जगह माहि जस जेणि लद्धउ।
संवत चउद चुरासीइं, अति आणंद सूरि,
तास पाटइ विस्तग चरीइ, रच्यु श्री हीराणंदसूरी।[1]

इसमें रचनाकार का नाम, गुरु परम्परा और रचनाकाल का उल्लेख है। यह एक ऐतिहासिक रास है और तत्कालीन अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें इस रास द्वारा प्राप्त होती हैं।

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ४२७

विद्याविलास पवाडो—पवाडा एक विशेष प्रकार का काव्य रूप है। इसका प्रचार तथा प्रयोग राजस्थान और गुजरात के चारण कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली का विस्तृत वर्णन करने के लिए किया था। इस काव्य विधा का प्रयोग जैन कवियों ने मुनियों और महापुरुषों का गुणगान करने के लिए किया है। प्रस्तुत पवाड़े का प्रथम पद्य उद्धृत किया जा रहा है :—

'पहिलुं पणमीय पटम जिणेसर, सित्तुंजय अवतार,
हथिणउरि श्री शांति जिणेसर अज्जति निमिकुमार।
जीराउलि पुरि पास जिणेसर, सांचउरे वद्धमान।
कासमीर पुरि सरसति सामिणि, दिउमुझनइं वरदान।१।'

अन्त 'पीपल गच्छि गुरुइ गुणनिलउअे,
वीरदेव सूरिहि पाटिअे अचल बधामणुअे।
वीरप्रभ सूरि गुरु गहगहीअे, पाटि हीराणंद सूरि,
संवत १४ पच्चासीहअे विरचीउ चरिअ रसाल।'[1]

दशार्णभद्र रास का आदि, अन्त देखिये :—

आदि— 'वीर जिणेसर पयनमीअे, समरीय समरीय सरसति देवि कि,
दसनभद्द गुण गाइस्यु अे, हीउलयइ हरष धरेवि कि,
वीर जिणेसर पय नमीअे।१।'

अन्त 'इणिपरि जिणवर गुण थुणअे नासइ कश्मल दूरि कि,
बोलइ बोलइ हीराणंदसूरि कि, इणि परि जिणवर जिणवर वादंताअे।

जंबू स्वामीनु वीवाहलउ सं० १४९५ वै०शु०८ सांचौर का आदि पद्य :—

वीर जिणेसर पणमीय पाय, गणहर गोयम मनि धरी अे,
समरी सरसति कवियण पाय, वीणा पुस्तक धारिणि अे।१।

अन्त 'पुर साचुर मझारि वीर भुवण रलियामणु अे,
संघ सहित घरबारि, संवत चऊद पंचाशावइ अे।
मन तणइ आणंद वइसाह सुदि आठिमि अे,
रचीऊं हीराणंदि जंबूअ सामि विवाहलु अे।५३।[2]

कलिकाल रास की रचना सं० १४८६ में हुई, इसका रचना काल इस प्रकार है :—

---

१. श्री मो०द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ. २६-२७, भाग ३ पृ. ४२७-४२९
२. वही

पीपल गच्छीय सुरिराउ वीरप्पह गणहर
तसु पयपंकज राजहंस हीराणंद मुणिवर चउद छियासी वरषै।[1]

स्थूलभद्र बारहमासा—२८ कड़ी की रचना है। इसकी प्रथम कड़ी देखिये :—

'सरसत सामिणि समरिअे, पामिय सद्‌गुरु पसाउ कि,
गाइसु शीयल सुहामणुं स्थूलभद्र मुनिराउ कि।१।

अन्तिम कड़ी देखिये :—

'स्थूलिभद्र करे मासग, अे जे मणे धरि आणंदणि,
तिहां धरि अचल वधामणु अे, बोले सूरि हीराणंद कि।२८।

आपने रास, पवाड़ा, विवाहलउ, बारहमासा आदि नाना काव्यरूपों में कई उत्तम रचनायें मरुगुर्जर भाषा में लिखकर उसका साहित्य भांडार भरा है और साहित्य रचना के साथ धर्म की प्रभावना में योगदान किया है। भाषा प्रयोग और काव्यत्व की दृष्टि से भी आपका मरुगुर्जर के कवियों में उत्तम स्थान है।

ज्ञानकलश मुनि—आपने सं० १४१५ में 'श्री जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास' लिखा। इन्हें सूरिपद सं० १४१५ में तरुणप्रभ सूरि के आचार्यत्व में खंभात नगर में प्रदान किया गया था। उसी पट्टाभिषेक का वर्णन इस रास में है। अतः यह काव्य भी सं० १४१५ में लिखा गया होगा। यह रचना ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में प्रकाशित है।

रासकार ने सर्वप्रथम मंगलाचरण किया है, तत्पश्चात् अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन करता हुआ वह लिखता है कि चंद्रगच्छ की व्रजशाखा में अभयदेव सूरि (४२वें आचार्य) के बाद सर्वश्री जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति और जिनेश्वर सूरि आदि ५२ आचार्यों के पश्चात् ५३वें आचार्य जिनचन्द्र के पट्टधर जिनोदय सूरि ५४वें आचार्य हुए। इसके बाद इनका वंश परिचय दिया गया है। तदनुसार आपका जन्म सं० १३७५ में माल्ह-गोत्रीय रुद्रपाल की पत्नी धारल देवी की कुक्षि से पाल्हणपुर में हुआ था। बचपन में आपका नाम समरा था। आपका दीक्षोपरान्त सोमप्रभ और आचार्य पद प्राप्ति के बाद जिनोदय सूरि नाम पड़ा। रासकर्त्ता ज्ञानकलश उनके शिष्य थे। ऐ० गुर्जर काव्य संचय के सम्पादक मुनि जिनविजय जी का कथन है कि यह रचना प्रारम्भिक मरुगुर्जर का अभ्यास करने वालों के लिए आनन्द दायक है।

---

१. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग १ पृ० २६-२७ और भाग ३ पृ० ४२७-२९

कवि पाटोत्सव का वर्णन करता हुआ लिखता है :—

'नाचई ए नयणविसाल चंदवयणि मन रंगभरे।
नवरंगि ए रासरमंति खेलखेलिय सुपरिवरे।२०।

पाट पर सुशोभित आचार्य की छवि का अंकन कवि ने इन शब्दों में किया है :—

'जिम माणस सरि हंसु भाद्रव घणु दाणेसरहु,
जिम गह मंडलि हंसु चांदु जेम तारागण हुं।
जिम अमराउरि इन्द्र भूमंडलि जिम चक्कधरो।
संघह महि मुणिंदु तिम सोहइ जिणउदय गुरो।'[1]

इसमें उपमा अलंकार से मंडित मधुर भाषा का स्वरूप दर्शनीय है। कवि रास के अन्त में लिखता हैं :—

'सुहगुरु गुण गायंतु सयल लोय वंछिय लहए।
रमउ रासु इदुरंगि ज्ञानकलश मुनि इम कहइ।'

रास का मंगलाचरण करते हुए कवि ने सरस्वती देवी और गुरु जिनोदय सूरि का वन्दन किया है, यथा—

'सन्ति करण सिरि संतिनाह पयकमल नमेवी,
कसमीरह मंडणीय देवि सरसति सुमरेवी,
जुगवर सिरि जिणउदय सूरि गुरु गुण गायेसु।
पाट महोत्सव रासुरंगि तसु हउं पभणेसु।'[2]

इस शताब्दी की भी अनेक ऐसी रचनायें उपलब्ध हैं जिनके लेखकों का नाम पता अज्ञात है किन्तु रचनायें महत्वपूर्ण हैं, अतः उनमें से कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

अज्ञात कविकृत 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग' यह रचना 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है और इसे १५वीं शताब्दी की रचना बताया गया है। इसमें जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ के दो पुत्रों भरत और बाहुबलि के पारस्परिक विग्रह और बाहुबलि के त्याग का वर्णन है। इस विषय पर सं० १२४१ में शालिभद्र ने 'भरत बाहुबलि रास' सम्भवतः मरुगुर्जर में सर्वप्रथम लिखा था। इस रास में आगे कहा गया है कि भरत चक्रवर्ती राजा हुआ। अपने यौवन में अनेक सुखोपभोग के पश्चात् अन्ततः

१. ऐ० गुर्जर काव्य संचय पृ० २३०-२३२
२. श्री मो० द० देसाई—जैन गु० क० भाग १ पृ० १८

उसे भी भोगों से विरक्ति हुई और त्याग तथा संयम पूर्वक उसने सिद्धि प्राप्त की।

फाग के प्रारम्भ में वंदना करता हुआ कवि लिखता है :—

'बंदवि नाभि नरिंद सुय रिसहेसर जिणचंदो,
गाइसु मास वसंत हुइ भरहेसर नरविंदो।[1]

इसके बाद भरत की राजधानी अयोध्या का वैभव तथा अन्तःपुर की रमणियों की वसंत क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। प्रथम भास में प्राचीन छन्दवन्ध अर्थात् दोहा और रोला छंद में अयोध्या की शोभा का वर्णन किया गया है, यथा :—

'हम गय चुलसी लक्ख जक्ख खेचर जस किंकर,
हास कास संकास जास जसु गाईं किन्नर।'

वसंत वर्णन का एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

'फूलिय सब वणराय वाय वायंती लहकइ,
चंपउ चंपइ अवर सीम निय परिमल वहकइ।

इस वर्णन में सैकड़ों पुष्पों की सूची गिनाई गई है। १३वीं कड़ी से नया भास प्रारम्भ होता है और वसंत की वन-शोभा का वर्णन चलता रहता है, यथा—

ए रसु बनसिरि अवपरियउ रलियामणउ वसंतो,
पेक्खिवि विलसइ चक्कवय नव नव परि पुनवंतो।'[2]

चक्रवर्ती भरत द्वारा नियमपूर्वक जिनधर्म-पालन का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'अवसरि सो सवि सुद्ध बुद्धि जिणधम्म करेई,
अवसरि खड्डो खलिय मज्झि जलकेलि करेइ।
अवसरि पंच पयार भोगवइ मणोहर,
अवसर समरइ भावि देवगुरु पाप तमोहर।

इस प्रकार नियमपूर्वक जीवन यापन करते हुए एक दिन शीशे में अपना रूप देखकर उसे वैराग्य हो गया और तपस्यापूर्वक वह केवलज्ञानी हुआ।

यद्यपि फाग के सम्बन्ध में विवरण नहीं प्राप्त है किन्तु फाग में कविता का पूर्ण आनन्द और उसके माध्यम से जैनधर्म का संदेश प्रभावकारी ढंग से उपलब्ध है।

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ४७ से ४९

२. श्री मो० द० देसाई जैन गु० कवि भाग ३ पृ० ४२१

अज्ञात कवि कृत 'पृथ्वीचन्द्र गुणसागर रास' भी १५वीं शताब्दी की अच्छी रचना है जिसमें सुविनीता नगरी के राजा अरिसिंह और रानी पद्मावती के कुमार पृथ्वीचन्द्र का चरित्र चित्रित है। रास का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

'सिरि नेमि जिणेसर नमिय सुरेसर सार,
मुनि गायसु गिरुआ सीलरयण भंडार।

पृथ्वीचन्द्र भी अन्य जैन कथानायकों की तरह सब प्रकार के सुखभोग के पश्चात् संयम धारण करके मुक्ति प्राप्त करता है। रास की अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'पार लहीनइ पुहता शिवपुरि तेह जिहुं आराधउं,
माणसि भव तणउ अमूलिक आज अम्हें फल लाधउं।५१।
साधउं काज हवउ जगि सारउ तारउं अप्पा काज।
प्रणमउं पृथ्वीचन्द केवली, गुणसागर रिखराज।५२।'[1]

गुणसमुद्र सूरि शिष्य—(नागिल गच्छ के अज्ञात कवि) आपने १५वीं शताब्दी में 'शकुन चौपइ' नामक एक विस्तृत पद्यबद्ध रचना शकुन शास्त्र पर लिखी। इसकी छन्द संख्या ५७२ है। नागेन्द्र या नागिल गच्छीय गुण-समुद्रसूरि का प्रतिमालेख सं० १४९२ का प्राप्त होने से यह निश्चय होता है कि प्रस्तुत रचना १५वीं शताब्दी की ही है। इस रचना से यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि जैनकवि पद्यों में ऋषि-मुनि-चरित्र, व्रततीर्थ, जिनबिम्ब आदि धार्मिक विषयों का वर्णन करने के साथ ही ज्योतिष, शकुन, नीति आदि विविध अन्यान्य विषयों पर भी रचना करने में कुशल थे। इसकी अन्तिम पंक्तियां भाषा और शैली के नमूने के रूप में आगे उद्धृत की जा रही है :—

'देवह गुरु संघह सानधि, शकुन शास्त्रनी विरची बुद्धि,
नागिल गच्छि गिरुआ गुणवंत, श्री गुणसमुद्र सूरि गुरु जयवंत।
तास सीस लहइ बुद्धि विचारा, भणइ गुणि निसुणइ जे केऊं।
आगमि निर्गमि बूझइ तेऊ।'[2]

अज्ञात कवि कृत अेकादश गणधर नमस्कार (११ कड़ी) तथा एकादश गणधर स्तवन नामक रचनाओं की भाषा के नमूने के लिए दोनों से कुछ पक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :—

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ४३७
२. वही पृ० ४३८

(१) एकादश गणधर नमस्कार का प्रथम छंद प्रस्तुत है :—

'गौतम गणहर गौतम गणहर पढम संघयण,
तित्थंकर वीर जिण पढम सीस सोव्रत समाणउ।
प्रहि उठि प्रणामीउ सत्त हत्थ तणु माण जाणउ,
पवर त्रिडोत्तर तापसह प्रतिबोधी वर तणि।'[1]

'एकादश गणधर स्तवन' का प्रथम छंद देखिये :—

'वीर जिणेसर पय पणमेवि, गणधर कवित करू संखेवि।
गणधर इग्यारसिनइं काजि, वर्द्धमान जिनशासनि राज।'

स्तवन की कुछ और पंक्तियां देखिये :—

'इय समये जत्ति सव्वसत्ति चित्तमत्ति वन्निया,
वैशाख सुदि इग्यारसी दिनि वीरनाहइं थापिया,
अे सयल गणहर अे इग्यारसि जेअराहइं भाविया,
ते तवन भणसि भावि सुणसि ते लहई सुख संपया।'[2]

उक्त दोनों रचनायें भाषा और शैली की दृष्टि से किसी एक ही कवि की रचनायें मालूम होती है, भक्तिभाव की रचनायें हैं और इनका काव्य की अपेक्षा धार्मिक महत्व अधिक है।

प्राचीन फागु संग्रह में 'पुरुषोत्तम पांच पांडव फाग'[3] भी अज्ञात कवि की रचना के रूप में प्रकाशित है लेकिन श्री मो० द० देसाई ने इसे वीरनन्दन की रचना कहा है।[4] अतः इसका वर्णन वीरनन्दन कवि के साथ किया गया है। इसमें आठ भास हैं और यह प्राचीन फागु पद्धति में लिखा गया है। पाँचों पांडव विवाह के बाद द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर लौटे, उस समय नगर खूब सजाया गया। कवि कहता है :—

'घरि घरि मोतिय चउक भरिय गुडिय उछलालिय।
घरि घरि मंगल कलश ठविय वर वंदुर वालिय।

पांचों पांडव वरवेश में सजे थे, उनका वर्णन कवि इस प्रकार करता है :—

मृगमद मयवट्ट कुसुमभारु सिरि तिलउसुरंगो।
नयणहिं काजलरेह वयणि तंबोल सुचंगो।

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८६-८७

२. वही

३. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ४३

४. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४२२

कंचण कुंडल हारोदर भणि मउड सिंगारी,
पंचकुमर पूणहि गयंदि दूव्वय वयसारी।

अन्त में गंगा जमुना के मध्य कुलपर्वत पर पाण्डव क्रीड़ार्थ गये और नारद के आशीर्वचन से रास समाप्त हुआ।

ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में भी कुछ ऐसी रचनायें संकलित हैं जिनके लेखक का नाम और रचनाकाल आदि ठीक नहीं मालूम है किन्तु वे १५वीं शताब्दी की रचनायें हैं। उन रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व है, साथ ही भाषा के अध्ययनार्थ भी वे मूल्यवान हैं अतः ऐसी रचनाओं के कुछ अवतरण उनके मूल पाठ से अवतरित किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम 'खरतर गुरु गुण वर्णन छप्पय' से एक छप्पय दिया जा रहा है :—

इसमें ३२ छप्पय है किसी प्रति में २७ छप्पय भी हैं।

प्रथम छप्पय 'सो गुरु सुगुरु जु छविह जीव अप्पण सय जाणइ,
सो गुरु सुगुरु जु सच्चरुव सिद्धत वखाणइ।
सो गुरु सुगुरु जुसील धम्म निम्मल परिपालइ,
सो गुरु सुगुरु जु दव्व संग विस सम भणि टालइ।
सो बेव सुगुरु जो मूल गुण, उत्तर गुण जइणा करइ।
गुणवंत सुगुरु मो मतियणह पर तारइ अप्पण तरइ।१।'[1]

इसके बाद जिणवल्लभ से लेकर जिनभद्रसूरि तक के खरतर गच्छीय आचार्यों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। जिनोदयसूरि की पद प्रतिष्ठा और जिनचन्द्रसूरि के गुणों का बड़ा काव्यात्मक और आलंकारिक वर्णन किया गया है, इससे रास की नामावली की शुष्कता काफी कम हो गयी है। जिनभद्रसूरि को तत्कालीन सुगुरु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह रचना उसी समय की होगी। जिनभद्रसूरि का समय १५वीं शती का उत्तरार्द्ध है। जिनभद्रसूरि की प्रशंसा सम्बन्धी एक छप्पय और दिया जा रहा है :—

'ताम तिमिर घरि फुरइं जाम दिणयरु नहि उग्गइ।
तां मयगल मयमत्त जाम केसरीय न लग्गइ।
तिम सयल वादि निय निय घरिहिं ताम गव्व पव्वइ चढ़इ।
जिनभद्र सूरि सुहगुरु तणीयं हथु न जां कन्निहि पडइ।

अनुप्रास की छटा का आनन्द लेते हुए इसके अन्तिम छंद की कुछ पंक्तियों का रसास्वादन किया जाय :—

१. ऐ० जै० का० संग्रह (भाग चार) पृ० २४

'दुर्घट घटना घटित कुटिल कपटागम सूत्कट।
बावाहोत्कट करटि करट पाटन सिंहोद्भट।
विस्टप वांछित कामघट विघडित दुष्ट घट प्रकट
जिनभद्र सूरि गुरुवर विकट सितपट सिरो मुकुट।'[1]

'भावप्रभसूरि गीत'—यह भी 'ऐ० जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित रचना है। इसमें भावप्रभसूरि का वर्णन है जो १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गये हैं अतः रचना १५वीं शती की है। यह १५ पद्यों की छोटी रचना है। भाषा सरल एवं साहित्य रस से परिपूर्ण है; इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

'समरवि सुहगुरु पाय अहे, जसु दरसणि मनु उल्हसइ ए।
थुणीयइ मुणिवर राय अहे, कलियुगे जसु महिमा वसइ ए।१।

आप साध्वाचार का प्रशंसनीय ढंग से पालन करते थे। कवि लिखता है:—

'अमिय समाणीय वाणीय हे, नवरस देसण जो करइ अे।
समय विवेक सुजाण अहे, समकित रयण सो मनि धरइअे।

इसकी अन्तिम पंक्तियां देखिये:—

'सिरि आइरिय मुख कांति दिणियर, भविक कमल विकासणो।
जयवंतु श्रीय गुरु भावप्रभ सूरि, जाम ससि गयगणो।१५।[2]

अज्ञात कवि कृत श्री जिनप्रभ सूरि परम्परा गुर्वावली भी ऐ० जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित १४ छंदों की रचना है जिसमें जिनप्रभसूरि की गुरु परम्परा और महिमा बखानी गई है। इसी के पश्चात् दूसरी रचना 'जिनप्रभसूरि छप्पय' है जिसमें उनके अद्भुत करिश्मों जैसे आकाश से कुलह (टोपी) नीचे उतारना, वटवृक्ष को चलाना, शत्रुंजय वृक्ष से दुग्ध वर्षा कराना, जिन प्रतिमा से वचन बोलवाना आदि का वर्णन है। यह गुर्वावली अपभ्रंश और उर्दू संस्कृत मिश्रित विचित्र भाषा शैली में होने के कारण भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। अतः विवरण के विस्तार की अपेक्षा नहीं है।

अज्ञात कवि कृत 'श्री कीर्तिरत्नसूरि फागु' भी इसी संग्रह में प्रकाशित है। कीर्तिरत्नसूरि संखवाल गोत्रीय शाहकोचर के वंशज देपा और उनकी

१. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० २८
२. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० ४३-४४

पत्नी देवल दे के चार पुत्रों में से एक थे। इनका जन्म सं० १४४९ में हुआ था। इनके बचपन का नाम देल्हा था। इनकी सं० १४६३ में दीक्षा और १४९७ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठा हुई। प्रस्तुत फागु यदि आपके आचार्य पद स्थापना महोत्सव के अवसर पर लिखा गया होगा तो निश्चय ही १५वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में लिखा गया होगा। आ० कीर्तिरत्न की मृत्यु सं० १५२५ में हुई किन्तु वर्णनों को देखकर यही सम्भावना है कि यह इनके पाटोत्सव पर लिखा गया है। अतः १५वीं शताब्दी की रचना है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां प्रस्तुत है :—

'खिणि वाजित्र धुमधुमइए, गयणांगण गाजइ।
छल छल छयल कंसाल ताल महुरा रवि वाजइ।

प्रति खंडित है अतः प्रारम्भ २८वें छन्द से हुआ है और अन्त ३६वें छन्द पर होता है; अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'ए रिस सुहगुरु तणउ नाम नितु मनिहि धरीजइ।
तिमि तिमि नवनिहि सयल सिद्धि बहु बुद्धि लहीजइ।
ए फागु उछरंगि रमइ जे मास वसंते,
तिहि मणिनाह पहाण कित्ति महियल पसरन्ते।३६।

इसके साथ श्री कीर्तिरत्नसूरि पर कई गीत इस संग्रह में प्रकाशित हैं, जैसे साधुकीर्ति कृत श्री कीर्तिरत्नसूरि गीतम् जो साधुरत्न के साथ दिया जा चुका है। ललितकीर्ति, सुमति रंग, जयकीर्ति कृत गीत १६वीं शताब्दी की रचनायें हैं अतः उन्हें यथास्थान दिया जायेगा।

अध्याय : ५

मरु गुर्जर जैन साहित्य का इतिहास

वि० सं० १५०१ से वि० सं० १६०० तक

(मध्य युग का प्रारम्भ)

विक्रम की १६वीं शताब्दी के साथ हम मरुगुर्जर जैन साहित्य के मध्ययुग में प्रवेश करते हैं। मध्ययुग समग्र आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य का स्वर्णयुग है। मरुगुर्जर साहित्य का मध्ययुग भी अत्यन्त सम्पन्न है। हम चाहें तो इसे मरुगुर्जर का स्वर्णयुग कह सकते हैं। प्रायः सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि १६वीं शताब्दी से मरुगुर्जर जैन साहित्य में एक नया मोड़ आता है और मध्ययुग का प्रारम्भ होता है जो विक्रम की १९वीं शताब्दी तक चलता है।

मध्ययुगीन मरुगुर्जर जैन साहित्य की सामान्य विशेषतायें :

१५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश से जनभाषाओं का अपने-अपने प्रदेश में विकास प्रायः पूरा हो चुका था लेकिन जैन विद्वानों की कुछ रचनाओं में अब भी अपभ्रंश की झलक दिखाई पड़ती है। १६वीं शताब्दी तक आते-आते राजस्थानी और गुजराती भाषाओं का स्वतन्त्र विकास परिलक्षित होने लगता है लेकिन जैन रचनाओं की भाषा में मरु और गुर्जर का प्रभाव समान रूप से बना रहा। इसका मुख्य कारण शायद यह था कि इन दोनों प्रान्तों की सीमायें ही नहीं बल्कि अधिकतर गच्छवाल कवियों और साधुओं का सम्बन्ध इन दोनों प्रान्तों से बहुत घनिष्ठ रहा। साधु-साध्वी इन दोनों ही प्रान्तों में समान रूप से निरन्तर विहार करते थे और एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते थे जिसे दोनों प्रान्तों की सामान्यजनता आसानी से समझ सके। अतः श्वेताम्बर लेखकों की रचना का माध्यम मध्ययुग में भी मरुगुर्जर ही रही। दिगम्बर लेखकों की भाषा पर पुरानी हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है किन्तु उनकी रचनायें कम उपलब्ध हैं। अतः जैन साहित्य का अधिकांश भाग मरुगुर्जर भाषा का साहित्य है।

भाषा सम्बन्धी इस समानता के कारण कुछ कठिनाई भी उपस्थित होती है विशेषतया जब किसी रचना में उसका रचनास्थान औरअन्य विवरण कवि नहीं देता। इस उभयनिष्ठ भाषा के कारण यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि रचना किस प्रदेश में लिखी गई है। भाषा के आधार पर वे राजस्थान और गुजरात की समान रूप से मालूम पड़ती हैं, अतः राजस्थानी और गुजराती जैन साहित्य को सर्वथा विभक्त करके प्रस्तुत करना १६वीं शताब्दी में भी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार राजस्थानी और गुजराती में काफी समानता मिलती है उसी प्रकार हिन्दी और राजस्थानी में भी काफी सादृश्य था।[1] राजस्थान के जयपुर, बागड़प्रदेश हिन्दीभाषी प्रदेश से मिले जुले हैं। इन स्थानों में तथा गुजरात में दिगम्बर भट्टारकों की गादियाँ थीं। इन लोगों ने जो रचनायें कीं उसमें हिन्दी का प्रयोग स्वभावतः अधिक हुआ किन्तु इन्हें आसानी से मरुगुर्जर के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। श्वेताम्बर साधु और लेखक भी अपनी भ्रमणशील प्रवृत्ति के कारण प्रायः राजस्थान, गुजरात, विहार और उत्तर प्रदेश में भ्रमण करते रहते थे, अतः इनकी रचनाओं की भाषा में इन स्थानों की भाषा-बोली स्वभावतः मिल जुल गई है। ऐसी मिली-जुली भाषा का सर्वाधिक उपयुक्त नाम मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी ही है। ऐसी रचनाओं के प्रभूत उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। राजस्थानी और हिन्दी मिश्रित मरुगुर्जर भाषा शैली का नमूना महाकवि जिनहर्ष की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

'सभा पूरि बिक्रम्म, राइ बैठो सुविसेसी।
तिण अवसर आवीयउ, एक मागध परदेसी।
कर जोड़ि एक जंपइ वयण, हुकुम रावलो जो लहुँ।
जिनहर्ष सुणण जोगी कथा कोतिगवाली हूँ कहुँ।
(चौबोली कथा)

इसी प्रकार हिन्दी गुजराती मिश्रित भाषा शैली का नमूना कवि वीरचन्द्र के वीर विलास फाग से आगे प्रस्तुत है :—

'कनकमि कंकण मोड़ती, तोड़ती मिणिमिहार।
लूचंती केश कलाप, विलाप करि अनिवार।'[2]

अथवा 'परमेसर सुं प्रीतडी रे किम कीजे करतार,
प्रीत करंता रोहिली रे, मन न रहे खिण एकतार रे।

१. श्री अ० च० नाहटा—'राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल परम्परा पृ० ६७
२. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १०९

मनडानी बातो जो ज्यों रे, जु जुई धातो रंग विरंगी रे,
मनहुँ रंग विरंगी।"[1]

इसी प्रकार कुछ कवियों की भाषा पर व्रजभाषा का प्रभाव भी प्रकट होता है विशेषतया गेय पदों में यह अधिक लक्षित होता है।

भाषा सम्बन्धी सामान्य विशेषतायें –इसी समय से भाषा का सरलीकरण प्रारम्भ हुआ। इसके लिए कुछ निश्चित उपाय भी किये गये। जैन रचनाओं में 'श' और 'स' का प्रयोग बिना विशेष नियम के होने लगा। 'स' का प्रयोग प्रायः सर्वत्र किया जाने लगा जैसे सोभा, दरसन और सुजस आदि। आगम और लोप की प्रवृत्ति, संयुक्त वर्णों को स्वर-विभक्तियों द्वारा पृथक् करने की प्रवृत्ति, संयुक्त वर्णों में से केवल एक वर्ण को हटाकर कर्णकटु द्वित्त के स्थान पर सरल एवं श्रुतिमधुर शब्द गढ़ने की प्रवृत्ति इस काल की मरुगुर्जर भाषा की सामान्य विशेषतायें हैं। इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। सर्वप्रथम संयुक्त वर्णों को स्वर-विभक्तियों द्वारा पृथक् करके आतमा का आतम, शब्द का सबद, प्रत्यक्ष का परतछ, स्मरण का सुमरण जैसे शब्दों का प्रचलन द्रष्टव्य है। इसी प्रकार एक वर्ण हटाकर ऋद्धि को रिधि, स्थान को थान, स्पर्श को परस आदि लिखा जाना उल्लेखनीय है।

इस काल की भाषा पर राजस्थानी-गुजराती के अलावा व्रजभाषा, खड़ी बोली और कुछ कुछ उर्दू फारसी के प्रयोगों का सम्मिलित प्रभाव भी दर्शनीय है। कहीं कहीं 'रे' तथा 'डा-डी' के प्रयोग स्वरूप अपभ्रंश का अवशिष्ट प्रभाव भी दिखाई पड़ जाता है।

जैसे 'आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयडा बार सकोमल कामिनि रे।' इत्यादि

अनुस्वारों का मोह भी दिखाई पड़ता है, यथा—
'नरेन्द्रं फणीन्द्रं, सुरेन्द्रं अदीशं शतेन्दुं सुपूजै भजैनाय शीशं।

इस काल तक स्वतन्त्र क्रियाओं का विकास विशेषतया खड़ी बोली हिन्दी और राजस्थानी में हो गया था। विभक्तियों का प्रयोग स्पष्ट रूप से होने लगा था। प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक देश्य भाषाओं तक कुछ प्रवृत्तियाँ परम्परानुसार चली आई जैसे 'डा' 'रे' आदि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसी प्रकार कर्म को कम्म, विद्या को विज्जा, निद्रा

---

१. आनंदवर्द्धन भजन संग्रह धर्मामृत पृ० ७२

को निद् और दुर्ग को दुग्ग लिखने की प्रवृत्ति परम्परा पालन के आग्रहवश ही होता रहा। इन थोड़े अपवादों को छोड़कर भाषा स्वाभाविक गति से सरलीकारण के रास्ते तेजी से चल पड़ी थी। इस समय बोलचाल की लोकभाषाओं में साहित्य लिखने का शुभारम्भ सर्वत्र दिखाई पड़ता है। मुसलमान कवि अमीर खुसरों ने दिल्ली की बोलचाल भी भाषा खड़ी बोली और तत्कालीन प्रचलित काव्य भाषा व्रज में साहित्य लिखकर इस मत की पुष्टि की है। पूर्वोत्तर भारत में स्वामी रामानन्द और सन्त कबीर, रैदास आदि, पंजाब में गुरुनानक, दक्षिण में ज्ञानदेव और नामदेव तथा बंगाल में चैतन्यदेव और विहार में विद्यापति, गुजरात में लोकाशाह तथा बुन्देलखण्ड में तारणस्वामी आदि संतों और साहित्यकारों ने लोकभाषा में अपना साहित्य लिखकर सामान्य जनता को उद्बोधित किया।

जैन कवियों ने भी सामान्य जनता की मिली-जुली भाषा शैली में सर्व सुलभ साहित्य का सृजन किया। उन्होंने कहावतों और मुहावरों को अपनी कविता में यथास्थान रखकर भाषा रूपी अंगूठी में मानों नगीना जड़ दिया। कुछ उदाहरण देखिये 'तुं है मन चंग तौ कठौती में गंग है।' या 'बाँध मूठी आयो है पसारे हाथ जायबो।' अथवा 'लिख्या मिटइ नहि लेष', थूकि गिलइ नहि कोई' इत्यादि प्रयोग समयसुन्दर, किसनदास, ज्ञानानन्द आदि समर्थ कवियों की भाषा में सहज ही उपलब्ध हैं। प्रसाद गुण के साथ इनकी भाषा में रागात्मिका शक्ति की बहुलता है। भाषा को सजाने-सँवारने में इनकी पटुता उल्लेखनीय है। नाद सौन्दर्य के साथ तुक, यति, गति और लय का सुखद संयोजन इनके काव्य भाषा की सामान्य विशेषतायें हैं। धर्मवर्द्धन की दो पंक्तियाँ अपने कथन के समर्थन में प्रस्तुत कर रहा हूँ—

'धरत धरम मग, हरत दुरित रंग, करत सुकृत मति हरत मरम सी।
गहत अमल गुन, दहत मदन बन, रहत नगन तन सहत गरम सी।'[1]

ऐसा लगता है कि तत्कालीन हिन्दी के अनेक कवियों की काव्य भाषा से यह भाषा अधिक गतिमान, गेय और मधुर है। हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार के कवियों का उल्लेख अपेक्षित है।

छंद विधान—भाषा को स्वाभाविक लय-प्रवाह के लिए छन्द विधान का भी महत्व होता है। मरुगुर्जर जैन काव्य में वर्णिक एवं मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु प्रधानता मात्रिक छंदों की है।

१. धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली सं० अगरचन्द नाहटा पृ० २

दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों के साथ ही इन कवियों ने विभिन्न प्रकार कीं राग रागिनियों, देसियों और ढालों का प्रयोग करके काव्य में संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने का स्तुत्य प्रयास किया है। संगीत के प्रमुख ६ राग और ३६ रागिनियों के नाना भेदानुभेदों के आधार पर इन कवियों ने अपने भक्ति प्रवण पदों में बड़ी मधुर संगीत योजना की है। अलंकार और प्रतीक आदि के उपयुक्त प्रयोगों से काव्य गुण का समावेश इनकी कविता में उत्तम ढंग से हुआ है। ऐसी कविताओं को कोरी साम्प्रदायिक कविता कहकर इन्हें साहित्य की सीमा से बाहर रखने का प्रयास समाप्त होना चाहिये।

काव्यरूप—काव्यरूप की दृष्टि से इस काल में चरित काव्य, जिन्हें रास और चौपई कहा गया है, अधिक लिखे गये। १४वीं-१५वीं शताब्दी तक के रास लघु आकार के होते थे किन्तु १६वीं शताब्दी में इनका आकार बढ़कर मध्यम आकार का हुआ और १७वीं-१८वीं शताब्दी में और बढ़कर इनका आकार विशाल हो गया जो खेले नहीं जा सकते थे। रास और चौपइ का प्रयोग समानार्थक रूप में हुआ। इस युग में प्रबन्ध काव्य (महापुराण, पुराण, चरित काव्य और रास आदि), मुक्तक काव्य (आध्यात्मिक, भाव प्रधान, शौर्य-शृंगार-नीति प्रधान), रूपककाव्य, कथाकाव्य और लोककाव्य आदि नाना काव्यरूपों में जैनकाव्य प्रचुर मात्रा में रचा गया। इनमें लावण्यसमय, हीरविजय, समयसुन्दर, बनारसीदास, भैया भगवतीदास, आनन्दघन, यशोविजय और जिनदास आदि सैकड़ों महान साहित्यकारों की उच्चकोटि की रचनायें हैं जिनसे कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है। उस विशाल साहित्य पर काफी आलोचनात्मक एवं शोधपरक कार्य हुआ है, जिसमें डॉ० मोतीलाल मेनारिया, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डॉ० हरीश एवं डॉ० जगदीश प्रसाद आदि के कार्य उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा पुराने लेखकों में श्री मो० द० देसाई और श्री अ० च० नाहटा की प्रासंगिकता बराबर बनी हुई है। इस युग में देशी रजवाड़ों ने भी लेखकों को प्रोत्साहन दिया। वे स्वयम् भी साहित्य एवं कलामर्मज्ञ तथा कभी-कभी अच्छे रचनाकार होते थे। इनमें राणाकुम्भा, बीकानेर नरेश रायसिंह, अनूपसिंह आदि उल्लेखनीय हैं।

मरुगुर्जर की जैनेतर रचनायें—मरुगुर्जर साहित्य के प्रधान प्रणेता तो जैनकवि एवं चारण थे किन्तु कुछ जैनेतर कवियों की भी अच्छी रच-

नायें उपलब्ध होती हैं जैसे नरपति नाल्ह (जोशी ब्राह्मण) कृत वीसलदेव रासो अत्यन्त सरल बोलचाल की राजस्थानी रचना है। इसी प्रकार श्रीधर व्यास कृत रणमल्ल छंद वीर रस की सुन्दर रचना है। इनकी सप्तशती छंद नामक रचना 'मरुवाणी' में प्रकाशित हुई थी। पद्मनाभ का कान्हडदे प्रबन्ध महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है जो राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित है। व्यास मांडा कृतहम्मीरायण (सं०१५३८) शार्दूल रा० इ० बीकानेर से प्रकाशित महत्वपूर्ण रचना है।

काव्य साहित्य के अतिरिक्त इस युग में सभी जीवनोपयोगी विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं। विनोदपूर्ण रचनाओं में भैंस की सेवा और बंदर रासो तथा हीयाली, गूढ़ा, प्रहेलिका आदि नाना लोकरंजक काव्यरूपों में भी प्रचुर साहित्य रचा गया है।

लोकसाहित्य—मरुगुर्जर लोक साहित्य के अन्तर्गत ढोलामारु रादूहा, नरसी जी रो माहेरो, कृष्ण रुक्मिणी रो व्यावलो आदि उल्लेखनीय हैं। जैन मुनि हमेशा ही लोक जीवन से सम्बन्धित रहे। वे जहां गये वहाँ की लोकभाषा और लोकरुचि का आदर करते हुए धर्म प्रधान लोक-साहित्य का सृजन करते रहे। ये लोकगीत नाना राग-रागिनियों, देसियों और ढालों में गाये जाते हैं। देसाई जी ने जै० गु० क० भाग ३ के परिशिष्ट में २४५० देशियों और ढालों की विस्तृत सूची दी है। ये सभी तर्ज राजस्थान और गुजरात में कभी काफी लोकप्रिय रहे हैं। इनमें से बहुतों को आजकल लोगों ने भुला दिया है किन्तु इन रचनाओं में ऐसे भूले-बिसरे लोकप्रिय तर्ज या धुन आज भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार जैन कवियों ने लोकसाहित्य के सृजन और संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान किया है। पहले हमें देखना है कि इस साहित्य सृजन के समय सामाजिक परिस्थितियाँ कैसी थीं।

१६वीं शताब्दी की राजनीतिक पृष्ठभूमि—इस शताब्दी के प्रथम दशक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना सैयद वंश का अन्त और लोदीवंश की स्थापना थी। सैयद वंश का अन्तिम सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह बड़ा आयोग्य और विलासी था। उसने सारा राजकाज अपने मंत्री हमीद खां पर छोड़ दिया था और स्वयम् दिल्ली छोड़कर बदायूँ में रहता था। हमीद खां ने मौका पाकर बहलोल लोदी को आमन्त्रित किया जो सेना के साथ दिल्ली पहुँचकर निर्विरोध, बिना किसी रक्तपात के दिल्ली की गद्दी पर (सं० १५०८) आसीन हो गया। दिल्ली पर लोदीवंश का शासन सं०

१५८३ तक चलता रहा। बाबर ने अन्तिम लोदी बादशाह इब्राहीम लोदी को पानीपत के मैदान में पराजित कर दिल्ली में मुगल शासन का प्रारम्भ १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में किया। इस प्रकार यह शताब्दी अनेक राजनीतिक परिवर्तनों की शताब्दी रही। दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता तीन बार बदली अतः शासन व्यवस्था अस्थिर थी।

मुसलमान धार्मिक दृष्टि से बड़े कट्टर थे, अधिकतर शासकों की नीति हिन्दुओं के प्रति कठोर रही, किन्तु जैनों से इनके सम्बन्ध प्रायः शुरू से ही ठीक रहे। अलाउद्दीन के राज्यकोष का अधिकारी ठक्कर फेरु जैन था और स्वयं जैनसाहित्य का अच्छा लेखक था। भ० प्रभाचन्द्र को फिरोजशाह तुगलक ने अपने महल में बुलवाकर सम्मानित किया था। कहा जाता है कि तभी से उत्तरभारत में वस्त्रधारी भट्टारक प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। सुकवि रत्नशेखर सूरि का भी सुल्तान ने सम्मान किया था।

तुगलकों के समय से ही दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ गई थी और जगह-जगह प्रान्तीय शासक स्वाधीन होने लगे थे। मालवा, गुजरात और राजस्थान में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। सं० १४९० में चित्तौड़ की राजगद्दी पर राणा कुम्भा आसीन हुए। इनके शासनकाल में राजस्थान में जैन धर्म की तरक्की हुई। चित्तौड़ में जैन कीर्ति स्तम्भ और उसके निकट स्थित महावीर स्वामी के प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया गया। राणा कुम्भा के कोषाध्यक्ष बेलाक ने भगवान् शान्तिनाथ का मन्दिर बनवाया। सं० १५०५ में राणकपुर में भव्य जिनालय और आबू में देलवाड़ा जैन-मन्दिर निर्मित हुए थे। जूनागढ़ के राजा मांडलिक ने (बृहत् तपा०) रत्न-सूरि के पट्टाभिषेक के अवसर पर जीवहत्या पर रोक लगाने का आदेश जारी कराया था। उसी के राज्यकाल में सं० १५०९ में शाणराज ने विमलनाथ प्रासाद का निर्माण कराया जिसकी प्रतिष्ठा रत्नसिंह सूरि ने की थी।

इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही गुजरात में मुहम्मद बेगड़ का शासन (सं० १५०२ से १५६८) था। इसने जूनागढ़ और चांपानेर को जीता था, इसीलिए बेगड़ कहलाता था। यह बड़ा अत्याचारी था; हिन्दू प्रजा पर इसने बड़ा जुल्म किया। इस काल का वर्णन करते हुए लावण्यसमय ने विमल प्रबन्ध (सं० १५६८) में लिखा है कि वह हिन्दुओं के गांव और मन्दिर उजाड़ देता था और हिन्दुओं के लिए साक्षात् काल था। कवि कहता है :—

'जिहां जिहां जणाइ हिन्दू नाम, तिहां तिहां देवा उजाड़इ ग्राम।
हीन्दुनु अवतरीउ काल, जु चालि तु करि संभाल।'[1]

इस विपरीत स्थिति में भी जैन मन्त्रियों और श्रेष्ठियों में शासक को अनुकूल रखने और जैनधर्म की उन्नति का प्रयत्न किया। मु० बेगड़ के शासन काल में भयंकर अकाल (सं० १५३९) जब पड़ा तो जैन श्रेष्ठि खेमाहडालिया ने अपार धन खर्च करके अन्न-वस्त्र दान द्वारा प्रजा को भुखमरी से बचाया। इसी समय से यह कहावत प्रसिद्ध हो गई 'एक वाणियो शाह अने बीजे शाह पातशाह।' इस अकाल का विवरण खेमाहडालियानो रास' में अंकित है। यह रास ऐ० रास संग्रह भाग १ में प्रकाशित है। इसी प्रकार सं० १५८२ में दुबारा पड़े भयंकर दुकाल के समय जैन ओसवाल मंत्री नगराज ने सदाव्रत चालू कराया और तीन करोड़ फिरोजशाही सिक्का खर्च करके भूखी जनता को काल के गाल में समाने से बचा लिया।[2]

सामाजिक परिस्थितियाँ—भारतीय समाज प्राचीन काल से चार वर्णों में विभक्त था। इस काल में यह वर्ण-आश्रम व्यवस्था बिखर गई। वर्ण धर्म में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था। जैन धर्म का विशेष सम्बन्ध वैश्यों से था। उनमें भी विघटन हो रहा था। सं० १५१२ में दसा-बीसा का भेद प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष लिखे गये 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' में लिखा है :—

'बीसा दसा विगति विस्तरी, एक श्रावकनि एक महेसरि।'[3]

गुजरात में १५वीं शताब्दी से ही वैष्णवधर्म का प्रचार बढ़ने लगा था। सं० १५४६ में वल्लभाचार्य ने विद्यानगर में अनेक धर्म-सम्प्रदाय के पंडितों को शास्त्र में पराजित कर सारे देश का भ्रमण किया और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। सं० १५५६ में उन्होंने ब्रज में श्रीनाथ जी की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई और पुष्टि मार्ग का प्रवर्त्तन किया। गुजरात, राजस्थान में भी वैष्णव भक्ति आन्दोलन का बड़ा प्रभाव पड़ा। बहुत से वैश्य परिवारों ने वैश्य धर्म अंगीकार किया और वे माहेश्वरी कहे जाने लगे। इस प्रकार वैश्यों में धर्म के आधार पर श्रावक और माहेश्वरी का भेद प्रारम्भ हुआ।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जैन साहित्यनो इतिहास पृ० ५१२
२. देखो—कर्मचन्द्र प्रबन्ध
३. श्री मो० द० देसाई—जै० साहित्यनो इतिहास पृ० ४९६

इस काल में मालवाधिपति मुहम्मद के मंत्री मांडवगढ़ वासी चांदा साह और संघपति सूरा आदिप्रसिद्ध श्रेष्ठियों ने कई प्रतिष्ठायें करवाईं और संघ-यात्रायें निकलवाईं। गुजरात के सुल्तान के मंत्री प्राग्वाट् वंशी कर्मण संघवी ने शत्रुञ्जय की संघयात्रा की। मांडवगढ़ वासी मालवानरेश के प्रियपात्र माफर मलिक की उपाधि से विभूषित मेघमंत्री ने मांडवगढ़ के सभी परिवारों में एक एक स्वर्णमुद्रा के साथ दस दस सेर लड्डू बँटवाया। समराशाह द्वारा स्थापित शत्रुञ्जय की मूर्ति जिसे बेगड़के समय पुनः खंडित कर दिया गया था, संवत् १५८७ में कर्माशाह ने उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करवाई। कर्माशाह प्रसिद्ध महाराणा सांगा के मित्र तोलाशाह के पुत्र थे। इस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी के समय से लेकर राणा सांगा (मुगलवंश की स्थापना) और बहादुर शाह के समय तक क्रमशः राजस्थान और गुजरात में जैनों का सम्बन्ध शासकों के साथ प्रायः अच्छा ही रहा।

धार्मिक स्थिति—सं० १५१७ में तपागच्छीय आचार्य लक्ष्मी सागर सूरि को गच्छनायक पद प्राप्त हुआ। इनके समय में सोमचारित्र ने सं० १५४१ में 'गुरु गुणरत्नाकर' नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की जिसमें तत्कालीन अनकों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनायें उपलब्ध हैं। सं० १५२२ में तपागच्छीय आचार्य आनन्दविमल सूरि ने धर्म की शिथिलता दूर करने के लिए क्रियोद्धार किया और १४ वर्ष तक उग्र तप किया। उन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं प्रभावशाली भाषणशैली से जैन समाज को संगठित एवं सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया। इसी समय धार्मिक सुधार का आन्दोलन लोकाशाह और उनके शिष्य लखमसी ने प्रारम्भ किया।

धार्मिक सुधार आन्दोलन—विश्व के इतिहास में १५वीं और १६वीं शताब्दियाँ वैचारिक क्रान्ति और आचारगत पवित्रता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। यूरोप में पोपवाद के विरुद्ध मार्टिन लूथर ने क्रान्ति का बिगुल बजाया। भारत में भी कई धर्म सुधार सम्बन्धी आन्दोलन इसी समय प्रारम्भ हुए। पंजाब में गुरुनानक, मध्यदेश में संत कबीर, दक्षिण में नामदेव आदि ने धार्मिक आडम्बर, बाह्याचार, जड़पूजा आदि के विरुद्ध आवाज बुलन्द किया और जनमानस को शुद्ध, सात्विक तथा आन्तरिक धर्म साधना की ओर प्रेरित किया। इसी कड़ी में महान् क्रान्तिकारी लोकाशाह ने जैनधर्म में प्रचलित रूढ़िवाद और जड़ता के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। साध्वाचार की मर्यादा और संयम की कठोरता पर बल देते हुए गुण पूजा की

प्रतिष्ठा का आन्दोलन चलाया। लोकाशाह द्वारा किए गये प्रयत्नों के फल-स्वरूप ही स्थानकवासी परम्परा का उद्‌भव और विकास हुआ।

लोकशाह और स्थानकवासी परम्परा—सामान्यतया लोकाशाह का जन्म सं० १४७२ कार्तिक पूर्णिमा को अरहटवाड़ा में होना माना जाता है। इनके पिता का नाम हेमा भाई और माता का नाम गंगा बाई था। ये अहमदाबाद में रत्नों का व्यवसाय करते थे। इनकी कार्यकुशलता और विवेक-शीलता से प्रभावित होकर तत्कालीन गुजरात के शाहमुहम्मद ने इन्हें अपना खजान्ची बना लिया था, किन्तु वे प्रारम्भ से ही चिन्तनशील, क्रान्तिकारी तत्वशोधक प्रवृत्ति के महापुरुष थे। उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। आगमों में वर्णित आचरण का तत्कालीन जैन समाज में अभाव देखकर इन्हें बड़ा कष्ट होता था। इन्होंने तप, त्याग, संयम और साधना द्वारा आत्मशुद्धि के शाश्वत सत्य को उद्‌घोषित करने का दृढ़ संकल्प किया और अपनी विचार धारा का खुलकर प्रचार प्रारम्भ किया। इनके उपदेश से प्रभावित होकर लखमसी, भाणजी आदि ने इनकी शिष्यता स्वीकार की और सबने मिलकर धर्म जगत् में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। इन लोगों ने सं० १५३० के आसपास मूर्तिपूजा और धर्म के नाम पर चलने वाले आडम्बरों का जोरदार विरोध प्रारम्भ किया। इन सुधारकों ने कई क्रियाओं जैसे पौषध, प्रतिक्रमण आदि को अमान्य कर दिया। जिनमूर्ति पूजा को निरर्थक घोषित किया। स्वयम लोकाशाह ने दीक्षा भी नहीं ली और वे तथा उनके अनुयायी ऋषि कहे जाने लगे। धीरे धीरे कई कारणों से श्वेताम्बरों में इनकी संख्या बढती गई। मुसलमान बादशाह फिरोज शाह और गुजरात का 'बेगड' तो मूर्तियाँ तोड़ ही रहे थे। इन लोगों ने उनकी पूजा को जब व्यर्थ ठहराया तो पुरातन पंथी बड़े बौखलाये और एक बार थोड़े समय के लिए जैन समाज में हलचल मच गई। मूर्तिपूजक इन्हें मूर्तिपूजा का तिरस्कार करने के कारण 'लुम्पक' कहने लगे जबकि ये लोग अपने को 'ढूढिया' कहते थे। सं० १५७० में रूप जी ऋषि ने इसी लोंका, लुम्पक या ढूढिया में से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। इसी समय कडुवा द्वारा प्रवर्तित 'कडुवामत', पार्श्वचन्द्र द्वारा पार्श्व गच्छ आदि मत-मतान्तर भी लोंकाशाही की देखादेखी आये। धर्म के अन्तर्गत बहुवाद का समय आया। खण्डन-मण्डन का वातावरण गर्म हुआ, पर धीरे-धीरे सब शान्त हो गया। इसी ढूढ़िया मत से बाइस टोला

या स्थानकवासी सम्प्रदाय विकसित हुए जिनमें अनेक उच्चकोटि के ऋषि, साधक और लेखक-विद्वान् आदि हुए हैं।

लोकागच्छ की तीन प्रसिद्ध शाखायें --नागौरी, गुजराती और उत्तराधी कही जाती हैं। उत्तराधी शाखा के कई कवि पंजाब में हो गये हैं। इनमें से मेघ कवि कृत मेघ विनोद प्रसिद्ध रचना है। नागोरी गच्छ के शास्त्र-भण्डार सुजानगढ़ से भी रचनायें प्राप्त हो सकती हैं। व्यापार व्यवसाय की दृष्टि से बंगाल विशेषतया कलकत्ता में बसे ओसवाल श्रावक तथा भ्रमणशील लोकागच्छी यतियों के चौमासा निवास आदि के कारण बंगाल (कलकत्ता, अजीमगंज आदि स्थानों) में भी जैन साहित्य की प्राप्ति संभव है। इन स्थानों पर खोज करने की आवश्यकता है। तेरहपंथी या तेरापंथी सम्प्रदाय सं० १८१७ में आचार्य भिक्षु या भीखाजी ने चलाया। स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज के समान यह भी सुधारवादी समाज है। इनकी तीन विशेषतायें हैं (१) एक आचार्य, (२) समान आचार और (३) समान विचार। इसमें पहले केवल ६ साधु थे। इनका विशेष जोर संख्या पर नहीं बल्कि शुद्धि पर है। आज तो इनकी भी संख्या हजारों हो गई है। यह प्रभु का पंथ है अतः इसे तेरापंथ कहते हैं। ये लोग केवल ३२ आगमों को प्रमाण मानते हैं। तेरापंथ के ९वें आचार्य तुलसी ने सं० २००५ में सरदारनगर से अणुव्रत आन्दोलन चलाया जो संयम की न्यूनतम साधना का आन्दोलन है। इस प्रकार यह शताब्दी धर्म में क्रान्ति और अनेक मत सम्प्रदायों के प्रवर्त्तन तथा सुधार की शताब्दी है। इस शताब्दी में अनेक सुधारवादी आन्दोलन राजस्थान, गुजरात और हिन्दी प्रदेश की जनता के जनमानस को आन्दोलित कर रहे थे। लोकागच्छ और स्थानकवासी परम्परा का जैन धर्म और समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और इस परम्परा के विद्वानों ने मरुगुर्जर जैन साहित्य के विकास में बड़ा योगदान किया है। इसमें शताधिक कवि और शास्त्रज्ञ हो गये हैं। स्थानकवासी परम्परा की मुख्य बाईस शाखायें होने से यह 'बाइस टोला' के नाम से भी जाना जाता है।

साहित्यिक गतिविधि—गुजराती साहित्य के आद्यकवि नरसी मेहता सं० १५१२--सं० १५३७ का आविर्भाव इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध की एक महत्व-पूर्ण साहित्यिक घटना है। आद्यकवि की पदवी उन्हें क्यों प्राप्त हुई इस विवाद में जाने का यहाँ अवसर नहीं है किन्तु दो बातें इस सन्दर्भ में अवश्य कहनी हैं। एक तो यह कि इनकी रचनाओं की मूलभाषा से वर्तमान में छपी पुस्तकों की भाषा का मिलान करने पर उनमें बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है

और इनकी भाषा के मूलरूप का निर्धारण बड़ा कठिन हो गया है। अतः भाषा का निर्णय न हो सकने के कारण उन्हें गुजराती का आद्यकवि मानने के मार्गमें बड़ी बाधा खड़ी होती है। दूसरे अनेक जैन कवियों की प्रामाणिक रचनायें इनसे पूर्व की प्राप्त हो चुकी हैं जिनकी सुरक्षित प्रतियों में उनकी मूलभाषा आज भी अविकल रूप में प्राप्त है। इनके आधार पर श्री केशव लाल ध्रुव और मणिभाई नमुभाई द्विवेदी प्रभृति विद्वान् जैन साहित्यकारों की रचनाओं को नरसी मेहता की रचनाओं से अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक मानते हैं। वे लोग जयशेखर कृत प्रबोध चिन्तामणि को गुजराती का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। यह तो निर्विवाद है कि नरसी मेहता और मीराबाई की रचनाओं में बड़ा हेर-फेर हो गया है। भालण, केशव, भीम आदि भी इस काल में प्रसिद्ध जैनेतर मरुगुर्जर के कवि हुए हैं जिनके कारण आद्यकवि का निर्धारण नये सिरे से अपेक्षित है।

इस शताब्दी में अनेक महत्वपूर्ण रचनायें की गई। सं० १५०२ में नेमिचन्द्र भंडारी कृत षष्टिशतक पर तपोरत्न गुणरत्न ने टीका लिखी। सं० १५०३ में सोमधर्मगणि ने उपदेश सप्ततिका नामक ग्रंथ लिखा जिसमें अनेक तीर्थों और ऐतिहासिक व्यक्तियों के संदर्भ हैं। सं. १५०४ में रत्नशेखर सूरि के शिष्य सोमदेव ने कथामहोदधि नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ गद्य-पद्य में लिखा। चारित्रवर्द्धन ने कालिदास के रघुवंश पर शिशुहितैषिणी नामक टीका लिखी। इस प्रकार संस्कृत, प्राकृत में अनेक ग्रन्थों पर टीकायें लिखी गई, कुछ मौलिक रचनायें भी की गई। अपभ्रंश में रत्नमन्दिर कृत उपदेश तरंगिणी, यशःकीर्ति कृत चन्दप्पहचरित्र, सिंहसेन उर्फ रइधू कृत महेसर चरित्र, श्रीपाल चरित्र आदि इस काल की अनेक महत्वपूर्ण रचनायें उपलब्ध हैं। जयमित्र हल्ल कृत श्रेणिक चरित्र, देवनन्दि मुनि कृत रोहिणीविधान कथा, अज्ञात कवि कृत सुगन्ध दहमी कहा के अतिरिक्त १६ शताब्दी की तमाम महत्वपूर्ण जानकारी के लिए आवश्यक पुस्तक सोमचरित्र कृत गुरुगुण रत्नाकर (सं० १५४१), जिस की पहले चर्चा की गई है, इस शताब्दी की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इस कालावधि में अनेक कवियों ने मरुगुर्जर में उच्चकोटि का विशाल साहित्य सृजित किया। इनमें से लावण्यसमय आदि कई बड़े महत्वपूर्ण कवि हो गये हैं जिन्होंने न केवल विशाल साहित्य का सृजन किया अपितु अपने प्रभाव द्वारा मरु-गुर्जर साहित्य को नई दिशा दी। इन कवियों का विवरण यथासंभव आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१६वीं शताब्दी के कवियों का विवरण

अनन्तहंस —आप तपागच्छीय जिनमाणिक्य गणि के शिष्य थे। जिनमाणिक्य ने प्राकृत में कूर्मापुत्र चरित्र और संस्कृत में दशदृष्टान्त चरित्र (सं०१५७१) तथा अपभ्रंश में 'अष्टाह्निका चरित्र' लिखा था। दश दृष्टान्त चरित्र के अन्त में लेखक ने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है। तदनुसार आप रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, हेमविमल के शिष्य (जिनमाणिक) थे। श्री देसाई ने अनन्तहंस की तीन रचनाओं का विवरण दिया है (१) बारव्रत संज्झाय (२) इला प्रकार चैत्य परिपाटी (३) शत्रुंजय चैत्य परिपाटी। सर्वप्रथम शत्रुंजय चैत्य का विवरण प्रस्तुत है। शत्रुंजय चैत्य परिपाटी एक ऐतिहासिक कृति है। इसमें ३४ कड़ी हैं, इसमें प्रसिद्ध जैनतीर्थ शत्रुंजय चैत्य का स्तवन और वर्णन किया गया है। कवि प्रारम्भ में सरस्वती की वंदना करता हुआ कहता है :—

'सारद सार दया करी दिउ अविरल वाणी,
प्रामी स्वामी वीनवऊ मण तण एक आणी।
अेहजि अेकजि ऊपजइ ऊलट मझ हीयई,
कहीइ सेत्रुंजय पाय पूजवो जाईई।१।'[1]

इसमें कवि अपनी गुरु परम्परा के सम्बन्ध में लिखता है, यथा :—

'सिरि लच्छिसायर पट्टदिणयर सुमतिसाधु सुरीसरो,
तस पट्टि श्रीगुरु हेमविमल विजायमनि सुहंकरो।
गुरुराज जिनमाणिक्य सीस श्री अनन्तहंस मुणीसरो,
सेत्रुञ्ज मंडन देऊ भविभवि बोधिबीज जिणेसरो।'[2]

'इला चैत्य परिपाटी' में इडर स्थित चैत्य का स्तवन है। इस रचना का नमूना देखने के लिए इसकी चार पंक्तियाँ प्रस्तुत है :—

'तव गच्छि दिणपर लच्छि सायर सुमति साधु सुरीसरो,
श्री हेमविमल मुणीन्द्र जिनमाणिक गुणमणि सायरो।
संथविओ श्री गुरु अनन्तहंस सीस लेसि जिणवरो,
श्रीसंघ चउविअ सुख बहुविह ऋद्धिसिद्धि सुहंकरो।'४६।[3]

---

१. श्री मो० द० देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० १२०, भाग ३ पृ० ५५६ और पृ० १४९२

२. वही

३. वही, जै० गु० क० भाग १ पृ० १२०

बारव्रतसंज्झाय की भी दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ उद्धृत की जा रही हैं—

'श्री हेमविमल सूरि तणइ पसाइ लही करी कीधु संझाय,
श्री अनन्तहंस सीस इम कहई, जे भणे सिद्धान्त सर्वसिद्धि लहई।'[1]

इनकी भाषा तथा १५वीं शताब्दी के किसी मरुगुर्जर कवि की भाषा में कोई विशेष अन्तर ढूंढ़ पाना कठिन है। जनभाषायें अपने-अपने प्रदेश में बदल रही थी किन्तु जैन कवियों ने एक सम्मिलित भाषा शैली में कविता की परम्परा बराबर चालू रखी, इसीलिए गुजरात और राजस्थान का जैन साहित्य मरुगुर्जर में लिखा जाता रहा। इन रचनाओं का विषय स्तवन है अतः श्रद्धा का सन्निवेश स्वाभाविक है किन्तु काव्यत्व की ओर कवि का विशेष ध्यान नहीं है।

भावहर्षी शाखा में भी एक अन्य अनन्तहंस हो गये हैं जिनकी चर्चा यथा-स्थान की जायेगी।

अनन्तहंस के अज्ञात शिष्य ने '११ गणधरस्तवन' लिखा जिसकी भाषा शैली का उदाहरण भी यही दे दिया जा रहा है। इसके आदि की पंक्तियाँ देखिये :—

'वीर जिणेसर पय पणमेवि, गणधर कवितकरू संखेवि,
गणधर अग्यार सनइ काजि, वर्द्धमान जिनशासन रांजि।'[2]

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'ईय समय जुत्ति सव्वसत्ति चित्तभत्ति वन्निया,
वैशाख सुदि ग्यारसी दिनि वीरनाहि थापीया।
अे सयल गणहर अे अग्यारसि जो अग्यारह भावीया,
श्री अनन्तहंस सीस इम कहि ते लहइ सुखसंपया।

इस शिष्य की भाषा में द्वित्त की प्रवृत्ति और अपभ्रंश काव्य भाषा की रूढ़ि के निर्वाह का आग्रह अधिक दिखाई पड़ता है। यह भी एक स्तवन है। इसमें जैनधर्म के ११ गणधरों की स्तुति-वंदना की गई है। इस प्रकार का पूजा-पाठ सम्बन्धी साहित्य निश्चय ही साम्प्रदायिक होता है और इनमें साहित्य के शाश्वत तत्वों की खोज करना बेकार होता है।

---

१. देसाई, जैन गु० कवि भाग १ पृ० १२०
२. देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५५७

अमीपाल (श्रावक)—आप श्री शिवसुन्दर गणि के श्रावक भक्त थे। आपने दान के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए महिपालरास की रचना की है। इसमें राजा महीपाल के चरित्र के माध्यम से दान का महत्व दर्शित किया गया है। यह चौपइ कथा रासबंध में लिखी गई है। रास के अन्त में रचना काल का निर्देश कवि ने किया है, यथा :—

'पनर बहुतिरि अश्विनि मास शुक्ल पक्ष पंचमि उल्हास
गुरुबारे कीधु'चरी अमीपाल मनि आनन्द धरी ।१०९३।'[1]

इस रास की पद्य संख्या १०९३ है, यह एक विस्तृत रास है। और यह सूचित करता है कि धीरे-धीरे इस शताब्दी से रासों का आकार बढ़ने लगा था। रास के प्रथम छद में जिन वंदना है, यथा :—

'सकल मनोरथ पूरणो वंछित फल दातार,
नाभिराय कुलि मंडणो शेत्रु'ज गिरि सणगार।'
रिसह जिणेसर सारदा, प्रणमी, कवित करेसि,
महीपाल क्षत्रिय तणु', सुणंता टले कलेसु।५।'[2]

इसकी प्रति सं० १६२९ में श्री देवरत्नसूरि के चातुर्मास के अवसर पर सोमजी ऋषि द्वारा हंसलक्ष्मी के वाचनार्थ लिखी गई।

आगममाणिक्य—जिनहंस गणि के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की संयम साधना और कामविजय पर एक फागु 'जिनहंस गुरु नवरंग फागु' नाम से लिखा। श्री जिनहंस तपागच्छीय लक्ष्मीसागर सूरि के शिष्य थे जो १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। लक्ष्मीसागर सूरि प्रसिद्ध तपागच्छीय आचार्य और विश्रुत साहित्यकार सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे। सोमसुन्दरसूरि के एक अन्य शिष्य रत्नशेखरसूरि ने सं० १५१६ में 'आचार्य प्रदीप' नामक ग्रन्थ के लेखन-शोधन में जिनहंस गणि की सहायता की थी। इन तथ्यों के आधार पर इनका समय १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ठहरता है।

प्रस्तुत फागु में प्रसंगतः वसंत वर्णन, विरह वर्णन, कामदेव पराजय आदि का वर्णन किया गया है। कामदेव वसंत की सेना सजा कर जिनहंस का संयम तोड़ने चला। रमणियाँ नृत्य गान करने लगी, इसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

---

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि भाग १ पृ० ५७०
२. वही

'लहकइं जोइं गमगमणीय रमणीय रास रमंति,
जलि जईकरि करी कमलि, रमलिनी खंति पूरंती ।१७।'[1]

आगे विरह वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'पूनिम रयणि निशाकर, स्या करइं विरहि संताप।
मलयानिल माँभ मा हरी मां हरी करि तू पाप ।१९।'

सब जोर लगाकर काम अन्ततः स्वयम् परास्त हो गया और गुरु को जयश्री प्राप्त हुई, यथा :—

'श्री लक्ष्मीसागर सूरि सीस लबधिइं गोयम सरीस,
गुरि जयश्री वरीए, जिनहरि श्री वरीए ।२६।'[2]

कुल २७ छंदों का यह फाग काव्यत्व की दृष्टि से सामान्य है।

आणंद—आप तपागच्छीय आ० हेमविमलसूरि, साधुविजय, कमल साधु के शिष्य थे। आपकी रचना '२४ जिनस्तवन' का समय सं० १५६२ है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है :—

'इंदु बाण रस नयण प्रमाण, अे संवत्सर संख्या जाण।
तपगच्छ गयण विभासण भाण श्री हेमविमलसूरि जुगह प्रधाण ।२८।
पूज्य शिरोमणि पंडित राय साधुविजय गिरुआ गुरुराय,
कमलसाधु जयवंत मुणिंद, तास शिष्य मणि आणंद ।२९।'[3]

श्री देसाई ने इसका रचनाकाल १५६१ लिखकर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है और लिखा है कि यह रचना खरतरगच्छीय महिमासागर के शिष्य आनन्दवर्धन की चौबीसी का प्रथम स्तवन है।[4] यदि यह कथन सत्य हो तो यह रचना १८वीं शताब्दी की होनी चाहिये।

आनन्दप्रमोद—आप तपागच्छीय चरणप्रमोद के प्रशिष्य और हर्ष प्रमोद के शिष्य थे। आपने सं० १५९१ में 'शान्तिजिन विवाह प्रबन्ध' लिखा जो एक प्रकार का विवाहलो है। इसमें शान्तिनाथ का संयमश्री से विवाह का रूपक बाँधा गया है अतः इसे 'शान्तिनाथ विवाहलु' भी कहा जाता है। इसके प्रारम्भ में सरस्वती की वन्दना है, यथा :—

'सरसति सामिणी हंसला गामिणी, मझ मनि एक उमाहलु अे।
धवल प्रबन्धिहिं वार भवंतर सुन्दर शान्ति विवाहलु अे।'

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ८०-८१
२. वही
३. देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १०७, भाग ३ १४९१-९२
४. वही

४९वें और ५०वें छन्द में कवि ने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार बताई है :—

'श्री आणंद विमलसूरि, श्री सौभाग्य हर्ष सूरि,
दीपइं दोइ जिसिया चंद सूर।
चिरं श्रीचरण प्रमोद गुरु, हरष प्रमोद रे,
भणइ आणंद प्रमोद रंगिइ।५०।'[1]

भाषा में प्रवाह और लय है, नमूने के रूप में यह छन्द द्रष्टव्य है :—

'रचिऊ संति विवाहलु, धरी उमाहलु, तुं तु त्रिभुवन केरु नाहलु रे।
भवभय भंजणु दालिद्र गंजण, वीर मेवाडउ मंडण रे।'[2]

आपकी दूसरी रचना 'जिनपाल जिन रक्षित रास' में ६९ कड़ी हैं। इसकी प्रतिलिपि सं० १६२६ की प्राप्त है अतः रचना अवश्य १६वीं शताब्दी की होगी। यह भी प्रथम रचना के आसपास १६वीं के अन्तिम दशक में किसी समय लिखी गई होगी। इसके प्रारम्भ की कड़ी इस प्रकार है :—

'सरसति मझ मति दीऊ धणीअे, गुण थुण हे सखी गोयम स्वामी।
नाँमि चंपा सोहामणीअे, माकंदी हेम खाद रे।
गायो जिनपाल जिन रक्षितांम सिऊअे, दूढा हे सखी अंग मझारि,
धवल बंधिहि तस गाइशुं अे।

अन्तिम दो कड़ियों में कवि ने अपनी गुरु परम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

'चरण प्रमोद साम पुरु संघ जगीस, हरस प्रमोद दीसई,
नवनिधि सुख विलसइ।
आणंद प्रमोद बोलइ, चिंतामणि तोलइ, जो भणइ भावि भोलइ,
मिलइ संपद टोलइ।६९।'[3]

इन रचनाओं की भाषा सरल मरुगुर्जर है। काव्यत्व सामान्य कोटि का है।

आनन्द मुनि—आप ओसवंशी है। आपकी रचना 'धर्मलक्ष्मी महत्तरा भास' ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में प्रकाशित है। भास से ज्ञात होता है कि रत्नसिंहसूरि ने रत्नाकर गच्छ की स्थापना की थी, उनके शिष्य उदयवल्लभ सूरि और ज्ञानसागर सूरि हुए। उस समय खंभात में

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६०२
२. वही पृ० ६०३
३. वही पृ० ६०४

ओसवंशी सोनीसिंह (सीहु, सीहग) रहते थे। उनकी पुत्री मेलू या मेलाई का जन्म रमादेवी की कुक्षि से हुआ था। जब वह सात साल की थी तो सं० १४९१ में रत्नसिंह सूरि ने उसे दीक्षित करके उसका नाम धर्मलक्ष्मी रखा। सं० १५०१ में रत्नचूला महत्तरा के पाट पर धर्मलक्ष्मी महत्तरा बनीं। उसी से सम्बन्धित यह भास कवि ने लिखा है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

सकल सदा फल विमल गिरि, जिण चउवीस प्रणाम।
करिसूं कवितु सोहामणूं अे, गच्छ रतनागर नाम।

रास के अन्त में रचनाकाल इस प्रकार दिया गया है :—

'जाणती अे गुरु उपगार, श्री धर्मलक्ष्मी मुहत्तरा अे,
मंडबू अे नगर प्रवेसि, संवत पनर सतोतरइ अे।
श्री मुहत्तरु अे भास करेसि, ओसवंसि आणंद मुनि।

× × ×

श्री धर्मलक्ष्मी मुहत्तरा, अविचल जां ससि भाण,
अहनिसि अेह गुण गाईतां रिद्धि वृद्धि कल्याण।'[1]

आनन्द मेरु—पीपल गच्छ के गुणरत्नसूरि आपके गुरु थे। 'कल्पसूत्र आख्यान' और 'कालक सूरि भास' (सं० १५१३) आपकी उपलब्ध रचनायें हैं। कल्पसूत्र आख्यान के प्रारम्भ की कुछ पंक्तियाँ सरल भाषा के उदाहरणस्वरूप आगे प्रस्तुत हैं :—

'सकल शासन देवी ध्याइइ अे, कीजइ अे सखी कवित रसाल,
वीर जिणंद गुण गाइइ अे, सांभलु अे सखी कल्प विचार,
जस गुण पार न पामीइ अे, पावह अे सखी करइ विणास।
अेक मनां जेउ सांभलइं अे, नवनिधि अे सखी तणउ निवास।
सार सिद्धान्त वखाणीइ अे।'[2]

इसके ६ आख्यान छह ढालों में लिखे गये हैं। ये छहों आख्यान महावीर से सम्बन्धित हैं। सातवें में पार्श्वनाथ नेमिनाथ कल्याणक और आठवें में आदिनाथ पंचकल्याणक है। ये सभी भिन्न-भिन्न रागों और

१. ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय—पृ० २२० और दे०—जै० गु० कवि भाग १ पृ० ४५

२. श्री अ० च० नाहटा 'परम्परा' पृ० ५९ और देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४५९

गेय ढालों में लिखे गये हैं। नौवाँ 'कालिकसूरि भास' है। इनमें तीर्थंकरों के पंचकल्याणक गर्भाधान, स्वप्न, जन्म, आदि का वर्णन किया गया है। गुणरत्नसूरि का समय सं० १५१३ के आसपास निश्चित है अतः यह रचना भी उसी समय की होगी। इनकी भाषा प्रसादगुणसम्पन्न, बोल-चाल की मरुगुर्जर भाषा है। विषय वस्तु शीर्षक से ही स्पष्ट है। इन धार्मिक आख्यानों में साहित्यिक सौन्दर्य का सन्निवेश संभव नहीं है। कालिक सूरि भास की चर्चा अलग से इतिहासकारों ने की है पर मुझे ऐसा लगता है कि यह रचना भी कल्पसूत्र आख्यान का ही एक अंग है।

आसायत (असाइत)—आपकी रचना 'हंसवत्सकथा चौपई' ('हंस-राज वत्सराज चौ०') की सं० १५१३ की हस्तलिखित प्रति विवेक विजय भंडार, उदयपुर से प्राप्त हुई है। अतः यह रचना अवश्य सं० १५१३ से पूर्व की ही होगी। श्री मो० द० देसाई ने इसे १५वीं और १६वीं शताब्दी की रचना बताया है।[1] अनिश्चित रचना तिथि के कारण इसे १६वीं शताब्दी के साथ रखा गया है क्योंकि १५वीं अनुमानाश्रित है और १६वीं प्रमाणित है। इस कृति के चार खंड हैं। प्रत्येक खंड की अन्तिम कड़ी में लेखक का नाम 'असाइत' आया है, यथा :—

'गुरु चरण तीइं चिंतवी, कविजन पय पणमेसि,
आचारिइं 'असाइत' भणइ, वीरकथा वर्णवेसि ।१।

इसमें पैठणपुर या पट्टण का वर्णन करते हुए कवि लिखता है :—

'अमरावइ संमाणं प्रत्यक्ष प्रमाणं अवर नयराणं।
पुर पट्टण पयठाणं अपठाणं वीर बावनया।
शिखर वृद्ध दससहस प्रासाद कनक कलश धन नरवइ नाद,
गोदावरी नुं निर्मल नीर पुर पहिठाण बसइ तसुतीर।'

इसके अन्त की कुछ पंक्तियाँ भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत हैं :—

सकल लोक राज रंजनी, कलयुग कथा ऊत्तउ बावनी,
गाहा दुहु वस्तु चउपइ, सुजिस्यइ च्यारि बत्तीसां हुई।
जूअली मिणसइ विशाला, तिण मोहमाया जाला।
सुणतां दोष दरिद्र सवि टलइ, भणइं 'असाइत' तिहं अफला फलइ।

इसमें वत्सराज की कथा चार खंडों में प्रस्तुत की गई है, अन्य जैन

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ४६, भाग ३ पृ० ४५८ और २१०८

कथाओं की तरह इसके भी अन्त में वत्सराज नाना भोग-रागों से उपराम होकर 'शम' की संयम द्वारा प्राप्ति करता है।

आज्ञासुन्दर—आप खरतरगच्छीय आचार्य जिनवर्द्धनसूरि के शिष्य थे। जिनवर्द्धनसूरि खरतरगच्छ की पिप्पलक शाखा के प्रवर्त्तक थे। आपकी रचना 'विद्याविलास नरेन्द्र चउपइ' (३६३:पद्य) सं० १५१६ में लिखी गई। श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग १ में इस कवि का नाम न्यायसुन्दर उपाध्याय लिखा था किन्तु भाग ३ में सुधार कर आज्ञासुन्दर कर दिया है। श्री नाहटा जी ने इस पर एक लेख 'कल्पना' में प्रकाशित कराया था।[1] इसका प्रारम्भ इस प्रकार कवि ने किया है :—

'गोयम गणहर पाय नमी सरसति हियइ धरेवि,
विद्याविलास नरवइ तणउ चरिय भणउ संखेवि।[2]

चौपइ के अन्तिम छंदों में कवि परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

'इणपरि पूरइ पाली आयु, देवलोक पुहुतइ नरराय,
खरतरिगछि जिनवर्धनसूरि तासु सीस बहु आणंद पूरि।३६१।
श्री अन्या सुन्दर उवझाय नव रस किध प्रबन्ध सुभाय।
संवत पनर सोल वरसंमि, संघ वयणे पविय सुरंम।

यह चौपइ जै० गु० क० प्रथम भाग में इस प्रकार छपी है :—

श्रीअन्यायसुन्दर उबझाय, नरवर किध प्रबन्ध सुभाय।

इस प्रति का पाठ अशुद्ध है और पद्य संख्या भी गड़बड़ है शायद इसी के आधार पर देसाई ने इसके लेखक का नाम न्यायसुन्दर उपाध्याय पहले बताया होगा। इसमें अन्यासुन्दर का अन्याय सुन्दर और नवरस का नरवर पाठ होने से सब भ्रान्तियाँ हुई होंगी। इस चौपई का अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

'विद्या विलास नरिंद चरित्र, भविय लोय अेह पवित्त,
जे नर पढ़इ सुणइ सम्भलइ, पुण्य प्रभाव मनोरथ फलइ।[3]

ईश्वरसूरि—आप सांडेर गच्छीय सुमति सूरि के प्रशिष्य एवं शान्तिसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५६१ दशपुर (मंदसौर) में ललि-

१. श्री अ० च० नाहटा, 'परम्परा' पृ० ६०
२. जै० गु० क० भाग १ पृ० ५१
३. देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४७१

तांग चरित्र या 'ललितांगरास' लिखा। आपके गुरु शान्तिसूरि भी सुलेखक थे और 'सागरदत्त रास' की रचना इन्होंने की थी। ईश्वरसूरि ने ललितांग चरित्र की रचना सोनाराय के पुत्र पुंज की प्रार्थना पर की थी। बाद में ये पुंज मालवा के बादशाह नसिरुद्दीन के प्रतिनिधि मलिक माफर के मंत्री हो गये थे। बादशाह ने मांडवगढ़ के मेघमंत्री को मलिक माफर की उपाधि दी थी जिसे वह अपना मित्र और प्रतिनिधि मानता था। पुंज उन्हीं मेघमंत्री के सहायक एवं सलाहकार थे। आप ईश्वरसूरि के भक्त थे। चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने ललितांग चरित को उच्चकोटि की रचना बताया है। इसमें सोलह प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। कवि इसके सौन्दर्य की स्वयम् सराहना करता है, यथा :—

'सालंकार समत्थं सच्छंद सरस सुगुण संजुत्तं।
ललियंग कुमर चरियं ललणा ललियव्व निसुणेह।'

इसकी भाषा को प्राकृत, अपभ्रंश तथा गुजराती बताया गया है। इसकी भाषा में कहीं-कहीं प्राकृत और अपभ्रंश के प्रयोग उपलब्ध हैं परन्तु अधिकांश रास की भाषा मरुगुर्जर है। इस रास के आदि और अन्त की पंक्तियाँ भाषा के नमूने के रूप में उद्धृत की जा रही हैं :—

आदि पढम पढम जिणंदं, पढम निवं पढम धम्म धुर धरणे;
वसहं वसह जिणेसं, नमामि सुरनमिय पयदेवं।
सिरि आससेण नरवर, विशालकुल भमर भोगिंदा,
भोगिंद सहिय पासो, दिसउ सिरि तुम्ह पहु पासो।

मांडव दुर्ग का वर्णन देखिये :—

महि महति मालवदेस, धणा कणय लच्छि निवेस,
तिहं नयर मंडव दुग्ग, अहि नवऊ जाण किसग्ग।
तिहं अतुल बल गुणवंत, श्री ग्याससुत जयवंत,
समरत्थ साहस धीर, श्री पातसाह निसीर।'[1]

रचना काल इस प्रकार बताया गया है :—

'कवि कविउ ईश्वर सूरि, तं खमउ बहुगुण भूरि
ससि रसु विक्रमकाल, अे चरीय रचिउ रसाल।'

इसमें कवि ने गच्छ और गुरु परम्परा का भी वर्णन किया है। आपकी दूसरी रचना 'श्रीपाल चौ०' सिद्ध चक्र चौ० सं० १५६४ में लिखी गई।

१. देसाई जै० गु० क० भाग १ पृ० १०५ और भाग ३ पृ० ५३२

दोहे चौपाई का इसमें मुख्यरूप से प्रयोग किया गया है किन्तु बीच-बीच में ढाल, वस्तु, राग आदि का भी प्रयोग मिलता है। यह रचना मालवा देश के रतलाम निवासी श्रावक बेलराज के आग्रह पर लिखी गई। इसमें श्रीपाल की प्रसिद्ध कथा चौपई बन्ध में प्रस्तुत की गई है। इसके आदि की पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'श्री अरिहंत जिणंदवर सिद्ध सूर उवझाय,
पंचम पदि समरु सदा, सयल सुगुरुगुणराय।
न्यान अनइ दरसण सहित चारित तपविधि सार,
हीयडा भीतर नवम पद, अे समरू सविचार।

इसके भी अन्त के कवि ने अपनी गुरु परम्परा पर प्रकाश डाला है और अपने को सांडेर गच्छीय जसभद्र सूरि, शालिसूरि, सुमति सूरि, शान्ति सूरि का शिष्य बताया है। रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :—

'वेलराज नइ आग्रह करी, कीधउ श्री नव कारक चिरी,
पनर चउसट्ठइ वरस उल्लासि, सेअ अट्ठिमि दिण आसो मासि।'

इन उद्धरणों के आधार पर ये मरुगुर्जर के समर्थ कवि सिद्ध होते हैं। आपकी ईसर शिक्षा (गाथा २९) और और नंदिषेण (७६ गाथा) का भी उल्लेख मिलता है।[1] किन्तु विवरण उद्धरण उपलब्ध नहीं है। आप अपभ्रंश के भी अच्छे ज्ञाता थे। आपने अपनी रचनाओं में नाना प्रकार के छन्द अलंकारों का प्रयोग तथा सरसस्थलों का मार्मिक वर्णन किया है।

उदयधर्म—आप आगम गच्छीय मुनि सिंह सूरि की परम्परा में मतिसागर के शिष्य थे। आपने सं० १५०७ में 'वाक्य प्रकाश औक्तिक' लिखा। इस पर हर्षकुल ने संस्कृत में वृत्ति लिखी। आपने सं० १५४३ में मरुगुर्जर में 'मलयसुन्दरी रास' नामक १८०० छन्दों की विस्तृत रचना लिखी। आपकी दूसरी रचना 'कथाबत्तीसी सं० १५५७ है। आप 'उपदेश-माला कथानक' के लेखक उदयधर्म से भिन्न हैं क्योंकि वे १४वीं शताब्दी के लेखक थे। उनकी रचना 'प्रा० गुर्जर काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। मलय सुन्दरी रास के अन्त में कवि ने अपनी गुरु परम्परा और रचना काल का उल्लेख किया है, यथा :—

'विरह वसिउचित्ति अंबातात, कुकर्म त्रिषइ अेवरची वात,
पनर त्रइतालइ तृतीया तिथि, आसो शुदि जेगुरु पक्ष अत्थि।११९१।

१. नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० २०९

इस प्रकार 'कथावत्रीसी' का रचनाकाल कवि ने इस प्रकार बताया है—

पनर पंचासइ दीप दिने करिउं कथानक अेह,
मुगध पण दूमइ कहिउं अछइ सोधइ उत्तम जेह।'[1]

इस प्रकार आप १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लेखक थे। मलयसुन्दरी रास में मलयसुन्दरी की कथा के माध्यम से कवि ने कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। इसकी भाषा सरल एवं शैली सुबोध है। इनकी विस्तृत कथा कृति में चमत्कार कौतूहल के साथ कहीं-कहीं रसात्मक उक्तियाँ भी मिल जाती हैं।

'वाक्य प्रकाश औक्तिक'[2] के लेखक उदयधर्म रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे और निश्चय ही प्रस्तुत उदयधर्म से भिन्न थे। उपदेश माला कथानक के कर्त्ता पहले विनयचन्द्र समझे जाते थे, किन्तु बाद में निश्चय हुआ कि उसके कर्त्ता यही उदयधर्म है। इनका विवरण पहले दिया जा चुका है।

उदयभानु—(उदयभाण)—आप पूर्णिमा गच्छीय आ० विनयतिलक की परम्परा में सौभाग्य तिलक सूरि के शिष्य थे। आपने वि० सं० १५६५ (ज्येष्ठ सुदी) में 'विक्रम सेन रास—चुपइ' लिखा। विक्रम सेन उज्जैन के परमार राजा गर्दभसेन के पुत्र। वे बड़े पराक्रमी और साहसी थे। उन्होंने अगिया वैताल को वश में किया था। इनके अन्तःपुर में सैकड़ों रानियाँ थीं किन्तु एक बार स्वप्न में उसने चंपानगरी की निरुपम सुन्दरी राजकुमारी लीलावती को देखा और उसकी देश देशान्तर में खोज शुरू की। एक अवधूत ने उस का पता बताया और कहा कि वह पुरुष द्वेषिनी है। राजा अपना राजपाट मंत्री के ऊपर छोड़कर उसे ढूढ़ने निकल पड़ा। फिर अन्य कथा ग्रन्थों की तरह तमाम कथानक रूढ़ियों का वर्णन है। अनेक आपद-विपत्तियों को झेलकर उसने लीलावती को प्राप्त किया। भोग विलास से अंत में उपराम होकर दीक्षा लेता है और संयम साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त किया। इसमें कथा और काव्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'देवी सरसति देवी सरसति पाय पणमेवि,
शंभु शक्ति बिमनि धरी, करिस कवि नव नवइं छंदि,

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६२-६३
२. वही भाग ३ पृ० ४०१ और ४५७

सिद्धि बुद्धि वर विघन हर, गुणनिधान गणपति प्रसादि,
ज्ञानी ऋषि आगइ हुआ, जे आगम परवेस,
तस पसाई कवीयण कहइं, विक्रमसेन वर्णवेसु ।१।[1]

इसमें सरस्वती के साथ शंभु, शक्ति और गणपति की वंदना की गई है। रास में रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

'पनर पांसट्ठि संवच्छरिइं, ज्येष्ठ शुदि पक्ष दिनकरइ ।
रचिउ रास अे शास्त्रप्रकाश, कहिकवियण निजगुरुनुदास ।

इसके अन्त की पंक्तियों में विभिन्न प्रतियों में पाठान्तर मिलता है। जैसे किसी प्रति में इन पंक्तियों से रास समाप्त होता है—

'तसहि गुरुनु अनुमत लही, कोतक कथा कवीश्वर कही ।
विपुल बुद्धि सुकवि तेह तणइ, वाचक उदयभाणइम भणइ ।'

और किसी में इसके आगे निम्नलिखित दो पंक्तियाँ दूसरी हैं :—

'तस अनुक्रम छइ सूरि सुजाण, महिमावंत महीअल जग भाण ।
श्री सौभाग्य तिलकसूरि, जगि यजवंता आणंद पूरि ।'

इससे स्पष्ट है कि आप सौभाग्य तिलक के शिष्य थे। 'नू' विभक्ति और 'छइ' क्रिया के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि इस रास की भाषा मरुगुर्जर है किन्तु इस पर गुर्जर का प्रभाव अधिक है।

उदयवंत—आप तपागच्छीय आ० सोमसुन्दर सूरि के शिष्य थे। आप ने सं० १५३५ में 'नवकार महामंत्र गीत' लिखा जो जैनयुग में प्रकाशित हो चुका है। यह १५ छंदों की लघु रचना है जिसमें नवकार मन्त्र का माहात्म्य बताया गया है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ देखिये :—

'अक्षर संपत जपत पदि पहिलइ, बीजइ बीजक पंच,
बीजइ सातसात चउथइ व्रत, नव पंचमइ प्रपंच,
सुगुणी गुणीइ नवकारो ।१।[2]

अन्त में लेखक ने अपना और अपने गुरु का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

'तपा गच्छनायक गुरुआ, सोमसुन्दर गुरु राया,
तास पसाइं उदयवंत अे, परम मंत अम्हि पाया ।१५।''[3]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ११३ और भाग ३ पृ० ५४८
२. वही पृ० ४९२
३. वही भाग ३ पृ० ४९२

जैन भक्तों में नवकार मन्त्र का अतिशय माहात्म्य है और इस पर अनेक गीत, कथा ग्रन्थादि लिखे गये हैं।

कडुआ (कडुबो)—आप कडुवा गच्छ के मूलपुरुष थे। आपने सं० १५६२ के आसपास अपना स्वतन्त्र गच्छ चलाया था, आपकी रचना 'लीलावती रास' या 'लीलावती सुमति विलास रास' भी इसी समय कभी लिखी गई होगी। इसके आदि में लम्बोदर की वंदना की गई है, यथा:—

'प्रथम लबोदर वीनबुं, सूंडा दुन्द गुहीर।
सुद्धि बुद्धि आपइ निरमली गुणस्थानक गंभीर।
देव महेशनइ कुलि हुआ, पारवतीना पूत्र,
तुम्ह समरिइ रिद्धि पामीइ, अणकेलव्या धर सूत्र।'[1]

यह पूरा रास; दोहा और चौपाई छन्द में लिखा गया है। इसके पश्चात् कवि सारदा और आदिनाथ की वंदना करता है। इस रास में लीलावती का पुण्यचरित्र चित्रित है। भाषा के नमूने के रूप में इस रास की अन्तिम चार पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं:—

'लीलावतीन चरित्र सांभलि, दुष दारिद्र तेहना टलि।
जे नरनारी गासि रास, इणी परि पूरि मननी आस।
करजोड़ी कडुऊ इमि भणी, दुष दालिद्र ते हेला दरि।
जे नरनारी गासि रास, स्वामी पूरो तेहनी आस।'[2]

इसकी भाषा प्रसादगुण सम्पन्न मरुगुर्जर है जिस पर गुर्जर का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। रचना में काव्यत्व पर कम, उपदेश पर ध्यान अधिक है।

कडुवा का जन्म नडुलाइ में नागर जाति के वणिक् वंश में हुआ था। आप १९ वर्ष की अवस्था में (सं० १५१४) अहमदाबाद चले आये और यहाँ हरिकीर्ति से खूब शास्त्राध्ययन किया। तत्पश्चात् आपने श्रावक वेश में दूर दूर तक विहार-विचरण किया और लोगों को अपना संदेश दिया। धर्मसागर कृत पट्टावली के आधार पर आपने सं० १५६२ में अपना मत-प्रवर्तन प्रारम्भ किया था। ये मूर्तिपूजा की मान्यता करते थे किन्तु इनका विचार था कि वर्तमान में शास्त्र विहित आचारवान् कोई शुद्ध साधु नहीं है अतः दीक्षा में विश्वास नहीं करते थे। सं० १५६४ में धर्मोपदेश करते आपका देहावसान हुआ।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ११० और भाग ३ पृ० ५३८
२. वही

कनक कवि—आप खरतरगच्छ के ६०वें पट्टधर आचार्य जिनमाणिक्य सूरि के शिष्य थे। सूरिजी की दीक्षा सं० १५६०, पदस्थापना सं० १५८२ और स्वर्गारोहण सं० १६१२ में हुआ। कनककवि का समय भी यही होगा। आपने सं० १५८२ के आसपास ५० गाथा की रचना 'मेघकुमार रास' लिखा। मेघकुमार अपने कठोर संयम एवं आचार निष्ठा प्रसिद्ध है। इस रास में उन्हीं का वर्णन किया गया है। [1]

वल्कलचीरी ऋषिबेलि और 'क्षेमराज उपाध्याय गीत' भी आपकी अन्य दो छोटी छोटी रचनायें हैं। मेघकुमार रास में कवि मगधदेश, उसकी सुन्दर नगरी राजगृही और राजा श्रेणिक का प्रारम्भ में उल्लेख करता है, यथा—

'देश मगध मांहि जाणि अे राजगृह नगर नवेसूअे।
राजकरे रलियामणऊं श्रेणी सबल नरेश ।१।'

अन्त में कवि ने अपने गुरु का सादर स्मरण किया है, यथा—

'ते मुनिवर मेघकुमार जीणे चारित्र पालिऊ सार,
गुरु श्री जिनमाणिक सीस, कवि कनक भणइ निसदीस।[1]

'वल्कलचीर ऋषिदेलि' भी प्रथम रचना के समान संयमी ऋषि की स्तुति में लिखी लघुकृति है। इसका आदि और अन्त इस प्रकार हैं:—

आदि— पोतनपुर वरते नगर सिरोमणि जाणू,
गढ़मढ़ धवलगृह पोलि प्रसाद वषाणू।
सोमचंद नरेसर राज करइ सुविचार,
राणौ धारिणी गुणवंति तणु भरतार।'

अन्त— तत षिणि रिषि पामिउं केवल निर्मल दायक श्रेणि शुभ ध्यानि,
बिन्हइ सहोदर ते केवल धरहुं प्रणमुं बहुमानि।
वल्कलचीर प्रसन्न चन्द्ररिषि, जिनशासनि जयवंत,
कनक भणइ तेहना गुणगांता, महिमा सुजस अनंत।'७५।[2]

यह रचना बेलि नामक एक विशेष काव्य विधा में रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई है। यह मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी की प्रतिनिधि भाषा शैली में लिखी गई है। इसमें नगर वर्णन, तपस्यावर्णन आदि वर्णन स्थल अच्छे बन पड़े हैं। उच्चकोटि के काव्य सौन्दर्य के अभाव में भी वर्णन कौशल द्वारा कवि ने इस उपदेशपरक कथा कृतिको रोचकढंग से प्रस्तुत करने में सफलता

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग १ पृ० १७० और भाग ३ पृ० ६२९
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १३३

पाई है। 'क्षेमराज उपाध्याय गीत' सं० १६०० की रचना है। इसमें क्षेमराज का परिचय इस प्रकार दिया गया है। आप छाजहड़ गोत्रीय शाह लीला के पुत्र थे। सं० १५१६ में आ० जिनचन्द्रसूरि ने आप को दीक्षित किया था। आप सोमध्वज के शिष्य थे। आपने अनेक प्रस्तकें लिखी। इस गीत का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है :—

'सरसति करि सुपसाउ हो, गाइसु सुहगुरु राउ हो।
गाइसु सुहगुरु सफल सुरतरु, गछि खरतर सुहकरो।

कवि अपने गुरु का स्मरण करता हुआ अन्त में लिखता है :—

'दीपंत दिनमणि समउतेजइ भविजयण तुम्हि वंदउं,
उदितवंता श्री उवझाय खेमराज कनक भणइ चिरनंदउ।'[1]

इन उद्धरणों के आधार पर पता चलता है कि आप का मरुगुर्जर काव्य-भाषा पर अच्छा अधिकार था। आप वर्णन करने में कुशल थे और कुल मिलाकर आपमें धर्मोपदेशक की अपेक्षा सहृदय कवि का तत्व अधिक था।

१. **कक्कसूरिशिष्य**—उपकेशगच्छीय कक्कसूरि के किसी अज्ञात शिष्यने 'कुलध्वज कुमार रास' (गा० ३७५) लिखा। श्री मो० द० देसाई का कथन है कि ये सनत्कुमार चौपइ (सं० १५५१) के रचयिता कक्कसूरि-शिष्य श्री कीर्तिहर्ष हो सकते हैं। रास के प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'पास जिणेसर पाय नमी जीराउलि अवतार,
महीयलि महिमा जेहनूं दीसे अतिहि उदार।
मति समरूं वागेश्वरी सेवकजन साधारि,
संषेपि गुण सीलनां बोलुं गुरु आधारि।
जिणसासणि जिण भासिउं, दानसील तप भाउ,
सहिगुरु श्री कक्कसूरि भणइ, अधिकु सीलु प्रभाव।

इस कृति में शील का बड़ा गुणगान किया गया है। आदर्श, शीलवान पुरुष के रूप में कुलध्वज कुमार का चरित्र चित्रित किया गया है। इस रास में पर-स्त्री-वासना निवारण अर्थात् शील पर ही विशेष बल दिया गया है। इस रास की अन्तिम कुछ पंक्तियाँ निम्नांकित हैं :—

'शीलि सोहइ जंबू स्वामी, थूलभद्र गोयम गुणनामि,
बाहुबली सकोशल सिंह, सेठ सुदर्शन शील धुरि सींह।'[2]

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह क्रमसं० २९

२. श्री मो० द० देसाई, जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५२१

२ कक्कसूरि शिष्य—कोरंट गच्छीय कक्कसूरि के भी एक अज्ञात शिष्य ने सं० १५९६ वै० शु० १४ बुध को 'लीलावती चौपई' लिखी। इसके अन्त में अपनी गुरु परम्परा और रास का रचना काल कवि ने दिया है, यथा—

'पनर छन्नवइ वैशाख मासि, शुदि चउदिसि मन धरिय उल्हासि,
बुधवार अति निर्मलइ, चरित्र रचिऊं आणंदिइ घणई।
कोरंट गच्छि कक्कसूरि राय, ते गुरुना हुं प्रणमी पाय,
तास सीस रंगिइ इम कहइ, भणइ गुणइते सिव सुख लहइ।'[1]

इसके पूर्व रचना का नाम कवि ने बताया है, यथा :—
'अे लीलावइ तणु चरित्र, भणइ गुणइ ते थाइ पवित्र,
मोटा चरित्र थकी उद्धरी, चुपइ कीधी हरषिइ करी।'

चौपइ का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—
'सरसति सामिणि समरु पाय, तु छइ कवियण केरी माय,
तुही प्रसादि हुइ नवनिधि, सेवक पामइ सघली सिद्धि।
मालव देस अतिहिंइ सुविशाल, वत्तइ भरहखंड विचालि,
तिहाँ उज्जेणी पुरवर भलु, बीजानगर थकी गुणनिलु।'[2]

कमलधर्म—आप पं० भुवनधर्म के शिष्य थे। आपने सं० १५६५ में ४७ पद्यों की रचना 'चतुर्विंशति जिनतीर्थ माला (गा० ४७) लिखी। यह चौबीसी के ढंग की रचना है जो चौबीस तीर्थंकरों की वंदना पर आधारित है। इसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं अतः भाषा और काव्य पक्ष का आकलन करने के लिए अन्तिम चार पद्य उद्धृत किये जा रहे हैं :—

'नयरि कालप्पिय आवीया ए मा, पूज्या जिणवर देव,
चंगि पथि चदेरीइ ए मा, आण्या कुशलय खेम।
भुवनधर्म पंडित वरु ए मा, गुण मणि तणां भंडार,
कमलधर्म तासु सीस वरइ मा, करइ विदेश विहार।

रचनाकाल—संवत पनरह पांसठए मां हंस साल सुविचार,
नियमति मानिइ वर्णव्या ए मा तीरथ सगला सार।
तीरथमाला जे भणइ ए मा, आणिय उलगि अंग,
ते नरनारी कवि भणइ ए मा, पामइ नव-नव रंग।४७।'[3]

---

१. श्री मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६२३
२. वही
३. श्री अ० च० नाहटा–जै० म० गु० क० भाग ३ पृ० १४१

कमलमेरु—आप आँचल गच्छ के विद्वान् लेखक थे। आपने सं० १५९४ ज्येष्ठ शु० ३ बुद्धवार को कविंदा में 'कलावती चौ०' की रचना की। रचनाकाल तथा स्थान का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये :—

'संवत पनर उहाणो सार, जेठ सुदि तीज बुद्धवार,
श्री विधिपक्ष गच्छ उदार, नयर श्री कविंदा मझार,
वाचक श्री कमलमेरु पासउ, विरच्यो कवि मन धरि उछाहउ।'[1]

इसमें 'सती कलावती' का पवित्र चरित्र उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करके कवि ने साध्वी नारियों का आदर्श सरल मरुगुर्जर भाषा में प्रस्तुत किया है।

कल्याणचन्द्र—आप खरतरगच्छीय आचार्य कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की जीवनी पर आधारित ५४ पद्यों की एक रचना 'श्रीकीर्तिरत्नसूरि विवाहलउ' लिखी है। इसमें कीर्तिरत्नसूरि के जन्म से लेकर स्वर्गवास तक का संवतोल्लेख सहित वृत्तान्त दिया गया है। दीक्षा कुँवारी (संयमश्री) के साथ कीर्तिरत्नसूरि के विवाह का रूपक मुख्य रूप से वर्णित होने के कारण इसे 'विवाहलउ' कहा गया है। जब देल्हकुमार (कीर्तिरत्नसूरि का जन्म नाम) अपनी माँ के पास दीक्षा लेने की अनुमति लेने जाता है तो उसकी माँ उसे अनेक प्रलोभन देकर दीक्षा से विरक्त करना चाहती है। कवि लिखता है :—

'लेसु तुम्ह दुक्खडा, देसु घण सूखड़ा गुंदवउ वरसउला विदास,
खारि कक्खुरहडि द्राख खज्जूरडी, दाडिम खोउ जे अवर नाम।
कयंण मणि भूषणा, वच्छ गई दूषणा, धरि सिरे कड़िकरे बहु कन्ने।
पिहर तूं कापड़ा, वारुप बायड़ा, जेन पिक्खंति सुमणेवि अन्ने।१८।'[2]

इसके बाद देल्हकुमार का दीक्षा उत्सव विवाह की भाँति वर्णित है, यथा :—

'ते मेले विणु संघ घणा, कुकुंतडिय पढावि।
सोहइ सासण जस तणउए, विसतरि जान वलावि।
आपइ देसण पूगफल जानह तणइ प्रवेसि,
सामहणी हिवगुरु करए, वय विवाह हरेसि।'

इसकी आदि और अन्त की पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

आदि 'भक्ति भरि भरियउ हरिस सिरि वरियउ, पणमिय संति करू संतिभाह,
सारदा सामिणि हंसला गामिणी झाणिहि निय हिय करि सनाह।१।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६१५
२. श्री अ० च० नाहटा—'परम्परा' पृ० ६१ (राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल)

अन्त 'एहु विवाहलउ भणइ भावि, तसु मणोवंछित देइ इंदो,
भंतु सिरि कित्तिरयण सूरिपाथ, सीसु तास कहइ कल्लाणचंदो।'[1]

यह रचना सं० १५२५ के लगभग लिखी गई होगी। सं० १५२५ में अनशनपूर्वक कीर्तिरत्नसूरि का स्वर्गवास हुआ था।

कल्याणचन्द ने अपने गुरु की स्तुति में १८ गाथा की एक और रचना 'श्री कीर्तिरत्नसूरि चउपइ' भी लिखी है, इसमें भी श्री कीर्तिरत्नसूरि की जीवनी वर्णित है। यह रचना ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। इससे मालूम होता है कि कीर्तिरत्नसूरि ओसवाल वंशीय प्रसिद्ध शाह कोचर के वंशज देपा के पुत्र देल्हा थे। आपका जन्म सं० १४४९, दीक्षा सं० १४६३ और आचार्य पद स्थापना सं० १४९७ में आ० जिनभद्र द्वारा हुआ। कीर्तिरत्नसूरि की 'नेमिनाथ काव्य' प्रकाशित रचना है। प्रस्तुत चौपइ की भाषा सरल मरुगुर्जर है। प्रथम छंद देखिये :—

'सरसति सरस वयण दे देवि, जिम गुरु गुण बोलिउं संखेवि।
पीजइ अमिय रसायण विन्दु, तहवि सरीरइ हुई गुण वृन्द।'

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'श्री कीर्तिरतन सूरि चउपइ, प्रहऊठि जे निश्चल थई।
भणइ गुणइ तिहि काज सरंति, कल्याणचन्द्र गणि भगति भणंति।१८।'[2]

लगता है कि कल्याणचन्द्र को इस समय तक गणि की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। शायद यह रचना प्रथम कृति 'विवाहलउ' के बाद की है। इसमें निश्चित रचना काल नहीं है किन्तु यह सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना निश्चित रूप से होगी।

कल्याणजय (जयकल्याण)—आप तपागच्छीय आ० हेमविमलसूरि के प्रशिष्य एवं सौभाग्यहर्ष सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५९४ में गंधार नगर में 'कृतकर्म राजाधिकार रास' लिखा। सौभाग्य हर्ष और आनन्द-विमल सूरि हेमविमलसूरि के शिष्य थे। यहीं से दो पट्ट अलग हुए। सं० १५८२ में क्रियोद्धार के समय हेमविमलसूरि ने गच्छ का समस्त भार सौभाग्यहर्ष को सौंपा था। सौभाग्यहर्ष ने लघुशाला नामक अपना अलग पाट चलाकर उस पर सोमविमलसूरि को स्थापित किया। आनन्द विमल सूरि ने अपने पट्ट पर विजयदानसूरि को स्थापित किया।

---

१. श्री अ० च० नाहटा--जै० म० गु० कवि पृ. ११९

२. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० ५२

'कृतकर्म राजाधिकार रास' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'सकल मूरति कल्याणकर, आदिहिं आदि जिणिंद,
श्री विमलाचल मंडणउ पणमउ आदि जिणिंद।

इसके बाद कवि ने नेमिनाथ, वर्द्धमान और सरस्वती की वन्दना करके कृतकर्म की रचना के लिए उनसे विमल बुद्धि का वरदान माँगा है। रास के अन्त मे अपने गुरु सौभाग्यहर्ष का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—

'श्री सौभाग्यहर्ष सूरि चिरजयु अे मा सहूको दि आसीस,
विबुध पुरंदर गुणनिलु अे मा, धर्मवंत निसिदीस।
विद्या चोदइ अलंकरिउ अे मा, तप जपि क्षिमा निधान,
श्री कल्याणजय जयकरु अे मा, पंडित सकल प्रधान।'[1]

श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग १ में इसके रचनाकार का नाम केवल कल्याण लिखा है। जै० गु० क० भाग ३ में नाम सुधार कर कल्याणजय (जयकल्याण) करके आगे शिष्य लिख दिया है अर्थात् यह रचना जयकल्याण की नहीं बल्कि उनके किसी शिष्य की होगी। अतः यह स्पष्ट नहीं हो सका कि इसके लेखक कल्याणजय हैं या उनका कोई शिष्य। उन्होंने कोई ऐसी पंक्ति नहीं उद्धृत की है जिसके आधार पर इसे जयकल्याण के शिष्य की रचना समझा जा सके इसलिए इसे अभी कल्याणजय के नाम पर अंकित किया जा रहा है।

कल्याणतिलक (उपाध्याय)—खरतरगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य जिनसमुद्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने सं० १५५० के आसपास जैसलमेर में 'धन्नारास' (६५ पद्य) की रचना की। इनकी दूसरी रचना 'मृगापुत्र संधि' (४४ पद्य) है। आपने प्राकृत में 'कालिकाचार्यकथा' (५६ गाथा) लिखी और स्वयम् उसका संक्षिप्त भावार्थ बालावबोध भी बनाया। श्री अ० च० नाहटा की प्रति के आधार पर इसे 'कालक कथा संग्रह' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है।[2]

'धन्नारास का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'समरिय समरस तणउ निहाण, वीर जिणेसर त्रिभुवन भाण।
वीर कहिउ जे नवमइ अंगे, धन्ना संधि कहिसु मनरंगे।१।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग १ पृ० १६० एवं भाग ३ पृ० ६१२-६१३

२. श्री० अ० च० नाहटा—'राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल' परम्परा पृ० ६२ और ७०

इसके अन्त के दो पद्य भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत है —

'श्री जेसलमेर मंडण पाँस, पूजतां पूरइ मन आस,
तसु प्रभाव करिउ संधि बंधउ, श्री जिनसमुद्रसूरि संनिहयइ ।६४।
अेह सम्बन्ध अमीयमय वाणी, बोलइ वीर जिणेसर नाणि,
अणुतरवाइ नवम अंगइ, उवज्झाय कल्याणतिलक मनरंग इ ।६५।'[1]

आ० जिनसमुद्रसूरि की पदस्थापना सं० १५३० और स्वर्गवास सं० १५५५ में हुआ था अतः इसका रचनाकाल सं० १५५० के आसपास होना चाहिये। 'मृगापुत्र संधि' की आरम्भिक और अन्तिम पंक्तियाँ भी आगे प्रस्तुत की जा रही हैं —

आदि 'प्रणमीय वीर जिणेसर पाया, जसु सेवइ सुरवर नरराया,
मीयापुत्त कहिस हूँ चरित्त, संधि संबंधि समरिसु पवित्त ।१।
अन्त 'अेह प्रबन्ध उमसमरस भरीयउ, उत्तर उज्झयण थकी उद्धरिउ ।
श्री जिनसमुद्रसूरि सुसीसइ, कहइ कल्याणतिलक सुजगीसइ ।'[2]

कल्याणतिलक उपाध्याय प्राकृत और मरुगुर्जर भाषाओं के सुविज्ञ विद्वान् एवं रचनाकार थे। गद्य और पद्य में समान रूप से रचना करने में कुशल थे। उनकी भाषा स्वाभाविक बोलचाल की मरुगुर्जर है जिसमें उन्होंने धन्ना और मृगापुत्र के जीवन चरित्र के माध्यम से जैनधर्म का संयम और तप सम्बन्धी सन्देश रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

कवियण —'तेतलीपुत्र रास (सं० १५९५) के रचनाकार का नाम श्री मो०द० देसाई ने कवियण लिखा है। कवियण नामक कई कवि मिलते हैं। यह कवियों के लिए सामान्यतया प्रयुक्त होने वाला शब्द है। इसलिए ठीक नहीं मालूम कि वस्तुतः यह किसी व्यक्ति का नाम है या सामान्य उपाधि है। जो हो; प्रस्तुत कवि की 'चौबीसी,' पांचपांडव संज्झाय, तेतली पुत्र रास और 'अमरकुमार रास' नामक रचनाओं की सूचना श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग १ में दिया है, लेकिन भाग ३ में उन्होंने पूर्व सूचना में सुधार करके कहा है कि 'तेतली पुत्र रास' के कर्त्ता सहजसुन्दर हैं, इसे कवियण की रचनाओं में से निकाल देना चाहिये। प्रस्तुत कवियण हीर विजय सूरि के समकालीन हैं और इनका रचनाकाल सं० १६५२ से पूर्व भी हो सकता है। सारांश यह कि इस कवि के नाम, रचनाओं की संख्या और रचनाकाल के

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५१९
२. वही

सम्बन्ध में निश्चित सूचनायें नहीं हैं, फिर भी श्री देसाई के आधार पर इनके रचनाओं का विवरण इस शताब्दी के कवियों के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

चौबीसी—चौबीस तीर्थङ्करों की वंदना में चौबीसी लिखने की बड़ी प्रचलित परिपाटी जैन लेखकों में मिलती है। प्रस्तुत चौबीसी की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'साहिबा बालेसर अरिहंत के निसुणो विनती रे लो,
ससनेहा गुणवंत के हीयडे जे हती रे लो० सा।'[1]

अन्तिम पंक्तियाँ 'तुझ गुण गाऊ कथारसे में समकित गुण दिपाव्यो रे,
कवियण जगमां जीतना यण गुहिर निसांण जाव्या रे,
वीर जिननेरे जाऊं भामणउ।'

पाँच पांडव संज्झाय—यह छोटी कृति है, इसमें पाँच पाण्डवों की संक्षिप्त कथा है। इसकी प्रथम पंक्ति आगे उद्धृत की जा रही है :—

'हस्तिनापुर वर भलु तिहां राजा पांडू सार रे।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'श्री हीरविजय सूरि गच्छधणी, तपगच्छनो उद्योतकार रे,
कर जोड़ी कवियण मुझ आवागमण निवारो रे।
मुझ आवागमण निवारो पंडव पंच वंदता मनमोह रे।'[2]

तेतलीपुत्र रास' और 'अमरकुमार रास' का निश्चय न होने के कारण उनके विवरण की यहाँ अपेक्षा नहीं है। कवि की भाषा पर गुर्जर प्रभाव परिलक्षित होता है।

करमसी—आपने सं० १५३५ में एक लघु रचना 'वैराग्य कुल' (१५ गाथा) लिखी जिसका जैनयुग पु० ५ पृ० ४७३-४७७ में प्रकाशन हुआ है। इसका प्रथम छन्द इस प्रकार है :—

जीवतणी गति जोइ अे, हियलइ कांइअ न थाइरे,
करम बंधनि जीव अवतरइ, कर्मनि बंधऊ जाईरे।१।'

इसमें कर्म सिद्धान्त की अनिवार्यता दिखाकर जीव को मोह से मुक्ति दिलाने का प्रयास कवि ने किया है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भाषा के नमूने के लिए पस्तुत हैं : —

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १५९ और भाग ३ पृ० ६१३
२. वही

'जेतां सर्व अनंत दीसइ, दीसइ जिनधर्म साररे,
करम सी मणइ अरे जीवडा, दुधर छोड़बउ भवभाररे ।१५।'[1]

कीरति– आप पूनिम गच्छ के श्री विजयचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपने 'आराम शोभा रास' की रचना सं० १५३५ आश्विन पूर्णिमा को की है। रचना का प्रारम्भ कवि सरस्वती की वंदना से करता है, यथा—

'सरसति सामिणि वीनवूं, मांगु निरमल बुद्धि,
कवित करिस सोहामणूं साँभलता सुख वृद्धि ।१।
आराम शोभा नारी भली, जाणइ सयल संसार,
पुण्यइ ते गिरुइ हुई, बोलिसु तासु विचार ।२।[2]

आगे जंबूद्वीप स्थित पाडलीपुर नगर और आराम शोभा नारी की कथा कही गई है। इसमें गुरु परम्परा का वर्णन करता हुआ कवि बताता है कि पूनिमगच्छ के रामचन्द्र सूरि के शिष्य पुण्यचन्द्र सूरि के पश्चात् विजयचन्द्र सूरि बड़े प्रभावशाली साधु थे। कवि उन्ही विजयचन्द्र सूरि का शिष्य है। रचनाकाल का उल्लेख निम्न पंक्तियों में हुआ है :—

'संवत पंनर पांत्रीसु जाणि, आसोइ पूनमि अहि नाणि,
गुरुवारइ पूक्ष नक्षत्र होई, पूरब पुण्य तणां फल जोई।
कर जोड़ी कीरति प्रणमइ, आराम शोभा रास जे सुणइ।
भणइ गुणइ जे नर नि नारी, नवनिधि बलसइ तेहघरवारि।'[3]

श्री अ० च० नाहटा को इसका विवरण डॉ० भोगीलाल सांडेसरा से प्राप्त हुआ।

कीर्तिहर्ष—आप श्री कक्कसूरि के शिष्य थे। आपने कार्तिक शुदि १५ गुरुवार सं० १५५१ को 'सनत्कुमार चौपइ' की रचना की। इसमें २३३ गाथायें हैं। इनकी दूसरी रचना 'कुलध्वज कुमार रास' भी हो सकती है जिसकी चर्चा 'कक्कसूरि शिष्य' के नाम से पहले की जा चुकी है।' उपकेश गच्छीय कक्कसूरि की धातु प्रतिमा पर सं० १४९९ से सं० १५२५ की अवधि अंकित है। इनकी पट्टावली से पता चलता है कि इन्हें सं० १४९८ में आचार्य पद प्राप्त हुआ था। इस अवसर पर चित्तौड़ में महोत्सव हुआ

१. श्री मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९२-४९३
२. श्री अ० च० नाहटा–जै० म० गु० कवि पृ० १२७-१२८
३. वही

था। इन्होंने संस्कृत और प्राकृत में रचनायें की हैं। कीर्तिहर्ष को भी लिखने की प्रेरणा अपने गुरु कक्कसूरि से प्राप्त हुई होगी।

'सनत्कुमार चौ०' का रचनाकाल कवि ने स्वयम् दिया है। इसी के आसपास की रचना 'कुलध्वजकुमार रास' भी होगी। सनत्कुमार चौ० के प्रारम्भ में कवि ने पार्श्वजिन और सरस्वती की वंदना की है, यथा—

'स्वामी जिरायुल्लि निवास, मनि समरतां पूरइ आस,
पय सेवइ अणुदिणु धरणिंद, पहिलुं प्रणमिसु पास जिणंद।
सरसति सामिनि करु पसाइ, कासमीर मुख मंडन माइ,
नाम जपी केसीय गणधार, चरीय भणु श्री सनत्कुमार।[1]

कवि ने रास के अन्त में रचनाकाल और गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, यथा :—

'श्री कक्कसूरि गुरुआ गुरुराय, मनसुद्धिइं तसु प्रणमी पाय।
सार श्रीरंग तणईं आग्रहईं रचिऊं प्रबन्ध भवीअण संग्रहइ।
पन्नर अेकावन्न मझारि, काति पून्निमे दिन गुरुवारि।
कवि कीर्तिहर्ष मनिधरी आणंद, रचिउ प्रबन्ध जन श्रवणानन्द।'[2]

इसकी भाषा सुबोध मरुगुर्जर है।

कुशलसंयम—आप तपागच्छीय कुलधीर के शिष्य थे। आपने सं० १५५५ में 'हरिबल रास' की रचना की। कुलधीर आचार्य हेमविमल सूरि की परम्परा में थे। हेमविमल सूरि को आचार्य पद सं० १५४८ में प्राप्त हुआ था और उनका स्वर्गवास सं० १५६८ में हुआ। यह रचना इसी अवधि में हुई होगी। रचना की अन्तिम पंक्तियों से पता चलता है कि कुलधीर और कुलवीर दोनों हेमविमल सूरि के शिष्य और आपस में गुरुभाई थे। सम्बन्धित पंक्तियाँ देखिये :—

'तपगच्छि श्री गुरु अविचल भांण, मानइ षट्दर्शन जसु आण,
अभिनव गोयम स्वामि समान, श्री हेमविमलसूरि महिमा निधान।
तास सीस पंडित कुलवीर, बीजे बंधव श्री कुलधीर।'[3]

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ९१-९२ और भाग ३ पृ० ५२१
२. वही
३. वही भाग १ पृ० १२९ और भाग ३ पृ० ५६३ और १४९३

रास के प्रारम्भ में कवि पार्श्व जिन की वंदना करता हुआ कहता है –

'पहिलु प्रणमउ पास जिन जिराउलि नऊ राय,
मनवंछित आपइ सदा, सेवइ सुरसति पाय।

इस प्रबन्ध में चार खंड हैं, चतुर्थ खंड का नाम 'नवरस सिंगार' है। कवि को रस, श्रृङ्गार आदि का बोध है। इस ग्रन्थ की पद्य संख्या ९२५ है। प्रबन्ध के अन्त में रचनाकाल का उल्लेख कवि इस प्रकार करता है—

'विक्रम नवि संवत्सर पंनर पुण पुणपन्न, वरस मज्झमि माघ सुदि
पंचम अे राऊसिरि हरिबल प्रबन्ध।

इनकी दूसरी रचना 'संवेग द्रुम मंजरी' में क्रोध आदि मनोविकारों का फल और अनित्यादि बार भावना का स्वरूप मुख्य रूप से दोहा और चौपई छन्द में वर्णित है। ढालों का भी प्रयोग किया गया है। इसका प्रथम पद्य प्रस्तुत है, यथा—

'सकल रूप प्रणमी अरिहंत, समरी साधु सदा गुणवंत,
श्री सिद्धान्त श्रुतधर राऊ, बुद्धि तणु जोगिंइ करिऊ पसाऊ।१।
हूँ पणि अछऊ मूरख भूलि, सविहुं सुकवितानी पगधूलि,
बोलिसु वीरवचन मनिधरी, अे संवेग-द्रुम मंजरी।'

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'नमिय जिनवर नमिय जिनवर अपर अरिहंत,
समरी सद्गुरु साधु सवि, दयामूल जिनधर्म निश्चल,
श्रुतदेवी सुपसाउलउ सुषी सुगुरु उवअेस मंजुल।
कुशलसंयम कवि इम भणइ, अे चउपइ रसाल,
संवेग द्रूम मंजरी, संवेगिइ चउसाल।'[1]

इनकी एक अन्य रचना 'नेमिकुंजरे गर्जासिंह राय रास' का भी उल्लेख मिलता है किन्तु तत्सम्बन्धी विवरण अज्ञात है।

कुशलहर्ष—आप तपागच्छीय आचार्य विजयदान सूरि के शिष्य हर्ष संयम के शिष्य थे। विजयदान सूरि को आचार्य पद (सं० १५८७) सिरोही में प्रदान किया गया था। वे सं० १६२२ में स्वर्गवासी हुये। कुशलहर्ष ने कई स्तवन लिखे, जिनमें नागपुर मंडन शांति जिन स्तवन, नेमिनाथ स्तवन (६६ कड़ी), शत्रुंजय स्त०, ऋषभदेव स्त० (६८ कड़ी), फलवर्द्धि मंडण श्री पार्श्वनाथ स्त० (६८ कड़ी) और महावीर स्तवन उल्लेखनीय हैं।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १२९, भाग ३ पृ० ५६६

इनका विषय सर्वत्र एक जैसा है किन्तु भाषा शैली के उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत की जा रही हैं—

सर्वप्रथम नागपुर मंडन शांति जिन स्तवन की अन्तिम चार पंक्तियाँ देखिये :—

'इम तविऊ निरमल सकल केवल कुशल मंगलदायको,
बहुभाव भेदी तत्ववेदी सुख प्रवेदी नायगो।
गुरु जिनवर नमइ असुर श्री विजयदान सूरीसरो,
श्री हर्षसंयम चरण सेवक कुशलहर्ष कृपा करो।'[1]

इसकी भाषा हिन्दी के काफी करीब है, इनकी दूसरी रचना 'नेमिनाथ स्तवन' की भाषा भी इसी प्रकार सरल राजस्थानी हिन्दी है, यथा :—

'इम तव्यु त्रिभुवन सजन पावन त्रिजग जीवन जुगगुरो,
श्री नेमि जिनवर सयल सुखकर नालंदपुर मंडणवरो।
नितु नमइ सुरनर असुरनर श्री विजयदान सूरीसरो,
श्री हरषसंजम चरण सेवक, कुशलहर्ष कृपा करो।६६।'

'शत्रुंजय स्तवन' का आदि पद्य इस प्रकार है :—

'सरस वाणी दिऊ सरसती अे, वरसती वचन विलास कि,
आस पुरऊ कवियण तणीअे, गायसउँ ऋषभ जिणंद।

फलवर्द्धि मंडण श्री पार्श्व स्तवन की भाषा अनुप्रास युक्त, प्रवाहमय और काव्योचित है, यथा :—

इम पास आस प्रकाश वासन फलवर्द्धि मंडणवरो,
श्री हर्षसंयम चरण सेवक कुशलहर्ष कृपा करो।६८।'

धीरे-धीरे स्तोत्र और स्तवन की भाषा में पूजा-पाठ सम्बन्धी रागमयता और तल्लीनता के लिए अपेक्षित सहज प्रवाह का विकास होने लगा था। उदाहरण स्वरूप 'महावीर स्तवन' की दो पंक्तियाँ उद्धृत करके अपने कथन का उपसंहार करता हूँ, यथा :—

'सांतिकरण गुणरयण निवास, सफल करी भवीअण जिण आस,
शांति नमुं कृत जगदानन्द, जोधपुरावनि मंडण चंद।'[2]

हम यह भी देखते हैं कि जो कवि गुजरात, राजस्थान या हिन्दी भाषी क्षेत्र का है उसकी भाषा में क्रमशः अब इन भाषाओं का स्वरूप स्पष्ट रूप

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १६५, भाग ३ पृ० ६२१
२. वही

से निखरने लगा है। फिर भी किसी कवि की भाषा का मूलाधार चाहे हिन्दी, राजस्थानी अथवा गुजराती हो पर अन्य भाषाओं का मिश्र प्रयोग अब तक बना हुआ है।

कोल्हि—आपने सं० १५४१ में 'कंकसेन राजा चौपई' लिखी। इस चौपई के प्रारम्भ में कवि कोल्हि ने शारदा की वंदना की है फिर तंबावती नगरी का वर्णन किया है जहाँ राजा कंकसेन निवास करता था; कवि लिखता है :—

'पहिलऊ पणमउ शारद माइ, भूल्यो आखर आणउ ठाई।
काशमीर मुख मंडण ठणी, करउ पसाउ देहबुद्धि घणी।'
× × × ×
तंबावती बसइ अतिभली, कुल छत्तीस रहसी इति मिली,
दिसइ दुरग धवल हल घणां, मढ़ देवल किनाहीं मणां।

अन्त में कवि अपने काव्य का संदेश देता हुआ कहता है :—

'जाण्या उराड़ा तणो विचार, वन मांहे नाठउ छोड़ि घर बार।
पंचा कह्याउ जो नवि करइ, स कंकसेन ज्यूं भूलउ फिरइ।३२९।
पन्द्रहसइ इकतालइ (१५४१) श्रावण मासि, बुद्धि पूछो कवियण पासि,
पुष्य नक्षत्र आछाइयाती खरउ, उद्यम एह आज ही करउ।३३०।'
कवियण सानिधी चउपइ, भोलोउइ भावि कोल्हि इम कही,
सुदि पांचमी अर मंगलवार, हुवउ चरित सब विघ्न निवार।'[२]

इस प्रकार कंकसेन राजा की कमजोरियों, भूलों और विषयासक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करके कवि ने पाठकों को चेतावनी दी है कि कंकसेन राजा जैसी भूलें न करें बल्कि संयमपूर्वक अपना इहलोक और परलोक सुधारें। यह चौपई मुख्य रूप से दोहे और चौपाई छन्द में लिखी गई है। इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है।

खेमराज—(क्षेमराज) आप जैसलमेर ज्ञानभंडार के संस्थापक खरतरगच्छीय आचार्य जिनभद्र सूरि के प्रशिष्य और सोमध्वज के शिष्य थे। आप संस्कृत और मरुगुर्जर के उत्तम लेखक थे। आपने संस्कृत में कई स्तोत्र और द्वात्रिंशिकायें लिखीं। 'उपदेश सप्ततिका स्वोपज्ञ वृत्ति' (सं० १५४७) आपकी प्रकाशित रचना है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० भाग १ पृ० १२९
२. वही

मरुगुर्जर में आपकी अनेकों रचनायें प्राप्त हैं जिनकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आपकी रचनाओं में श्रावक विधि चौ०' गाथा ७० सं० १५४६, इक्षुकार चौ० गा० ५०, फलोधी पार्श्वनाथ रास गाथा २५, नमिराज चौ० गा० ७४, मेतार्य चौ० गा० ९८, तेतली पुत्र चौ० गा० १०१, जिनपालित जिन रक्षित चौ०, चौबीसी, चारित्र मनोरथ माला गा० ५३, श्रीमंधर स्तवन, जीरावला स्त०, वरकाण । स्त०, ज्ञानपंचमी स्त०, वीर स्त०, समवसरण स्त०, उत्तराध्ययन संज्झाय, मंडपाचल चैत्य परिपाटी आदि उल्लेखनीय हैं। मंडपाचल चैत्य परिपाटी जैनयुग वर्ष ४ में प्रकाशित हो चुकी है।

श्री अ० च० नाहटा इन्हें खरतरगच्छीय सोमध्वज का शिष्य बताते हैं[1]; परन्तु श्री मो० द० देसाई इन्हें तपागच्छीय सोमध्वज का शिष्य कहते हैं।[2] ये सोमध्वज यदि जिनभद्रसूरि के शिष्य हों तो निश्चय ही खरतरगच्छीय होंगे। हम इस विवाद में न पड़कर इनकी रचनाओं का ही आकलन करेंगे। इनकी प्रथम कृति 'श्रावक विधि चौ०' या श्रावकाचार चौ० का विषय स्वयम् स्पष्ट है। इसमें श्रावकों के लिए विहित आचार का कथन किया गया है। इसकी अन्तिम पंक्तियों में कवि ने इसका रचनाकाल इस प्रकार दिया है :—

'पनरसइ छइताला वर्षि, खेमराज गणि मनि उतकर्षि,
पास पसाइ पुरी आदरी, श्रुतश्री श्रावक विधि ऊचरी ।८१।

'चारित्र मनोरथमाला' की अन्तिम चार पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

चरण मनोरथ मालिका, श्रावक मुनि सुविचार,
कंठइ राखइ आपणइ, ते पामइ भवपार।
निज मनि भावइ भावना, अवसर करइ जिसार,
श्री खेमराज मुनिवर भणइ ते सुख लहइ अपार ।५३।[3]

इसमें श्रावकों और मुनियों के आचरण सम्बन्धी विधि-निषेध का आख्यान है।

'इक्षुकारी राजा चौ०' का प्रथम छंद देखिये :—

'पणमिय वद्धमाण जिण सांमिय, जो सेवइ जण पूरइ कामीय,
इखुकारि अज्झयण विचारो, चउद समउं पभणिसु ऊदारो ।१।'

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा 'राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल पृ० ६२
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५००
३. वही

फलवर्द्धि पार्श्वनाथ (गा० २५) के आदि और अन्त की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

आदि :— 'सुगुरु शिरोमणि श्री गोतम गरुयउ गणधार,
रासरचिसु रलियामणउ श्रवणि सूणतां हो हरष अपार।१।

अन्त :—'मलिय महाजन मनि रली, पासनउं रास वसंति रमंति।
तिहि धरि नवनिधि संपजइ, खेमराज मुनिवर पभणंति।२५।'[1]

श्री नाहटा ने 'जै० मरु-गुर्जर कवि' के पृ० १६ पर 'नेमिरास' गाथा ३३ सं० १५९६ का भी उल्लेख किया है किन्तु कोई विवरण नहीं दिया है। इस प्रकार आप मरुगुर्जर के एक महत्वपूर्ण लेखक हैं जिन्हें खरतर-गच्छीय एवं तपागच्छीय विद्वान् अपने गच्छ का सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

इनकी सभी रचनाओं का कथासार या भाषा संबंधी उदाहरण देना प्रस्तुत ग्रन्थ की सीमा में सम्भव नहीं है। मंडपाचल चैत्य परिपाटी या (मांडवगढ़ चै०) ऐतिहासिक रचना है जो प्रकाशित भी है, उसकी कुछ पंक्तियाँ देना अपेक्षित है। परिपाटी नामक रचनायें चैत्यों और तीर्थों की यात्रा के अवसर पर संभवतः यात्रियों द्वारा स्तुति रूप में गाने के लिये लिखी जाती थीं क्योंकि कवि लिखता है :—

'फागबंध जे पुन्यवंत नारी नर गावइ,
खेमराज गणि भणइ तेइ यात्रा फल पावइ।

इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'पास जिणेसर पय नमिय, कामिय फल दातारो,
फागबंधि हउं संथुणिसु जिणवर बिंब अयारो।
इणिपरि चैत्य प्रवाडी रची मांडवगढ़ि हरिसिही,
संचीय सुकृत भंडार सुगुरु सोमध्वज गणि सीसहि।[2]

खेमराज स्वयम् उच्चकोटि के कवि थे और इनके शिष्यों में भी 'खेमकुशल' के कवि होने की सूचना मिलती है। आपने सं० १५४१ में 'श्रावक विधि चौ०' प्रायः उसी विषय पर लिखी जिसपर इनके गुरु खेमराज ने लिखा था। इसकी प्रति भी अ० च० नाहटा जी के संग्रह में उपलब्ध है।

१. श्री अ० च० नाहटा--जै० म० गु० क० पृ० १३१-१३२
२. श्री० मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५००

आपके किसी अन्य भक्त शिष्य 'कनक' ने क्षेमराज गीत लिखा है जो ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह में प्रकाशित है।

खीमो या खीमा—आप १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि प्रतीत होते हैं क्योंकि ऋषभदास ने अपने ग्रन्थ कुमारपाल रास (सं० १६७०) में इनका सादर स्मरण किया है :—

"आगिं जे मोटा कविराय, तास चरण रज ऋषभाय,
लावण्य लीधो खीमो खरो, सकल कविनी कीरति करो।५३।"

इनकी तीन रचनायें प्रसिद्ध हैं एक शत्रुंजय चैत्य परिपाटी, जो प्रकाशित है। दो छोटे गीत हैं—जीवदयागीत और जयणागीत। इनका परिचय आगे दिया जा रहा है। शत्रुंजय चैत्य प्रवाडी या परिपाटी प्रसिद्ध तीर्थ शत्रुंजय के स्तवन में लिखी गई है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'आराहूँ सामिणी सारदा, जिममति तूठी दिउ मति सदा,
श्री सेत्रुंज तीरथ वंदेवि, चैत्र प्रवाडी रचसि संषेवि।
पाली ताणंइ प्रणमूं पास, जिम मनि वंछित पूरइ आस,
ललतासुर वंदू जिनवीर, सोइ सायर जिम गुहिर गंभीर।[1]

इसके अन्त में कवि का नाम है किन्तु अन्य विवरण नहीं हैं, यथा :—

'अेह स्वामी तुम्ह गुण जेतला, मइं किम बोलाइ तेतला,
तूं गुण रयणायर सम होइ, अेह संक्षा नवि जाणंइ कोइ।
जे ताहरा गुणं गाई सार, तेह घरि मंगल जय जयकार,
हूं तुम्ह नामिइं नितु भांमणइ, बे कर जोड़ी खीमु भणइ।३२।'[2]

जीवदया गीत मात्र पाँच छंदों की छोटी रचना है जो राग धन्यासी में बद्ध है। इसकी चार पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही है :—

'तरण पणिइ जोवन-मदिइ, हो तरीय चडी वनि जाइ,
त्रस जीव विणासरी, इम खटवट हो नीगमीइ काइं।
खट दरशन मति अेह छइ, जोउ समृत विचार,
खीमराज साचउ कहि, धरमह धरि हो जीवदया सार।[3]

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १६१

२. वही

३. वही, भाग ३, पृ० ४९४-४९६

इसमें कवि का कथन है कि धर्म का सार जीव दया है। इनके दूसरे गीत 'जयणा गीत' में सात गाथायें हैं जिसमें कवि ने अपना नाम खीम लिखा है। जीवदया में खीमराज लिखा था, अतः लगता है कि कवि खीमो, खीमा, खीम और खीमराज का यथासमय प्रयोग करता था और इस नाम के कवि एक ही व्यक्ति खीमा हैं। 'जयणागीत' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'अे श्रावक कुलि अवतार लहीनइ, सखी जे जीव विराधइं रे,
तेक मणि चिंतामणि लाधउ, पणि गांठि नवि बांधउ रे।१।

इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ देखिये :—
'षटकसाल अे पंचइ जाणी, जीव जतन जो पालइ रे,
खीम कहइ ते धनधन सुकलीणी, मुगतिफल ते लिहसइं रे।७।'[1]

इसकी भाषा पर मरु की अपेक्षा गुर्जर का प्रभाव अधिक प्रकट होता है।

क्षमाकलश—आगमगच्छीय सूरि श्री अमररत्न की परम्परा में आप कल्याणराज के शिष्य थे। आपने सं० १५५१ वैशाख वदि शनि को 'सुन्दर राजा रास' लिखा। सं० १५५३ भाद्र वदि ११ शनि को उदयपुर में आपने अपनी दूसरी रचना 'ललितांग कुमार रास' लिखा जिसमें शीलधर्म की महिमा बताई गई है। यह २२२ पद्यों का रास बन्ध है। 'सुन्दर राजा रास' में अरिहंत की वंदना करता हुआ प्रारम्भ में कवि कहता है :—

'पहिलूं परमेसर नमी आराहिसु अरिहंतु,
गाइसु शील सोहामणो सांभलयो एकंति।
सुन्दर राय तणा गुण कतो कहुं मुख एक,
शीलि करी जगगाजतु कहीइ ते सुविवेक।[2]

ग्रन्थ सम्बन्धी विवरण अन्त में इस प्रकार दिया गया है :—
गुरु परम्परा —'आगम गच्छि जयवंता अे मा, सोमरत्न सूरींद,
अहनिसि भवियां निव नमु अे मा, जिम हुइ परमाणंद।
क्षमाकलश मुनि इम भणइ अे मा, भवियण सुणउ अे रास,
शीलइं शिवसुख संपजइ अे मा, छूटीइ कर्मना पास।१८९।'

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९४-४९६
२. वही, भाग १ पृ० ९३

रचनाकाल— 'संवत पनर अेकानवइं अे मा वदि वैशाखह मासि,
शनिवार सोहामणउ अे मा रचिउं रास उल्लास।१९०।
अन्त— 'शील प्रबन्धह जे भणइ अे मा नरनारी सुविचार,
हरषइं जे अे सांभलइ अे मा तेहघरि जयजयकार।१९१।'[1]

ललितांग कुमार रास में सर्वप्रथम कवि ने सरस्वती की वंदना की है, यथा :—

'पहिलूं सरसती पय नमी, आराही मन शुद्धि,
पुण्य प्रबन्ध हूं भणिसु, आणी निरमल भत्ति।
दान सील तप भावना, जिण भाषइ अे धर्म,
कवीयण वली वली इम कहइ, सूधउ ऐहज मर्म।

आगे शील का महत्व बताता हुआ कवि लिखता है :—

'शीलि सवि सुख संपजइ, शीलिं निरमल बुद्धि,
शीलि दुख सयलह टलइ, पामीजइ सही सिद्धि।

इसका रचनाकाल कवि ने इस प्रकार बताया है—

'आदमपुरि जगि कहीइ सार, निवसइं श्रावक तिहां सुविचार,
चंद्रप्रभ जिन तणइ पसाइ, अलीय विघन सवि दूरि पलाइ।
भणइ गुणइ अहनिश सांभलइ, पाप पडल सवि दूरि टलइ।
क्षमाकलश मुनि कहइ सुविचार, नितुनितु तेह घरि जयजयकार।'[2]

इसमें ललितांग के चरित्र के माध्यम से शील का गुणगान किया गया है। भाषा सुबोध मरुगुर्जर है। उपदेश वृत्ति की प्रधानता के चलते काव्य पक्ष दब गया है।

क्षांतिरंग गणि—आप सम्भवतः लक्ष्मीविनय के शिष्य कनकतिलक के शिष्य थे। आप एक भक्त कवि थे। आपने खैराबाद जिला सीतापुर स्थित जैनमन्दिर में प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ की प्रतिमा को लक्ष्य करके 'पार्श्व जिन स्तवन' लिखा है जिसमें एक भक्त हृदय की विह्वलता व्यक्त हुई है। इसकी भाषा और अभिव्यन्जना शैली का नमूना निम्नलिखित उद्धरण द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'इय पास जिणवर नयण मणहर कप्प तरुवर सोहए।
श्री नयर खयराबाद मंडण, भविय जणमण मोहए।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ९३

२. वही पृ० ९४-९५

श्री कनक तिलकु सुसीस सुन्दर लिक्खीविनय मुणीसरो,
तसु सीस गणि क्षान्तिरंगि पभणइ हवइ दिनदिन सुहकरो।'[1]

गजराज (पंडित)--आपकी रचना 'हीरविजय सूरिना बारमास' (सं० १५९६ फाल्गुन) प्रसिद्ध तपा० आचार्य हीरविजयसूरि के चरित्र पर आधारित एक बारहमासा है। इसमें बारहमासों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक महीने का वर्णन सुखद एवं दुखद परिस्थितियों के अनुसार उद्दीपन विभाव के रूप में करने की परिपाटी जैन साहित्य में काफी पुराने समय से प्रचलित है। प्रस्तुत बारहमासे में भी उसी पद्धति का अवलम्बन करके आ० हीर-विजयसूरि का गुणानुवाद किया गया है। कातिक मास का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :--

'कारतक मासे आवीओ, भावीओ सखे परिवार रे,
अनुमति दीधी बेनडी, लेवा ते संजमभार रे।
श्री विजयदान सूरि ने हाथें ते पाटण नयर मझार रे,
संवत् १५ छनूअे करतग बीजे मास रे।
करजोडी गजराज पंडित भणे, वरतो ते जयजयकार रे,
विमलाही बेनी अेम वीनवे।[2]

इसकी भाषा में कारक चिह्न ने, नूं और अेम आदि प्रयोगों से पता चलता है कि कवि की भाषा पर गुर्जर का प्रभाव अधिक है। इसके प्रारम्भ की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

सरसती भगवती वरसती, वाणी दीओ रसाल,
वीणा पुस्तक धारिणी, कवि जन दीओ अधार।
कर जोड़ी गजराज पंडित भणे, वार जा सुभवेल,
तास तणो ऊसाऊले, आज करूँ रंगरेल।'[3]

काव्यत्व की दृष्टि से रचना सामान्य कोटि की है। गजराज जी ने रचना में गुरुपरम्परा नहीं दी है, स्वयम् को सर्वत्र 'पंडित' उपाधि से संयुक्त करके ही नाम दिया है।

गजलाभ---अंचलगच्छीय थे। आप १६वीं शताब्दी के अन्तिम और १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण के कवि थे। आपकी प्रथम रचना वारव्रत

१. श्री प्रेमसागर जैन---हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० ९६
२. श्री मो० द० देसाई--जै० गु० क० भाग १ पृ० १७१
३. वही

टीप चौपइ सं० १५९७ की है अतः आपको १६वीं शताब्दी में परिगणित किया गया है। इसके रचना-काल का कवि ने इस प्रकार उल्लेख किया है :—

'जाव जीवर्भक छइ, सुविसह मूल सुरम्म,
पन्नर सत्ताणवइ लद्ध मइ, सुगुरु पासि गहि धम्म ।८३।

रचना का प्रारम्भ कवि ने इस प्रकार किया है :—

'पहिलूं प्रणिमसु जिनवरु अे, जिनशासन सार,
सहिगुरु वंदी व्रतबार, पभणिसु सविचार।
व्रत विना जगि सयल नाम अविरति पभणीजइ,
चउदराज महि वस्तु अेह महीयां मसि लीजइ।'[1]

रचना के अन्त में कवि ने अपना नाम दिया है किन्तु गुरु परम्परा का उल्लेख नहीं किया है, यथा :—

'मनि वचनि काया तण, जे छइ बहु व्यापार,
तेहथिकु नवि ऊसरू जिम हुइ जयजयकार।
नियम भंग अेवूं करू, नीवी नूं पंच्चक्खाण,
जन गजपति भालइ कहइ, इम पालउं जिन आण ।८८।[2]

इसमें बारव्रत का माहात्म्य वर्णित है। इनकी दूसरी रचना 'जिनाज्ञा हुंडी' (अंचलगच्छनी हुंडी सं० १६१०) के आसपास सिरोही नगर में लिखी गई थी। इसकी पहिली ढाल में जिन प्रतिमा और जिनपूजा का वर्णन किया गया है। दूसरी ढाल में केदारा राग में साधु-श्रावकों का धर्म बताया गया है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'पंथ नहीं वली साधू नो रे, मालारोपण केरो,
उपधान नाम लेइ करीरे काइं करो भव फेरो।

× × ×

आण सहित जे करणी कीजे ते सुखदायक दीसे,
कहि गजलाभ मुझ आज्ञा ऊपरि हरये हयडुं हींसरे।'[3]

इसमें आगे श्रावकों का सामायिक व्रत बताकर पंचपर्वी सम्बन्धी चर्चा की गई है। इसका विषय धार्मिक एवं साम्प्रदायिक है। भाषा पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट रूप से अधिक है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६३०-६३१
२. वही
३. वही

गजेन्द्र प्रमोद—आप तपागच्छीय आचार्य हेमविमल सूरि की परम्परा में हर्षप्रमोद के शिष्य थे। आपने 'चित्तौड़ चैत्य परिपाटी' नामक ऐतिहासिक रचना सं० १५७३ में की। यह ६८ कड़ी की कृति है। यह रचना चित्तौड़ के राणा संग्राम सिंह के समय की है अतः इसका ऐतिहासिक महत्व है। महाराणा संग्राम के समय मेवाड़ और चित्तौड़ पर समूचे देशवासियों को गर्व होता था। इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। सरस्वती की वंदना के बाद कवि चित्तौड़ का वर्णन करता हुआ लिखता है :—

'सरस वचन दिउ सरसती नइ लही सगुर पसाय,
चैत्य प्रवाडी विरचस्युं अरचस्युं श्री जिनराय।
अंग तिलंग कलिंग अे गौड चौड नइ लाउ,
मालव मरहठ सोरठ तिहि मंडण मेवाड़।
श्री चित्रकूटिहि राजइ पछजइ अे जेहनु नाम,
महीपति सयराणुं अे राणा अे श्री संग्राम।'[1]

रचना के अन्त में कवि रचनाकाल और गुरुपरम्परा का परिचय देता हुआ लिखता है :

संवत पनर त्रिहुत्तरइ अे, नरेसूआ फागण वदि वारि
चैत्र प्रवाडी मइं रची अे, नरेसूआ रिद्धि सिद्धि जयकार,
तव गण रयणायर चंद दिवायर हेमविमल सूरिंद गुरो,
गुणमणि वइरागर विद्यासागर चरणप्रमोद पंडित प्रवरो,
तस सीस सिरोमणि कवि चूड़ामणि श्री हर्षप्रमोद जयवंत चिरो,
तस सीस गयंदि परमाणं दिउं, करिउं कवित जयकार करो।'[2]

इसकी भाषा में लय, अनुप्रास और प्रवाह के कारण गेयता आ गई है। वइरागर, विद्यासागर, सिरोमणि और चूड़ामणि में अनुप्रास देखा जा सकता है।

गणपति—आप आमोद निवासी वाल्मीक कायस्थ नरसा के पुत्र थे। आप जैनेतर कवि हैं किन्तु मरुगुर्जर भाषा में आपकी प्रसिद्ध रचना 'माधवानल सम्बन्ध प्रबन्ध' (सं० १५८४) १६वीं शताब्दी की उल्लेखनीय रचना है। इस कृति में आठ अंग हैं। दोग्धक बंध में रचित यह विशाल

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४९३
२. वही

रचना है। इस प्रबन्ध काव्य में माधवानल का चरित्र चित्रित किया गया है। माधवानल कामकंदला की प्रेमकथा पर हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में प्रचुर साहित्य लिखा गया है।

इसके प्रथमांग के प्रथम बन्ध में कवि कामदेव की वंदना करता हुआ लिखता है :—

'कुंयरा कमला रति रम्मण, मयण महाभउ नाम,
पंकजि पूजा पयकमल, प्रथम जि करूं प्रणाम।
नल माधवानल नरमि करि, कामकंदला नारि,
कुंडाल्या बे कमल भू तुहिनि कर्णत मुरारि।'[1]

१५२ छंदों मे प्रथमांग सम्पूर्ण हुआ है। इसके अन्त में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'अंग प्रथम पूरुं हवुं बीजा गुण बोलेसि,
नरसा सुत गणपति कहि मधुकर जिम मधुरेस।

अन्त में रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है—

'वेद भुअंगम बांण शशि (१५८४) विक्रम वरस विचार,
श्रावणनो शुदि सप्तमी स्वामते मंगलबार।'

यद्यपि इसमें माधवानल कामकंदला की कामक्रीड़ा का वर्णन है और अन्य जैन कृतियों की तरह इसका अन्त वैराग्य में नहीं दिखाया गया है किन्तु साहित्यिक दृष्टि से मरुगुर्जर साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी हस्तलिखित प्रति के अन्त में लिखा है 'इतिश्री माधवानल प्रबन्धे कवि श्री गणपति विरचिते दोग्धक बंधेन माधवानल कामकंदला कामक्रीड़ा संभोगे अष्टमांग सम्पूर्ण। सं० १६७० महीसाणा में यह प्रति पं० रामजी गणि द्वारा लिखित हैं और जसविजय तथा धनविजय गणि के लिए लिखी गई है अर्थात् इसका सम्बन्ध जैन मरुगुर्जर साहित्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। अतः इसका विवरण यहाँ दिया गया है।

गुणकीर्ति—आप ब्रह्म जिनदास के शिष्य थे। इनकी रचना 'राम सीता रास' एक उत्तम प्रबन्ध काव्य है जिसमें काव्यगत गुण उपलब्ध होते हैं। यह काफी लोकप्रिय रास होगा क्योंकि इसकी अनेक प्रतियाँ राजस्थान के भंडारों में प्राप्त होती हैं। रास के अन्तिम तीन पद्य दिए जा रहे हैं :—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० २१-२२-२३

'श्री ब्रह्मचार जिणदास तु, परसाद तेह तणेए,
मनवंछित फल होइतु, बोलीइं किस्युं घणुए।३६।
गुणकीरति कृत रास तु, विस्तारु मनि रलीए,
बाई धनश्री ज्ञानदास तु, पुण्यमती निरमलीए।३७।
गावउं रली रमि रासतु, पावउ सिद्धि वृद्धि ए।
मनवांछित फल होइ तु, संपजि नवनिधिए।'[1]

इस रास में सीताराम का चरित्र जैन परम्परानुसार वर्णित है।

गुणमाणिक्य शिष्य—ब्रह्माण गच्छ के बुद्धिसागरसूरि, विमलसूरि, गुण माणिक्यसूरि के किसी अज्ञात शिष्य ने 'हरिश्चन्द्र रास' की रचना की है। ब्रह्माणगच्छ में कई बुद्धिसागर और विमलसूरि हो गये हैं। इनमें से सं० १५८० में बुद्धिसागर के पट्टधर विमलसूरि गुणमाणिक्य के गुरु रहे होंगे। अतः यह कवि १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का हो सकता है। इसके प्रारम्भिक पद्यों में गुरु परम्परा इस प्रकार बताई गई है :—

सरसति सामणि वीनवूं त्रिभुवन जगणी माय,
रचूं चरित्र हरिश्चन्द्र तणू ब्रह्म पसाय।
कृपा करू मुझ स्वामिनी वंछित दायक देव,
अेक मनु नतु ऊलगु, सदा करूं तम्ह सेव।
सील संयम तप निर्मलु बुद्धिसागर गुरु जाणि।
गछ ब्रह्माण गुणनिलु श्री विमलेन्द्र बखाणि,
तास तणउ शिष अतिचतुर गुणमाणिक गुरु जोय।
तेह तणइ सुपसाउलउ कवित करूं ते सोय।'[2]

इसकी प्रति के अन्तिम पन्ने न मिल पाने के कारण इसका रचना काल और अन्य विवरण उपलब्ध नहीं है।

गौरवदास—सं० १५८१ में फफूंद (उ० प्र०) निवासी कवि गौरवदास ने 'यशोधर चरित्र' लिखा। हिन्दी भाषी क्षेत्र का निवासी होने के कारण इनकी काव्य भाषा में हिन्दी प्रयोगों का अनुपात स्वभावतः अधिक है अतः मिश्रबन्धु विनोद में इसकी प्रसिद्ध रचना यशोधर चरित्र को हिन्दी की कृति बताया गया है। गौरवदास संस्कृत, प्राकृत के भी अच्छे जानकार थे। आपने कैलइ के सम्पन्न श्रावक थेधु साह के आग्रह पर यह रचना की।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १८६
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १७२

जैनसाहित्य में यशोधर की कथा अतिलोकप्रिय है। सर्वप्रथम उद्योतन सूरि ने सं० ८३६ में रचित अपनी कुवलयमालाकथा में प्रभंजन कवि कृत यशोधर चरित का उल्लेख किया है किन्तु वह अनुपलब्ध है। उपलब्ध रचनाओं में हरिषेण कृत बृहत्कथा कोष (सं० ९८९) में यशोधर का चरित सबसे पुराना है। तब से लगातार यशोधर चरित पर आधारित रचनायें प्राप्त होती रही हैं। इनमें पुष्पदन्त और रइधू की अपभ्रंश में, सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू संस्कृत में और वादिराज, सकलकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, देवेन्द्र और जिनहर्ष आदि की मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी में यशोधर चरित सम्बन्धी अनेकों रचनायें उपलब्ध हैं। प्रस्तुत रचना का आधार वादिराज कृत यशोधर चरित है। इसमें ५३७ छंद हैं।

यह सर्गों और संधियों में विभक्त नहीं है बल्कि आद्यान्त कथा अविराम चलती है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथायें हैं। यह भ० ज्ञानभूषण कृत 'आदीश्वर फाग' की शैली पर लिखी रचना है।

इसमें अवंती के राजा यशोधर और उसकी रानी अमृता, जो किसी कुबड़े गायक पर आसक्त थी, की कथा है। रानी अमृता के कपटाचरण के कारण राजा यशोधर को वैराग्य हुआ और आटे का कुक्कुट बलि करने के प्रायश्चित्त स्वरूप नाना भव-भवान्तरों में भ्रमण के पश्चात् उसने मुक्ति प्राप्त किया इसमें वहीं कथा कही गई है। कथा रोचक, वर्णन सरस एवं मनोहर हैं। प्रमुख पात्रों में भैरवानन्द का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

'भस्म चढ़ाई मुद्राकान, अनही बूझं कहै कहान,
दीरघ जटा चढ़ाये भंग, नयन धुलावै वंदन रंग।
गौर वरण मनो पून्यो चंद, प्रगट्यो नाम भैरवानन्द।[1]

श्मशान के बीभत्स दृश्य का वर्णन कवि ने इन पंक्तियों में किया है :—
'संग सहित मुनि गयो मसान, मरे लोग डहिंहि जहिथान,
मुंड रुंड दीसहिं बहुपरो, कृमि कीलालवि घृणा भरे।६०।'

काव्य सुखान्त है। सैकड़ों जीवों की बलि चढ़ाने वाला भैरवानन्द भी अन्त में अपने पापों का प्रायश्चित्त करके स्वर्ग प्राप्त करता है। इसमें प्रमुख रूप से दोहा और चौपाई छन्द का प्रयोग किया गया है। इसका मंगलाचरण देखिये :—

1. डॉ० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १६०

'जयउ जिनवरु विमलु अरहंतु सुमहंतु सिव कंतवरु,
अमर णयण रणिम्पर वंदिउ।
उव समिय फलूसरइ ति जय बंधु दह धम्म णंदिउ।'[1]

कुबड़े द्वारा संगीत का प्रदर्शन करते समय नाना राग-रागिनियों की भी चर्चा है। इसी कुबड़े के प्रति कामासक्त होकर शील और सदाचार को ताक पर रखकर रानी कहती है :—

'परि जब मयन सतावे वीर, तू न सखी जानइ पर पीर,
मन भावतो चढ़ै चित्त आणि, सोइ सखी अमर वर जाणि।'

इस काव्य को डा० कासलीवाल ने 'कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि' नामक ग्रन्थ से पहली बार प्रकाशित किया है। इसकी प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन बड़ा तेरहपंथी मन्दिर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है। रचना काल का विवरण देखिये :—

'वसुविह पूजिनि ने स्वर एहानु, लै अभारु दिन सुनहि पुरानु।
संवत पन्द्रह सै इक असी, भादौ सुकिल श्रवण द्वादशी।५३६।'

अन्त में कवि कहता है :—

'पढ़ै गुणै लिषि वेइ लिषाइ, अरु मूरिष सौ कहौ सिषाइ।
ता गुण वर्णि बहुतु कवि कहै, पुत्रु जनमु सुखु संपति लहै।५४०।'

यह अन्तिम छन्द है। इसमें कवि ने कहा है कि प्रतिलिपि लिखने या लिखवाने और उसे नासमझों को समझाने का बड़ा माहात्म्य है। ऐसा करने वाले को पुत्र, धन, यश की प्राप्ति होती है। जैन समाज में पुस्तकों को लिखने के साथ उनकी प्रतिलिपि कराने तथा उन्हें सुरक्षित रखने की धार्मिक भावना हमेशा काम करती रही। इन पंक्तियों में कवि ने उसे ही व्यक्त किया है।

इसकी मरुगुर्जर भाषा पर हिन्दी विशेषतया तत्कालीन काव्य भाषा—व्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। काव्य गुण सम्पन्न व्रजभाषा का एक नमूना इन पंक्तियों में स्पष्ट है :—

'तोहि कहा एते सौ परी जो हौं कहौ सुन्दरि रावरी,
विहिना लिख्यो न मेट्यो जाइ, मन माँ सखी खरी पछिताइ।२२२।'[2]

---

१. डॉ० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १९३

२. वही

बीच-बीच में वस्तुबंध, साटक और संस्कृत के वर्णिक छन्द तथा प्राकृत की गाथायें प्रयुक्त हैं जिनका उद्धरण देने से विवरण अधिक दीर्घ हो जायेगा।

धणचन्द—आपने 'चित्रसेन पद्मावती' काव्य (११०२ गाथा) सोलहवीं शताब्दी में लिखा जिसका निश्चित रचनाकाल एवं विवरण नहीं प्राप्त हो पाया है। कवि के सम्बन्ध में भी विवरण अप्राप्त है।[1]

चतरुमल—आप अपेक्षाकृत अल्पज्ञात कवि हैं। आपके पिता श्री जसवंत गोपाचल (ग्वालियर) के श्रीमाल जाति के दिगम्बर जैन श्रावक थे, इन्होंने सं० १५६९ से ही गीत लिखना प्रारम्भ किया। इनके लिखे चार उपलब्ध गीतों में सबसे बड़ी रचना 'नेमीश्वर उरगानो' (सं० १५७१ भादो वदी पंचमी, सोमबार) ४५ पद्यों की है। इसकी काव्य विधा 'उरगानो' एक नवीन एवं विशिष्ट विधा है। इस उरगानो में नेमि-राजुल के विवाह सम्बन्धी घटना का वर्णन किया गया है। इसमें ग्वालियर के तत्कालीन तोमर वंशीय राजा मानसिंह का उल्लेख है। उन दिनों वहाँ जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। इनके समकालीन अपभ्रंश के महाकवि रइधू ने भी तोमर राजाओं की शान-शौकत का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है, लेकिन आश्चर्य है कि चतरुमल ने रइधू का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। इनके अन्य गीतों के शीर्षक 'गाड़ी के गड़वार की', 'आईति बाबा वारी के जईयौ' आदि में कवि के नाम की छाप मिलती है। 'भनइ चतरु श्रीमारु' या 'श्रावग सुणहु विचारु, चतरु यों गावहिंगे' आदि पंक्तियों में लेखक ने अपने नाम का प्रयोग किया है।

'नेमिश्वर उरगानो' में उरगानो का अर्थ कवि ने 'गुन विस्तरो' अर्थात् गुण का विस्तार करने वाला काव्य बताया है। इसमें मंगलाचरण के पश्चात् नारायण श्रीकृष्ण के पराक्रम की प्रशंसा, जरासंघ पर विजय, राज्यसभा में नेमि का पदार्पण, श्री कृष्ण द्वारा नेमिकुमार की प्रशंसा, श्रीकृष्ण द्वारा उग्रसेन की कन्या राजीमती का नेमिकुमार से विवाह के लिए तैयारी करना, बारात पहुँचने पर एकत्र पशुओं को देखकर नेमि का वैराग्य भाव जागना, राजुल का करुण क्रन्दन, राजुल का भी नेमि के पीछे-पीछे शिखर पर चढ़ना, संयमपूर्वक नेमि की सेवा करना, तप करना और इसी प्रसंग में बारहमासे द्वारा हर महीने में राजुल की विरह वेदना का वर्णन, और अन्त में दीक्षा ग्रहण आदि का मार्मिक कथन किया गया है। यह शान्तरस पूर्ण

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० १६

रचना है। भगवान शिव को पार्वती की तपस्या के सामने कृपालु होकर अपना व्रत तोड़ना पड़ा था, परन्तु नेमिकुमार अपने व्रत-संयम पर अन्त तक अडिग बने रहे और राजुल को ही संयम का व्रत लेना पड़ा। यह प्रवृत्ति प्रधान ब्राह्मण संस्कृति और निवृत्ति प्रधान श्रमण संस्कृति का मुख्य अन्तर है। जैनधर्म का संयम प्रधान निवृत्ति मार्गी-आदर्श कवि ने नेमि के जीवन चरित्र के माध्यम से इस रचना में प्रस्तुत किया है। इसकी भाषा पर व्रज का प्रभाव अत्यधिक है। गोपाचल का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

'मधि देसु सुख सयल निधान, गढु गोपाचल उत्तिग ठाँनु।
पढ़त सुनत जा उपज्यै ग्यानु।
मन निहचल करि जिय धरइ, राजीमती जिन संयमु लियौ,
नेमिकुँवर नेमि सयल वीनयौ। नेमिकुंवर नेमि जिन वंदियौ।४५।[1]

बारहमासे का दुःख वर्णन करने के पश्चात् राजुल नेमिकुंवर से प्रार्थना करती है :—

'ए षट्रितु को सकै सम्हारि, उपजै दुषु तुमहि सम्हारि,
क्यों करि यहु मनु राषि हैं, रहि हैं पास तुम्हारे देव,
करि हैं चरन नित सेव, नेमिकुंवर जिन वंदिहौ।३४।[2]

रचना काल इस प्रकार बताया गया है :—

'संवतु पंद्रह सै दो गनौ, गुन गुनहत्तरि ता ऊपर चैन,
भादो वदि तिथि पंचमीवार, सोम नषितु रेवती साह।'[3]

इनके 'क्रोध गीत' की दो पंक्तियाँ देखिये :—

'मानु न कीजै जोईवरा, तिसु मानहि हो मानहि जियरा दुख सहै।
अप्पु सराहे हो भलो, पुणि परु की हो परु कीणित करइ।
अहमेव करि करि कर्म वधौ, लाख चौरासी महि फिरै,
इम जानि जियरा मानु परिहरि, मानु बहु दुखह करौ।'[4]

---

१. डॉ० क० च० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १७५

२. वही, पृ० १७३

३. वही, पृ० १६४

४. वही, पृ० १६१

कवि ने राजा मानसिंह का उल्लेख निम्नांकित पंक्तियों में किया है—

'भुजवल आपु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये,
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहिं दिन भोगु।'[1]

चउहथ (चोथो)—आप सांडेर गच्छ के आचार्य यशोभद्रसूरि की परंपरा में धर्मसागरसूरि के शिष्य थे। सं० १५८७ में आपने 'आरामनंदन चौपइ' लिखी। कृति के प्रारम्भ में सरस्वती की वंदना करता हुआ कवि कहता है :—

'सरसति सामिणी पय नमी, आराहिस इक चित्त,
सातूठी देसिइ सदा, सुबुद्धि सुमति शुभ चित्त।

तत्पश्चात् सांडेर गच्छीय गुरु यशोभद्रसूरि का वंदन किया है, यथा :—

'गछ सांडेरा मंडणउ, श्री जसोभद्र सुरेन्द्र,
जस पय पंकइय सेवता भविक लइ आणंद।

फिर लिखिमीपुर नामक नगर के वर्णन से कथा का प्रारम्भ होता है। कवि ने कथा के अन्त में अपना, अपने गुरु और रचनाकाल का विवरण भी दिया है, यथा :—

'तास सीस उवज्झायं नामइ नवनिधि थाइ,
धर्मसागर तणइ अे, कवियण इम भणइ अे।
आणी आनंद पूरि दुख दाह करि दूरि,
हरष धरी छणइ अे, चउहथ इम भणइ अे।'

रचना काल— 'संवत पन्नर प्रमाणि सत्यासीयइ इम जाणी,
कीधऊ अे चरीय, महीयलि विस्तरी अे।'[2]

इसकी काव्यभाषा मरुगुर्जर पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। काव्यत्व की दृष्टि से यह एक साधारण कोटि की रचना प्रतीत होती है।

चउआ—इनकी दो रचनाओं—पार्श्वनाथ विनती (३४ कड़ी) और सिद्धचक्र (ऋषभ) स्त० (५ कड़ी) का उल्लेख श्री मो० द० देसाई ने किया है किन्तु कवि का विवरण नहीं दिया है। पार्श्वनाथ विनती का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'वरसह लाख इग्यार, इन्द्रिइ पास जिण पूजिआ,
कोइ न जाणइ पार, आगइ अे अनागता।'

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन—हिन्दी जैन भक्ति काव्य पृ० ७२

२. श्री मो० द० देसाई—जैन गु० कवि भाग ३ पृ० ५७८

अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'पास तणउ परिमाण, पढ़इ गुणइ जे सांभलइ,
तीह धरि नितु सुविहाणु, चिरकालइ चइऊ भणइ ।३४।'[1]

'ऋषभ स्तोत्र' की भाषा अधिक संगीतमय है, यथा :—

'इय रिसह जिणेसर भुवण दिणेसर, तिजय विजय सिरिपाल पहो,
नयणाह्यि सामिय सिवगय गामिय, मणह मणोरह पूरिमहो ।५।'

चतुर्भुज—आपने सं० १५७६ में 'भ्रमर गीता' लिखा जो 'प्राचीन फागु संग्रह' में प्रकाशित है। नाम इसका फागु नहीं है किन्तु अन्त में 'श्री कृष्ण गोपी विरह मेलापक फागु' लिखा है। इसका छन्दबन्ध भी फागु जैसा ही है। कविता में इसका रचना काल इस प्रकार है 'छिहुतरि कीधु छूटवा मेटवा श्री भगवान' के आधार पर श्री सांडेसरा ने इसका रचनाकाल सं० १५७६ निश्चय किया है। यह रचना भागवत के दशम स्कन्ध के अनुसार रचित उद्धव संदेश जैसी है। उद्धव व्रज से गोपियों का प्रेमपूर्ण उपालम्भ सुनकर लौटे और भाव विह्वल होकर उनकी दशा का मार्मिक वर्णन श्री कृष्ण से किया; यह सब इसमें बड़े सरस ढंग से व्यक्त किया गया है। कवि भले अप्रसिद्ध हों किन्तु रचना काव्यत्व की दृष्टि से उत्तम है। जूनी गुजराती या मरु-गुर्जर में भीम कृत रसिक गीता, ब्रह्मदेव कृत भ्रमर गीता और दयाराम कृत प्रेमरस गीता आदि में उद्धव प्रसंग वर्णित है किन्तु ये फागु नहीं हैं। प्राचीन फागु संग्रह में संकलित ज्ञानगीता के अलावा अन्य रचनाओं नेमिनाथ भ्रमर गीता, पार्श्वनाथ राजगीता तथा यशोविजयकृत जंबूस्वामी ब्रह्मगीता आदि से यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकार के फागु काव्य की शैली इस विषय पर पहले से जैन साहित्य में प्रचलित थी।

फागु के प्रारम्भ में मदनमुरारी की वंदना और गोपियों की विरह-कातरता सूचित की गई है। अक्रूर कृष्ण को रथ पर बैठाकर मथुरा चले, गोपियाँ विलखकर कहती हैं कि यह अक्रूर बड़ा क्रूर है, यथा—

'अक्रूर नहीं ए क्रूर पापी आव्यु अचित्यु शोभा संतापी,
क्रिष्ण म जाउ अम्ह कंठ कांपी विलविलइ विरुहिणी विरह व्यापी।
नेह उपायु ति पहलुं रे, बदलु करवा छेह,
जल बिना किम रहइ माछली, जीव बिना तिम देह ।१६।'

उद्धव के व्रज आने पर गोपियाँ दौड़ पड़ीं, कवि कहता है :—

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५५३

'सुन्दरी सर्व व्यापार छाड़ी, पूछवा किण्ण नी बात मांडी।' और बोलीं कि कृष्ण मथुरा जाकर हम लोगों को भूल गये, तो उद्धव बोले—

सर्व निरंतर शरषु रे निरषु तुम्हें निज नाथ,
इणि परि माधव प्रामिसिउ उद्धव कहि जोड़ी हाथ।

उद्धव गोपियों के प्रेम में दीक्षित हो वापस लौटे, कंठावरोध हो गया, केवल संकेत से ही बहुत कुछ कह सके।

रास का अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

छिहुत्तरि कीधु छूटवा मेटवा श्री भगवान,
कोडि कन्या परणाविइ जे फल हुइ समानि।
श्लोका अठसठि तीरथ अवधान, हेमतुला पुरुष भूमिदान।
भावि गाइं जे नर तेहाँ तोलि, भणइ चतुर्भुज वेदव्यास बोलइ।[1]

चन्द्रप्रभसूरि—आपने सं० १५०१ में 'सुदर्शन श्रेष्ठि रास या प्रबन्ध' लिखा। २२५ छंदों के इस रास के कर्त्ता के सम्बन्ध में प्रत्यन्तरों में पाठभेद पाया जाता है। श्री मो० द० देसाई ने इस रास का कर्त्ता तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य संघविमल या शुभशील को माना है। उसका आधार यह पंक्ति है 'तपागच्छी गुरु गौतम समाए मा० श्री मुनिसुन्दर सूरि'; किन्तु बीकानेर के बृहद् ज्ञान भंडार में उपलब्ध इस रास की प्रति में यह पंक्ति मिलती है—'चन्द्रगच्छी गोयम समाए मा० श्री चन्द्रप्रभसूरि'। श्री नाहटा जी इसी के आधार पर इसे चन्द्रप्रभ की रचना मानते हैं। श्री देसाई कहीं इसका कर्त्ता संघविमल या शुभशील को बताते हैं और किसी प्रति के आधार पर मेलो संघवी' को कर्त्ता कहते हैं। उन्होंने कई नाम देकर उन पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।[2] इसलिए यहाँ श्री नाहटा जी के आधार पर कर्त्ता का नाम चन्द्रप्रभसूरि रखा गया है।[3]

रास का चरित नायक सुदर्शन सेठ अपनी शीलनिष्ठा के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। उसने नाना कष्ट सहकर भी पर स्त्री गमन को कभी स्वीकार नहीं किया। उसके शील के कारण शूली भी सिंहासन बन गई। कवि शील का माहात्म्य बखानता हुआ रास इस प्रकार समाप्त करता है :—

'शील प्रबन्ध जो सांभलइ अे माल्हंड तडे, नर नारीय ते धन्न, सु०
सुदर्शन रिषि केवली अे, मा० चतुर्विधि संघ प्रसन्न, सुणि सु।'२५५।

१. प्राचीन फागु संग्रह (सं० भोगीलाल सांडेसरा) पृ० ९३
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ४२-४३, भाग ३ पृ० ४५५
३. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ५६

इसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है :—

'पहिलऊ प्रणमिसु अनुक्रमिइं अे, जिणवर चउवीस,
पछइ शासन देवता अे तीह नामऊं सीस।
समरीअ सामिणि सारदा अे, सानिधि संभारउं।
आगइ पालउं प्रतिपनूं अे, कवि सिऊं अेका हरऊ।'

रास का रचना काल इस प्रकार उल्लिखित है :—

'संवत पनर अेकात्तरइ मा, जेठइ चौथि विशुद्धि, सु०'

कवि मुनिसुन्दरसूरि को गुरु बताता है—(देशाई के पाठानुसार)

'तपगछि गुरु गोयम समा अे मा० श्री मुनिसुन्दरसूरि, सु०
नामइ सर्व सिद्धि संपजै अे मा०, दुरिय पणासइ दूरि सु० ।४८।[1]

यह १६वीं शताब्दी के प्रथम दशक की महत्वपूर्ण रचना है और काव्यत्व की दृष्टि से भी विचारणीय है किन्तु इसके कर्त्ता का निर्णय होना शेष है। इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है।

चन्द्रकीर्ति—आपने 'श्री कीर्तिरत्न सूरि गीत' लिखा है जो 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। भाषा के नमूने के लिए इसकी दो पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

'भूत प्रेत डर भर नावइ, जंजाल सबे दूरइं जावइं,
गणि चन्द्रकीर्ति गुरु गुण गावै, श्री कीर्तिरत्नसूरि ध्यावइं ।१८।'

इसमें कवि ने अपने गुरु श्री कीर्तिरत्न सूरि की कीर्ति का वर्णन सरल मरुगुर्जर भाषा में किया है।[2]

चन्द्रलाभ—आंचलगच्छीय कवि थे। आपने सं० १५७२ में 'चतुःपर्वी रास' लिखा।[3] श्री देसाई ने मात्र रचना का उल्लेख किया है; न तो उससे कोई उद्धरण दिया है और न कवि के सम्बन्ध में कोई सूचना ही दिया है।

चारुचन्द्र—आप खरतरगच्छीय प्रसिद्ध विद्वान् जयसागर उपाध्याय के प्रशिष्य एवं भक्तिलाभ उपाध्याय के शिष्य थे। इन्होंने मरुगुर्जर में अनेकों रचनायें की हैं जिनमें उत्तमकुमारचरित, हरिबल चौपई सं० १५८१,

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग १ पृ० ४२-४३, भाग ३ पृ० ४५५
२. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह
३. श्री मो० द० देसाई—जैन गुर्जर कवि भाग ३ पृष्ठ ५७०

नन्दन मणिहार संधि सं० १५८७, रतिसार केवली चौपई, महाबल मलय-सुन्दरी रास (५१५ गाथा), पंचतीर्थी स्तवन सं० १५९८ और युगमंधर गीत उल्लेखनीय हैं। इनकी नन्दनमणिहार संधि, रतिसार चौपई और महाबल रास की प्रतियाँ श्री अ० च० नाहटा जी के संग्रह में हैं।[1]

'नन्दन मणिहार संधि' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

'वीर जिणेसर चरण नमेवि, संधि बंधि समरिसु संखेवि,
श्री सुधर्म गणधर जिम भाखइ, जंबू गणधर तिमवलि दाखइ।
ज्ञाताधर्म कथा तणइअे, तेरम अज्झयणि नंदमणियार चरिउ
भणीयउ अे।

गुरु का स्मरण और रचनाकाल इन पंक्तियों में है :—

'उवज्झायवर श्री भगति लाभइ, सीस विरचि अति भली।'

× × ×

रचनाकाल—'संवत पनरह असी ऊपरि सात अधिक वछरे,
गणि चारुचन्द्रे लहिय पुस्तक मास फागुण मनहरे।'[2]

इस उद्धरण से इनकी भाषा शैली का विज्ञ जन अनुमान कर सकेंगे। इनकी रचनाओं में कुछ रास हैं जिनमें केवली रतिसार, मलय सुन्दरी, उत्तम कुमार आदि की कथा के माध्यम से धर्मोपदेश दिया गया है और कुछ स्तवन तथा स्तोत्र आदि हैं।

छीहल—आप १६वीं शताब्दी के बहुचर्चित कवि हैं। इनका वर्णन राजस्थानी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में तो है ही, हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्येतिहासकार आ० रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी और डॉ० प्रेमसागर जैन आदि विद्वानों ने भी अपने इतिहास ग्रन्थों में किया है। इनकी 'पंचसहेली' और 'बावनी' नामक रचनायें अति प्रसिद्ध हैं। आप राजस्थानी कवि हैं किन्तु इनके निवास स्थान आदि का निश्चित जानकारी नहीं है। इनकी भाषा के आधार पर इन्हें शेखावटी या ढूंढाड़ के आसपास का निवासी समझा जाता है। ये दिगम्बर श्रावक थे। 'लघुबेलि' में इन्होंने जिनधर्म की महत्ता का वर्णन किया है किन्तु पता नहीं क्यों श्री देसाई ने इन्हें जैनेतर कवियों में रखा है।[3]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, परम्परा पृ० ६५
२. श्री मो० द० देसाई—जैन गु० क० भाग ३ पृ० ५७७-५७८
३. वही, खण्ड २ पृ० २१२६

इनके पिता श्री नाथू जी नाल्हिग वंशीय अग्रवाल थे। बावनी में उन्होंने इसका उल्लेख किया है, यथा—

'नाल्हिग वंशि नाथू सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि,
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि।' ५३।

इनकी छह रचनाओं का विवरण प्राप्त है—(१) पंचसहेलीगीत, (२) बावनी, (३) पंथीगीत, (४) बेलिगीत, (५) वैराग्यगीत और (६) गीत। पंचसहेली कवि के युवावस्था की अत्यन्त श्रृङ्गाररसपूर्ण सरस रचना है। इसमें पाँच सहेलियाँ जो मालिन, छीपन, सोनारिन, तम्बोलिन और कलालिन जाति की हैं, अपनी दुःख कथा परस्पर एक दूसरे से कहती हैं। न वे गाती-नाचती हैं, न बातें करती हैं, न नैनों में काजल, न मुख में तम्बोल, न गले में हार, न कोई श्रृङ्गार; रूखे केश, मैले कपड़ों में बैठी लम्बी-लम्बी साँसें लेती रहती हैं, यथा—

'तिन महि पंच सहेलियां नाचइ गावइ न हसइ, ना मुखबोलइ बोल।
नयनन्ह काजल ना दीउ, ना गलि पहिन्दोहार,
मुख तम्बोल न खाइया, ना किछु किया सिगार।' इत्यादि

पांचों की पहले सामान्य अवस्था बताकर फिर कवि एक-एक की कथा-व्यथा उनकी जुबानी कहलाता है। पहले मालिन कहती है, यथा :—

'पहिली बोली मालनी मुझको दुःख अनन्त, बालइ यौवन छाड़िकइ
चल्यु दिसावरि कंतु।
निसदिन बहवइ पवाल ज्युं नयनह नीर अपार,
विरहउ माली दुक्ख का, सूभर भरया किवार।
कमल वदन कुमलाइया, सूखी सुख वनरइ,
वाझू पीयारइ एक खिन, वरस बराबरि जाइ।
तन तरवर फल लागिया, दुइ नारिंग भरपूर,
सूखन लगा विरह झल, सींचनहारा दूरि।'

इसी प्रकार तम्बोलिन, छीपन आदि भी अपने दुस्तर विरह समुद्र का रो-रोकर वर्णन करती है जिसे सुनकर कवि भी बड़ा दुःखी हुआ और विप्रलंभ काव्य की रचना हुई।

क्रमशः वर्षाऋतु आयी, प्रवासी पति वापस लौटे। पुनः पांचों सखियां आपस में मिलीं। इस बार वे हँसती, गाती और नाना श्रृङ्गार किए हुए

१. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल—बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १२५

अति प्रसन्न थीं। उनके यौवन की क्यारी में बहार आ गई थी। उनके इस पक्ष का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है —

'मालिन का मुख फूल ज्यउं बहुत विगास करेइ,
प्रेम सहित गुंजार करि पीय मधुक रस लेइ।
चोली खोल तम्बोलनी काढ्या गात्र अपार,
रंग कीया बहु प्रीय सुं नयन मिलाइ तार।५९।'

इस प्रकार इसमें श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसकी रचना फाल्गुन सुदि पूर्णिमा सं० १५७५ को हुई। उस दिन मदनोत्सव (होलिका पर्व) मनाया जाता है। यह रचना उसके मादक वातावरण के अनुकूल लिखी गई है। इसकी भाषा के सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि यह व्रजभाषा है किन्तु इस पर मारवाड़ीय राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। अन्त में वे स्वयं भी कहते हैं कि 'पंचसहेली री बात' की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है।'[1] यह अत्यन्त लोकप्रिय कृति है और राजस्थान के अनेक भंडारों में इसकी नाना प्रतियाँ उपलब्ध हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट रचना है किन्तु इसमें जैन दर्शन या धर्म की छाप नहीं है। सम्भवतः इसलिए श्री देसाई ने इन्हें जैनेतर मान लिया है।

बावनी—इसमें नीति उपदेश है। इस पर संस्कृत के सुभाषितों का प्रभाव प्रकट होता है। जैन विद्वान् बावनी संज्ञक काव्य आरम्भ से लिखते रहे हैं। प्रस्तुत बावनी में ५३ छंद नागराक्षरों के क्रम से निबद्ध हैं। प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् पांच इन्द्रियों में उलझे मनुष्य की मछली, हाथी, हिरण, भँवरा और पतंग से तुलना करता हुआ कवि कहता है—

'नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण तत्तखिण,
इन्द्री परस गयंद वास अलि मरइ विचष्षण।
रसना स्वाद विलग्गि मीन वज्झइ देखन्ता,
लोयण लुबुध पतंग पडइ पावक पेषन्ता।
मृग मीन भंवर कुंजर पतंग ए सब विणासइ इक करि,
छीहल कहइ रे लोयि इन्दी राखउ अप्प वसि।'[2]

---

१. डॉ. शिव प्रसाद सिंह, सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य पृ० १७०-१७१
२. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल—कवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १३१

रचनाकाल और अन्य विवरण इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

'चउरासी अग्गला सइ जु पनरह संवच्छर, सुकुल पष्ष अष्टमी मास
कातिग गुरुवासर।
हृदय ऊपनी बुद्धि नाम थी गुरु को लीनो, सारद तणइ पसाइ
कवित्त संपूरण कीन्हो।'

यह भी अतिशय लोकप्रिय रचना है और इसकी भी अनेक प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। 'वैराग्य गीत' में मानव को जीवन में अच्छे कार्य करने की प्रेरणा दी गई है। बचपन और यौवन के निकल जाने पर वृद्धावस्था में जब मृत्यु आती है तब मनुष्य हाथ मलने लगता है; इसलिए समय रहते अच्छे कर्म कर लेना चाहिये। 'उदरगीत' में कवि कहता है कि यदि सारा जीवन उदर पूर्ति में ही व्यतीत कर दिया तो यह जन्म व्यर्थ हो गया। इसे ही वैराग्य गीत भी कहा गया है। पंथी गीत ६ पद्यों की और बेलिगीत कुल ४ पद्यों की छोटी-छोटी रचनायें हैं। वैराग्य या उदर गीत भी चार पद्यों की ही रचना है। अन्त में ६ कड़ी का एक गीत भी राग सोरठा में उपलब्ध है।[1] इनकी कृतियाँ राजस्थानी (पुरानी हिन्दी) मरुगुर्जर की महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं जिनमें नैतिक शिक्षा, धर्म, आध्यात्म के साथ लौकिक प्रेम, शृंगार आदि का यथावसर बड़ा रमणीय वर्णन किया गया है। आश्चर्य है कि इन्हें देसाई जी ने जैनेतर के साथ ही 'हीन श्रेणि' का कवि कहा है। लगता है कि उन्होंने इस कवि की सभी कृतियों को बिना देखे ही यह धारणा बना ली या उसके लौकिक शृंगार आदि के कारण उन्हें कवि से विरक्ति हुई हो। परन्तु साहित्य के इतिहास ग्रन्थ में साहित्य तत्त्व किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो सकता और न इतिहासकार किसी प्रकार का पूर्वाग्रह रखकर ही चल सकता है। इसलिए छीहल की रचनाओं के आधार पर उनके मूल्यांकन की आवश्यकता को देखते हुए यह विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(भट्टारक) जयकीर्ति—आपका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनकी रचनायें 'भवदेव चरित्र' और 'पार्श्व भवान्तर के छन्द' जिन गुटकों में प्राप्त हुए हैं वे १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लिखे हुए हैं। ये रामकीर्ति के गुरु और 'छंदानुशासन' के कर्त्ता जयकीर्ति से भिन्न हैं। वे संस्कृत के विद्वान् थे जबकि प्रस्तुत जयकीर्ति की रचनायें मरुगुर्जर में लिखी गई हैं। उक्त दो रचनाओं के अलावा 'ब्रह्मचर्य उपदेश माला'

---

१. डा० क० च० कासलीवाल— महाकवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १३१

नामक एक अन्य रचना भी इनकी कही जाती है। ऐतिहासिक जैन का० संग्रह में जयकीर्ति के दो गीत संकलित हैं जिनके गुरु श्री कीर्तिरत्नसूरि हैं दोनों गीतों में जयकीर्ति ने अपने गुरु की प्रशस्ति की है। इनमें ए गीत की दो पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'सद्गुरु गुण पार न पावै, मुनिजन वर भावना भावै हो,
जयकीर्ति सदा गुण बोले, सद्गुरु गुण कोइ न तोले हो।'[1]

इन गीतों की भाषा प्रायः हिन्दी ही है। यदि इन्हीं जयकीर्ति के लिखी 'पार्श्व भवान्तर छन्द' भी हो तो ये दोनों एक ही व्यक्ति हो सकते हैं और इनके गुरु कीर्तिरत्नसूरि हो सकते हैं। चन्द्रकीर्ति ने भी श्री कीर्ति रत्नसूरि गीत लिखा है। शायद चन्द्रकीर्ति और जयकीर्ति गुरुभाई हों। यह रचना भी ऐ० जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। कीर्तिरत्न के शिष्य कल्याणचन्द्र ने भी कीर्तिरत्न विवाहलु और कीर्तिरत्न चउपइ लिखा है जिससे यह स्पष्ट है कि कीर्तिरत्नसूरि १६वीं शताब्दी के प्रथम चरण में उपस्थित थे। अतः यह कवि भी १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के होंगे।

मुनिजयलाल—आपकी रचना 'विमलनाथ स्तवन' जिस गुटके में निबद्ध है वह सं० १६२६ की लिखित है, इससे इसका रचनाकाल १६वीं शताब्दी अनुमानित है। रचना में रचना का समय, स्थान आदि विवरण नहीं दिया गया है। विमलनाथ स्तवन १३वें तीर्थंकर विमलनाथ की वैराटपुर (जयपुर) में प्रतिष्ठित प्रतिमा को लक्ष्य करके लिखा गया स्तवन है। इस स्तवन की भाषा में सहज प्रवाह एवं गेयता है। भाषा में राजस्थानी प्रयोग का अनुपात अधिक है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :—

'वैराटिपुरि श्री विमल जिनवर सयल रिधि सिधि दायगो,
इमि थुणिउ भत्तिहि नियइ सत्तिहि, ते रमड़ जिणि नायको।
श्री सयल संघह करण मंगल, दुरिय पाप निकंदणो,
श्री जयलाल मुणिंद जंपइ, देहि नाण सुदंसणो।'

जयमन्दिर—आप बड़तपगच्छीय श्री जयप्रभ के शिष्य थे। आपने सं० १५९२ में त्रंबावती में 'तेजसार चौपइ' नामक काव्यकृति तैयार की। इस रचना का श्री मो० द० देसाई ने केवल नामोल्लेख किया है। अन्य विवरण अनुपलब्ध है।[2]

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५९६

जयराज—आप पौर्णिमा गच्छीय मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। आपकी सिद्ध रचना 'मत्स्योदर रास' सं० १५५३ में लिखी गई। रास के प्रारम्भ में कवि ने अरिहंत और सरस्वती की वंदना की है, यथा :—

'देव अरिहंत देव अरिहंत सिद्ध प्रणमेवि।
आचारिज उवझाय सवि, नमु साधु सरसति सामिणि।
कवियण जण मुख मंडणी, देइ बुद्धि वर हंसगामिनी,
मच्छोदर सुख पामीआ, पुण्य तणइ प्रमाणि।
दुःख पाम्या ते सांभलु अंतराय फल जाणि।१।[1]

रास के अन्त में कवि ने गुरु परम्परा और रचनाकाल का उल्लेख किया है, यथा :—

'पूनिम गच्छि मुनिचन्द्रसूरि राज, तासु सीस जंपइ जइराज
पनर त्रिपन्न कीधु रास, भणइ गुणइ तेह पूरि आस।'[2]

मुनिचन्द्रसूरि भीमपल्लीय पूर्णिमागच्छ में चारित्रसुन्दरसूरि के पट्टधर थे। इनके धातु प्रतिमा-लेखों से इनका समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। इस रास में पूर्वार्द्ध तक चौपइ छन्द का ही प्रयोग किया गया है। भाषा मरुगुर्जर है। भाषा और अभिव्यञ्जना शैली के नमूने के तौर पर अंतिम चार पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :—

अे रास भणइसिइ कानि सुणिसिइ पुण्यना फल जाणिसिइ।
धनदि कीधां धर्मकारणि अंतराइ टालसिइं।
चुपइ नइ बंधइ कीधु रास मत्स्योदर तणु,
हर्ष ऊलट हीइ आणि, भवीय एक मनां सुणु।१६१।

श्री जयवल्लभ—पूर्णिमागच्छीय आचार्य माणिक्यचन्द्रसूरि आपके गुरु थे। आपने सं० १५७७ में 'श्रावकव्रत रास' (५९ कड़ी); स्थूलभद्र वासठीओ (६२ गाथा), 'धन्ना अणगारनो रास' और 'नेमि परमानन्द बेलि' नामक काव्य कृतियाँ लिखीं। इनका परिचय आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

'श्रावक व्रत रास' या गृही धर्म रास का विषय तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है :—

''पणमीय वीर जिणंद देव समरीय गुरु गोयम,
पभणिस समकित मूलसार श्रावक व्रत इम।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग १ पृ० ९४
२. वही, भाग ३ पृ० ५२३

पहिलु थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भणीइ,
बीजुं थूल अलीय वयण परिहार सुथुणीइ ।1।[1]

इसका रचना काल कवि ने इस प्रकार बताया है :—

"जीव जीव भंग कछ अे, सिवसुह मूल सुरमं
पनर सित्तोहत्तर लिद्ध मइ, सुगुरु पास गिहधम्म ।"[2]

'स्थूलभद्र बासठीओ'—रचना के प्रारम्भ में माँ शारदा की प्रार्थना करता हुआ कवि लिखता है :—

'मृगनयणी रे शशिबयणी सारद नमूं, दिउ वाणी रे वाणी तुम्हनइ पय नमूं,
विनवीय रे नमीयइ गुरु गोयमवली, मति मांगु रे लांगु सहिगुरु पयलली ।

इसमें स्थूलभद्र का आदर्श चरित्र बासठीओ नामक नवीन काव्य विधा में चित्रित किया गया है। इसके अन्त की पंक्तियाँ देखिये :—

"अतिहि दुक्कर हिकर कहइ मुनिवर सुणीसीह मुणीश्वरा,
चउरासी चउवीसी जं लगि नाम महीयल विस्तर्यां ।
श्री माणिकसुन्दर सूरि सीसइ, भणइ जयवल्लभ वरो,
श्री थूलभद्र सुजाण सुंदर संघ चउवेह सुखकरो ।६३।[3]

'नेमि परमानन्द बेलि'—यह बेलि नामक विशेष काव्य विधा में 'नेमि' के आकर्षक व्यक्तित्व पर आधारित रचना है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'गिरि गिरिनारि सोहामणो रे, पाखलि फिरता वन्न,
जसु सिरि स्वामी यादववंशी, सोहइ सायल वन्न रे ।
हीयडला हेरि रे नेमि जी नाम मेल्हि परमाण दरस बेलि रे,
हृदय कमल तुं झेलि रे, उपशम रंग ज रेलि रे, नेमि० ।[4]

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

"श्री जइवलभु मुनीश्वर नवइ सुणसु नेमि जिणंद,
दोइ कर जोड़ी सेवा तोरी, मांगूँ वली वली एह रे । ४८ ।[5]

आपने अनेक लोकप्रिय चरित्रों और विषयों पर नवीन काव्य-विधाओं जैसे बेलि, बासठीओ, रास आदि में मरुगुर्जर भाषा-साहित्य का

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खण्ड १ पृ० ५१७
२. वही, भाग ३, खण्ड २, पृ० १४९१
३. वही, भाग ३ पृ० ५१७
४. श्री अ० च० नाहटा— म० गु० जै० कवि पृ० १३३
५. वही, पृ० १३३

श्रीवर्द्धन किया है। उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हुआ होगा कि आपका मरु-गुर्जर भाषा पर अच्छा अधिकार था। इनकी रचनाओं में काव्यत्व औसत दर्जे का है, किन्तु विस्तार अधिक है।

जयविजय—तपागच्छीय आचार्य हेमविमल सूरि के आप प्रशिष्य और आनन्द विमल सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५६४ में 'मुनिपति चौ०' वरकाणा में लिखा। इस रचना में मुनिपति का चरित्र और आचार आवश्यक-भाष्य के आधार पर वर्णित है। कवि ने लिखा है :—

"श्री आवश्यक नइ आधार, मुनिवइ चरीय रचिऊ बिचार।'

इसमें रचना सम्बन्धी सभी आवश्यक विवरण उपलब्ध हैं। गुरुपरम्परा के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है, यथा—

"भणइ गुणइ नइ जे साभंलइ, तेह तणइ मनवंछित फलइ।
तपागछ श्री गुरुउदयवंत, श्री हेमविमल सुरजयवंत।
"सीस सरोमणि अति उदयवंत, पंडित आणंद शुभ गुणवंत,
तस पसाय अेह चरित्र, मुणिपति केरु पुन्य पवित्र।"

रचनाकाल—"पनरह सइ चउसठ समइ, आसोमास माहा अमी अमइ,
दसमीनउ देन गुरुवार चन्द्रधनेसुरी ने आधार।"

× × × ×

स्थान– 'वारिकाणि वारु मति दीध, तऊ परिपूर्ण हुई संमध।'[1]

अन्तिम पंक्तियों में कवि ने अपना नाम इस प्रकार दिया है—

"जे भणइ भवीयण सुणउ, श्रवणइ गुणइ गाढ़इ गाजतइ,
ते लहे लछी फलइ अे वंछीति, '**जयवेजय**' वधावतइ।२३।"

मुनियों के संयमपूर्ण आचार-व्यवहार का विधि-विधान करने वाली इस उपदेशपरक रचना में स्वभावतः काव्यसौष्ठव की तरफ कवि का ध्यान नहीं रहा है अतः इसे साम्प्रदायिक साहित्य ही समझना चाहिये। इसकी भाषा में हिन्दी प्रयोग की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि १६वीं शती में भी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में अधिक भाषागत वैषम्य नहीं था।

जयानन्द—आपकी रचना 'ढोला मारु की वार्ता-दोहाबद्ध' (४४२ दूहा) राजस्थान की अत्यन्त लोकप्रिय प्रेमकथा ढोलामारु पर आधारित है। इसका रचनाकाल सं० १५३० वैशाख वदी गुरुवार है। रचना के कुछ प्रारम्भिक दोहे भाषा एवं भाव के नमूने के रूप में उद्धृत किए जा रहे हैं:—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ५४२

'पूगल पिंगल राव, नल राजा नरवरै नयरै,
अदीठा अणदीठा, सगइ दैव संयोगे।
पिंगल ऊंचालो कियो, गयो नरवर ते देस,
पिंगल देस दुकाल थयो, किणही बाव विशेष।
नलराजा आदर दियो जो राजवियां जोग,
देसवास सहि रावला अैं घोड़ा अै लोग।
नरवर नल राजा तणो, ढोलोकुमर अनूप,
राणी राव पिंगल तणी रीझी देखै रूप।
पिंगल पुत्री पद्मिणी मारवणी ते सुनाम,
जोसी जोय विचारियो धन विधाता काम ।।५।।[1]

कथा आगे बढ़ती है। पिंगलराव की रानी ने नरवर के राजा नल के कुमार ढोला को अपनी कन्या के लिए पसन्द किया। यह कथा भी अन्य प्रेम-कथा की तमाम तरह मंजिलें पार करती है; तब अन्त में कवि कहता है :—

आणंद अति उच्छव हुवो नरवर वाज्या ढोल,
ससनेही सैणां तणां कल में रहिया बोल। ४४०।

यह प्रेमकथा मुख्यरूप से दोहे में और कहीं-कही गाथा, सोरठा जैसे छोटे मात्रिक छंदों में कही गई है। कवि ने लिखा है :—

"दूहा गाहा सोरठा मन विकसणां बखांण।
अणजाणी मूरख हंसै, रीझै चतुर सुजांण ।४४१।

यह कथा मारवाड़ की है और इसकी भाषा में भी मारवाड़ी (राजस्थानी) की प्रधानता है। दोहों में यत्र-तत्र मधुर भाव बड़े काव्यात्मक पद्धति से व्यक्त किये गये हैं। अतः राजस्थानी भाषा और काव्यत्व की दृष्टि से यह कृति मनीषियों के अध्ययन की उत्तम सामग्री प्रस्तुत करती है।

जयहेमशिष्य—(अज्ञात) इस कवि की कृति 'चित्तौड़ चैत्य परिपाटी' (४३ कड़ी) एक ऐतिहासिक और प्रकाशित रचना है। जयहेम हेमविमल सूरि के शिष्य थे। तपागच्छीय आचार्य हेमविमल सूरि को आचार्य पद सं० १५४८ में प्राप्त हुआ था और सं० १५६८ में उनका स्वर्गवास हो गया था, अतः यह रचना १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशक की हो सकती है। इसका प्रारम्भिक पद्य आगे प्रस्तुत है :—

'गोयम गणहर राय पाय पंकय पणमेवी,
हंसगमणि मृगलोयणीअे सरसति समरेवि;

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १२४-१२५

पाओ लागीनइं वीनवु ओ दिउ मुझ मति माडी,
चित्रकोट नयरह तणी ओ रचउ चैत्य प्रवाडी।[1]

इस रचना की अन्तिम पंक्तियाँ निम्नांकित हैं :—

"सिरि तवगछ नायक सिव सुखदायक हेमविमल सूरिंदवरा,
तासु सीस सुखाकर गुणमणि आगर लबधि मूरति पंडित प्रवरा।
जय हेम पंडितवर विद्या सुरगुरु सेवीजइ अनुदिन चरण,
सेवकगन बोलइ अमिअह तोलइ हरषिइं हरष सुहकरण।४३।[2]

भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत रचना प्रौढ़ प्रतीत होती है, वस्तुतः प्रवाडी (परिपाटी) स्तोत्र, स्तवन आदि की भाषा और शैली अब तक स्थिर हो चली थी, अतः इस प्रकार की प्रायः सभी रचनाओं में एक जैसी लय प्रधान भाषा शैली का प्रयोग मिलता है।

भट्टारक जिनचन्द्र—आप इस शताब्दी के एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैन सन्त थे। आपकी भट्टारक गद्दी दिल्ली में थी लेकिन आप वहाँ से सम्पूर्ण राजस्थान का भ्रमण करते और साहित्य तथा संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते थें। आपके गुरु का नाम शुभचन्द्र था। सं० १५०७ में भ० शुभचन्द्र के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी गद्दी पर आपका पट्टाभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ हुआ था।

आपके पिता बघेरवाल जाति के श्रावक थे। इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर भ० शुभचन्द्र की शिष्यता स्वीकार की और खूब शास्त्राभ्यास किया। इन्होंने स्वयं पुस्तकें लिखीं और अन्य पुस्तकों की प्रतियाँ लिखवाईं तथा उनकी सुरक्षा का सुन्दर प्रबन्ध किया।

आपकी लिखी हुई दो रचनायें—'सिद्धान्तसार और जिन चतुर्विंशति स्तोत्र' प्राप्त हैं जिसमें से प्रथम तो प्राकृत का ग्रन्थ है और स्तोत्र संस्कृत की रचना है जिसमें २४ तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। इस प्रकार अब तक इनकी लिखी मरुगुर्जर की कोई रचना प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इन्होंने जैन साहित्य की श्रीवृद्धि और धर्म की प्रभावना के लिए बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

ब्रह्मजिनदास—आप प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्ति के अनुज और शिष्य थे। आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोध करने वाले विद्वान् डॉ० प्रेमचन्द रॉवका ने आपका समय वि० सं० १४५० से १५३० तक निश्चित किया

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ६३७
२. वही

है।[1] उक्त अस्सी वर्षों में से यदि प्रारम्भिक बीस वर्ष निकाल दिया जाय तो आपका रचनाकाल ६० वर्षों का ठहरता है। आप १५वीं शताब्दी के अंतिम और १६वीं शताब्दी के प्रथम चरण के कवि हैं। आपकी सबल रचना राम-रास का समय फा० कामिल बुल्के, विण्टरनित्ज और नाथूराम प्रेमी आदि विद्वानों ने सं० १५०८ निश्चित किया है, इसलिए इनकी प्रौढ़ रचनाओं का समय १६वीं शताब्दी में आने के कारण इनका विवरण १६वीं शताब्दी के कवियों के साथ दिया जा रहा है। विक्रम की १४वीं से १६वीं शताब्दी तक का दो सौ वर्ष भारत में धार्मिक क्रान्ति का काल था और साहित्य का स्वर्णकाल गिना जाता है। इस काल को महिमा मंडित करने वाले कृती संतों में ब्रह्मजिनदास का नाम उल्लेखनीय है। आप हिन्दी के प्रसिद्ध कवि विद्यापति एवं संत कबीर के समकालीन थे। ब्रह्मजिनदास ने अपने गुरु सकलकीर्ति के नेतृत्व में संचालित अनेक संघ यात्रायें की थीं और स्वयं कई यात्राओं और प्रतिष्ठाओं का नेतृत्व किया था। आपके साहित्य में धर्म का उदात्त स्वरूप चित्रित हुआ है। आपका मुख्य स्थान डूंगरपुर के आसपास का बांगड़ क्षेत्र था। बागड़ प्रदेश हिन्दी क्षेत्र से लगा होने के कारण इस क्षेत्र की भाषा हिन्दी के अधिक करीब है। इस समय लोक भाषाओं में रामानन्द, कबीर, नानक, ज्ञानदेव, नामदेव, विद्यापति, लोका-शाह आदि सन्तों और कवियों ने अपने-अपने क्षेत्र में साहित्य-सृजन प्रारम्भ कर दिया था। उस समय इन संतों की एक सामान्य काव्य भाषा प्रचलित थी जिसमें थोड़ा प्रादेशिक अन्तर था। हिन्दी, गुजराती और राज-स्थानी में अभी भी बड़ा फर्क नहीं पड़ा था। डॉ० प्रेमचन्द ने लिखा है 'जैन साधुओं ने अपनी लोकभाषा मरुगुर्जर में आख्यान एवं साहित्य के माध्यम से दोनों प्रदेशों में एकता बनाये रखने का सुन्दर प्रयास किया।'[2] इसी प्रकार डॉ० मदनकुमार जानी ने अपने ग्रंथ 'राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन भक्त कवि' में लिखा है कि गुजराती एवं मारवाड़ी दोनों के ध्वनितत्त्व और रूपतत्त्व का ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन करने पर कहा जा सकता है कि ये दोनों भाषायें एक मां की दो बेटियाँ हैं। इनके स्वतन्त्र विकास के पूर्व इनका सम्मिलित एकरूप मरुगुर्जर में ही मिलता है। ब्रह्मजिनदास की काव्य भाषा इस कथन का ज्वलन्त प्रमाण है।

कवि परिचय—जिनदास नामक पांच जैन विद्वानों का उल्लेख मिलता

---

१. डॉ० प्रेमचन्द रॉवका—महाकवि ब्रह्मजिनदास, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

२. वही, पृ० १०

है। इनमें से पं० जिनदास आयुर्वेद के विद्वान् थे और सं० १६०८ में इन्होंने होली रेणुका चरित्र लिखा था। पाण्डेय जिनदास ने जो ब्रह्म-शान्तिदास के शिष्य थे, जम्बू स्वामी चरित्र, जोगी रासो, माली रासो आदि लिखा। ये भी १७वीं शताब्दी के कवि ठहरते हैं। तीसरे जिनदास भी १७वीं शताब्दी के मराठी जैन कवि थे। चौथे जिनदास १९वीं शताब्दी के कवि और पं० लक्ष्मीसागर के शिष्य हैं। इन सबसे भिन्न प्रस्तुत पांचवें ब्रह्म-जिनदास हैं। इन्होंने मरुगुर्जर में जिसे ये देशभाषा कहते हैं, काफी साहित्य लिखा है। भ० सकलकीर्ति पर शोध करने वाले विद्वान् डॉ० बिहारीलाल जैन जिनदास का जन्म सं० १४२५ मानते हैं किन्तु डॉ० कासलीवाल आदि विद्वान् इनकी जन्मतिथि सं० १४५० के आसपास मानते हैं क्योंकि आप भ० सकलकीर्ति के अनुज थे और भ० सकलकीर्ति की जन्मतिथि सं० १४४३ स्वीकृत है। इनके पिता हूंबड़ वंशीय दिगम्बर जैन श्री करमसिंह थे। इनकी माता का नाम शोभा था। आपने अपने अग्रज सकलकीर्ति की देख रेख में दीक्षा और शिक्षा प्राप्त की। कहीं-कहीं गुरु रूप में आपने भुवनकीर्ति का भी सादर स्मरण किया है। इनकी निधन-तिथि भी अनिश्चित है किन्तु हरिवंश पुराण सं० १५२० में लिखा गया इसलिए इनकी मृत्यु सं० १५२० के बाद ही किसी समय हुई होगी। इस प्रकार सं० १४५० से सं० १५३० तक आपकी आयु अनुमानित है।

रचना सूची—इस अवधि में आपने विपुल साहित्य लिखा जिसमें पुराण काव्य, चरित काव्य, कथाकाव्य आदि कई तरह की रचनायें मिलती हैं। पुराण काव्य के अन्तर्गत आदिनाथ रास, रामरास, हरिवंशपुराण रास, चरित काव्य में अजित जिनेसर रास, हनुमन्त रास, सुकमाल रास, नागकुमार रास, चारुदत्त रास, सुदर्शन रास, जीवन्धर स्वामी रास, जंबूस्वामी रास, श्रेणिक रास, धन्यकुमार रास, श्रीपाल रास, यशोधर रास, भविष्यदत्त रास और कथाकाव्य के अन्तर्गत अम्बिकादेवीरास, रोहिणीरास, रात्रि-भोजन रास, सगरचक्रवर्ती कथा, गौतमस्वामीरास, भद्रबाहुरास, समकित अष्टांग कथा रास, सासरवासाको रास, होली रास, महायज्ञ विद्याधर कथा, धर्मपरीक्षा रास, बंकचूल रास, रविव्रत कथा, पुष्पांजलि रास, आकाश पंचमी कथा, दस लक्षण व्रत कथा रास, सोलह कारण व्रत रास, अनन्त व्रत रास, पुरन्दर विधान कथा, ज्येष्ठ जिनवर पूजन कथा, लुब्धदत्त विनयवती कथा, सुकान्त साह, मालिणी पूजा कथा, मंडूक की पूजा कथा, दानकथा;

रूपक काव्यों में परमहंस रास, धर्मतरु गीत और चूनड़ी गीत तथा गीतों में बारह व्रत गीत, प्रतिमा ग्यारह का रास, चौदह गुण स्थानक रास, अठावीस मूल गुण रास, द्वादशानुप्रेक्षा, कर्म विपाक रास, समकित मिथ्यात रास, निजमनि संबोधन, जीवड़ा गीत, शरीर सफल गीत और आदिनाथ वीनती, ज्येष्ठ जिणवर ल्हान, जिणवर पूजा हेली, तीन चौबीसी वीनती, पंच परमेष्ठी गुण वर्णन रास, मिथ्या दुक्कड़ वीनती, पूजा गीत, गिरनारि धवल, चौरासी जातिमाला, गुरु जयमाल और गौरीभास आदि उपलब्ध हैं। इन रचनाओं में नाना प्रकार के काव्यरूप—प्रबन्ध, खण्ड काव्य, मुक्तक, गेय, पाठ्य आदि सभी का प्रयोग हुआ है। इसमें सर्वाधिक रास, गीत और भास आदि हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में लिखा है किन्तु राजस्थानी गुजराती हिन्दी उस समय अलग-अलग नहीं थी बल्कि एक थी, डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है 'उस समय तक गुजराती, और राजस्थानी भिन्न भिन्न न होकर मरुगुर्जर नाम से एक ही भाषा थी।'[1] डॉ० मदन कुमार जानी कहते हैं कि '१६वीं शताब्दी तक गुजरात और राजस्थान दोनों प्रदेशों की भाषा में साम्य होने के अनेक युक्तियुक्त प्रमाण मिलते हैं।'[2] इनकी अब तक कुल प्राप्त ८६ रचनाओं में से १ प्राकृत, १५ संस्कृत और शेष ७० मरुगुर्जर की रचनायें हैं इस प्रकार १६वीं शताब्दी में मरुगुर्जर के ये महाकवि सिद्ध होते हैं। इनकी कुछ प्रमुख रचनाओं का परिचय आगे प्रस्तुत है।

आदि पुराण—इसका आधार संस्कृत का आदिपुराण है। इसमें प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ का पावन चरित्र अंकित है। कोशल की महारानी ने स्वप्न देखा, फलतः प्रथम तीर्थंकर का जन्म हुआ 'स्वप्न फलि अति रुवडो, पुत्र होसे तम्हचंग, तीर्थंकर रलियावणो त्रिभुवन मांहि उत्तंग।' इनकी सुनन्दा और सुमंगला नामक रानियों से क्रमशः भरत और बाहुबलि नामक पुत्र हुए। आदि जिनेश्वर ने ही असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प विद्या आदि षट्कर्म की सर्वप्रथम शिक्षा दी और पुत्रों के बड़े होने पर अयोध्या का राज्य भरत को और पोदनपुर का बाहुबलि को सौंपा और अप्सरा नीलजंना की मृत्यु से विरक्त हो घोर तप करके संयमपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया। आपने जगत् को संदेश दिया :—

---

१. डॉ० सु० कु० चाटुर्ज्या—राजस्थानी भाषा पृ० ४५

२. डॉ० मदन कुमार जानी—राज० एवं गुज० के मध्य सन्त एवं भक्त कवि पृ० २३

'ए संसार असार गुण हीण, करम बंध जीव जो मरीण।
जामण मरण जरा दुख घणा, सजन वीयोग संजोग नहीं मणा।[1]
'श्री आदि जिणेसर आदि जिणेसर पाय प्रणमेसु.
सरसति स्वामिणी बलि तवउं बुद्धि सारहुं मागु निरमल'

नीलजंना के निधन पर आदिनाथ को वैराग्य हुआ, कवि लिखता है :—
'भमरी दीन्हीं तिहां रुवडी, अपछरा तीणवार,
आपु छूटो तीहां जीव गयो धरणि पडि निरधार।
सेवा नीमवी घटी गइ अदिष्ट हुई खीण माहि,
सभा सयल आणंद हुवो एक एक मुख चाहि।

रास की अन्तिम पंक्तियां देखिये :—
श्री सकलकीरति गुरु प्रणमीनि भुवनकीरति भवतार,
ब्रह्म जिनदास कहे सार निरमलो रास कियो मे सार।'[2]

इनकी ७० रचनाओं का परिचय देने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी इसलिए दो चार विशेष उद्धरण आगे प्रस्तुत किए जायेंगे।

रामरास—आठवें बलभद्र मर्यादा पुरुषोत्तम राम के उज्ज्वल चरित्र पर आधारित ब्रह्मजिनदास का यह सबसे बड़ा रास ग्रन्थ है। आदिनाथ को पारने के समय इक्षुरस पान कराने के कारण इनके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश पड़ा। इस बंश के राजा दशरथ के पुत्र राम की कथा और उनकी जैनधर्म के प्रति आस्था इस बृहद् रास का विषय है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार हुआ है :—

'वीर जिणवर वीर जिणवर पांय प्रणमेसु, सरसति स्वामिणी वली तवुं,
हवे बुद्धिसार हुं बेगि मांगउ।

सीता द्वारा राम के वरण के अवसर पर कवि कहता है :—
'सीता मन आनंदीयो कंठि डाली वरमाल,
चंद्र रोहिणी जिमसोहिया मोहिया ते गुणमाल।

रास की अन्तिम पंक्तियां देखिये :—
'रास कीयो रास कीयो अतिमनोहर, अनेक कथा गुणि आगलो राम
तणो सुणो सार निरमल।

१. डॉ० प्रेमचन्द रॉवका—महाकवि ब्रह्म जिनदास पृ० ३८
२. वही, पृ० ३६५

एकचित्त करी संभलीए भाव धरवि मनमांहि उज्वल,
श्री सकलकीरति पाय प्रणमी ने ब्रह्मजिणदास भणे सार।
पढ़े गुणे जे सांभले तेहने पुण्य अपार।'[1]

हरिवंशपुराण रास भी तीन हजार छंदों की बृहद् रचना है। इसका दूसरा नाम नेमीश्वर रास भी है। इसकी रचना सं० १५२० में हुई। इसमें नेमि और कृष्ण की कथा के साथ जीव जीवादि तत्वों का विवेचन, द्वारका दहन, कृष्ण मृत्यु आदि का भी वर्णन किया गया है।

अजित जिनेसर—दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के जीवन पर आधारित ३०० छन्दों की रचना है। इसमें उनके पंच कल्याणकों का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें वस्तु, दूहा, भास आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। रचना समय अज्ञात है।

हनुमंत रास—राम के साथ और अलग भी हनुमंत भारतीय जन जीवन के जाने माने पौराणिक पात्र हैं। जैनधर्म में इनकी गणना श्रेष्ठ पुरुषों में की जाती है। उन्हीं पर आधारित यह ७२८ छंदों का रास है।

रास का अधिकांश भाग पवन और अंजना की कथा पर आधारित है जिसका मूलाधार संस्कृत का पद्मपुराण है। इसमें हनुमंत की खरदूषण की भांजी से शादी भी दिखाई गई है और अन्त में अपना राजपाट वे अपने पुत्र मकरध्वज को सौंप कर स्वयं जिनशासन स्वीकार कर मुक्त होते हैं। हनुमंतरास में राजकन्याओं की प्राप्ति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

नील महानील की रुवडीए, बेटीय बौधीए चंग तो,
रूप सोभागे आगलीए, मदनावली मने रंगि तो।[2]

इसके अलावा सुकुमाल, नागकुमार, चारुदत्त, सुदर्शन, श्रेणिक आदि सभी प्रसिद्ध चरित्रों की रचना करने के अलावा ब्रह्मजिनदास ने रात्रि भोजनरास लिखकर रात्रि भोजन की हानि के प्रति चेतावनी दी है। सासर वासा को रास में पुत्री के ससुराल जाने और गृहिणी धर्म के पालन करने का संदेश दिया गया है। धर्मपरीक्षारास में धर्म का मर्म समझाया गया है। नाना प्रकार के व्रत, अनुष्ठान, पूजा पाठ आदि पर प्रचुर गीत आपने लिखे हैं।

---

१. डॉ० प्रेमचन्द रॉवका—महाकवि ब्रह्म जिनदास पृ ३९ ४०
२. वही पृ० ३८१

जैनधर्म आत्मा की अनन्त शक्ति में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि कर्मों का तपद्वारा क्षयकरके आत्मा परमात्मा बनसकता है। इसलिए ऐसे तपःपूत चरित्रों पर आधारित रास लिखने की प्रथा चल पड़ी है। इन रासों में नाना प्रकार के वर्णनों, लौकिक, अलौकिक पात्रों, घटनाओं और कथानक रूढ़ियों के साथ सभी रसों का यथावसर उपयोग किया जाता है। शान्तरस को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है क्योंकि साधक के लिए यही रस हितकर कहा गया है।

'यत्र न सुखं न दुखं न द्वेषो नपि मत्सरः,
समः सर्वभूतेषु स शांतः प्रथितोरसः।'

अतः इन काव्य रचनाओं के पूर्वार्द्ध का राग उत्तरार्ध में पहुँचकर वैराग्य में बदल जाता है। आदिनाथ को नीलांजना की मृत्यु देखकर, अजितनाथ को उल्कापात देखकर, नेमिनाथ को पशुओं का क्रन्दन सुनकर वैराग्य होता है। इसी प्रकार सभी रासों में कथा का आयोजन किया गया है।

भाषा—आपका मुख्य क्षेत्र राजस्थान गुजरात का सीमावर्ती स्थान ईडर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और बागड़ प्रान्त था। यहाँ की भाषा मरुगुर्जर थी। हिन्दी या पुरानी हिन्दी में राजस्थानी के साथ गुजराती के शब्द अपनाये जा रहे थे इसका प्रमाण ब्रह्म जिनदास और बागड़ प्रदेश के अन्य जैन कवियों की रचनाओं में मिलता है। मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी उस क्षेत्र की लोकभाषा थी, अतः जन सामान्य के हित के लिए सरल जनभाषा में रचना करना इनका लक्ष्य था। उन्होंने आदिनाथ रास में भाषा के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है :—

'कठिन नालीय ने दीजि बालक हाथि, ते स्वाद न जाणे,
छोल्या केल्यां द्राख दीजे, ते गुण बहु माने।
तीम ए आदि पुराणसार देसभाषा बखाणु',
प्रगट गुण जीम विस्तरे जिण सासण बखाणु'।'

देस भाषा के प्रति अनुराग होने पर भी संस्कृत के विद्वान् होने के कारण ये तत्सम प्रयोगों से बच नहीं पाये हैं।

यथा—अज्ञान तिमिरहर ज्ञान दिवाकर, पढ़इ गुणइ जे ज्ञान धणी,
ब्रह्म जिणदास भासे विबुध प्रकासे मन वंछित बल बुद्धि धणी।

अलंकारों में रूपक, अनुप्रास, दृष्टांत पर आपका आग्रह अधिक है। उन्होंने काव्य कृतियों को संवाद, प्रश्नोत्तर, वर्णन आदि द्वारा रोचक बनाया है।

छंदों में दूहा, चौपइ, वस्तु, ढाल, भास आदि नाना छंदों का प्रयोग किया गया है। इनके काव्य में तत्कालीन समाज के अनेक स्पष्ट चित्र मिलते हैं और बहुत सी महत्वपूर्ण राजनैतिक सूचनायें मिलती हैं।

आपके गीतों में पर्याप्त गेयता है। 'उदाहरणार्थ 'धर्मतरु गीत' का एक उद्धरण प्रस्तुत है :—

"भव तरु सींचै हो मालिया, तिहि तरि च्यारि डाल,
चुहु डाली फल जुवा ते फल राखइ काल।
रे प्राणी तू काइ न चेतहि।"[1]

ब्रह्मजिनदास के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी श्री मो० द० देसाई के जै० गु० क० भाग १ पृ० ५३, भाग ३ पृ० ४७६ से ४८२ तक उपलब्ध है। श्री अ० च० नाहटा ने अपने निबन्ध 'राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल' 'परम्परा' पृ० ६७ पर उनकी २७ रचनाओं की सूची दी है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैनसंत' में इनका विवरण पृ० २२ से ३९ तक दिया है। लेखक इन सभी विद्वानों से सूचनायें प्राप्त कर सका है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित रचनायें भी महाकवि के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी के लिए अवलोकनीय हैं :—

(१) भ० सकलकीर्ति व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डा० बिहारीलाल जैन
(२) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन
(३) राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन संत एवं भक्त कवि— डा० मदनकुमार जानी।
(४) राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल माहेश्वरी
(५) हिन्दी काव्य धारा--महापंडित राहुल
(६) राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० मोतीलाल मेनारिया।

जिनवर्द्धन—सं० १५१५ के आसपास आपने 'धन्नारास'[2] की रचना की। आपकी एक अन्य प्रकाशित रचना 'उपदेशकारक कक्को' का

१. डॉ० प्रेमचन्द रॉवका—महाकवि ब्रह्म जिनदास पृ० ४१८-४२०
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ५१

भी उल्लेख श्री देसाई ने किया है किन्तु इन रचनाओं का विवरण/उद्धरण प्राप्त नहीं है।

जिनसाधुसूरि—आप बृहद् तपागच्छीय जिनरत्नसूरि के पट्टधर थे। आपने सं० १५५० के आसपास 'भरत बाहुबलि रास' की रचना की। इसकी प्रतिलिपि स्वयं लेखक ने की है। रचना का प्रारम्भ इस प्रकार है :—

'भट्ट आदि जिणेसरस्स सयलं, सोहग्ग लच्छी करं,
सुखं कवकिल सामीउं, पयदिणं देविंदवंदी पद्यं।
श्री सिद्धंत निवासिणी सरसइ निच्चं फुरं माणसे,
संतुठा जिनरयण सूरि गुरुणो पाया सदामों सुहं ॥[1]'

इस रास में भरत चक्रवर्ती और बाहुवली की प्रसिद्ध कथा ३२३ पद्यों में वर्णित है। इसकी भाषा में अपभ्रंश की झलक कहीं-कहीं मिल जाती है। इसलिए यह तत्कालीन बोलचाल की भाषा का नहीं बल्कि रूढ़ काव्यभाषा का प्रतिनिधित्व करती है। रचना की अन्तिम पंक्तियों में रचना सम्बन्धी कुछ सूचनायें हैं—यथा,

'पुरवरुअें नयर समृद्ध सहूआला पुरु मंडाणुअे,
जिनवरुअे श्री नेमीस दुरित तमोभर खंडणुअे।
तेह तणूअे लहीय पसाउ रचिउरास जय जय गुरु,
पंडित वरुअें श्री साधुकीर्ति पय प्रणमी गुणसागरुअे।'

अन्त में भरत को सिद्धि प्राप्त हुई, कवि कहता है :—

'ऊहापोह विचारतां भरत राऊ श्री ज्ञानिवरीउ,
जिन शासनि जयवन्त चिर साधु वेष सुरदत्त धरीउं।
पढ़म चक्काहिव श्री भरत क्रमि क्रमि पामिउ सिद्धि,
श्री जिनसाधु सूरीरस कहइ भणंता उच्छव रिद्धि।३००।[2]

देवी सरस्वती की वन्दना में भाषा सम्बन्धी रूढ़ि निर्वाह का उदाहरण देखिये :—

'नीयमणि सेवक संभारत्तीय, मणवंछित देवइं भारत्तीय,
कर जोड़ी मांगू भारत्तीय सामझ वपणि वसु भारत्तीय।'[3]

आ० जिनसेन—आप भ० यशःकीर्ति के शिष्य थे। आपकी एक कृति 'नेमिनाथ रास' उपलब्ध है जो सं० १५५८ में जवाछ नगर में लिखी गई

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५१९-५२०

२. वही भाग ३ पृ० ५१९-५२०   ३. वही

थी। उस नगर में १६वें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का चैत्यालय था; वहीं यह रास लिखा गया था। इस रास के १३ छन्दों में नेमिनाथ का जन्म, विवाह के समय वैराग्योदय और तप तथा कैवल्य प्राप्ति आदि प्रमुख घटनाओं की झलक मिलती है। यह मरुगुर्जर भाषा की अच्छी रचना है। आगे इसका मंगलाचरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'सारद सामिणि मांगु माने, तुझ चलणे चित्त लागू ध्याने,
अविरल अक्षर आलु दाने, मुझ मूरख मनि अवि शांति रे।
गाऊं रास रलियामणु रे, यादव नां कुल मंडण सार रे,
नमि नेमीश्वर जाणिज्यो रे, तसु गुण पुहुति न लाभि पाररे।
राजमती वर रूयडू रे नवट भवंतर मणीय भून्तरे,
दशमि दुरधर तप लीउरे, आठ कर्म चउमी आणु अन्तरे।'[1]

रचनाकाल और स्थान का निर्देश इस प्रकार किया गया है :—

'चन्द्रवाण संवच्छर कीजि, पंचाणु पुण्य पासि दीजि,
माघ सुदि पंचमी भणीजी गुरुवारि सिद्ध योग ठवीजि,
जावछ नयर जगि जाणइ रे, तीर्थंकर वली कहीइ सार रे,
शांतिनाथ तिहाँ सोलमुरे, कस्यु रास तेह भवण मझार रे।१३।[2]

नेमि राजुल की लोकप्रिय कथा पर आधारित यह लघुरास नृत्य और संगीत की संभावनाओं से पूर्ण तथा लोक प्रचलित भाषा शैली में लिखा होने के कारण साहित्यिक महत्व का है। इसकी अन्तिम पंक्तियों में कवि ने अपने गुरु का सादर वन्दन किया है, यथा :—

'श्री यश कीरति सूरीनि सूरीश्वर कहीइ, महीयलि महिमापारन लहीरे,
तातरूपवर वरसि नित वाणी, सरस सकोमल अमीय रूपाणीरे।
तास चलणें चित लाइउरे, गाइउ राइ अपूरब रास रे,
जिनसेन मुगति करीदे, तेहना वयण तणउ वलीवासरे।'

दिगम्बर कवियों की भाषा में तत्कालीन काव्य भाषा के साथ हिन्दी के प्रति विशेष झुकाव दिखाई पड़ता है।

जिनहर—? रचनाकार का नाम शंकास्पद है किन्तु इनके नाम पर जो रचना प्रचलित है वह निर्विवाद है। रचना का नाम है—'विक्रम चरित्र पंच दंड चौपइ'। यह सं० १५५६ वैशाखसुदी २ को पांच खंडों मे लिखी गई।

१. डॉ० क० च० कासलीवाल —राजस्थान के जैन संत पृ० १८६
२. वही

इसके प्रथम और द्वितीयखंड में ९३, तृतीयमें ७३, चतुर्थ में ४८ औरपंचम-खंड में ११२ छंद हैं। श्री मो० द० देसाई का अनुमान है कि जिणहर का अर्थ जिनगृह है, यह किसी कवि का नाम नहीं है।[1] इनके विचार से इस रचना का कवि अज्ञात है। इस सम्बन्ध में यह पंक्ति विचारणीय है :—

'गुरु कहें काम नहि धनें, विक्रम कहि से आप्यु मनें,
तेणे घने नें कराव्यु सिध, ऊकारपुरे जिणहर रंगि।११०।'[2]

इस पंक्ति में जिणहर शब्द कवि के नाम के रूप में प्रयुक्त नहीं प्रतीत होता है। इस रास में मालवा के राजा विक्रमादित्य का वृत्तान्त वर्णित है। रास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'जयु जयु पास जीराउलउ जगमंडण जिनचंद,
जास पसाइं पामीइ नितुनितुपरमाणंद।
वरकाणइ जाणइ सहू त्रेवीसमउ जिणेस,
जेहतणी सहूइ, बहइ आणजिसी परिसेस।
पाल्हणपुरवर मंडणऊ वाजा देवि मल्हार,
पासनाम पुहवी तिलउ सीद्धउ पाल्ह विहार।'

रचनाकाल का निर्देश करता हुआ कवि कहता है:—

'विक्रमना गुण हिअउइ धरी, पंचदंड छत्रहंसु चरी,
पनर छपन्नह मासि वैशाखि, कीधु वीजइ धुलइ पाखि।'[3]

(ब्रह्म) जीवंधर—आप भ० सोमकीर्ति के प्रशिष्य एवं यशःकीर्ति के शिष्य थे। सोमकीर्ति काष्ठासंघ की नन्दीतट शाखा के सन्त थे। सं० १५१८ में रचित एक ऐतिहासिक पट्टावली में इन्होंने अपने आपको काष्ठा-संघ का ८७ वाँ भट्टारक लिखा है। आप अच्छे लेखक थे। आपने प्रद्युम्नचरित (सं० १५३१), सप्तव्यसन कथा (१५२६) आदि रचनायें की हैं, इस आधार पर जीवंधर का समय १६वीं शती का अन्तिम चरण होना चाहिये। इनकी अबतक एक ही कृति 'गुणठाणा वेलि' प्राप्त हो पाई है। इसमें कुल २८ छन्द हैं। इसकी भाषा शैली के नमूने के रूप में अन्तिम छन्द उद्धृत किया जा रहा है :—

'चौदि गुणठाणां सुण्या जे भण्या श्री जिनराइजी,
सुरनर विद्याधर सभा पूजीय वंदीय पाय जी,

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु०क० भाग १ पृ० ९९-१०० और भाग ३पृ० ५२५-२६

२. वही ३. वही

पाय पूजी मनहर जी भरत राजा संचर्या,
अयोध्यापुरी राजकरवा सयल सज्जन परवरया।
विद्या गणवर उदय भूपर नित्य प्रगटन मास्कर,
भट्टारकयशकीरति सेवक भणिय ब्रह्म जीवंधर।२२।'[1]

इस बेलि की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। इसकी एक प्रति महावीर भवन, जयपुर में संग्रहीत है।

जीवराज—इस कवि के सम्बन्ध में जइराज या जयराज का विवरण देखा जाये।

डुंगर—आपकी रचना नेमिनाथ फाग (गा० २८) सं० १५३५ में लिखी गई थी। यह प्रकाशित रचना है। इसका प्रथम छन्द इस प्रकार है :—

'अरे तोरणि वालम आविउ, यादव केरउ चंद,
अहे पशूअ देखि रथ चालिऊ दिहि दिसि हुऊ छंविद।'

नेमि विवाह के लिए तोरणद्वार तक जाकर वहाँ बंधे पशुओं को देख वापस लौट पड़े। प्रस्तुत बारहमासा यहीं से प्रारम्भ होता है। इसमें राजीमती के विरह पूर्ण बारह महीनों का वर्णन है। इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'अहे राजिमति सिऊं राइमइ, पुहुती सिद्धि शिलाय,
डुंगर स्वामी गाइतां, अफल्यां फूलइ ताह।२६।[2]

श्री अ० च० नाहटा ने इस छंद को अन्तिम नहीं कहा है। वे इसमें कुल २८ छंद बताते हैं। उनके अनुसार अन्तिम छंद निम्नांकित है :—

'नयणा नेहु भरे गयउ, सुनेमिकुमारु,
रेवइया गिरि सिरि चडीयउ, लीधउ संजमभारु।२८।[3]

ठकुरसी—आपके पिता घेल्ह स्वयं कवि थे। वे चांटसु निवासी खण्डेलवाल दिगम्बर जैन श्रावक थे। उनकी दो रचनायें 'बुद्धि प्रकाश' और 'विशालकीर्ति गीत' उपलब्ध हैं। अतः ठकुरसी को काव्य गुण पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ था। इनकी अब तक १५ उत्तम कृतियों का पता चल चुका है। वे निम्नांकित हैं :—

---

१. डॉ० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १८८
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९२
३. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १०३

पार्श्वनाथशकुनसत्तावीसी सं० १५७८, कृपण छंद सं० १५८०, मेघमाला कहा, पंचेन्द्रिय वेलि, सं० १५८५, सीमंधर स्तवन, नेमि राजमती वेलि, चिन्तामणि जयमाल, जिन चउवीसी, शीलगीत, पार्श्वनाथस्तवन, सप्तव्यसन षट्पद, ऋषभदास गीत और कवित्त। इनमें से मेघमालाकहा अपभ्रंश भाषा में रचित है शेष सभी मरुगुर्जर की कृतियां हैं। इस प्रकार ये मरुगुर्जर के प्रसिद्ध और उत्तम कवि हैं। इनका उल्लेख प्रायः सभी इतिहास ग्रन्थों में मिलता है।

नाथूराम प्रेमी, कामता प्रसाद जैन, परमानन्द शास्त्री, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डा० प्रेमसागर जैन आदि ने अपने ग्रन्थों में इनका विवरण दिया है। ठकुरसी ढूंढाहड प्रदेशीय थे और मेघमालाकहा में स्वयं अपने को उक्त प्रदेशीय बताया भी है। अतः इनकी भाषा पर ढूंढाणी भाषा का प्रभाव सर्वाधिक है। आगे इनकी कुछ रचनाओं का संक्षिप्त परिचय एवं कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं।

'नेमि राजमती बेलि' पद्धड़िया छन्द में नेमिराजुल की मधुर कथा है। इसमें १० दोहे और ५ पद्धडिया छन्द हैं। नेमि की सुन्दरता का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है :—

'कवि कहइ सुनिय धणु धणु, जसु परणइ एह मदणु,
इणि परितिय अणेक्क पयारा, बहु करिहिति काम विकारा।
जिणु तव इण दिठि दे बोलै, नाउं मेह पवन भैंडोले।५।[1]

कवि ने अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

कवि घेल्ह सुतनु ठाकुरसी, किए नेमि सु जसि मति सरसी,
नरनारि जाको नित गावै, जो चितै सो फलु पावै।२०।[2]

पंचेन्द्रिय बेलि—इनकी प्रसिद्ध और सरस काव्य कृति है। इसमें पांच इन्द्रियों की वासना और उससे उत्पन्न विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है। यह बेलि सं० १५८५ कार्तिक शुक्ल १३ को सम्पूर्ण हुई थी।

'संवत पन्द्रह सै पिच्चासे तेरसि सुदी कातिग मासे।'[3]

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० २४२
२. वही
३. वही

इसमें एक-एक इन्द्रिय की वासना और तज्जन्य दुःख को उदाहरण द्वारा समझाया गया है जैसे स्पर्शेन्द्रिय के उदाहरण स्वरूप कामातुर हाथी का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

'वन तरुवर फल खातु फिरि पय पीवतो सुछंद,
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहै गयन्द।
बहु दुख सहै गयन्दो, तसु हो गई मति मंदो,
कागज के कुंजर काजे, पडि खांड सक्यौ न भाजे।'[1]

इसी प्रकार रसनेन्द्रिय 'इह रसना के रस ताइ, नर मुसै बाप गुरु भाई।' आदि जीवन्त वर्णनों-उदाहरणों द्वारा विषयासक्ति के प्रति उदासीनता उत्पन्न करने का उत्तम प्रयत्न किया है। पांच प्रतीकों द्वारा मानव को चेतावनी देता हुआ कवि कहता है—

'अलि, गज, मीन, पतंग, मृग एके कहि दुख दीध।
जर इति भौ भौ जिहि वसि पंच न किद्ध।'

सीमंधर स्तवन—इसमें कुल ३ छप्पय हैं जिनके अन्त में ठकुरसी की छाप है।

चिन्तामणि जयमाला की भाषा पर अपभ्रंश का कुछ प्रभाव है; यथा—

'इय वर जयमाला गुणह विसाला घेल्ह सुतनु ठाकुर कहए,
जो णरु सिरि सिक्खइ दिणि रिणि अक्खइ
सो सुहं मणवं छिउ लहए।१२।

कृपणछंद—३५ छंदों की विनोदपूर्ण रचना है जिसमें एक कृपण और उसकी पत्नी की हास्य विनोदपूर्ण कथा है। इसका प्रारम्भ देखिये :—

क्रिपणु एकु परसिद्धु नयर निवसंति विलक्षणु,
कही करम संजोग तासु धरि नारि विचक्खण।'

इसका ३५वां छन्द देखिये :—

कहि कहै ठकुरसी लभणु मै परमत्थु विचारयो,
चरमियों त्याह उपज्यो जनमु जा याच्यो तिह हारियो।'

पार्श्वनाथसकुनसत्तावीसी का रचनाकाल कवि ने इस प्रकार बताया है :—

'घेल्ह णंदणु ठकुरसी नाम, जिण पाय पंकय भसलु तेण पास
थुपकिय सचो जवि।
पंदरासय अट्ठतरइं माह मासि सिय पख दुइजवि।

1. डा० क० च० कासलीवाल—बू० स० कवि, पृ० २४४-२४७

चंपावती के पार्श्वनाथ की स्तुति में यह रचना लिखी गई है। यह स्तुति उस समय की गई जब इब्राहीम लोदी द्वारा रणथंभौर पर आक्रमण हुआ, वहाँ का तत्कालीन स्थानीय सामंत रामचन्द्र जो प्रजा की रक्षा में असमर्थ था, लोग नगर छोड़कर भागने लगे, उसी समय विपत्ति से रक्षा के लिए पूजापाठ प्रारम्भ हुआ था, कहते हैं कि पार्श्व प्रभु की कृपा से विपत्ति टल गई। अतः इसका सम्बन्ध एक प्रमुख ऐतिहासिक घटना से है। 'पार्श्वनाथ जयमाला' भी चंपावती के पार्श्वनाथ का ११ पद्यों में स्तवन ही है। इसमें भी पार्श्व भगवान की भक्ति से प्लावित ११ उत्तम भजन हैं। 'सप्त व्यसन षट्पद' में जूआ, मांस-भक्षण, मद्यपान, वेश्या-गमन, शिकार करना, चोरी करना, परस्त्री गमन नामक सात व्यसनों का दोष दिखाया गया है और इन्हें वर्जित बनाकर त्यागने का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार 'व्यसन प्रबन्ध' में भी इन्हीं सात व्यसनों की निन्दा की गई है। शायद उस समय सप्त व्यसनों से समाज अधिक संत्रस्त था। तभी कवि को दो-दो रचनायें करनी पड़ी। जूअे से पाण्डव, मद्यपान से यादव, पर स्त्री गमन के असुर राज रावण का समूल नाश हो गया था, कवि कहता है :—

> 'इक्के त्रिसनि कहि ठकुरसी, नरइ नीचु नरु दुह सहइ,
> जह अंगि अधिक अच्छहि विसन ताह तणी गति को कहइ।'[1]

'जैन चउवीसी' में २४ तीर्थंकरों की वंदना है। 'ऋषभदेव स्तवन' के दो अन्तरों में 'ऋषभ' का स्तवन है। 'शीलगीत' में ब्रह्मचर्य की महिमा और उसकी कसौटी पर विश्वामित्र आदि को भी खरा न उतर पाने का संकेत किया गया है। 'कवित्त' में विविध विषयक छह कवित्त हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि आप प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा सम्पन्न कवि थे और विविध प्रकार की रचनायें करने में सिद्धहस्त थे।

दल्ह—आपने सं० १५३७ में 'विल्हण चरित चौपइ' लिखी। श्री मो० द० देसाई ने इन्हें जैनेतर कवि कहा है। यह रचना अन्य जैन कवियों की कृतियों के समान जिन या तीर्थंकर की वंदना से नहीं बल्कि सीधे गोपाचल गढ़ के वर्णन से प्रारम्भ हो जाती है :—

> 'गढ़ गोपाचल अगम अथाह, तेजतरुणि तुंवर वरनाह,
> सेषयपाल अमरपुर इंदु, महिमंडल कल्याण नरिंदु।१।'[1]

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—म० बूचराज एवं समकालीन कवि पृ० २६१-२६३

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० २०१३-१४

राजा प्रजापालक था और प्रजा धर्म परायण थी, वहाँ एक विप्र दामोदर रहते थे उनके सम्बन्ध में लिखते हुए कवि सरस्वती का स्मरण करता है। कवि ने लिखा है कि इस कृति में शृंगार, वीर आदि सभी रसों का सघन वर्णन है, यथा—

'अनि सिंगार बीर रसघणो, करुणा, रौद्र भयानक भणु,
विल्हणचरित करनि करि कहिउं, दुख सहि पाछइ सुख लहिऊ।१०।'

इस प्रकार बिल्हण का बहु रस-रंगी चरित्र चित्रित करके अन्त में कवि कहता है :—

सो फल सढसठ तीरथ कीईं सोफल दान महा सद दीइं
जो फल पर उपगार करंत, सो फल बिल्हण चरित सुणंत।३०।

रचना काल की सूचना देता हुआ कवि लिखता है :—

'संवत पनरह सइ सैंतीस, सुदि वैसाख दसइ गुरु सीस,
आदि कथा संकटमइ रही, तांज्लग दल्ह सुमति करि कही।'[1]

श्री देसाई जी का अनुमान है कि 'अभिनव ऊझणु' नामक खंड काव्य के लेखक देहल और प्रस्तुत कवि दल्ह सम्भवतः एक ही कवि हैं। देहल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए श्री केशवराम शास्त्री कृत 'कवि चरित' पृष्ठ १५७ से १५९ तक पठनीय है।

दामोदर (डामर)—ये भी जैनेतर कवि हैं। इनकी रचना वेणि वत्सराज रास वीवाहलु में पाटण के वत्सराज का जीवन, उनके विवाह आदि का वर्णन है। यह विवाहलु विवाह के अवसर पर गाया जाने वाला गीत है और जैन मुनियों के दीक्षा के अवसर पर संयम श्री के साथ होने वाले रूपक विवाह गीतों से भिन्न है। इसके प्रारम्भ में कवि सरस्वती की बंदना करता हुआ लिखता है :—

'सरसति सामिणी वीनवूं मांगूय एक पसाय, बत्तीस लक्षणि गुणि आगल गाइस्यु वच्छराउ,
तेज नयर पाटण भलुं अमरावती समूं होइ, मृतलोक वछराज राजिइ, अवर न बीजू कोइ।[2]

अन्त में अपना नाम और जाति ब्राह्मण का उल्लेख किया है किन्तु रचनाकाल नहीं दिया है :—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खण्ड २, पृ० २१२४
२. वही पृ० २१२४-१२२५

वीनवइ (ध्यन ध्यन) डांमर ब्राह्मण रे सो,
जीणइ गाग्रु वत्सराज राउरे सो।
जे कोइ गाइ सांभलइ सो, तेहना सीझइ काज रे सो,
तेह घरि हुइ नव निधि रे सो।'

दामोदर[1] :— १६वीं शताब्दी में भी कुछ कवि अपभ्रंश में काव्य रचना का प्रयास करते थे। वे सप्रयास तत्कालीन प्रचलित भाषा को छोड़कर रूढ़ भाषा का प्रयोग करते थे। प्रस्तुत कवि दामोदर उन्हीं कवियों में एक थे। उन्होंने 'सिरिपाल चरिउ' लिखा है जिसे न हम अपभ्रंश की और न मरुगुर्जर की रचना कह सकते हैं। इसमें चंपापुर के राजा श्रीपाल और मैना सुन्दरी की कथा दी गई है। जैन साहित्यमें मैना सुन्दरी की कथा काफी प्रचलित है। इस कथा के माध्यम से सिद्धचक्र के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। मैना सुन्दरी ने अपने कोढ़ी पति राजा श्रीपाल और उसके सात सौ साथियों का कुष्ट रोग सिद्धचक्रव्रत के अनुष्ठान और जिनभक्ति की दृढ़ता से दूर किया था। इनकी अपभ्रंश में लिखी एक अन्य रचना 'नेमिणाह चरिउ' में नेमिनाथ का चरित्र चित्रित है किन्तु इसकी भाषा के उदाहरण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यह मरुगुर्जर की रचना नहीं है।

आप जैन कवि थे और शायद भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए पं० परमानन्द जैन कृत 'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह' पृ० ११९ द्रष्टव्य है।

देपाल—आप १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक प्रसिद्ध कवि हैं। श्री ऋषभदास ने अपनी रचना कुमारपालरास (सं० १६७०) में अन्य प्रसिद्ध कवियों के साथ इनकी भी गणना की है यथा 'आगे जे मोटा कवि राय, तास भाय चरण रज ऋषभ राय।

लावण्य लीवो, खीमो खरो, सकल कविनी कीरति करो,
हंसराज, वाछो देपाल, भाल हेमनी बुद्धि विशाल।
सुसाधुसमरो सुरचंद, शीतल बयन जिम सारद चंद।'

कोचर व्यवहारी रास के अनुसार यह कवि दिल्ली के प्रसिद्ध देसलहरा, शाह समरा और सारंग का आश्रित था। श्री मो० द० देसाई का कहना है कि देपाल समरा-सारंग का आश्रित न होकर उनके वंशजों का आश्रित

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ पृ० २६७ (ना० प्र० सभा, काशी)

रहा होगा क्योंकि उनका समय १५वीं शताब्दी है और आपकी प्रसिद्ध रचना जंबू स्वामी चौपइ सं० १५२२ में लिखी गई है। अन्य रचनायें उसके बाद की हैं, इसलिए या तो देवा देपइ और देपाल नामक दो कवि हुए हों या प्रस्तुत देपाल कवि की आयु शताधिक रही हो। मुनि प्रबन्ध विजय के प्रबन्ध संग्रह में साह समरा के पुत्र साचो और देपाल का सम्बन्ध बताया गया है। देपाल के कथनानुसार साचो ने रत्न देकर गोरी खान के यहाँ छिपाई गई ८४ चारण पुत्रियों को मुक्त कराया था। देपाल ने इस घटना का उल्लेख 'समरा-सारंग कड़खे' में भी किया है 'सारंग सोनइ इऊं सर बूढो शत्रुंज तणि, वंदीजन वापइ इअं पिउ पिउ करता पाम ओ।'[1]

इनके रचनाओं की सूची निम्नांकित है :—

जावड़ भावड़ रास गाथा ९३, रोहिणीय प्रबन्ध रास गाथा २७७, चंदन वाला चौपइ १२७ गा०, आर्द्रकुमार धवल-सूड़ (श्री नाहटा ने दोनों को एक रचना बताया है किन्तु देसाई दोनों को दो रचनायें कहते हैं।) थावच्चा कुमार भास १८ गाथा, जंबू स्वामी चौपइ २७९ गाथा (यह इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना समझी जाती है। इसका रचनाकाल सं० १५२२ है।) अभय कुमार श्रेणिक रास ३६८ गाथा, बारव्रत चौपइ सं० १५३४, गाथा ३४१, पुण्य पाप फल चौ० ३६८ गाथा, वज्रस्वामी चौपइ, जीरावल्ला पार्श्वनाथ रास ८९ गाथा (प्रकाशित 'मरु भारती') थूलिभद्र काव्य '३६ गाथा', स्नात्र पूजा' समरा सारंग कड़खा (प्रकाशित जैन युग वर्ष ५), हरियाली, मनुष्य भव लाभ गीत ९ गाथा, नवकार प्रबन्ध १२ गाथा, कायावेडी संज्झाय। जीरावला रास भी मरुभारती में प्रकाशित हो चुका है।

इन रचनाओं में कवि में नाना प्रकार के काव्यरूपों का प्रयोग किया है। इन्होने रास, सुड, चौपइ, धवल, भास, काक, हरियाली, गीत, कड़खा, विवाहला आदि बहुत से काव्य रूपों का प्रयोग करके काव्य के विषय-वस्तु और अभिव्यन्जना प्रकार में वैविध्य और मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। इनकी कुछ प्रमुख रचनाओं का परिचय तथा भाषा शैली के उदाहरण स्वरूप थोड़े से उद्धरण आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'जंबू स्वामी पंचभव वर्णन चौपइ' का परिचय प्रस्तुत है। यह प्रबन्ध है जिसकी रचना सं० १५२२ आशो शु० १५ रविवार को हुई। इसमें जंबू स्वामी का जीवन चरित्र और उनके पंचभवों का वर्णन है। रचना का प्रारम्भ गौतम गणधर की वंदना से हुआ है, यथा :—

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ५८

गोयम गणहर पयनमी अराहिसु अरिहंत,
हृदय कमल अहनिस वसइ भय भंजण भगवन्त।
भवभंजन भगवन्तनू आण अखंड वहेसि,
सील सिरोमणि गुण निलऊ जंबू कुमर वर्णेसु।'

इसमें रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'संवत पनर बावीसमइं अेव, रचि ईणइ पूनिमइ अे।
भणइ गुणइ नरनारि तेह मनि उपशम रस वसइ अे।१७८।'[1]

सर्वप्रसिद्ध रचना के बाद सबसे छोटी रचना कायाबेड़ी संज्झाय' की भाषा का नमूना देखिये :—

आदि—'काया बेड़ी काट सत्तवेध अठि कोड़ी बंध बांधी।
म्हांन्हा परहुण धणा निगम्या, अति दुर्लभ तुलांधी।'

अन्त—'विवेकु खंभु ज्ञानि पंजारि, निरुखिला दीढुला सेत्रुंज स्वामी,
देपाल भणइ जिणु मंदिरु पामी, वधामणी दिउ धामी।५।'[2]

स्थूलिभद्द कक्कावाणी और स्थूलभद्र फाग नामक दो रचनायें स्थूलभद्र के चरित्र पर आधारित हैं। 'फाग' छोटा किन्तु सुन्दर काव्य है, नमूना देखिये :—

'नंदउ सो सिरी थूलिभद्दु जे जुगह पहाणो,
भलियउ जिणि जग मल्ल सल्ल रइवल्लह माणो।

इसमें उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग द्रष्टव्य है। चंदन वाला चरित्र चौपइ में कवि स्वयं को सुकवि कहता है जो ठीक ही है :—

'चंदन वाला चरित गुण बुद्धिमाण सुविशाल,
संघतणइ सुपसाऊलिइ कहिइ सुकवि देपाल।'

सम्यक्त्व वारव्रत कुलक, स्नात्र पूजा आदि छोटी रचनायें सम्प्रदाय के व्रत नियम, पूजा पद्धति आदि से सम्बन्धित हैं। अभय कुमार श्रेणिक रास में मगध के महाराज श्रेणिक और उनके मन्त्री अभय कुमार का संवाद है जिसके माध्यम से रोहणिया चोर की कथा कही गई है।

'जावड़ भावड रास' में जावड़ का पावन चरित्र चित्रित है। पुण्य पाप फल (स्त्री वर्णन) चौपइ का प्रारम्भ संस्कृत श्लोक से हुआ है इसके अन्तिम भाग को कवि ने पुण्योदय फल प्रबन्ध सप्तमी अधिकार कहा है। इसकी अन्तिम पंक्तियां देखिये :—

---

१. श्री मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग १ पृ० ४०-४१

२. श्री अ० च० नाहटा–जै० म० गु० क० पृ० १२४

'अेक साधम्मिक वत्सल करइ, ते स्त्री त्रिन्हइ पक्ष ऊधरइ।
स्त्रीय तणां छइ अेसा चरित्र, पग मेलइ तिहां भुइ हुइ पवित्र।
कवि देपाल स्त्री वर्णवी संखेवि, तुम्ह प्रसन्न माता मरु देवी।[1]

पार्श्वनाथ जीराउल्ला रास मे देपाल ने कवि कक्कसूरि की वंदना की है। (हीयाली) हरियाली एक प्रकार का बुझौवल या पहेली है जिसका प्रयोग जैन कवि काफी प्राचीन काल से करते रहे हैं। एक पंक्ति देखिये :—

'अे हरियाली जे नर जाणे, मूर्ख कवि देपाल बखाणो।'

इनकी अन्य छोटी रचनायें जैसे 'नवकार प्रबन्ध' और 'मनुष्य भवलाभ' आदि गीत हैं। मनुष्य भवलाभ की दो पंक्तियां प्रस्तुत हैं :—

'दान शील तप भावना रे, मन शुद्धि पालेसु,
देपाल भणइ हु सविहुं भागा, अेक बटाव करेसु।

भाषा के सम्बन्ध में श्री देसाई जी का मत है कि इस पर दिल्ली की भाषा का प्रभाव नगण्य है; यह वही भाषा शैली है जिसमें अन्य मरुगुर्जर कवियों की रचनायें लिखी गई थी; हो सकता है कुछ रचनायें गुजरात में लिखी गई हों, उन पर गुजराती का प्रभाव अधिक हो किन्तु इनकी रचनाओं की सामान्य भाषा दिल्ली राजस्थान और गुजरात की भाषाओं के मेल से बनी मरुगुर्जर ही है। गुर्जर प्रभाव के लिए सम्यक्त्व बारव्रत कुलक की निम्न पंक्तियां अवलोकनीय हैं :—

हूँ मूरख मतिहीण, भारी छुं सहीय, हूँ नरावा जिमकहूँ तिसुंकरुं-नहीय,
किम हु करुँ अजाण, जांणू नहीं गियत्थविण,
गुरु विण न हुइ प्रमाण, जे बोलिउं मझ मति तणू अे।३३८।[2]

इन विवरणों एवं उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि आप संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। वे नाना प्रकार के काव्यरूपों के कुशल प्रयोक्ता थे। विविध छन्द, देशी ढाल, रागरागिनियों का उत्तम उपयोग करने में समर्थ थे। उन्हें अलंकारों के उचित प्रयोग का ज्ञान था। उनमें वे सभी गुण वर्तमान थे जो किसी को उच्चकोटि का कवि बनाने के लिए अपेक्षित हैं। उन्होंने जैन समाज में प्रचलित प्रायः सभी लोक प्रसिद्ध पुरुष एवं नारी चरित्रों पर आधारित

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि, भाग ३ खंड २ पृ० १४८७-८८
२. श्री० मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४५१

उत्तम रचनायें प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत करके मरु गुर्जर जैन साहित्य का भण्डार सम्पन्न किया। इस प्रकार भाव, भाषा, काव्यत्व और धार्मिक संदेश की दृष्टि से देपाल १६वीं शताब्दी के समर्थ कवि सिद्ध होते हैं। इनके रचनाओं की सूची श्री अगरचन्द नाहटा के लेख 'राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल से लिया गया है।[1] हो सकता है कि इनका अभी और भी साहित्य ज्ञान भांडारों में दबा पड़ा हो। इस दिशा में अभी शोध की काफी गुंजाइश है।

देवकलश—आप श्वेताम्बर उपकेश गच्छीय उपाध्याय देवकुमार, कर्मसागर, देवकलोल्ल के शिष्य थे। आपने सं० १५६९ में 'ऋषिदत्ता चउपइ (३०१ गाथा) लिखी जिसमें ऋषिदत्ता का शील निरूपित किया गया है, कवि लिखता है—

"अे प्रबन्ध रिषिदत्ता करेउ, सीलतणउ नीपन उनवेरउ, छइ परगट संबन्ध।
जे नरनारी भावइं मणिसिइ, आंणीमन ऊलट नितु सुणिसिइ, भाव सकति भरपूरि।[2]

सील का माहात्म्य बखानते हुए कवि आगे लिखता है—

"सीलइ सुभमति ऊपजइ, भागउ टलइ कलंक,
बीज तणइ दिनिनिर्मलउ, होइ जिसउ हरणंक।
सीलइ वलि निश्चल मिलइ, उत्तम सिउ संबन्ध,
सीलइं रिषिदत्ता तणउ, भवियां सुणउ प्रबन्ध।

शील का माहात्म्य बताकर शील का आदर्श स्वरूप रिषिदत्ता की कथा के माध्यम से कवि ने इस चउपइ में प्रकट किया है। कवि सजग लगता है कि उसका काव्य कोरा उपदेश परक और प्रचार प्रधान न हो जाय इसलिए अन्य जैन लेखकों की तरह इसने भी शील सम्बन्धी उपदेश को कथा के लोकप्रिय और आकर्षक आवरण में आवेष्ठित करके प्रस्तुत किया है। रिषिदत्ता का चरित्र जैन समाज में सुपरिचित और आकर्षक है। इस धार्मिक कथा के आधार पर लिखी इस कृति में कहीं-कहीं सुन्दर काव्यत्व की झलक भी मिलती है। सिंहरथ राजा की रानी रिषिदत्ता ने अपने शील-धर्म के बल पर सिंहरथ के साथ भगवान शीतलनाथ की जन्मभूमि भद्दलपुर में निर्वाण प्राप्त किया। इसकी भाषा पर गुजराती की स्पष्ट छाप है,

१. श्री अ० च० नाहटा--परम्परा पृ० ५८
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १२० भाग ३ पृ० ५५४-५५५

यथा "शीतल जिन जन्मइ सुपवित्र, भद्दिल पुरवर छइ पवित्र,
तिहा आया गुरु साथि, केवल कीधउं हाथि।"

रचना के अन्त में कवि ने अपनी गुरु परम्परा और तत्सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें इन पंक्तियों में दिया है—

"श्री उव अेस गछ सिगार, वाचकवर श्री देवकुमार, विद्या चवदअपार।
तासु पाटि उवझाय कर्मसागर, हूआ सर्वगुण मणि रयणागर, शास्त्र तणा आधार।

तासु पाटि उवझायजयवंत देवकल्लोल महिमावंत, दिन दिनते उदियंत।
तासु सीस देवकालसइ हरसइ, पनरहसय गुणहत्तरि वरसइ, रचिउ रसाल परबन्ध।[1]

देवकीर्ति—आपने सं० १५३१ में 'धन्नाशालिभद्र रास' लिखा जिसका उल्लेख श्री मो० द० देसाई ने जैन गुर्जर कवि भाग १ पृ० ६० तथा जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ५२४ पर किया है किन्तु अन्य कोई विवरण या भाषा सम्बन्धी उद्धरण आदि नहीं दिया है।

देवप्रभ गणि—आप सोमतिलक सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५४० से पूर्व 'कुमारपाल रास' लिखा। श्री देसाई जी ने इनके गुरु पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है और निम्नलिखित पंक्ति के आधार पर श्री वीरसिंह को इनका गुरु होना संभव बताया है—

"सूरीससिसउ वीरसिंह गुरुपाय पसाइ,
बहु देवप्पह गणि वरेण रचिउ भत्ति रासो।[1]

लेकिन जैन गुर्जर कवि भाग ३ में जो पाठ है उससे स्पष्ट सोमतिलक आपके गुरु प्रतीत होते हैं, यथा—

"धम्म विसउ जां जगह माहिडूय निच्चल होइ,
कुमर रायह तणउं रास, नंदउ तां महीपलि,
सूरीसर सिरि सोमतिलक गुरु पाय पसाइ,
बुह देवप्पहगणिवरेण रचिउ दूह रासो।[2]"

दोनों प्रतियों के अन्तिम भाग में पाठ भेद होने के कारण गुरु के विषय

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १२०

२. वही पृ० ६२

में शंका उत्पन्न हो गई है। दूसरी प्रति सेन्ट्रल लाइब्रेरी बडोदरा में सुरक्षित है। इसके अनुसार इस रास की अन्तिम पंक्तियाँ निम्नवत् हैं—

'पढइ गुणइ जे सुणइ, रास जिणहर खेलइ,
सविहिं दुरिअह करिअ छेह, सिवपुर पामेइ।'

इसमें कुमारपाल का जीवन चरित्र और उसके शम प्राप्ति का वर्णन साधारण मरुगुर्जर भाषा में किया गया है।

देवरत्न—आप आगमगच्छीय गुणरत्न सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१३ के आसपास 'गजसिंह कुमार रास' की रचना की थी।[1] इस रास तथा रासकार के सम्बन्ध में विवरण अज्ञात है। एक अन्य देवरत्न सूरि हो गये हैं जिनके किसी शिष्य ने सं० १४९९ में देवरत्न सूरि फागु लिखा था। संभवतः वे देवरत्न जयानन्द सूरि के शिष्य थे। उक्त फागु प्राचीन गुर्जर काव्य संचय' में प्रकाशित है।

देवसुन्दर—आप जीराउला गच्छ के श्री रामकलश सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५९४ में 'कयवन्ना चौपइ' लिखी और सं० १५८७ में 'आषाढ़ भूति संज्झाय' लिखा (श्री अ० च० ना०, जै० म० गु० पृ० १६)

कयवन्ना चौपइ में कवि ने अपनी रचना का समय और अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख इन पंक्तियों में किया है :—

'संघ सानिधि श्री पास पसाइ, नाम जपंता नवनिधि थाइ।
संवत पनरचोराणुसार, मागसर वदि सातमि गुरुवार।
रचनाकाल—पुष्य नक्षत्र हूँ तो सिद्ध जोग, कयवन्ना नी कथा नो भोग।'

गुरु का स्मरण इन पंक्तियों में किया गया है—

'श्री जीराउलि गच्छ गुरु जयवंत, श्री श्री रामकलश सूरि गुणवंत,
वाचक देवसुन्दर पभणंति, भणइ गुणइ ते सुष लहंति।[2]

प्रस्तुत देवसुन्दर १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के कवि हैं। एक अन्य देवसुन्दर सूरि १५ वीं शताब्दी में हो गये जिनके किसी शिष्य ने सं० १४४० के आसपास 'काकबंधि चौपइ' की रचना की थी। इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९७

२. श्री देसाई जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ५२३

दौलतविजय—आप तपागच्छीय सुमति साधु की परम्परा में शान्ति विजय के शिष्य थे। आपने 'खुमाणरास' नामक प्रसिद्ध काव्य लिखा जिसका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीर गाथा काल में किया है। यह डिंगल की प्रसिद्ध कृति मानी जाती है। इस रास में मारवाड़ी प्रयोगों की अधिकता है। इसमें चित्तौड़ के राणा खुमाण और उनके वंशजों का वर्णन चारण पद्धति में किया गया है। इससे लगता है कि जैन साधु भी दरबारी कवि होते थे। इसके प्रारम्भ में गणेश की वंदना की गई है। इस काव्य के तीन खंड हैं। इसका मंगलाचरण इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है :—

"ऊँ ऐं मंत्र अपारं, सारद प्रणमामि माय सुप्रसन्नं।
सिद्ध ऋद्धि बुद्धि सिरं पूरं वरवेद पडिपुन्नं।
वरवेद पुत्थहत्था वीणासुरवद्ध कमल करविमला।
हरणमी हंसरुढ़ा विज्जा वैजंतिया माला।

दूहा—कमलवदन कमलासना, कविउर मुख के पास,
वसे सदा वागेश्वरी, विधविध करे विलास।

गणेश वंदना—शिवसुत सुठालो सबल, सेवे सकल सुरेश,
विध्नविडारण वरदीयण गवरीपुत्र गणेश।[2]

कवि ने गुरु का स्मरण निम्न छन्द में किया है:—

तपगच्छ गिरुआ गणधार, सुमति साधु वंशे सुखकार,
पंडित पद्मविजय गुरुराय, पाटोदयगिरि रवि कहेवाय।
जयबुध शांतिविजय नो शिष्य, जंपे दौलत मनह जगीश'

यह द्वितीय खंड की समाप्ति का छंद है। इसकी भाषा काव्य गुण सम्पन्न, अलंकृत एवं वीरभाव की अभिव्यक्ति के लिए ओजगुण पूर्ण है यथा :—

'भृकुटि चंद भलहले. गंग खलहले समुज्जल
एक दंत उज्जलो सुंडल रमवले इडंगल।"[3]

धनदेवगणि—सं० १५०२ में आपने 'सुरंगाभिधान नेमिफाग' नामक काव्य की रचना की, जो प्राचीन फागुसंग्रह में प्रकाशित है। इसमें सर्वप्रथम

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग ३, खंड २, पृ० १४९५
२. वही भाग १, पृ० १६५-१६६
३. वही

संस्कृत भाषा में शार्दूल विक्रीडित छन्द में मंगलाचरण है; उसके बाद प्राकृत भाषा में सरस्वती की वंदना है। तत्पश्चात् मरुगुर्जर में काव्य रचना की गई है। इस प्रकार तीन भाषाओं में इनसे कुछ पूर्व सोमसुन्दरसूरि ने 'नेमिनाथनवरसफागु' लिखा था। हो सकता है कि धनदेवगणि ने वह रचना देखी हो और प्रभावित हुए हों। काव्यबन्ध की दृष्टि से यह फागु पूर्वप्रचलित दोनों फागु प्रकारों से भिन्न, एक स्वतन्त्र प्रकार की रचना है। इसकी कथा भी नेमिनाथ की लोकप्रिय कथा पर आधारित है। मंगलाचरण में कवि कहता है :—

सरसति मुझ मति देविअ, तू जगि सार रे,
नीलकमल दल सामल जिनवर बरणवु नेमिकुमार रे।
कामित फल दातार सामी नेमिकुमार,
हार मनोहरु अे मुगति रमणि वरु अे।[1]

मंगलाचरण के बाद १५ छंदों तक नेमिकुमार के माता-पिता का गुण-गान है। आगे रानी का स्वप्नदर्शन, कुमार का जन्म और बाल्यावस्था का वर्णन किया गया है। उनकी उपमा चन्द्रमा से देता हुआ कवि लिखता है कि नेमि की बराबरी चन्द्रमा नहीं कर सकता; वे अनुपम हैं :—

"सामीय वयण अनोपम, ओपम चंद न होइ,
क्षीण कलंकीय दीसइ ए तपइ न सोम।[1]"

यह रूप वर्णन हिन्दी में महाकवि तुलसी का स्मरण कराता है। जरा-संध से थककर कृष्ण यादव कुल के साथ मथुरा से आकर द्वारका में बस जाते हैं। यहां एकदिन नेमिकुमार को पाञ्चजन्य फूंकता देख वे चकित होते हैं और बलभद्र से अपनी चिन्ता प्रकट करते हैं। कथा आगे बढ़ती है। वसंत-ऋतु आई, अवसर निकालकर कवि ने प्रकृति की शोभा का वर्णन किया है। गोपियों के साथ वन विहार के अवसर पर नेमिकुमार से विवाह के लिए आग्रह किया जाता है और अन्ततः राजुल से विवाह निश्चित होता है। वहाँ से बारात चली, तोरणद्वार पर बंधे पशुओं को देखकर नेमिकुमार ने सारथी से पूछा :—

'पशु क्यों बाँधे गये हैं?' सारथी बोला 'आपके विवाह-भोज के लिए।' नेमि को वैराग्य हुआ, यहाँ राजुल के विलाप का मार्मिक वर्णन किया गया है। नेमिकुमार दृढ़तापूर्वक संयम साधना के लिए गिरनार चले गये। रास की कुछ अन्तिम पंक्तियां नमूने के रूप में आगे उद्धृत की जा रही हैं।

१. देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ४३-४४

"ज्ञान ऊपनु जाणीय राणीय राइमइ रंगी,
गिरिसरि सामीय निरखीय हरखीय सानिज्ज अंगी।
सामी केवल कामिनी करि धरि राजीमती नादरी,
सा सारी निजकाज राजकुमरी मुगतिइ गई सावरी।
जे रेवइगिरि राय उपरि गमइ श्री नेमि पाये नमइ,
ते पामइ सुखसिद्धि रिद्धिहि रमइ श्रीशाश्वती भोगवइ।"[1]

अन्त में संस्कृत का एक श्लोक देकर फागु समाप्त किया गया है। अन्त में लिखा है' इति श्री सुरंगाभिधो नेमिफाग सम्पूर्ण सं० १५०२ वर्षे कृतो धनदेव गणिना।"

यह रास काव्योपम भाषा में काव्य सौष्टव से युक्त एक उत्तम फागु है।

धनसार (पाठक)—आप उपकेशगच्छीय विद्वान् थे। आपने सं० १५३३ विजयादशमी के अवसर पर १२८ गाथा में' 'उपकेशगच्छ पर ऊएसारास' लिखा, जिसमें उपकेशगच्छ की विरुदावली वर्णित है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

"पणमवि पासजिणंद पाय, सरसति वयण दयउ माय,
काइं कविय करणहूं मंडउ, सुह सुहगुरु ना पाय वंदउ।
उएस बंसनइ गच्छ जु किद्ध, उवएस नयरिहि सोजि प्रसिद्ध,
पासनाह जिणवर संताणिहिं, पठम नाम हुअ इणि अहिनाणिहि।[2]

इसके अन्त में रचनाकाल का उल्लेख किया गया है, यथा:—
"संवत पनर तेत्रीस आसो मास सुदी ए रास किय उ सजगीस,
दसमीय सुगुरुवारहि ऊजलीय, ऊएस पुरवर रास पढंता पूनइ आस,
आवइ अंगि उल्लास, अहनिसि ऊपजई अति मनरली ओ।
भवियण कएउ समाउ अवएस माह (त)णउ उपाउ,
सुह संपति नउ दाउ, पाठक धनसार इम बोलियई।"[3]

इस रचना की प्रतिलिपि सं० १६२५ की लिखित 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान', जोधपुर में उपलब्ध है। गच्छीय विवरण एवं इतिहास की दृष्टि से इस कृति का महत्व है किन्तु साहित्य की दृष्टि से यह अति सामान्य रचना है। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है।

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ६५-६७
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १२६
३. वही

धर्मदास—इन्होंने सं० १५७८ में' धर्मोपदेश श्रावकाचार की रचना की। इसमें इन्होंने रचनाकाल का उल्लेख किया है :—

'पन्द्रह सै अठहत्तरि वरिसु' संवच्छरु कुसलहु कन सरसु,
निर्मल वैशाखी अखतीज, बुधवार गुनियहु जानीज।'

इसके आधार पर यह अनुमान होता है कि आप १६वीं शताब्दी के मध्य-काल में हुए थे। धर्मदास का जन्म सम्पन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम साहु रामदास और माता का नाम शिवि था। आपके पिता-मह पद्म बड़े परोपकारी और विद्वानों का सम्मान करने वाले थे। धर्मदास शुद्ध श्रावकधर्म का अपने जीवन भर आचरण करते रहे।

'जैन धर्म सेवै नित्त, अस दह लक्षण भाव पवित्त,
नित निर्ग्रन्थ गुरनि मानउं, जिन आगम कहू पठतु सुनहू।'[1]

'धर्मोपदेश श्रवकाचार' में श्रावकों के दैनिक जीवन में आचरण योग्य सिद्धांतों का प्रवचन किया गया है। अहिंसा, तप, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के अतिरिक्त आठ मद, दस धर्म, बारह भावना और सप्तव्यसन पर प्रकाश डाला गया है। निरन्तर विषयासक्त व्यक्ति को कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, इस सन्दर्भ में कवि लिखता है :—

'रागलीन जीवन मति रहे, इन्द्री जिते परीसा सहै,
ता कहू सिद्धि कदाचित् होइ, संसारी तिन जानहु सोइ।

अतः मोह त्यागने वाला ही पंडित है :—

'पुत्र मित्र नारी धन धानु, बंधु शरीर जु कुल असमान,
अवरू प्रीय वस्तु अनुसरै, ता पर राग न पंडित करै।

इसी प्रकार वेश्यागमन आदि दोषों से बचने की भी चेतावनी दी गई है। जो मनुष्य मानव जीवन को भोग विलास में गवाँ देता है वह मानों कौवा हाँकने के लिए माणिक फेंक देता है :—

'समुद्र माह माणिक गिरि जाइ, बूड़त उछरत हाथ चडाइ,
'पुनु सो काग उडावन काज, सरव्यौ रतन मूढ़ वे काज,
तेम जीव भवसागर मांहि, पायो मानुष जन्म अनाहि।''[2]

---

१. डॉ० क० च० कासलीवाल महा० कविवर बूचराज एवं उ० स० पृ० ४-५-६
२. वही

इनकी भाषा अनलंकृत, साधारण बोलचालकी मरुगुर्जर है। उदाहरणों द्वारा कवि ने विषय वस्तु को हृदयंगम कराने का प्रभावशाली कौशल प्रस्तुत किया है, यथा :—

'करे कुमित्र संगु जो कोई, गुनवन्तौ जो निर्गुण होइ,
सूखं दाद संग ज्यौ हर्‍यौ, दावानल महि पुनु सो पर्‍यो।

इसका अन्तिम छन्द निम्न है—

शील प्रबन्ध जे सांभलिए एम्हा, ते नर नारी धनधन्न
सुदर्शन रिषि कवलिए म्हा, चउविह संघ सूप्रसन्न।'

ये अपेक्षा कृत अपरिचित कवि हैं, इतिहास ग्रंथों में इनका केवल नामोल्लेख ही मिलता है।

धर्मदेव—आप पौर्णिमागच्छीय गुणधीरसूरि के पट्टधर सौभाग्यसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५५४ आसो सुदी ६ को महेसाणां में 'हरिश्चन्द्ररास' लिखा। सं० १५६१ में सीणीजी ग्राम में चौमासे के समय 'अजापुत्ररास' लिखा। सं० १५६३ में इन्होंने (वयर) स्वामीरास लिखा जिनका विवरण आगे दिया गया है। हरिश्चन्द्ररास—सौभाग्यरत्नसूरि के आदेश से लिखा गया, कवि कहता है—

'शासन देवति शारदा सयल शुद्ध सानिध पामीय,
श्री सौभाग्यरत्न सूरि गुरु पूनिम पक्षि पवित्र,
तसु आदेशिहिं हूं रचूं हरिचंदराय चरित्र। १।[1]

रचनाकाल का उल्लेख निम्नांकित पंक्तियों में किया गया है :—

'संवत अे पनर चउपन्नि मास आसो पक्षि ऊजलइ,
छट्ठिइ अे महिसाणां पाद्रि सानिधि श्री शांतिनाथनइं अे,
श्री संघनइं अे भणिवा काजि, वाचवा मुनिजन साथनइ अे।८१।

कवि ने इसमें गुरु परम्परा का भी उल्लेख किया है।

'अजापुत्ररास' का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'आठ महासिद्धि पामीइ समरे जइने नामि,
प्रणमुं जिनवर आठमों श्री चन्द्रप्रभ स्वामि,

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५३६

गोयम गणहर पय नमी, समरी सारद माय,
सहि गुरु वेदी वर्णु वु अजापुत्र वर राय।"[1]

अन्त में रचनाकाल दिया है यथा :—

'पूनिम पक्षि करइ जयकार, श्री गुणधीर सूरि पाटि श्रृङ्गार,
श्री सौभाग्यरतन सूरीश, मुनिवर धर्मदास तेहनु सीस।
संवत पनर अेकसठइ नामि, रहिआ चउमासि ते सीणीजी ग्राम,
श्री चंद्रप्रभ स्वामी चरित्र, वांचू चउमासी पुस्तक तत्र,
अजापुत्र नी कथा रसाल, तसु धुरि भाखि छइ सुविशाल।"[2]

गुर्जर की क्रिया 'छइ' और विभक्ति 'नी' आदि के प्रयोग से इसकी भाषा में गुजराती का प्रभाव प्रकट होता है।

'व्रजस्वामीरास' का रचनाकाल बताते हुए कवि लिखता है :—

'लहीअ पसाय रंगे धर्मदेव मुनिवर इमे,
रच्यो अे रास रसालि पनर त्रसठि संवत्सरि अे।

व्रजस्वामी से प्रवर्तित वयर शाखा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'हवणां अे त्रिणि छे शाखा, चोथी निवृत्ति निवृत्ति अे,
त्रिणय अे कही मूलि, वयर शाखा जगदीपती अे।
तु हविअे कोटिगण मुख्य वयरशाखा तिणि चन्द्रकुलिअे,
गिरुओ अे पूनिम पक्षि पूनिमचंद्र जिम निर्मली अे।

आप सौभाग्यसूरि के शिष्य और उनके पट्टधर गुणमेरुसूरि के गुरुभाई थे। इसमें इन्होंने वज्रशाखा[3] और पूर्णिमागच्छ का वर्णन किया है।

धर्मरुचि—आप उपकेशगच्छीय सिद्धिसूरि के प्रशिष्य और धर्महंस के शिष्य थे। आपने सं० १५६१ वैशाख सुदी ५ गुरुवार को 'अजापुत्र चौपाई' लिखा। इसमें आपने उपकेशगच्छ और अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है यथा :—

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५३६
२. वही
३. वही भाग १ पृ० १०९

कक्कसूरि केरा शिष्य श्री धर्महंस पय नामक शिष्य,
धर्मरुचि बोलइ तास पसाइ, रची चउपइ अजापुत्र राय।
पुण्यह साहस आवइ मेह, पुण्य सद्भावे बोलइ जस तेह।
पुण्यह कीर्ति त्रिभोवन रसइ, पुण्यह लीहइ लायकी अेमइ।
अेह प्रबन्ध जुही ग्रही, करो पुण्य मानवमहगही,
भणइ रास जे मनसिउ मेली, तेह धरि करइ कमला वेलि।''[1]

इस चौपई में पुण्य का माहात्म्य समझाया गया है। रचना मुख्यतया चौपाइ-छन्द में ही की गई है। कवि ने रचना काल इन पंक्तियों में बताया है—

'संवत पन्नर वरस अेकसिट्ठ, वैशाख पंचमी शुदि गुरुहि गरिट्ठा,
नक्षत्र मृगशिर योग सकर्मा कीधी चउपइ दिन जाणी

इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है।

ब्रह्मधर्मरुचि—आपकी नव रचनायें उपलब्ध हैं, जिनके नाम—सुकुमाल-स्वामीरास, पीहर सासडा गीत, वणियडा गीत, मीणारे गीत, अरहंत गीत, जिनवर वीनती, 'आदिजिन वीनती,' 'पद' एवं 'गीत' है। आप अभयचन्द भट्टारक के शिष्य थे। कुमुदचन्द के शिष्य भट्टारक अभयचन्द से आप भिन्न हैं। आप अभयनन्दि के गुरु थे। भ० अभयचन्द के शिष्य ब्रह्मचारी (ब्रह्म) धर्मरुचि की सर्वप्रसिद्ध रचना 'सुकुमालस्वामीरास' एक प्रबन्ध काव्य है, जो विभिन्न छन्दों में वर्णित है। इसकी रचना घोघानगर के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में प्रारम्भ हुई और उसी नगर के आदिनाथ चैत्यालय में पूर्ण हुई। कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

'श्री मूलसंघ महिमानिलो हो, सरस्वती गच्छ सणगार,
बलात्कार गण निर्मलो हो, श्री पद्मनन्दि भवतार रे जी।
तस गछपति जगि जाणियो हो, गौतम सम अवतार,
श्री अभयचन्द वरवाणीये हो, ज्ञान तणे भंडार (रे जीवडा)
तास शिष्य भणि रुवडो हो रास कियो मे सार,
सुकुमाल नो भावइ जहो हो, सुणतां पुण्य अपार हे (हेजीवडा)

कवि अपनी अक्षमता के लिए क्षमा याचना करता हुआ कहता है :—

स्वर पदाक्षर व्यंजन हीनो हो, मइ कीयु होयि परमादि,
साधु तम्हो सोधि लेना हो, क्षमितवि कर जो आदि (रेजीवडा)[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई–जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५३७-३८

२. डॉ० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १८८-८९

इसकी अनेक क्रियायें पुरानी हिन्दी की हैं, जैसे लेना, कियो आदि। इसमें गुजराती प्रभावित राजस्थानी भाषा का प्रयोग हुआ है अर्थात् सब मिलाकर यह मरुगुर्जर की प्रतिनिधि रचना है। भाषा के उदाहरण स्वरूप निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

'ते देखी भयभीत हवी, नाग श्री कहे तात,
कवण पातिग एणे कीया, परिपरि पामइ छेघात।
तब ब्राह्मण कहे सुन्दरी सुणो तम्हे एणी बात।
जिम आनंद बहु ऊपजे जग मांहे छे विख्यात।"[1]

वाचक धर्मसमुद्र—आप खरतरगच्छ (पिप्पलकशाखा) की पट्ट परम्परा में जिनसागरसूरि, जिनहर्षसूरि एवं जिनचन्दसूरि के शिष्य श्री विवेक सिंह के शिष्य थे। आपने सं० १५६७ में दानधर्म के माहात्म्य पर सुमित्रकुमार-रास लिखा। इसमें ३३७ पद्य हैं। इन्होंने सं० १५८४ में स्वदारासंतोष व्रत पालन की प्रेरणा देने वाला 'कुलध्वजकुमार रास' लिखा। यह १४३ पद्यों की रचना है। रात्रि भोजन के दोष दर्शनार्थ इन्होंने जयसेन चौ० (रात्रिभोजनरास) पंचालसा में लिखा। सं० १५७३ में आपने श्रीमल साह के आग्रह पर अजिलाणापुर में एक कल्पित कथा पर आधारित रचना प्रभाकरगुणाकर चौपाइ (५३० पद्य) लिखी थी। शकुंतला की कथा को स्पर्श करने वाली आपकी एक रचना 'शकुन्तलारास' (१०४ पद्य) जैन-साहित्यसंशोधक, खण्ड ३ में प्रकाशित हो चुकी है। आपकी अन्य रचनाओं में सुदर्शनरास (१०७ पद्य) और अवन्तिसुकुमालसंज्झाय (३३ पद्य) भी उल्लेखनीय हैं। इन सभी रचनाओं में आपकी 'रात्रिभोजन चौपाई' का सर्वाधिक प्रचार हुआ। इसके प्रारम्भ में कवि ने रात्रिभोजन के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है :—

'पणमिय गोयम गणधर राय, समरिय सरसति सामिणी पाय।
रयणी भोजन दोष विचार बोलिसु ते सांभलउ उदार।
राति जिमवा केही बुद्धि, राति स्नान न थाइ शुद्धि,
रातइ पितर पिण्ड न लहइ, रातइ तरपण को नवि करइ।

कवि ने महाभारत पुराणादि ग्रन्थों का हवाला देकर रात्रिभोजन से होने वाली हानियों का निरूपण किया है। इस प्रतिपादन शैली का पाठकों पर अच्छा प्रभाव पड़ा था।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १८८-१८९

'प्रभाकरगुणाकर चौ०' के अन्त में कवि ने लिखा है :—

'कवि कल्लोल कही एकथा मन कल्पित की धीस कथा।
पनरतिहुतरी संमत सरइ, मेदपाट अजिलाणा पुरइ,
श्रीमल साह तणी आग्रही, चरित्र एइ सुणतासुखलहइ।[1]

श्री मो० द० देसाई ने इन पंक्तियों का यह पाठान्तर दिया है :—

'कवि कल्लोल.........स कथा" के बाद
तिहि ते लागु छइ उत्सूत्र, ते खमज्यो भगवति जिनसूत्र।[2]

'सुमित्रकुमाररास' का प्रथम पद्य इस प्रकार है :—

'पणमिसु मण तण वय करी, पहिलो पढम जिणंद,
जसु पय पंकज पूजतां, पूजइ परमाणंद।

इसके अन्त में गुरु परम्परा के अन्तर्गत कवि ने जिनसागर, जिनसुन्दर, जिनहर्ष, जिनचंद और विवेकसंघ का सादर स्मरण किया है। उन्होंने इसकी रचनाकाल इन पंक्तियों में लिखा है :—

'संवत पन्नरहसि सतसठइ, जलउर नयर पास
संतुठइ, कीउकवित्त आणंदइ।

'कुलध्वजकुमाररास' का रचनाकाल इस प्रकार बताया है :—

'संवत पनर चउरासीइ अे, कीधउ कीधउ प्रबन्ध सुनाम कि,
स्वदारा सन्तोष व्रत उपरिइअे, पालउ पालउ मन करि ठामकि,
संवत पनर चउरासीइ अे। १४८।'[3]

'शकुन्तलारास'—जैन कवियों में आपका यह प्रयास मौलिक है। इसमें अयोध्या नरेश दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रसिद्ध कथा जैनमतानुकूल प्रस्तुत की गई है। इसका अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

'कुल लाज दाखइ, विनय भाखइ सत्य भाखइ जे मुखइ'
दुष्यन्त राय शकुंतला सुत सदा जयवंतउ सुखइ।
अे रास भणता रंगि सुणतां पाप कसमल परिहरउ,
कवि कहइ धर्म्मसमुद्र सूद्धा सील उपरि खयकरउ।१०४।[4]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा, पृ० ६३-६४

२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५४८-४९

३. वही

४. वही, पृ० ५५१

अवन्तिसुकुमालसज्झाय का अन्तिम २३वां पद्य प्रस्तुत है :—

'अेम चलइ रोम न पदो लागी करिय बैठो नृप भणइ,
प्रभ दोष खामु सीस नामु इन्द्र संकट जिम रलइ।
कल्याण मंदिर स्तवन करता विहार पीडी अप्प अे,
कवि कहइ धरमसमुद्र वाचक पास पगल्या थाय अे।'[1]

सुदर्शनरास में सुदर्शन सेठ के शील का माहात्म्य बताया गया है। इस चौ० में यह चरित्र संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। रात्रिभोजनरास और कुलध्वजकुमाररास में इनके वक्तव्य अधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं और इनके उपदेशक व्यक्तित्व का अच्छा प्रभाव पड़ता है। कवि का उद्देश्य धार्मिक संदेश देना है, काव्य तो उसका साधन है। सुदर्शन चौ० की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

'इम सेठि सुदरसन चरिय, घणा पुण्य प्रभावइं भरिम,
जे नरनारी नी रागी गाइं, तिहि ऋद्धिवृद्धि नितु थाइं।
सुदरसन नउ नाम मन वंछित पूरइ काम।
अति सबल सील अभिराम मनि ध्याई करउ प्रणाम।'[2]

उक्त विवरणों और उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ये मरुगुर्जर भाषा के एक महत्वपूर्ण जैन कवि हैं।

धर्मसागर—आप संडेरगच्छीय ईश्वरसूरि के शिष्य थे। आपकी 'आरामनन्दनचौपाइ' सं० १५८७ रचना की है। यह सूचना देसाई जी ने जैन साहित्यनो इतिहास पृ० ५२७ पर दिया है किन्तु जैन गु० क० भाग तीन में उन्होंने अपने कथन का संशोधन करके इसे धर्मसागर के शिष्य चउहथ या चौथों की रचना बताया है। आरामनन्दन चउपइ में चउहथ का स्पष्ट रूप से नाम है, यथा—

'हरष धरी घणइ अे, चउहथ इम भणइ अे।'[3]

अतः 'चउहथ' कवि के साथ इस कृति का विवरण दिया जा चुका है।

ब्रह्मधर्मसागर नामक एक अन्य कवि १८ वीं शती में हुए हैं जिनका विवरण यथा स्थान दिया जायेगा। विवेच्य धर्मसागर की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है, अतः इनके विवरण की अपेक्षा नहीं है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ११८
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १४२
३. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ५७८

धर्मसिंहगणि—आप तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य थे। आपने 'दीवालीरास' और 'विक्रमरास' लिखा, जिसकी सूचना श्री देसाई ने जै० गु० क०—भाग १, पृ० १६५ पर दिया है किन्तु इस कवि का विवरण तथा रचनाओं का परिचय और उदाहरण आदि कुछ नहीं दिया है, अतः इनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आनन्दविमलसूरि सं० १५७० में आचार्य पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। अतः इतना निश्चित है कि ये रचनायें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हैं।

धर्मसुन्दर—आप ककसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५०४ खयनगर में 'श्रीपालप्रबन्ध' की रचना की थी। कवि ने मंगलदायक महापुरुषों में श्रीपाल की गणना की है, यथा—

'पहिलउ मंगल सवि अरिहंत, बीजइ सिद्धचक्र जयवंत,
त्रीजउ विमलदेव सुविशाल, चउथउ मंगल राउ श्रीपाल।

यह रचना उसने तत्कालीन राजा के मन्त्री के आग्रह पर की थी।

'राजा मंत्रि तणइ आग्रहिइं, करिउ कवित्त भवियण संग्रहिइ।
सुणता संपद संघनइ मिलिउ, भणतां गुणतां अफला फलिउ।

यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसका नायक उदात्त चरित्र एवं शीलयुक्त मंगलकारी श्रीपाल है। इस विषय पर कई रास, चौपाई आदि जैन कवियों ने लिखी हैं। रचना का स्थान और समय का उल्लेख कवि ने इस रास की इन पंक्तियों में किया है—

'खयनयर वरि संवत पनर, आस्ते मासि वरिस चडोत्तर,
रच्यउ अेतउ श्रीपाल प्रबन्ध, नंदउ तां जां ससिहर सिंधु।'[1]

रास के ६८वें छन्द (त्रुटित) में कवि ने गुरु का स्मरण किया है, यथा—

……………………………ककसूरि गणधार
भणइ धर्मसुन्दर उवझाय, रिद्धि हुस्यइ सिद्धचक्र पसाय।'

रचना में श्रीपाल के चरित्र के माध्यम से सिद्धचक्र का प्रभाव भी बताया गया है। भाषा सामान्य मरुगुर्जर है।

नन्नसूरि—कोरंटगच्छीय सर्वदेव सूरि आपके गुरु थे। आपने सं० १५४४ में 'विचार चोसठी'; सं० १५४८ में 'गजसुकुमारराजर्षिसज्झाय',

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खंड २ पृ० १४८८-८९

सं० १५५२ में 'गजसुकुमालचोढालिया' (खंभात), सं० १५५३ में 'दश श्रावकबत्तीसी (चित्तौड़) के अतिरिक्त पंचतीर्थस्तवन और अनेक संझाय, गीत तथा भास आदि छोटी-छोटी रचनायें भी लिखीं।

'विचारचौसठी' के अन्त में निम्न विबरण प्राप्त होता है :—

'इणीपरि श्रावक धर्म तत्त्व, पनर चुआलि रचू पवित्र।'[1]

अर्थात् इस रचना में श्रावक धर्म का तत्त्व बताया गया है और यह सं० १५४४ में रची गई है।

आगे कवि कहता है 'सुललित चोसठि चोपइ बन्ध,
मिच्छा दुक्कड़ होवे असुध।
अेहने नाम विचार चोसठी, रुष श्रेणि करे अेकठि।
खंभनयर आनन्दपूरी, कोरंट गछ पभणे नन्नसूरी

इस छंद में रचना स्थान, लेखक का नाम और गच्छ सम्बन्धी सूचना में दी गई हैं। श्री मो० द० देसाई ने विचारचौसठी की अन्य प्रति के आधार पर ६३ वीं ६४ वीं कड़ी का पाठान्तर दिखाया है[2]। गजसुकुमार संझाय का रचना काल पहले सं० १५४८ और बाद में सुधारकर सं १५५८ बताया है। नाहटा जी ने 'गजसुकुमारचौढालिया' नामक रचना का उल्लेख किया है और रचना काल सं० १५५१ बताया है। पता नहीं दोनों एक ही रचनायें हैं या दो; क्योंकि श्री नाहटा जी ने चौढालिया का पाठ नहीं दिया है।

गजसुकुमारराजर्षिसज्झाय का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—

'सोरठ देश वषाणीय साहेलडी रे देवह तणउनिवेस,
द्वारिका नयरी तिहां भली, समरथ कृष्ण नरेश।
समरथ कृष्ण नरेश भुजबलि, जसुपिता वसुदेव,
देवकी देवी ऊपरि धरिया, करइ सानिधि देव'[3]

अन्त में रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'श्री कोरंटगछ राजीउ, श्री सावदेव सूरि
तासु सीस नन्नसूरि भणइ, मन आणंद पूरि
तिणिपरि पनर अठावनइ, खंभाइत मांहि,

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ९६
२. वही भाग ३ पृ० ५२५
३. वही भाग १, पृ० ९६

थंभण पास पासउलउ रचिउ उछाहि।
गज सुकुमाल चरित्र अे, जे गाइ रंगि,
तीह घरि नवनिधि संपजइ सुषविलसइ अंगि।"[1]

'दशश्रावकबत्तीसी' के सम्बन्ध में कवि ने सूचित किया है :—

'बत्रीसी दश श्रावक तणी चित्रकूट रची धरमह भणी,
पनर त्रिपनइ आणंदपूरि, कोरंटगच्छ पभणइ नन्न सूरि।

पंचतीर्थस्तवन में सेत्रुंज, दहीउद्रापुर, उजलगिरि, खंभायतपुर और साचुरि की मूर्तियों का स्तवन किया गया है, यथा :—

'पांचइ तिरथ पंच जिणेसरु, पंचमी गति पुहुता सुदंस।
नन्न सूरि इम छंदे नव नवे, वीनव्या सुखदायक ते सवे।"

आपकी कुछ छोटी रचनाओं की सूची इस प्रकार है :—

शांतिनाथ स्व० सं० १५४३, अर्बुदचैत्यप्रवाडी सं० १५५४, मिच्छा-दुक्कड़सज्झाय सं० १५५९, महावीरसत्तावीसभव सं० १५६०, जीराउला पार्श्वछंद', प्रभातीगीत, २४ जिनगीत, जीवदयागीत, पुण्यकरणीयस्थापना गीत, गौतमस्वामीगीत। इन छोटी कृतियों का एक संकलन पं० लालचन्द ने किया है। छोटी रचनाओं की भाषा-शैली के प्रतिनिधि रूप में 'अर्बुद चैत्यप्रवाडी' की दो पंक्तियां प्रस्तुत की जा रही हैं :—

'इणिपरि अरबुद चैत्र प्रवाडि जि, कीजइ आणंद पूरि,
पनर चउपनइ भणइ मनरंगइ, कोरंट गछि ननसूरि।

यह रचना जैनयुग पुस्तक ५, पृ० ४४४ पर प्रकाशित है। इसके आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नन्नसूरि एक उत्तम रचनाकार थे। आप की काव्य भाषा मरुगुर्जर में सहज प्रवाह एवं प्रसाद-गुण प्राप्त होता है।

प्राय: जैन कवि उपदेश परक रचनाओं को रुचिकर बनाने के लिए कथा का आधार लेते हैं किन्तु इन्होंने अपनी अधिकतर रचनाओं में कथा का आधार नहीं लिया है बल्कि विचारप्रधान रचनाओं को सुन्दर भाषा शैली के

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ९६

माध्यम से लोकप्रिय बनाने का उत्तम प्रयास किया है। इनके स्तवनों और गीतों की भाषा में पर्याप्त गेयता और मृदुता प्राप्त होती है।

नन्दिवर्द्धनसूरि—(राजगच्छ) आपकी एकमात्र कृति 'यादवरास' की रचना सं० १५८८ में हुई।[1] अन्य विवरण उपलब्ध नही हो पाया है।

नयसिंहगणि—वडतपगच्छीय धनरत्नसूरि के प्रशिष्य एवं मुनिसिंह के शिष्य नयसिंह ने पावापुर में 'चतुर्विंशतिजिनस्तुति'[2] की रचना की। धनरत्नसूरि के गुरु लब्धिसागरसूरि ने सं० १५५७ में 'श्रीपालकथा' लिखी थी, इसलिए यह कवि १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का हो सकता है। इस अनुमान के लिए कोई अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। यह रचना पावापुर में की गई और गुर्जर भाषा में है इसलिए इसे मरुगुर्जर जैन साहित्य में स्थान देना वांछित है। इसकी भाषा पर गुजराती का अधिक प्रभाव स्वाभाविक है। इसका कोई उद्धरण प्राप्त नहीं हो सका, अतः यह निष्कर्ष श्री देसाई के आधार पर दिया गया है।

नरपति—यह कवि संभवतः जैनेतर है क्योंकि इन्होंने अपनी कृति 'तंत्रबत्रीसी' (सं० १५४५) का मंगलाचरण लम्बोदर गणेश की वंदना से प्रारम्भ किया है यथा—

'लम्बोदर कवि शय शय धरंति, हंसवादन ते मुखि वशंति,
अति आवल्इ मुरति गंम, विवेकी नर तिहां करू प्रणाम।
× × ×
कविता शारदा तणु प्रणाम, नंद वत्रीसी करु वखाण,
संवत पनरसि पंचताला, तिथि सतिमनि मंगलवार।"[3]

नारी निंदा (निस्नेहपरिक्रम) और नारी प्रशंसा (स्नेह परिक्रम) के उद्धरण आगे दिए जा रहे हैं। निस्नेह परिक्रम की पंक्तियाँ :—

'नारी छेहा नवि पडई, नर छेहानी खोड,
पंथ न हारइ रे हिया, पंथि हारइ कोडि।"

रास्ता नहीं थकता, राही थक जाता है अतः नारी की भोगलिप्सा ठीक नही है।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५७९
२. वही भाग १ पृ० १७२
३. वही भाग १ पृ० ८८-८९ भाग ३ पृ० ७९४, ५१४

या 'मोहिया दानव देवता, नर मोहिया संसारि,
नारी महियल मोहिनी, कहइ नरपति सुविचार।''

नारी प्रशंसा की कुछ पंक्तियां देखिये :—

'नारीं विण दिहाडो किसो ? कहु किमरयण विहाइ ?
अति खाधा सविरुयडां, स्त्री सयबडी न थाइ।
नारायण नारी वडइ, कीधो दैत्य सिंहार,
कहइ नरपति खापडा नारी त्रिभोवन सार।'[1]

नरपति की ही रचना विक्रमादित्य चुपइ भी हो सकती है किन्तु रचना-काल शक सं० १५१४ दिया गया है, यथा—

'भाद्रव वदि आरंभीउ, वीजा अनइ बुद्धवार,
संवत साके पंनरह, दस चिहूं चिहूं अधिकार।

इस रचना का कवि भी जैनेतर कहा गया है और इसमें भी मंगलाचरण लम्बोदर की वंदना से प्रारम्भ हुआ है, यथा—

'लंबोदर तुझ वीनवुं, सुन्डाला समरथ,
सिधि वृधि वर चलणे नमं सीझवि जे सब अरथ।

अतः काफी संभावना हैं कि यह नरपति भी नंदवत्रीसीकार नरपति ही हों। यदि रचनाकाल शकसंवत् के स्थान पर विक्रम् संवत् १५१४ हो तो यह तिथि नंदवत्रीसी की रचना तिथि सं० १५४५ से अधिक पहले भी नहीं है और दोनों लेखक एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। श्रीदेसाई जी का अनुमान कि 'विक्रमादित्य चु०' का लेखक जैन कवि है क्योंकि पंचदण्ड छत्र पंच आदेश के द्वितीय आदेश में उसने आदीश्वर के वंदन-पूजन का वर्णन किया है, यथा—

'आगीआनु मोटइ उपाय, राजा जिहाँ चितइ तिहां जाइ,
नगर सोपारइ पुहुता थया, आदीश्वर नइ देहरइ गया।
देहरु अछइ तेह चउमुख, दरिशन दीणइ नासइ दुक्ख,
आदिश्वरनी पूजा करी, राज वइठउ आसन धरी।'[2]

यदि यह भिन्न कवि है और जैन कवि हैं तथा इनका रचनाकाल सं० १६४९ है (१७वीं शताब्दी) तो इसका विवरण आगे होना चाहिए।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ खण्ड २, पृ० २१३८-२११५
२. वही, भाग १ पृ० २९३

नरशेखर—आप पिप्पलकगच्छीय श्री गुणसागरसूरि के शिष्य श्री शान्तिसूरि के शिष्य थे। अपनी रचना 'पार्श्वनाथपत्नीप्रभावतीहरण' में कवि ने गुरुपरम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

'गुणसागर सूरि शान्ति सूरि गुरु, गोअम सामि नइं तोलइरे,
करजोडी शिष्य तेहनइ रे नरशेखर इम बोलइ रे।'

प्रारम्भ में सरस्वती की वंदना है। भाषा के नमूने के लिए दो छंद दिए जा रहे हैं—

'सरस वयण सरसति मति आपउ, थापउ भगत जन थिर करी अे
हरिहर ब्रह्ममंडल तुम्ह गाइअे, ध्याइ ध्यान मनि धरीअे।

पार्श्व की पत्नी प्रभावती का वर्णन इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

'पासकुमार प्रभावती रंगि रमइं सविचार रे,
नितुनितु नवनव नेहलउ, नाहलउ निरखइ नारि रे,
मोहन मूरति जोइ रे।६६।'

प्रभावती हरण अे जे भणइं, भणइं गुणइं नर नारि,
नवनिधि हुइं तेह तणइ, सुख सघलां संसारि रे मोहन।६७।

यह एक प्रकार का विवाहलो गीत है। इसकी शैली में गेयता तथा भाषा में सरलता उल्लेखनीय है।

न्यायसुन्दर उपाध्याय—आप खरतरगच्छीय आचार्य जिनवर्द्धनसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१६ में 'विद्याविलासनरेन्द्रचउपइ' लिखी। रचना तिथि का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया गया है—

'श्री न्याय सुन्दर उवझाय, नरवर किध प्रबंधा सुभाय,
संवत पनर सोल वरसंमि, संघ वेयण अेविहिय सुराम।'[2]

गुरुस्मरण—इणिपरि (एम?) उपाली आउ, देवलोक पहुतउनरराउ,
खरतरि गच्छि जिनवर्धन सूरि, तातु सीस बहु आणंदपूरि।'

अन्त—विद्याविलास नरिंद चरित्त, भवय लोय कहू अवे पवित्र,
जे नर पढ़इ सुणइ साभंलइ, पुण्य प्रभाव मनोरथ फलइ।'[3]

१. श्री मो० द० देसाई—जैन गु० क० भाग ३ पृ० ६२९
२. वही, भाग १ पृ० ५१
३. वही

विद्याविलास की कथा भी जैन समाज में सुपरिचित है। इसकी भाषा राजस्थानी प्रधान मरुगुर्जर है। इनके किसी अन्य रचना की सूचना नहीं है।

नेमिकुञ्जर—आपका एक नाम 'सुन्दरराज' भी मिलता है। आपका पुकारने का प्रारम्भिक नाम 'खोटु' था और बाद का प्रचलित नाम नेमिकुंजर है। आपके गुरुपुण्यसुन्दर थे या राजसुन्दर यह भी विवादास्पद है। आपकी एक रचना 'गर्जसिंहरायचरित्ररास' या 'गजसिंहकुमारचौ० या गजसिंहरास' नामसे मिलती है। इसके चौथे खण्ड में रासकर्त्ता का नाम राजसुन्दर है परन्तु तीसरे खण्ड के अन्त में नेमिकुंजर नाम मिलता है। मुनि गुलाबविजय भंडार की प्रति के तीसरे और चौथे खण्ड के अन्त में रासकर्त्ता का नाम नेमिकुंजर ही मिलता है। दोनों प्रतियों में रचना काल सं० १५५६ मिलता है, यथा :—

'संवत पनर छप्पन्न सही, प्रथम जेठ पूनिम दिनलही,
बुद्धवार अनुराधा माँहि, कीयो चरित अे मन उछाहि।

इसमें कवि ने पाठकों को नवरस—नवरंग की उपलब्धि का आश्वासन दिया है, यथा—

'नवरसि नवरंगि व्रणवउं, शास्त्र माहि जो होइ,
बार कथा रस व्रणवउं, तिणि सुणउ सहु कोइ।

इसके चारों खण्डों की सम्पूर्ण छन्द संख्या ६१५ बताई गई है। इसके सभी खण्डों की समाप्ति पर यह पंक्ति मिलती है—

'तो कवि कथा क्षणतरि कहइ या कथा क्षणान्तरि तो कवि कहइ';

इसमें आयोध्या के राजा गर्जसिंहराय के शील का निरूपण किया गया है। उन्होंने बड़ा राज्य, वैभव कमाया, कई सुन्दरियों से विवाह किया और अन्त में तपस्या पूर्वक भव बन्धन से मुक्त हुए। इसका प्रारम्भ पार्श्व की वंदना से इस प्रकार हुआ है :—

'पास जिणेसर पय नमी, तेवीसमो जिणंद,
अे सुष संपति दीयइ पणमइ सुरनर इंद।
कासमीर मुखमंडणी, समरी सरसति माय,
शीलतणो गुण व्रणवउं, गावउं गर्जसिंघ राय।[1]

---

1. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि—भाग १, पृ० ९५-१०० तथा भाग ३ पृ० ५२४-२६

कवि की भाषा सरल मरुगुर्जर है। कवि को काव्य तत्वों की परख है और कहीं-कहीं उनका अच्छा प्रयोग किया है। चरित्र-चित्रण उपदेश और मनोरंजन तथा काव्य सौष्ठव एवं भाषा-शक्ति की दृष्टि से विचार करने पर यह एक श्रेष्ठ कृति प्रतीत होती है।

पद्मनाभ—आप चित्तौड़ के रहने वाले राजस्थानी विद्वान् थे। आपने सं० १५४३ में संघपति डूंगर के आग्रह पर ५६ छप्पयों में बावनी या डूंगर बावनी नामक कृति की रचना की। इसकी भाषा राजस्थानी प्रधान मरु-गुर्जर है। रचना उच्च स्तर की है।

पद्ममन्दिर गणि—आप खरतरगच्छीय कीर्तिरत्नसूरि के शिष्य गुणरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने अपने गुरु गुणरत्नसूरि के सम्बन्ध में सम्वत् १५४६ में 'गुणरत्नसूरिविवाहलउ' (४९ पद्य) लिखा। आपने सं० १५४३ में 'जालोरनवफणापार्श्वदसभवस्तवन' (गा० ३५) और वरकाणा-पार्श्वस्तोत्र (गा २०) नामक स्तवन-स्तोत्र भी लिखा है। इनके अतिरिक्त आपने देवतिलकोपाध्यायचौ० (गा० १५) भी लिखी है जो ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० ५५ पर प्रकाशित है।

'गुणरत्नसूरिविवाहलउ' के नायक गुणरत्नसूरि के सम्बन्ध में विवाहलउ से पता चलता है कि वे मारवाड़ के समियाणा ग्राम निवासी नाहटा थे।[1] इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

> 'मंगल कमल विलास दिवायरं सायर संति पायारविंदं,
> पणमिय अमिय गुण रयण रयणायर, राय रंकाण आणंद चंद।
> इक्क महनाण लोयण तणउ दायगो, नायको अनइ संजम सिरिए,
> सुवन कटोरडी सोहग उरडी, जगि करइ दूध साकर भरिए।'[2]

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ देखिये :—

> "एह सिरि गुणरयण सूरि विवाहलउ पद्मभंदिर गणि तासु सीस,
> पभणउ भवियण अनुदिन, जेम पामउं सुहं सुह जगीस।४९।"

देवतिलकोपाध्यायचौ० के अनुसार देवतिलक अयोध्या के बाहडगिरि नामक स्थान के निवासी, ओसवालवंशीय, भणशालीगोत्रीय शाह करमचंद और उनकी पत्नी सुहाणा के पुत्र थे। आपके बचपन का नाम देदो था। आपने ८ वर्ष की अवस्था में सं० १५४१ में दीक्षा ली और सं० १५६२

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६१

२. वही जै० म० गु० क०—पृ० १३०

में उपाध्याय पद्वी प्राप्त की। आप सागरचन्द्रसूरि की परम्परा में महिमराज, दयासागर, ज्ञानमन्दिर के शिष्य थे। आपके जन्म से सम्बन्धित यह पंक्ति देखिये :—

'पनरह सइ तेत्रीसइ वरस, तसु घरि जम्मा गुणह निवास'

इसी तरह स्वर्गवास सम्बन्धी यह पंक्ति भी उल्लेखनीय है :—

सं०(१६०३) 'ईस नयण नभं रस ससि वरस, सेय पंचमी
मिगसर मास।'[1]

इसका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। इनकी दोनों रचनायें दो जैनाचार्यो के इतिवृत्त पर आधारित हैं और उनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें इनमें उपलब्ध हैं अतः इनका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, साथ ही आपके कई स्तवन आदि भक्ति साहित्य के अच्छे नमूने हैं। आपकी भाषा सरल प्रवाहपूर्ण मरुगुर्जर है। देवतिलकोपाध्यायचौ० का प्रथम छंद आगे उद्धृत किया जा रहा है :—

'पास जिणेसर पय नमु', निरुपम कमलानन्द,
सुगुरु थुणता पामियइ, अविहण सुख आणंद।''

भाषा के उदाहरण स्वरूप इसका एक छन्द और दिया जा रहा है :—

'ऐ चउपइ सदा जे गुणइ, उठि प्रभाति सुगुरु गुण थुणइ,
कहइ पद्ममन्दिर मन शुद्धि, तसु थाये सुख सम्पति रिद्धि।'[2]

इसकी भाषा पर राजस्थानी और हिन्दी का प्रभाव परिलक्षित होता है।

पद्मसागर—आप मम्माहडगच्छ के मुनि (मति) सुन्दरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५६३ भाद्रपद वदी ८ रविवार को 'कयवन्ना चौपइ' लिखी। यह कृति दान के माहात्म्य पर लिखी गई है। आपकी दूसरी रचना 'स्थूलभद्र अठावीसो' स्थूलभद्र के जीवनचरित्र पर आधारित है। श्री देसाई ने 'लीलावतीसुमतिविलास' नामक एक अन्य रचना की भी सूचना दी है, लेकिन इसकेलेखक कडवागच्छ के मूलपुरुष 'कडवा' कहे जाते हैं[3]। कयवन्नाचौपइ का आरम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'सरस वचन आपे सदा, सरसति कवियण माइ,
पणमवि कइवन्ना चरी, पणमिसु सुगुरु पसाय।
मम्माहड गच्छे गुणनिलो श्री मुनिसुन्दर सूरि
पद्मसागर सूरि सीस तसु पभणे आणंद पूरि।'

१. ऐ० जै० काव्य संग्रह पृ० ५५
२. देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ५३८
३. वही भाग १, पृ० १११

इसकी अन्तिम पंक्तियों में रचना-समय आदि दिया गया है :—

'दान ऊपर कइन्न चौपइ संवत पनर त्रिसठे थइ,
भाद्रवदि अठमि तिथि जाण, सहस किरणदिन आणंद आणि।
पद्मसागर सूरि इमि भणंत, गुणे तिहि काज सरंति,
ते सवि पामे वछित सिद्धि, घर निरोग घरे अविचलरिद्धि।'[1]

आप मरुगुर्जर भाषा के एक सामान्य जैन कवि हैं।

पद्मश्री—आपने सं० १५४० में 'चारुदत्तचरित्र' नामक चरित्र काव्य लिखा। इसके मंगलाचरण में सरस्वती की वन्दना की गई है :—

'देवि सरसति देव सरसति अति वाणि,
आपु मनि आनन्द करि धरीय भाव भासुर चित्तिहिं।
पय पंकज पणमूं सदा, मयहरणी भोलीय भत्तिहिं।
चारुदत्त कम्मह चरी, पभणिसु तुम्ह पसाय,
भाविया भाविहिं सांभलु, परहरि परहु पमाय।'१।[2]

इसमें प्रायः चौपइ छन्द का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा और रचना शैली के उदाहरणस्वरूप दो पंक्तियाँ और उद्धृत की जा रही हैं :—

'सुख संसारि भोगव्यां घणां, फललीधां मनुय जनमह तणां,
अंतकालि अणसण उच्चरइ, देवलोकि सुरवर अवतरइ।२५२।

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'भणइ भणावइ भासुर भत्ति, अथवा जेउ सुणइ निजचित्ति,
तेह घरि नवनिधि हुइ निरमली, भणइ पदमशीय वंछितफली।'[3]

सामान्यतया जिस प्रकार अन्य जैन काव्यों का अन्त होता है उसी प्रकार इसमें भी अंततः चारुदत्त संयम धारण करके उत्तम चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है और स्वयम् उच्चलोक को प्राप्त करता है।

पातो—(पातु, परबत) पातु या परबत नाम से एक रचना 'छोती-मिथ्यात्वपरिहारकुलसंझाय' ६४ कड़ी की प्राप्त है, जिसमें कवि ने मिथ्यात्व के परिहार का संदेश दिया है, यथा—

'मन वचन काया सुधकरु, निसा भोजन हिंसा परहरु।
पांचि इंद्री तम्हो वसि करु, पवित्र पण जो सधलिकरु।६३।

---

१. दे० जै० गु० क० भाग १, पृ० १११
२. वही भाग ३, पृ० ५३५
३. वही

क्रोध लोभ मोह मिला परहरु, दान सील तप भावना करु,
पातु (परबत) भणइं मे अे बोलज खहृदया पालु जिम संसार तरु।[1]

इसकी भाषा में लोकोक्तियों और कहावतों का अच्छा प्रयोग भी हुआ है यथा—

'हित कारणि अे बोलु अम्हो, जइ करसु तो भोगवसु तह्यो।
प्रारम्भ में सरस्वती की वन्दना करता हुआ कवि लिखता है :—
'सरसति सामणि करु पसाउ, अह्म गासउं छोतिनउठाउ,
पाखंडि म करसउ कोउ, सरता वर्तनू रूडु होइ।'[2]

वरबत भावसार—परबत भावसार के नाम से 'चतुर्गतिचौपइ' नामक ४० कड़ी की एक रचना प्राप्त है परन्तु यह पता नहीं कि पातो (परबत) और परबत भावसार दो कवि हैं या एक। इनकी रचनाओं का विषय भी प्रायः एक जैसा है और दोनों में चौपइ छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके अन्तिम छन्द में लेखक का नाम इस प्रकार आया है—

'नाचइं खेलइं गुण गाइं रास, तेह तणी प्रभु पूरइ आस,
भाविइं भगतिइं जिणवर तणइ भावसारपरबत इम भणइ।'[3]

इसके प्रारम्भ में अम्बिका की प्रार्थना की गई है, यथा :—
'पहिलउं प्रणमउं अंबिकि माय, कहिसु कवित्त हूं त्रिभुवनराय,
सुरनर गण गंधर्व विख्याय, लुठन करइं ते नवग्रह पाय।'

कवि ने इस कृति द्वारा यह सन्देश दिया है कि इसमें वर्णित विधि-निषेधों का अनुपालन करने से चतुर्गति में भ्रमण बंद हो सकता है और मोक्ष की प्राप्ति संभव हो सकती है; पंक्तियाँ देखिये :—

'इणि परि चित्तवि धर्मजि करु, दान शील तप भाव जि धरु,
दृढ़ समकित निश्चिइं अणुसरु, चिहुं गति माहिबली नवि फिरु।[4]

भाषा, भाव, विषय-वस्तु, छंद-बंध की समानता के कारण यह अनुमान स्वाभाविक होता है कि शायद पातो (परवत) और परवत भावसार एक ही कवि हो।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६४०
२. वही
३. वही पृ० ६४१
४. वही

प्रतिष्ठासोम—सं० १५२४ में आपने 'सोमसौभाग्य' नामक संस्कृत काव्य में प्रसिद्ध आ० सोमसुन्दरसूरि का चरित्र चित्रित किया है जिसमें अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों के संबंध में तथ्यपूर्ण विवरण उपलब्ध हैं। यह अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति है। इसका मरुगुर्जर में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है किन्तु प्रतिष्ठासोम मरुगुर्जर के मौलिक कवि नहीं हैं। अतः विवरण अपेक्षित नहीं है।[1]

पार्श्वचन्द्रसूरि—१६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मरुगुर्जर के महाकवि और समर्थ गद्यकार के रूप में आपका नाम जैन लेखकों में अग्रगण्य है। आपके नाम से पार्श्वचन्द्र गच्छ प्रसिद्ध हुआ जिसकी गद्दी बीकानेर में है। इस गच्छ का प्रसिद्ध उपाश्रय नागौर में भी है। आपका जन्म सिरोही राज्य के हमीरपुर निवासी वेलगशाह पोरवाड की पत्नी श्रीमती विमलादे की कुक्षि से सं० १५३७ में हुआ था। आपने आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली; तत्पश्चात् गहन अध्ययन एवं शास्त्राभ्यास करके १७ वर्ष की अवस्था में उपाध्याय और २८ वर्ष की अवस्था में आचार्य पद प्राप्त किया। सं० १६१२ में इनका जोधपुर में स्वर्गवास हुआ।

रचनाकार—गद्य और पद्य में आपकी शताधिक रचनायें प्राप्त हैं। उनमें से प्रायः रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं। श्री अ० च० नाहटा ने 'शोधपत्रिका' भाग १०, अंक १-२ में प्रकाशित अपने लेख में इनकी १४ गद्य बालावबोध भाषा-टीकाओं और ९२ पद्यबद्ध रचनाओं की सूची दी है। आपकी अधिकांश रचनायें सिद्धांत संबंधी हैं इसलिए कहीं-कहीं काव्य पक्ष पिछड़ गया है लेकिन उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इनकी भाषा टीका में तत्कालीन गद्य भाषा (बोलचाल) का स्वच्छ और प्रकृत स्वरूप प्राप्त होता है। अंग सूत्रों पर सर्वप्रथम आपकी ही भाषा टीकायें मिलती हैं।[2] आप समर्थ गद्यकार थे। आपकी गद्य रचनाओं का विवरण गद्य खंड में दिया जायेगा।

पार्श्वचन्दसूरि—आप जैनधर्म के बड़े प्रभावक आचार्य और प्रभावशाली उपदेशक थे। आपने मारवाड़ के राजा रावल गांगजी तथा युवराज मालदेव को प्रबोधित किया। इन्होंने राजपूतों के २२०० घरों को प्रतिबोध देकर ओसवाल श्रावक बनाया था। अनेक गांवों के माहेश्वरी (वैष्णव) वणिकों

१. श्री देसाई जैन—सा० नो इतिहास, पृ० ५१६
२. श्री अ० च० नाहटा—राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल, परम्परा पृ० ६५

को अपने प्रवचन द्वारा प्रभावित कर जैन श्रावक बनाया था। आपके नाम से पार्श्वचन्दगच्छ प्रवर्तित हुआ। आप अपने समय के बड़े विद्वान् लेखक उपदेशक जैनाचार्य हुए।

आपकी छोटी-बड़ी पचासों रचनाओं का विवरण श्री मो० द० देसाई ने जै० गु० क० में देकर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके आधार पर इनकी उल्लेखनीय रचनाओं की सूची दी जा रही है। तत्पश्चात् उनका विवरण-उद्धरण संक्षेप में दिया जायेगा।

ग्रन्थ सूची—साधुवन्दना, पाक्षिकछत्रीसी, अतिचारचौ०, चरित्र मनोरथमाला, श्रावकमनोरथमाला (प्र०), वस्तुपालतेजपालरास (प्र०) सं० १५९७, आत्मशिक्षा, आगमछत्रीसी, उत्तराध्ययनछत्रीसी, मुहपति-छत्रीसी, विवेकशतक, दूहाशतक, गुरुछत्रीसी, एषणाशतक, संघरंगप्रबंध, जिनप्रतिमास्थापन विज्ञप्ति, अमरद्वासप्ततिका, नियतानियत प्रश्नोत्तर प्रदीपिका, वंदनदोष, उपदेशरहस्य गीत, दंडकगर्भित पार्श्वनाथ स्तवन आराधनामोटी, आराधनानानी, खंधकचरित्र सज्झाय, आदीश्वर स्तवन विधिशतक, विधिविचार, निश्चयव्यवहारस्तवन, वीतरागस्त०, गीतार्थ पदावबोधकुल, अतिशयस्त०, वीसविहरमानजिनस्तुति, शान्तिजिन-स्त०, रूपकमाला, एकादशवचन द्वात्रिंसिका, ब्रह्मचर्यदशसमाधि स्थान कुल, चित्रकूट चैत्य परिपाटी स्तनव, सत्तरभेदी पूजा गर्भित ११ बोल सं०, काउसग्गना १९ दोष, शत्रुंजयस्तोत्र, भाषाछत्रीसी, केशिप्रदेशिबन्ध, वीरस्तवन, वीरलघुस्तवन, २९ भावना (प्र०), संक्षेप आराधना (प्र०) श्रावकविधि, सम्यकत्व स्वाध्याय, कल्याणक स्तवन (प्र०) और संवर कुलक[1] आदि इनमें से कुछ चुनी हुई रचनाओं का विवरण और भाषा का नमूना आगे प्रस्तुत किया जा रहा है। आपने अधिकतर रचनाओं का नाम संख्या-वाचक जैसे छत्रीसी, बत्रीसी, द्वात्रिंशिका १९ दोष, २९ भावना आदि रखा है। इनमें से आगम छत्रीसी की बानगी प्रस्तुत है—

आदि 'सुह गुरुचरण कमल प्रणमेसु, प्रवचन गुणह केविकहेसु,
श्रुत बीजक जोइ जाणिये, नाम ग्रन्थ संख्या आणिये।'

अन्त 'इणिपरि सुविशाले पंचमकाले जे आगम गणि उद्धरिय,
पुस्तक लिखि राख्या जिणवरे भाख्या भवियण हित कारण करिय।
तसुनाम पभणुं गुणइ पहाणं, बीजक जोइ स्मृति भविय,
चिहुंवर छंदिय मन आणंदिइ, पासचंद हरषिइं भणिय।'

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १४० और भाग ३ पृ० ५९१

साधुवंदना—इसमें साधुओं की वंदना हैं। इसका प्रारम्भिक छंद देखिये :—

'रिसह जिण पमुह चउवीस जिणवंदिये, हेलिसंसारना दुख सवि छिंडिये,
पुंडरीकादि गणधार मुणि साहुणी, सारपरिवार जगिजासु महिमा घणी।
अन्तिमछन्द —'इमि जैनवाणी जोइ जाणी हियइ आणी मइ भण्यां,
भवतरण तारण दुखवारण, साधु गुरु मुखि जे सुण्यां।
इम अच्छइ मुनिवर जोय होस्यइ कालि अनंतइ जे हुआ,
ते सत्त छंदिह श्री पासचंदइ मुनि आणंदइ संथुआ।८८।'[1]

इन की भाषा में गेयता, लय, प्रवाह उच्चकोटि का दिखाई पड़ता है। भाषा स्वच्छ और सरल तथा प्राचीनता के पुट से मुक्त है। गुरु छत्रीसी में गुरु को श्रद्धापूर्वक प्रणाम निवेदित है।

आपकी कुछ रचनायें शतक संज्ञक हैं जैसे दूहा शतक, ऐषणा शतक आदि। इनमें से दूहा शतक का एक दूहा देखिये :—

'जगन्नाथ जगमात, कृपास्पद कृपाकर,
शरण्य भक्त साधार, श्रुण विज्ञप्तिका मम।'

इसकी भाषा संस्कृत है। संदेश और काव्य दोनों दृष्टियों से ऐषणा शतक महत्त्वपूर्ण है अतः उसका एक नमूना दिया जा रहा है :—

'श्री जिन शासन समवडइं अवर न शासन कोइ,
कहि किम हीरागर तुलइ, जगि लवणागर होइ।'

आपका संस्कृत पर अच्छा अधिकार प्रकट होता है। आपकी रचनाओं में स्तवनों की संख्या भी पर्याप्त है। उनमें से ३४ अतिशय स्तवन की अंतिम चार पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'इम चार अतिशय जनम साथइ जाव जीविय ते रहे,
इग्यार अतिशय कर्मक्षय थी, हुंती गीतारथ कहे।
उगणीस सुरकृत तीसच्यारे, अेह साधारण भण्या,
सर्व जिन ने भगति भावइं पासचंदिइं संथुण्या।

आपकी दो मनोरथमालायें - चारित्रमनोरथमाला प्रकाशित हो चुकी है। श्रावकमनोरथमाला में श्रावकों को संसार समुद्र पार करने का सुगम उपाय बताया गया है, जैसे—

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १५०-१४८
और भाग ३ पृ० ५८५ से ५९५

'मण मनोरथ इम करे जे श्रावक सुविचार,
जिम श्रावक तिम श्राविका तर तरे संसार।'

रूपकमाला सं० १५८६ राणकपुर में लिखी गई। इसमें कवि ने रचना-काल आदि दिया है। रचना शैली काव्यात्मक है।

'संगरंगप्रबन्ध' में सत्संगति की महिमा का सुन्दर वर्णन किया गया है, यथा :—

'साधु संगि जगि जसु विस्तरइ, साधुसंगि मन वंछित फलइ,
साधुसंगि नय विनयविवेक, साधुसंगि गुण थाइ अनेक।
इणि परि दुष्ट संग परिहरउ, साधुसंगि मनि आदर करउ,
जिम मन वंछित सुहफल हवइ हरषइं श्रीपासचंद बीनवइ।'

इसमें दोहा और चौपाई तथा छन्द का प्रयोग किया गया है। एकाध संस्कृत के श्लोक भी हैं। इनकी आराधना, वीनती नामक कई छोटी-मोटी रचनायें 'प्रातःस्मरणीयप्रकरणसंग्रह' में प्रकाशित हैं। आराधना (मोटी, सं० १५९८ की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

'श्री जिनचरण जुयले प्रणमेसु, सुगुरु नाम हियडइ समरेसु।
कहइसु संखेपिइं आराधना, भविक जीव सुखसाधना।'

इनकी एक रचना 'मुंहपत्तिछत्रीसी' साम्प्रदायिक विषय के विवेचन से संबन्धित है। जिसमें उन्होंने 'मुंहपत्ति' पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुपालतेजपालरास (सं० १५९७) इनकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक रचना है। इसमें प्रसिद्ध मंत्रीद्वय का इतिवृत्त वर्णित है। इन भाइयों का विवरण अन्य प्रसंग में पहले भी आ चुका है अतः कथा विस्तार की अपेक्षा नहीं है। भाषा के नमूने के लिए इसके आदि-अन्त के पद्य दिए जा रहे हैं :—

आदि—'जिण चुवीसइ चलण नमेवीय, अनइं सूयसामिणि सरसति देवीय
सहि गुरु पाय पसाउलइ अे।
रास बंधि बिहुं बंधव केरू, काइं कीजइ चरित (कवित्त) नवेरू,
वस्तपाल तेजपाल तणउ अे।'

अन्त— जीणउ अेउ रासु साभंलउ, जाणे तेह धरि सुरतरु फलीउ,
पासचंद सूरि इम बोलते, भणइ सुणइ ते सुख लहंति।[1]

---

१. श्री मो० देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ५९१

'केशिप्रदेशिबंध' आपकी एक छोटी कथात्मक कृति है जिसमें केशी द्वारा राजा परदेशी को प्रतिबोधित करने की घटना का वर्णन है—नमूना देखिये—

'प्रणमउं सिरिजिण पास आसपूरण जगतारक,
बामाउरि हंस वर इक्खागह नायक।'
तासु तणउ संतान हूअउ गरुअउ गुरुकेसी,
प्रतिबोध्यउ जिणि हेलि सबल राजा परदेसी।'

शताब्दी के अन्तिम वर्ष सं० १६०० की रचना 'खंधकचरित्र' की कुछ पंक्तियाँ भी अवलोकनीय हैं, यथा—

'आदि जिण रिसह श्री वीर चउवीसमउ,
भावि मो भविय जगदीश चउहुअ नमउं,
हउं पुण प्रणमिय भणिसुखंदग चरी,
गुरु मुखि संभल्यउ सुणउ आदर करी।'

श्रावकविधिस्वाध्याय (१६०१) में श्रावकों को 'सम्यक्त्व' का महत्त्व बताया गया है। शत्रुंजयस्तोत्र (४२ कड़ी) की भाषा का प्रवाह द्रष्टव्य है—

"पुंडरीक गिरि मंडनराया करई, सेव सुरनर वरराया,
श्री पासचंद तुम्ह चरणे लागइ. बोधिबीज लाभ जिन मारगि लागइ।"

काव्य रूपों की दृष्टि से अपने रास, चौपइ, स्तवन, कुलक, सज्झाय, संख्या वाचक पद्यबंध आदि नानारूपों का प्रयोग किया है. इनमें से संवर कुलक की पंक्तियाँ कुलक शैली के उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

"श्रावक सवि छंडी कुमत बिखंडी पालइं जे जिन मत लहिय,
ते दुर्गति वामइ शिवपुरि पामइ कर्म क्षय आठइ करिय,
इम जाणइ भविया निर्मल रलिया संवरि धर्म करउ सहिय।।[1]

जैसा पूर्व निवेदन किया गया है आपका साहित्य संसार बृहद् है और उसके समग्र स्वरूप को इस सीमा में प्रस्तुत करना कदापि संभव नहीं है, अतः कुछ थोड़े से उद्धरणों के द्वारा उनकी भाषा और रचनाशैली की झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

कवि के रूप में आपका व्यक्तित्व जितना बड़ा है, गद्यकार के रूप में भी उससे तनिक भी कम नहीं है। श्री नाहटा जी ने इनकी अन्य रचनाओं, चौबीसी, गच्छाचारपंचाशिका, षड्विंशतिद्वारगर्भित वीर

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ५९५

स्तवन आदि का भी उल्लेख किया है, परन्तु उन सबका यहाँ विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है।[1] आपकी भाषा निःसंदेह मरुगुर्जर है जिसपर राजस्थानी का कुछ प्रभाव विशेष प्रकट होता है क्योंकि आपका न केवल जन्म राजस्थान में हुआ बल्कि आपका विहार क्षेत्र भी अधिकतर राजस्थान ही रहा, अतः रचनाओं की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

पुण्यनंदि—खरतरगच्छके आचार्य जिनसमुद्रसूरि की परम्परामें (सागरचन्द्रसूरि> रत्नकीर्ति> समयभक्त) आप समयभक्तसूरि के शिष्य थे। जिन समुद्र सूरि को सूरिपद संवत् १५३० में मिला और वे संवत् १५५३ में स्वर्गवासी हुए थे। पुण्यनंदि ने इसी अवधि में अपनी प्रसिद्ध रचना 'रूपकमाला' लिखी, जो मात्र ३२ पद्यों की है इस पर कई विद्वानों ने संस्कृत और मरुगुर्जर में टीकायें लिखी हैं। संवत् १५८२ में रत्नरंग उपाध्याय ने इसपर बालावबोध लिखा और सं० १६६३ में सुप्रसिद्ध कवि समयसुन्दर ने संस्कृत में चूर्णी लिखी। इसके अतिरिक्त पुण्यनंदि ने कुछ और रचनायें भी की जिनका संग्रह श्री अ० च० नाहटा के पास है।[2]

रूपकमाला शील की महिमा पर प्रकाश डालने वाली सरल मरुगुर्जर की लघु रचना है जिसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'आदि जिणेसर आदिसउ, सरसति दंसण दाखि,
सीलतणां गुण गाइसु, तिहुयण सामिणि साखि।

रूपकमाला के अन्त में कवि ने विषय के माहात्म्य एवं अपनी गुरु परम्परा पर प्रकाश डाला है अतः कुछ सम्बद्ध पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

'सबल शील महिमा निलउ कुशलसूरि सिरिपाट,
श्री जिनसमुद्रसूरि सोहवइ खरतल गुरुकउपाट।
कुशील उथापक सुशील संस्थापक सागरचंद,
सूरि राय वयणायदी रयणाकीरति गणिचंद,
रूपक माला शीलनी पमणइ श्री पुण्यनन्दि।'[3]

यद्यपि इसका निश्चित रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका किन्तु जिनसमुद्र सूरि के आचार्य काल में इस रचना का निर्माण होना निश्चित होने से यह

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० १५

२. श्री अ० च० नाहटा—राजस्थानी सा० का मध्यकाल, परम्परा पृ० ६१

३. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६१ और भाग ३ पृ० ४९१

१६वीं शताब्दी के मध्य की रचना है। रूपकमाला बालावबोध में रचनाकार श्री रत्नरंगोपाध्याय ने पुण्यनंदि को उपाध्याय कहा है, यथा—

'पुण्य नंद्युपाध्यायेन शील रूपक मालिका,
विहिता भव्य जीवानां चित्त शुद्धि विधायिका।'

इस प्रकार आप एक उत्तम विद्वान्, सुकवि और परवर्ती विद्वानों द्वारा समादृत लेखक थे। आपकी भाषा में काव्योचित माधुर्य एवं लय-प्रवाह है। आपकी काव्य भाषा स्वाभाविक मरुगुर्जर का काव्योचित स्वरूप प्रस्तुत करती है।

पुण्यरत्न—(आंचलिक आचार्य सुमतिसागर सूरि के शिष्य श्री गजसागर सूरि के आप शिष्य थे)? आपने सं० १५९६ में 'नेमिरास-यादवरास' नामक रास लिखा। श्री देसाई ने इन्हें १६वीं शताब्दी का कवि बताया है। इस रासको ६४ गाथाकी रचना कहा है किन्तु न तो कविके सम्बन्धमें और न ही रचनाके सम्बन्धमें कोई उद्धरण-विवरण दिया है। उन्होंने भाग १ में पुण्यरत्न को १७वीं शताब्दी का बताया था और उन्हें आंचलिक गच्छ के गजसागर सूरि का शिष्य बताया था। उनकी रचना का नाम भी 'नेमिरास-यादवरास' लिखा है, वह रचना भी ६४-६५ कड़ी की है लेखक का नाम भी एक ही है फिर दोनों एक ही कवि क्यों नहीं है, यह समझ में नहीं आया। श्री देसाई ने भाग ३ में साफ लिखा है कि आंचलिक पुण्यरत्न से भिन्न पुण्यरत्न दूसरे हैं। अस्तु, आगे उन्होंने भाग १ में नेमिरास-यादवरास का समय नहीं दिया है किन्तु पुण्यरत्न की एक दूसरी रचना सनतकुमार रास का समय सं० १६३७ लिखा है अतः ऐसा लगता है कि दो पुण्यरत्न हो सकते हैं किन्तु नेमिरास-यादवरास * कर्त्ता पुण्यरत्न १६वीं के हैं और सनतकुमार रास के कर्त्ता पुण्यरत्न १७वीं शताब्दी के हैं। इसी आधार पर 'पुण्यरत्न की रचना नेमिरास यादवरास' का विवरण उद्धरण १६वीं शताब्दी के अन्तर्गत दिया जा रहा है—

आदि— 'सारद पाय प्रणमी करी, नेमितणा गुण हीयइं धरेवि,
रास भणुं रलीयामणो, गुण गाइस गिरुआ संखेवि,
हुं बलिहारी यादवा।
अेक रसउ रथ पाछो वालि, अपराध नमइ कउ कीऊ,
काइं छोड़इ नव जोवन बाल, राजल प्रीउ प्रति इम कहइ,
हुं बलिहारी यादवा।

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि भाग ३ पृ० ६१८

अन्त में न तो गुरु परम्परा मिली और न रचना काल इसलिए इनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

अन्त—'समुद्रविजय तनु गुणनिलउ, सेवकरइ जसु सुरनरवृंद,
पुनरतन मुनि विनवइ, श्रीसंघ सप्रसन श्रीनेमिजिणंद,
हुं बलिहारी यादवा।'[1]

इस उद्धरण से इतना तो निश्चित है कि इस कृति का लेखक पुनरतन (पुण्यरत्न) नामक कवि ही है, अब चाहे वह आंचलगच्छीय हो या किसी अन्यगच्छ का हो, या चाहे वह १६वीं के अन्त का हो या १७वीं के प्रारम्भिक चरण का, यह विवादास्पद विषय है।

आपकी दूसरी रचना निश्चय ही १७वीं शती की है अतः उसका विवरण वहाँ दिया जायेगा।

पुण्यलब्धि—आप पंडित राजहेम गणि के शिष्य थे। आपने सं० १६०० के आस-पास 'अनाथी चौपइ' (६१ कड़ी) नामक रचना का सृजन किया। आरम्भ में कवि ने राज हेमगणि को नमन किया है, यथा—

'सिद्ध सवेनइं करूं प्रणाम, जे पुण पामिउ उत्तम ठाम,
साधु सवे नमुं करजोडि, भव भमिवा जिण लागी खोडि।
अलीय वयण बोलाइं जेह, मिच्छाटुक्कड़ हो ज्यो तेअ,
अर्थ धर्म गत तत्व विशाल, भणतां सुणतां अतिहिसाल।[2]

इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ भी प्रस्तुत हैं :—

उत्तम गुणे करी संज्जुत्त, गुप्ते गुप्तउ दंड विरत्त,
पक्षीनी परि हलुउ साहसी, भुगति मांहि ते विचरइं हसी।६१।'[3]

इस रचना की मरुगुर्जर भाषा पर हिन्दी का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है। जैसे 'अर्थ धर्मगत तत्व विशाल...अतिहि रसाल' पूरी पंक्ति ही हिन्दी की है। यह भाषा शैली इस बात का सबूत है कि १६वीं शताब्दी के अन्त और १७वीं शती के प्रारम्भ तक हिन्दी और राजस्थानी-गुजराती का मेल-मिलाप अत्यधिक घनिष्ठ था और अलगाव की भावना रंचमात्र भी नहीं दिखाई देती।

पेथो—आप जंबू ग्राम वासी श्रीमाल जाति के श्रावक थे। आपके गुरु आंचलगच्छीय जयकेशर सूरि थे। सूरि जी को आचार्य पद सं० १४९४ में

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भा० १ पृ० २४३-२४४

२. वही भाग ३ पृ० ६४६

३. वही

और गच्छनायक पद सं० १५०१ में प्राप्त हुआ था। आप सं० १५४२ में स्वर्गवासी हुए थे। पेथो का समय १६वीं शती का पूर्वार्द्ध हो सकता है। आपने 'पार्श्वनाथदसभवविवाहलो' (गा० २०६) की रचना इसी समय की होगी। इसकी प्राम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'सरसति सामणि करूंअ पसाउ, मुझ मनि अेह ऊमाहिलु अे,
धवल वधिइ बहू लागउं ठाउं, गायशूं जिणह जीराउलु अे,
मूल चरित प्रभ केरउं पास, भाविहिं भवीयण सांभलु अे,
सांभलता हुइ पुण्य प्रकाश, दसइ भवंतर देवना अे।'[1]

पेथो उच्चपदासीन व्यक्ति था, इसका पद्य देखिये:—
'कीधू कवित विशालो, रूअडूं अनइं रसालो,
पढ़त गणंताहां सिधे, आवइ अविचल रिधि।'

इसे 'पार्श्वनाथ विवाहलु' भी कहा जाता है। यह एक लोकप्रिय रचना थी। इसकी हस्त प्रतियाँ १६वीं शती के अन्त से ही मिलनी शुरू हो जाती है। श्री देसाई जी ने इसकी तीन प्रतियों का विवरण जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४८४ पर दिया है।

भट्टारक प्रभाचन्द—आपने स्वयं मरुगुर्जरमें कुछ नहीं लिखा किन्तु सैकड़ों नई प्रतिलिपियाँ कराई और तमाम प्राचीन प्रतियों का जीर्णोद्धार कराया। इन प्रतियों को शास्त्र भंडारों में सुरक्षित रखवाकर जैन साहित्य की बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवा की। इसलिए साहित्य संरक्षक के रूप में ये सदैव स्मरणीय रहेंगे।

ब्रह्ममुनि (विनयदेवसूरि)—आप विजयदेवसूरि के पट्टधर थे। पार्श्वचन्द्रगच्छीय साधुरत्न एवं पार्श्वचन्द्र के आप शिष्य थे। इन्होंने जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और दशाश्रुतस्कंधटीका में अपने को चालुक्य वंश का राजपुत्र और साधुरत्न तथा पार्श्वचन्द्र का शिष्य बताया है। इन रचनाओं को विजयदेव सूरि ने देखा और सुधारा था। आप एक महान् आचार्य और उत्तम लेखक थे। आपका बचपन का नाम ब्रह्मकुंवर था। आपका जन्म सं० १५६८ में मालवा के आजणोठं नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता चौलुक्य या सोलंकी राजा पद्मराय थे और माता का नाम सीता दे था। जब आप आठ साल के थे तभी माँ-बाप की मृत्यु हो गई और इनके काका कारोबार देखने लगे। अगले साल काका गुणसिंह इन्हें तथा इनके भाई धनराज को लेकर

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ५६

गिरनार गये। वहाँ रंगमंडण ऋषिके उपदेश से इन्हें वैराग्य हुआ और दीक्षा ले ली। वहीं पर पुण्यरत्न, साधुरत्न तथा पार्श्वचन्द्र रहते थे। उस समय गच्छ के आचार्य विजयदेवसूरि थे जिन्होंने वरदराज नाम से विजयनगर के राजा रामराजा के दरबार में दिगम्बरों को पराजित किया था और वहीं उत्सवपूर्वक उन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया था। पार्श्वचन्द्र से विद्याभ्यास करके ब्रह्मकुंवर जब खंभात पहुँचे तो विजयदेवसूरि बीमार थे। उन्होंने ब्रह्ममुनि को सूरिमंत्र देकर उनका नाम विनयदेवसूरि रखा। अनशन पूर्वक उनकी मृत्यु के पश्चात् ये पट्टधर हुए। चौमासे के पारणा के प्रश्न पर विनयदेवसूरि का गच्छ से मतभेद हो गया और सं० १६०२ में उन्होंने कडुआ के सहयोग से बुरहानपुर में नया गच्छ (सौधर्म गच्छ) स्थापित किया। सं० १६४६ में आपका स्वर्गवास हुआ। मनजी ऋषि ने 'विनयदेवसूरि रास' उसी समय लिखा था जो ऐतिहासिक रास संग्रह में प्रकाशित है। आप १६वीं-१७वीं शताब्दी के लेखक हैं। ऐसे कवि जो दो शताब्दियों में सृजनशील थे उन्हें पहले की ही शताब्दी में रखने का क्रम चलाया जा रहा है अतः आप की सभी प्रतिनिधि रचनाओं की सूचना १६ वीं शती के अन्तर्गत दी जा रही है।

रचना सूची—चारप्रत्येकबुद्ध चौ० सं० १५९७, सुधर्मगच्छपरीक्षा, सुदर्शनशेठचोपइ, अठारपापस्थानपरिहारभाषा, 'जिन नेमिनाथ विवाहलु उत्तराध्ययननासर्वअध्ययनसंज्झाय, जिनप्रतिमास्थापन प्रबंध, सुमतिनागिलरास, अजापुत्र रास, पार्श्वनाथ स्तवन, आदीश्वर स्तवन, थंभणाधीश पार्श्वस्तवन, अन्तकाल आराधना, अहर्न्नक साधु गीत, अष्टकर्म विचार, चन्द्रप्रभ स्वामीधवल, संभवनाथ स्तव, भरतबाहुबलिरास, शांतिनाथ विवाहलु, वासुपूज्यस्वामीधवल आदि के अलावा सैद्धान्तिकविचार, चतुपूर्वी व्याख्या आदि अनेक रचनाओं की सूचना भी देसाई ने दी है। जिनका परिचय आगे दिया जा रहा है—

चार प्रत्येकबुद्ध चौपइ—भाषा के नमूने के लिए इसके प्रारम्भ और अन्त का छन्द दिया जा रहा है--

प्रारम्भ—'जिण चउवीसइ पइकमल, मनि धरि हर्ष नमेसु,
सुगुरु वचन सुभमंत्र जि हीयडा माहि धरेसु।
मुनिवर जो जग जाणीइ, प्रत्यय देखी बुद्ध,
मन आणंदइ वंदि करि कहिस्यउं तास प्रबन्ध।'

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० १५२-५८

अन्त 'सासण देवता आपइ लंग, संजम पालइ ऋषि,
ते मुनिवर नउमनि धरिनांम, हर्षइ 'ब्रम्हउ' करइ प्रणाम ।

सुधर्म गच्छ परीक्षा में नवगच्छ आरम्भ करने पर प्रकाश डाला गया है, यह शुद्ध साम्प्रदायिक रचना है किन्तु जैन साहित्य और धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालती है। इसका आदि और अन्त का छन्द प्रस्तुत है :—

आदि 'वीर नमु' कर अंजलि करी, साधुतणा गुणमनि संभरी,
साचा धर्म परीक्षा भणी, विगति कहु' काइं गच्छ तणी,
वीर तणा गणधर इग्यार, नव गच्छ तेहं तणा इमधार,
पाँच गणधर ना गच्छ पंच, पंच पंचसय मुणिवर संच।
अन्त गच्छाचार तणी चौपाइ, गाथा अेकसो तिहुनेर थइ
अे सांभली सौधर्म गच्छ भजो, पाप मतिनी संगति तजो।
इम जोइने जिणवर आण, सूत्र अर्थ सवि करो प्रणाम,
अभिनिवेश मन नो परिहरो, ब्रह्म कहे जिम सिवसुख वरो।१७३।

इस प्रकार १७३ छन्दों में सौधर्म गच्छ का उद्देश्य इस रचना द्वारा कवि ने स्पष्ट किया है।

नागिल सुमति चौ० सं० १६१२ अर्थात् १७वीं शती की रचना है। इसमें रचना काल इस प्रकार बताया गया है :—

'संवत सोले बारोत्तेर, आसो सुदि सातमिदिन गुरे,
नागिल सुमति तणी चौपइ, गुरु प्रसादि संपूरणथइ।६१४।'[1]

इसमें चौपाई और दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है। इसमें कवि ने अपना नाम ब्रह्म लिखा है। सुपार्श्व जिन विवाहलो सं० १६३२ की रचना है। इसमें अपना नाम विनयदेवसूरि लिखा है। लगता है कि इसी बीच आप ब्रह्ममुनि से विनयदेवसूरि हुए थे। भरतबाहुवलिरास (३२५) कड़ी सं० १६३४ की कृति है। इसमें भरत और बाहुवलि की सुपरिचित कथा दी गई है। यह रचना 'आवश्यक निर्युक्ति' के आधार पर की गई है। रचनाकाल इस प्रकार कहा है :—

'संवत सोल वरस चउत्रीस, करी चउपइ धरी जगीश,
भणता गुणता मंगल करउ, जिहां जिनधर्म तां लगि विस्तरउ।

साधु वंदना नामक कृति में १३८ कड़ियां हैं। इसमें सेठ सुदर्शन, कयवन्ना, यशोमती आदि साधु-साध्वियों की वंदना की गई है।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६६८

शान्तिनाथ विवाहलो का विषय स्वयं स्पष्ट है। वासुपूज्यस्वामी धवल भी विवाहलो के प्रकार का ही उत्सव गीत है दो पंक्तियाँ देखिये :–

'रच्यउ धवल जिम चारित्रि वखाण्यउ, जाणी गुरुमुखि मर्म,
वा थिर पढउ गुणउ भवियण जण, जां वरतइ जिण धर्म।२९।'

प्रथमास्रवद्वारकुलक की दो पंक्तियां देखिये :—

'निर्मल मति करि समकित विरतिसूं, पाप कर्म करउ दूरि,
अविचल पदवी रे पामउ वेहथी, भणइ विनयदेवसूरि।९२।'

'अन्तकाल आराधना फल' का अन्त इस प्रकार हुआ है:—

'इणिभवि परभवि सुख धणा आवइ, ब्रह्म कहइं अविचल पद थापइ।
अेह आराधना जे जन करसइ, ते सुख संपदा निश्चइ वरसइ।१२४।'[1]

सुदर्शन सेठ चौ० में सुदर्शन का निर्मल चरित्र अंकित किया है। उसके शील की सराहना कवि इन शब्दों में करता है :—

'ऋषिराय ब्रम्ह उलास शील तणा गुण वरणव्या,
कीयो चरित्र प्रकाश सुदर्शन जी सेठ को।
अधिको ओछो कह्यो होय तेहने मिच्छामि दुकडं,
सूत्रा प्राकृत जोय जेहने अनुसार भाषियो।
अं शील तणो वखाण पढ़े सुणे नर जे सदा,
पवित्र करे जीभ कान सुखपावे ते सासतां।'[2]

इसकी भाषा में 'पवित्र करे जीभ कान सुख पावे' आदि शब्द हिन्दी के है। अत्यन्त सरल एवं बोलचाल की प्रचलित भाषा का प्रयोग कवि ने किया है। आपकी भाषा पर यत्र-तत्र, गुजराती का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। 'अठारपाप स्थानपरिहारभाषा' में जैनशास्त्रों में वर्णितसम्यक्त्व का महत्व कवि ने देश भाषा में वर्णित किया है। कवि द्वारा भाषा शब्द भास के अर्थ में भी कई जगह प्रयुक्त किया गया है। ब्रह्मकृत आठ-दस भास की सूचना श्री मणिलाल बकोरभाई व्यास ने दी है। 'उत्तराध्ययन' को भी इन्होंने भास ही कहा है, इसे जीवाजीवविमत्ती गीत भी कहा है। अठारदोष में जीववध, परनारीगमन आदि दोषों से बचने की चेतावनी कवि ने दी है यथा—

---

१ श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६१०-६१२

२. वही भाग १ पृ० १५५

'जीववध असत्य व्रत अनइ चोरी, नारिनी संगतिपाप नीउरी,
संभलउ प्राणीया अेह विचार, मुगति तणां सुख ते लहइ सार।'

अन्त में इनकी लोकप्रियरचना 'जिन नेमिनाथ विवाहलु की कुछ पंक्तियां दी जा रही हैं। नेमिनाथ के विवाह प्रसंग के वर्णन का लोभ शायद ही कोई समर्थ जैन कवि संवरित कर पाया होगा, पंक्तियां देखिए—

अे धवल रच्यउं मइं आणी मनि आणंद,
ब्रह्मचारी निरुपम गायउ नेमिजिणंद।
पद अक्षर मात्रा हीणा कहिउं हुइ जोय,
पंडित जन जोइ निरतउं करज्यो तेम।" आदि

इस कवि ने भास, रास, कुलक, धवल, विवाहलो, स्तोत्र, स्तवन, गीत आदि नाना काव्यरूपों का प्रयोग किया है।

ब्रह्मबूचा—(बूचराज)—आप भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे किन्तु बहुत समय तक आप भ० प्रभाचन्द्र के प्रिय शिष्यों में रहे। आपने अपनी रचनाओं में अपने बारे में कुछ नहीं लिखा है। अपना कई नाम अवश्य प्रयुक्त किया है यथा—बूचा, बल्ह, वील्ह, वल्हव आदि। इन नामान्तरों के कारण इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी काफी मतभेद की गुन्जाइश रही है। आपने अधिकतर पंजाब और राजस्थान में विहार और धर्मोपदेश किया। डॉ० क० च० कासलीवाल ने सं० १५३० से सं० १६०० के आस-पास की अवधि को आपका रचनाकाल बताया है।[1] उन्होंने आपकी निम्न रचनायें बताई हैं—

रचनायें—(१) मयणजुज्झ' (१५८९), संतोषजय तिलकु १५९१ हिसार, बारहमासा नेमिश्वर, चेतनपुद्गलधमाल, नेमिश्वरवसन्तु, टंडाणा गीत और भुवनकीर्ति गीत। इसके अतिरिक्त विभिन्न रागों में निबद्ध ११ गीत एवं पद भी प्राप्त हैं।

भाषा—आपके रचनाओं की भाषा पुरानी हिन्दी (मरुगुर्जर) है जिसपर कहीं-कहीं राजस्थानी और पंजाबी का कुछ प्रभाव झलकता है। इनकी कृतियों को देखने से ये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी और राजस्थानी के अच्छे ज्ञाता प्रतीत होते हैं। आगे इनकी रचनाओं में से कुछ प्रमुख कृतियों का परिचय एवं उद्धरण दिया जा रहा है।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—महाकवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि

मयण जुज्झ—यह अपभ्रंश से प्रभावित रचना है, उस समय काव्य-रचना में अपभ्रंश का स्थान मरुगुर्जर ले चुकी थी किन्तु कुछ रचनाओं में प्राचीन रूढ़ काव्य भाषा का प्रयोग भी कवि यदा-कदा कर देते थे। यह एक रूपक काव्य है जिसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं कामदेव के युद्ध में काम पर तीर्थंकर की विजय दिखाई गई है। इसमें कुल १५९ पद्य हैं। इसमें विविध छन्द, गाथा, रड्डा, अडिल्ल, दोहा, कवित्त आदि का प्रयोग किया गया है। तत्कालीन प्रचलित उर्दू के शब्द फौज, नफीरी आदि भी प्रयुक्त हैं साथ ही उपजइ, णिव्वाणि, इक्कु आदि शब्दों में द्वित्त की प्रवृत्ति पंजाबी प्रभाव के कारण हो सकती है जिसके कारण इनकी भाषा को कुछ विद्वान् अपभ्रंश और कुछ डिंगल बताते हैं। इसमें कायारूपी दुर्ग में चेतन राजा, मंत्री मन, प्रवृत्ति-निवृत्ति नामक दो रानियाँ और मोह तथा विवेक नामक दो पुत्रों का रूपक बाँधा गया है। दोनों पुत्र मोह और विवेक में प्रतिस्पर्द्धा है। मोह का पुत्र कामदेव अपनी वसंत आदि की सेना लेकर विवेक के विजयार्थ चलता है लेकिन ऋषभदेव की धर्मपुरी नहीं जीती जा सकी। उसके सभी योद्धा—मद, कलह, लोभ आदि हार गये। इस प्रकार ऋषभदेव ने संयमपूर्वक काम को पराजित किया। इसकी भाषा का उदाहरण देखिये :—

'जहन जरा न मरणु जत्थं पुणि व्याधिन वेयणु,
जह न देह न नेह जोति मइ तह ठइ चेयणु।
जह ठइ सुक्ख अनंत न्यान देसणा अवलोवहि,
कालु विणासइ सयलु सिद्ध पुणि कालहि खोवहि।'[1]

इसमें रचनाकाल का उल्लेख किया गया है, यथा—

'राइ विक्कम तणउं संवतु नवासिय पणरहसै,
सरद रुत्ति आसवज वखाणिउं तिथि पडिवा सुकलु पखु।'

'जय सन्तोष तिलक' भी एक रूपक काव्य है जो सं० १६९१ में लिखा गया। यह हिन्दी, पंजाबी से प्रभावित मरुगुर्जर की रचना है। यह हिसार में लिखी गई।

'सन्तोखह जय तिलउ जंपिउ हिसार नय मंझ में,
जे सुणहि भविय इक्क मनि ते पावहिं वंछिय सुख।'

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० ४५

इसमें १२३ पद्य हैं जिसमें रंजिका, गीतिका, साटिक, रड्डा, गाथा, षट्पद, दूहा, पद्धडिया चंदाइण, त्रोटक आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है।

इसमें नायक सन्तोष और लोभ-प्रतिनायक है। एकबार भगवान् महावीर जब पावापुरी पधारे तो गौतम ने उनसे पूछा कि जीव लोभ से कैसे बचे तथा लोभ पर कौन और कैसे विजय प्राप्त कर सका ? महावीर बोले—

'सुणहु गोइम कहइ जिणणाहु, यह सासणु विम्मलइ,
सुणंत धम्मु भव बंध चुट्टहि।
लोभ दुसइ इव जितयइ सन्तोखह परिसादि।'[1]

इसी प्रश्न का उत्तर इस रूपक में दिया गया है। इसकी भाषा मयण-जुज्झसे परिष्कृत होते हुए भी अपभ्रंश एवं प्राचीनता के पुट से पूर्णतया मुक्त नहीं है। अकारान्त की प्रवृत्ति और गाथाओं का प्रयोग अपभ्रंश के अवशिष्ट प्रभाव का द्योतक है। इसमें कवि ने अपना नाम वल्हि बताया है, यथा—

'यहु सन्तोखहु जय तिलक जंपिउ वल्हि सुभाइ।
मंगल चौबीस संघ कहु, करइ वीरु जिणराइ।

रचनाकाल 'संवति पनर इक्याण, भद्दविसिय पखि पंचमी दिवसे,
सक्कवारि स्वाति वृषे, जेउ तह जाणि वंभ णामेण।१२२।'

'नेमिश्वर बारहमास'—इसमें श्रावण से आषाढ़ तक १२ महीनों में नेमि के तपस्वी जीवन के कारण उपन्न राजुल की विरह वेदना का वर्णन किया गया है। यह सं० १५८१ के बाद की रचना है। इसमें कवि ने अपना नाम बूचा लिखा है।

यथा 'आषाढ़ चडिया भणइ 'बूचा' नेमि अजउ न आइया।'[2]

श्रावण मास में अन्यत्र गमन न करने की प्रार्थना करती हुई विरहिणी कहती है—

'ए रुति सावणो सावणि नेमि जिण गवणो न कीजै वे।
सुणि सारंगा भाष दुसह तनु खिणु खिणु छीजै वे।

'विनवति राजुल सुणहु नेमि जिन गवउं ना करु सावणो।'

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० २०

२. वही पृ० २३

राजुल की आंखों से आसुओं की झड़ी लगी रहती है, वह निरन्तर बाट जोहती रहती है। 'चडि मंडपे मंडिपि राजुल मग्गो नेहो लैवे,

मग्गो निहालै देवि राजुल नयण दह दिसि धावए।
सर रसहि सारस रवणि भिन्नि दुसह विरहु जगवए।'[1]

प्रस्तुत बारहमासे में कवि राजुल की विरह वेदना को मार्मिक शब्दों में व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुआ है।

चेतनपुद्गलधमाल—यह १३६ पद्यों की एक महत्वपूर्ण संवादात्मक कृति है जिसमें चेतन और पुद्गल एक दूसरे पर वाक्-प्रहार करते हैं। जड़ कहता है—

'चेतन चेति न चालइ कहउ त मानैरोसु,
आपे बोलत सो फिरै जड़हि लगावहि दोसु, चेतन सुणु।'

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा अधिक चुटीली हो गई है, यथा—

'अंधा बाटैं जेवड़ी, पाछइ बाछा खाइ।' इसके अन्त में पांच छप्पय हैं। शेष रचना दीपक राग में लिखी गई है। यह रोचक संवादात्मक काव्य है जिसमें संवाद सजीव, भाषा-शैली प्रखर एवं प्रभावकारी है।

नेमिनाथ वसंतु यह लघु रचना है जिसमें वसन्त का आध्यात्मिक वर्णन है। संयम श्री राजुल इस सुहावनी ऋतु में नेमि को देखती है कि जब संसार सोता है तब वे जागते हैं और मोह को भस्म कर चुके हैं। वह भक्तिपूर्वक नाना मनोहर पुष्पों द्वारा नेमिनाथ की अर्चना करती है। इस रचना का निर्माण मूलसंघ के भट्टारक पद्मनंदि के प्रसाद से हुआ, यथा—

'मूल संघ मुखमंडण पद्मनन्दि सुपसाइ,
बील्ह वसंतु 'जि गावइ से सुखि रसीय कराइ।'

टंडाणा गीत—वनजारे बैलों पर वणिज्य-वस्तुयें लादकर चलते हैं उसे टांडा कहते हैं। कवि कहता है यह संसार ही एक टंडाणा है जिसमें दुखों का बोझ है। अतः जीव को कवि चेतावनी देता है कि बिना माया लोभादि को छोड़े सहज सुख की प्राप्ति कभी संभव नहीं है। कुछ पंक्तियां देखिये—

'टंडाणा टंडाणा मेरे जीवड़ा, टंडाणा टंडाणा वे,
इहि संसारे दुख भंडारे, क्या गुण देखि लुभाणा वे।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—क० बूचा ३, स०, पृ० ८७

सुद्ध सरुप सहजि लिव निसदिन, झावउ अंतर झाणावे,
जंपति बूचा जिम तुम्हि पावहु, वंछित सुख निरवाणावे।

भुवनकीर्ति गीत में कवि ने अपने गुरु आचार्य भुवनकीर्ति की स्तुति की है। उनके संयम और चरित्र-शील का बखान करता हुआ कवि कहता है—

बूचराज भणि श्री रत्नकीर्ति पाटिउ दयोसह गुरो,
श्री भुवनकीर्ति आसीखादहि संघु कलियो सुरतरो।[1]

इन रचनाओं के अलावा बूचराज ने लगभग एक दर्जन छोटे-बड़े गीत भी लिखे हैं। इनमें से कुछ पर पंजाबी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है, यथा—

'वाले वलिवेहुं भावे, मनु माया धुलि राचा वे,
वाले वलिवेहुं मावे रहइ आठ मदि माता वे।[2]

इनके लघु गीतों में जिनेन्द्र के प्रति भक्ति, जगत की निस्सारता और मानव कर्त्तव्यों का स्मरण कराया गया है। अधिकांश गीत पंजाबी तर्ज और भाषा शैली से प्रभावित हैं। हो सकता है कि इनकी रचना कवि के पंजाब विहार के समय हुई हो। इनकी रचनाओं का प्रधान उद्देश्य आत्म-विकास के साथ भक्तों और शिष्यों का मार्ग दर्शन है। विषय भोगों में डूबे राजपूतों और दम्भ तथा विलासिता के पुतले मुसलमानों को सावधान करता हुआ कवि अपने रूपक-काव्यों द्वारा मनुष्य को सच्चा मार्ग बताता है। वे एक जनकवि थे अतः सामान्य जनता को उद्बोधित करने के लिए उन्होंने ऐसी भाषा और काव्य शैली चुनी थी जिससे जनता पूरा लाभ उठा सके। इसीलिए इनकी भाषा में अलगाव नहीं बल्कि अनेक भाषाओं का सम्मिलित प्रयोग मिलता है। एक नमूने के साथ यह विवरण पूरा किया जायेगा—

"विणु रुजि भोयण जिसा बन्धरसि तिसि कहाणी,
जिसा भाव विणु भगति तिसो मोती विणु पाणी।
तैसों जु वीजु करमख योगि रही संपैवा घातिउ,
कवि कहै वल्हे रे बुह्मपणह जिण सासण विजुगम इव।[3]

---

१. डॉ० क० च० कासलीवाल—महाकवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि पृ० १०७
२. वही पृ० ११४
३. वही, पृ० १२०

सूहउ राग में निबद्ध इस गीत में संसार का स्वरूप समझाया गया है। आपकी भाषा को डॉ० कासलीवाल ने हिन्दी कहा है। वस्तुतः गुलेरी जी ने भी इसे पुरानी हिन्दी ही कहा है। किन्तु जैसा अन्यत्र कई बार कहा जा चुका है कि पुरानी हिन्दी और मरुगुर्जर में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों प्रायः पर्यायवाची हैं, अतः महाकवि बूचराज हिन्दी या मरुगुर्जर के श्रेष्ठ कवि हैं।

बुधराज[1]—(कचराय) नामक हिन्दी कवि की सूचना श्री देसाई ने जैन गुर्जर कवियों पृ० ५७९ पर दी है। उनकी रचना का नाम भी मदन-युद्ध या मदनरास है जो सं० १५८९ में लिखी गई है। ब्रह्मबूचा के मयणजुज्झ का निर्माणकाल भी ठीक सं० १५८९ ही है। ब्रह्मबूचा की भाषा को डॉ० कासलीवाल हिन्दी बताते हैं यद्यपि श्री देसाई ने इन्हें हिन्दी कवि घोषित कर दिया है पर ये हमारे बूचराज जी ही हैं। उद्धरणों के मिलान से भी यही बात सिद्ध होती है। अतः बुधराज या कचराय भी बूचा, वल्ह, बील्ह के ही नामान्तर प्रतीत होते हैं।

भक्तिलाभ–खरतरगच्छ के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय जयसागर के प्रशिष्य और जिनसिंहसूरि के शिष्य भक्तिलाभ उपाध्याय भी इस शताब्दी के अच्छे विद्वान् थे। इनकी कल्पान्तरवाच्य, बालशिक्षा आदि संस्कृत-रचनाओं के अतिरिक्त लघुजातक नामक ज्योतिष ग्रन्थ की टीका (सं० १५७१ बीकानेर) भी प्राप्त है। आप मरुगुर्जर के उत्तम कवि थे। आपने सीमंधरस्तवन, वरकाणास्तवन, जीरावलास्तवन और रोहिणीस्तवन आदि स्तवनों के अलावा श्री जिनहंससूरिगीत भी लिखा है। इस प्रकार आप एक सुकवि और अच्छे गद्यकार थे। गद्य में रचित आपकी 'वचनावली' आदि की चर्चा गद्यखण्ड में की जायेगी। आपकी 'श्रीजिनहंससूरिगुरु गीत' नामक छोटी रचना (१८ गाथा) ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह में प्रकाशित है। श्री जिनहंससूरि को सं० १५५५ में सूरि पद प्राप्त हुआ था और सं० १५८२ में उनका स्वर्गवास हो गया। अतः भक्तिलाभ का भी यही रचनाकाल होगा। गुरुगीत से ज्ञात होता है कि जिनहंससूरि सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और उसे प्रभावित कर आपने ५०० बंदियों को मुक्त कराया था। आपकी रचना आचारांगदीपिका (सं० १५८२) प्रसिद्ध है। आपके सूरिपद का महोत्सव करमसिंह ने धूमधाम से किया था। आगरे में

१ श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ५७९-५८०

आपका प्रवेशोत्सव डूंगरसी ने कराया था। बादशाह सिकन्दर लोदी द्वारा आपके सम्मान से सम्बन्धित पंक्तियाँ देखिये :—

"तंबोल दिधउ सुजस लीधउ इसी वात घणी सुणी,
श्री सिकन्दर बादशाह बड़इ दिल्लीनउ धणी ।११।"[1]

रचना का प्रारम्भिक छन्द निम्नाँकित है—

सरसति मतिदिउ अम्ह अति घणी सरस सुकोमलवाणि,
श्री मज्जिनहंस सूरि गुरु गाइसिउ, मन लीणउ गुण जाणि ।"[2]

दो ऐतिहासिक महत्व के प्रसंग इन छंदों में हैं। बंदी छुड़ाने का प्रसंग देखिये:—

"बंदि छोडि मोटउ विरुद लाधउ, बादशाहे परखिया,
श्री पासनाह जिणंद तुट्ठउ, संघ सकलइ हरखिया।

पाटोत्सव का वर्णन देखिये—

"पाट उत्सव लाख बेची (पिरोजी) कर करमसिंह करावए।
गुरु ठामि ठामि विहार करता, आगरा जब आवए।

अन्तिम छन्द—'श्री भक्तिलाभ उवझाय बोलइ भगति आणी अति घणी,
श्री जिनहंससूरि चिरकाल जीवउ, गच्छखरतर सिर धणी।'[3]

आपके शिष्य चारुचन्द्र भी अच्छे कवि थे, इनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

भक्तिविजय—सं० १५२२ में रचित 'चित्रसेनपद्मावतीरास' का इन्हें जै० गु० कवि भाग १ पृ० ५६ में लेखक कहा गया है किन्तु श्री देसाई जी ने भाग ३ में (पृ० ४८४) सूचित किया है कि वस्तुतः १५२२ में चित्रसेनपद्मावतीचरित्र की रचना मूलतः संस्कृत में पाठक राजवल्लभ ने की थी। अतः उसी वर्ष मरुगुर्जर में उसी कथा पर उसी नाम से भक्ति विजय की यह रचना संभव प्रतीत नहीं होती। अवश्य कहीं कुछ भूल हो गई है। एक भक्तिविजय १८वीं शताब्दी में नयविजय के शिष्य हुए हैं जो अच्छे गद्यकार भी थे। उनका विवरण यथास्थान दिया जायेगा।

१. ऐ० जै० काव्य सं०—पृ० ५३
२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६५
३. वही जै० म० गु० क० पृ० १३९

भानुचन्द्र—(भाणचन्द्र) लोंकागच्छीय विद्वान् थे। आपकी रचना 'दयाधर्म चौपइ' सं० १५७८ में लिखी गई। इसमें २५ कड़ी है और यह प्रकाशित है। 'श्रीमान्लोंकाशाह' नामक ग्रन्थ के पृ० २३४ से २३७ पर यह रचना दी गई है। इसका प्रथम छंद इस प्रकार है—

वीर जिणेसर पणमिपाय, सुगुरु तणु लही सुपसाय,
भष्म ग्रहनो रोष अपार, जाइ न धरम पडियो अंधकार।"[1]

इसमें अनेक ऐतिहासिक सूचनायें दी गई हैं। यथा—

"चौदसय व्यासी वइसाखइ, वद चौदस नाम लुंको राखइ,
आठ बरिस नो लुंको थयो, सा डुंगर परलोकइ गयो।
दया धर्म जह हलंती ज्योत, सा लुंके कीधउ उद्योत,
पनर सय वतीसउ प्रमाण, सा लुंको पाम्यो निरवाण।
पनरसय अठयोत्तर जाणउं माघ शुदि सातमप्रमाणउ,
भानुचन्द यति मति उल्लसउ दयाधर्म लुंके विलसउ।२५।"

इस प्रकार यह लोकमत के प्रवर्त्तक लोकाशाह की जीवनी पर प्रकाश डालने वाली महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति है। १६ शताब्दी में लोकाशाह का धार्मिक आन्दोलन सर्वविदित है। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है।

भाव—(उपाध्याय) आप ब्रह्माणगच्छीय बुद्धिसागरसूरि की परम्परा में गुणमाणिक के शिष्य थे। आपने हरिश्चन्द्रप्रबन्ध, और अंबडरास नामक रचनायें लिखीं। इन दोनों रचनाओं का कर्त्ता श्री देसाई ने 'गुण-माणिकशिष्य' को बताया था किन्तु भाग ३ में उन्होंने उस शिष्य का नाम भाव बताया है। हरिश्चन्द्रप्रबन्ध (३५० छन्द) मंगलाचरण—

"सरसति सामणि वीनवू त्रिभुवन जणणी माय,
रचूं चरित्र हरिचंद तणू, ब्रह्म पसाय।
कृपा करुमञ स्वामिनी, वंछित दायक देव,
एक मनु नतु उलगु, सदा करु तम्ह सेव।"[2]

अन्तिम छन्द "रुक्मागंद सगालपुरि, अविचल जिम होय,
ते मति आपो मुझ वली कहइ हरिचंद सोय,

चौपइ तिणि अवसरि दीठा साध, धर्म सुणी मति संजम लाध।
स्त्रीय पुत्र सहित परिवार, संजम धारी सिव सुखकार।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भा० ३, पृ० ५७४
२. वही, भाग १ पृ० १७१

दूहा—— 'अे प्रबन्ध श्रवणे सुणइ भणसइ जिन नरनारि,
ते घरि नवनिधि आंगणइ पामइ सुखसंसार।३५४।''

अंबडरास––यह रचना सात आदेशों में (१६६ छंद) पूर्ण हुई है, इसका प्रथम छंद देखिये—

आदिति किति आदिहि अछइं, महिअलि मांहि जयवंत,
कवियण कहि त्रिपुरा सुणउ, चरण कमल प्रणमंति ।।''[1]

अन्त में कवि लिखता है—

सीख हुई ते सीखयो न हीतरि गहन ज हुंति,
उवझाय भाव कहि, रखे कोइनि हिणंति।१६२।

इससे लगता है कि इस रचना के समय तक भाव को उपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था। अतः ये भाव उपाध्याय हैं। भाव उपाध्याय द्वारा रचित विक्रमचरित्ररास[2] 'सं० १५८८' की सूचना श्री अगरचन्द नाहटा ने जैनमरुगुर्जरकवि और उनकी रचनायें नामक पुस्तक में दी है। संभव है कि अंबडरास के कर्त्ता और विक्रमचरित्ररास के कर्त्ता एक ही भाव उपाध्याय हों। इस रास के प्रारम्भ में विनय विमलगणि गुरुभ्यो लिखा है, यदि ये विमलगणि ही ब्रह्माणगच्छीय विमलसूरि हों तो निश्चय ही दोनों के कर्त्ता एक ही भाव उपाध्याय होंगे, यह विचारणीय प्रश्न है। (विक्रम चरित्ररास) का प्रथम छंद इस प्रकार है—

''नमो नमो तुम्ह चंडिका तुम्ह गुणकर न हुंति,
एक चित्तइ जु समरता, सुख संपत्ति पामंति।१।

इसमें सरस्वती के स्थान पर चंडिका और उनके द्वारा शुंभ-निशुंभ वध आदि का स्मरण जैन रचनाओं के लिए नवीन बात है। कवि ने अपना नाम उवझाय भाव दिया है, यथा—

श्री गुरुनी सानिधि थकी, अविरल वाणी होइ,
उवझाय भाव कहइ मानवी संभलयो सहुकोइ।

रचनाकाल का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

संवत पनर व्यासीइ तिथि वलि तेरसि होइ,
मास मागसिर जाणयो, बारह रवि दिन जोइ।६२।''

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३ पृ० ६३४

२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क०, पृ० १८७

यदि दोनों भाव एक ही हों तो अंबडरास का भी रचनाकाल इसी के आस-पास होगा। इस रचना में ९७५ पद्य हैं जिसमें लीलावती से विक्रम के पाणिग्रहण और उसके पुत्र का वृत्तान्त दिया गया है।

भावो—(भावउ) आपके दो लघु गीत—नेमिगीत और गीत का विवरण श्री देसाई ने जै० गु० क० में दिया है। नेमिगीत मात्र ४ कड़ी का है और राग धन्यासी में निबद्ध है। इसमें लेखक ने अपना नाम भावउ दिया है, यथा—

"मुकुटि महि मइ केवडउ, केवडउ महि महि माउरे,
भाव सहित भावउ भणइ, चउद भवन तिम राउरे॥[1]

दूसरा गीत ३ कड़ी का है और वह भी धन्यासी राग में निबद्ध है। इसमें भी कवि ने अपना नाम भावउ ही लिखा है, यथा—

"अणुसरउ धर्म जिहां दया दीसइ, देखता मन मानइ वसा वीसइ,
जोउ रे मारग मुगतिनउ महीया, ऊवट्ठउ पार न पामइ कहिया।

× × ×

भावउ कहइ भाव सहित सिउ कीजइ, भामणां श्रीजिन धर्मना लीजइ।[2]

इन गीतों में गेयता है और किसी प्रौढ़ कवि की रचनायें प्रतीत होती हैं। हो सकता है कि ये गीत भी उपरोक्त भाव उपाध्याय के ही हों किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में भावउ या भावो और भाव उपाध्याय को एक मानने का साहस नहीं होता। यह विचारणीय प्रश्न है और यह भी असंभव नहीं है कि इन लघुगीतों के कर्ता भावो या भावउ अन्य कवि हों और उनकी बड़ी कृतियाँ अभी ग्रन्थ भंडारों में दबी पड़ी हों।

भावकलश—आपकी रचना 'कृतकर्मचरित्ररास' के प्रारम्भ में सुमति विजय गणि को गुरु रूप में स्मरण किया गया है किन्तु अन्य विवरण न होने से यह निश्चय नहीं हो पाता कि ये सुमति गणि कौन से हैं। श्री देसाई ने इन्हें १६ वीं शताब्दी के कवियों में रखा है किन्तु कोई आधार नहीं बताया है। इस रास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

'पढम पणमो पढम पणमो नामि मल्हार,
संतीसर संतीकरण नमुं नेमि गिरनार-नायक,

१. श्री देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ४९४
२. वही

पास वीर बंदु सदा सयल सुख सेवक दायकु
चौबीसह पाअे नमि, करिसु कवित अति चंग
भावकलश मुनिवर कहइ, सुणता हुइ नवरंग।

वस्तु के बाद चौपाई छन्द का प्रयोग किया गया है, यथा—

'कृतकर्म पुरुषा तणउअे चरी, बाधइं पुण्यहं पणासइ दूरी,
जिण पूरब भवि दीघउ दान, पात्र प्रभावइ सीधो काम।४।'

प्रति के त्रुटित होने के कारण इस रचना से सम्बन्धित विवरण और लेखक के बारे में कोई विशेष सूचना नहीं प्राप्त हो सकी। उद्धरण देखने से यह रचना निश्चित रूप से मरुगुर्जर की सिद्ध होती है।

भावप्रभ इनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाओं के लिए 'मूलप्रभ' का विवरण देखा जा सकता है।

भावसागरसूरि शिष्य - नवतत्त्वरास सं० १५७५ और 'इच्छापरिणाम चौ०' सं० १५९० नामक दो रचनायें भावसागरसूरि के किसी अज्ञात शिष्य द्वारा रची गई हैं।[२] श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग १ में इनका कर्त्ता भावसागर को ही बताया था किन्तु भाग ३ में पूर्व कथन का संशोधन करके इनका कर्त्ता भावसागर के किसी शिष्य को बताया है। अतः ये रचनायें भावसागर सूरि की न होकर उनके किसी शिष्य की ही हैं। श्री नाहटा ने भावसागर सूरि के किसी शिष्य की एक अन्य रचना 'चैत्यपरिपाटी' का विवरण दिया है।[३] किन्तु यह पता नहीं कि यह शिष्य नवतत्त्वरास का कर्त्ता ही है या अन्य कोई शिष्य है। जो हो, इन तीनों रचनाओं का विवरण एकत्र यहाँ भावसागर सूरि शिष्य के अन्तर्गत दिया जा रहा है। 'चैत्यपरिपाटी' सं० १५६२ की रचना है और इसके कर्त्ता भावसागरसूरि के शिष्य को विधिपक्षीय बताया गया है। भावसागरसूरि अंचलगच्छ के ६१वें पट्टधर थे। इन्हें आचार्य पद सं० १५६० में मिला था अतः सं० १५६२ में लिखी 'चैत्यपरिपाटी' इनके समय की रचना है। इनका स्वर्गवास सं० १५८३ में हुआ था अतः यह भी निश्चित है कि इच्छापरिणामचौ० जो सं० १५९० की रचना है, इनकी नहीं हो सकती, यह निश्चय ही उनके किसी शिष्य द्वारा उनके स्वर्गवास के बाद लिखी गई होगी।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खण्ड २, पृ० १५००-१५०१

२. वही, भाग ३, पृ० ५७२

३. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क०, पृ० १४०

चैत्यपरिपाटी—(४४ गाथा) का रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

'वंछित ए दानद समरथ तीरथमाल विवहपुरे,
एम करीए निरमल जुत्त, संवत पनर बासाट्ठिवरे ।'४३।

इसके प्रारम्भिक पद्य देखिये :—

'प्रणमसिउं पहिलु' पास जिणंद, चैत्य प्रवाडि करिस आणंदि,
श्री चीत्तोड़ तणी जिनयात्र, करीय करूं' निय निरमल गात्र ।१।
पाटण थकी मझ इछा इसी, भाव भगतिवि हइडि बसि,
कतियापुर देहरा छि पंच, प्रणमाता नवि करीइ खंच ।२।'[1]

इसकी भाषा में एम, छि आदि गुजराती प्रयोग अवश्य हैं किन्तु यह रचना मरुगुर्जर भाषा की है।

नवतत्त्व चौ०—रचना काल और स्थान का निर्देश इन पंक्तियों में है—

संवत् पनर पहुतरि वरसि, श्री पत्तनि हइ आनइ हरसि,
श्री संघनइ आग्रहि चउपइ, कीधी भाविइ भगतइं थइ ।

रचनाकार ने भावसागर को गुरु कहा है, यथा—

'इय सोहग सुन्दर सूरि पुरंदर भावसागर गुरु गछधर,
पय पउम पसाइं कवित कराइं पाप पलाइ दूरितर ।
जे भवियण भावइं सरल सभावइ भणइ गुणइ नवतत्त्ववर,
ते लहसइं सिद्धी वंछित रिद्धि निरमल बुद्धि विबुधवर ।५९।[2]

यह रचना पाटण में की गई अतः इस पर गुजराती प्रभाव स्वाभाविक है। इस रचना में भावसागर सूरि के दीक्षा गुरु जयकेसर सूरि का भी उल्लेख है अतः नवतत्व चौ० का लेखक अंचलगच्छीय भावसागरसूरि का ही शिष्य है। 'इच्छापरिणामचौ०' भी उन्हीं की कृति है किन्तु 'चैत्य परिपाटी' के सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से यह कहना कठिन है कि उक्त दोनों रचनाओं के प्रणेता भावसागर सूरि के शिष्य की ही यह भी कृति है। संभव है कि यह भावसागरसूरि के किसी अन्य शिष्य की रचना हो, या ये भावसागर भी दूसरे हों। यह प्रश्न भी विद्वानों से समाधान की अपेक्षा रखता है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि, पृ० १८०

२. श्री देसाई जै० गु० क० भाग ३, पृ० ५७२

भीम—आप श्रावक भक्त थे। आपने सं० १५८४ आषाढ़ वदी १४ शनिवार को नडियाद में अगड़दत्तरास[1] की रचना की।

रचना का आदि—प्रथमइ प्रणमूं सारदा, कवीअण केरी माय,
अविचल पद आपइ सदा, तूठी करइ पसाउ।१।

x x x

मूझ मूरख मनि ऊपनउ, भाव भलो अति सार,
अगडदत्त रिषि रायनु, रास रचिसि विस्तारि।

रचनाकाल—अेह रास रचीऊ चोसाल, कुण संवत ते केहु काल,
पनरशत चुराशी जेठ-अषाढह वदि सोहइ तेह,
तिथिचौदशि सोहइ सपवित्र, वार शनैश्चर पुष्प नक्षत्र।
रचिउ रास सयलो अेकत्र, अगड़दत्तनूं कहिउं चरित्र।४८९।[2]

पता नहीं क्यों श्री देसाई ने इसका रचनाकाल जै० गु० क०—भाग ३, में सं० १५७५ लिख दिया था; पुनः उसी भाग के दूसरे खंड में उसे सुधार कर सं १५८४ आसाढ़ वदी १४ लिखा है।[3] इसमें दोहा और चौपाई छंद का प्रयोग किया गया है। कुल छंद संख्या ४९१ है। इसमें पाँच खण्ड हैं, अन्तिम छंद देखिये :—

'पाँच खंड पोढे करी, रचीउ अेह प्रबन्ध।
भीम भणइ भवीअण सुणो, तु छूटइ भववंध।४९१।[4]

भीमराज—आपकी 'जीवदयारास' नामक ५ गाथा की एक छोटी रचना राग धन्यासी में निबद्ध प्राप्त है जिसके लेखक का नाम रचना के अन्तिम छन्द में भीमराज दिया हुआ है परन्तु यह पता नहीं कि यह भीमराज भीम श्रावक (अगड़दत्त रास के कर्त्ता) हैं या अन्य कोई भीम है। अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'षट दरशन मति अेह छइ, जोउ समृत विचार,
भीमराज सांचउ कहि, धरमह धरि हो जीवदया सार।'[5]

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १३८
२. वही
३. वही भाग ३, खंड २, पृ० १४९५
४. वही भाग ३, पृ० ५७५-७७
५. वही भाग ३, पृ० ४९५

इसका प्रारम्भिक छन्द इस प्रकार है :—

'तरुणपणिइ जोवन मदिइ, हो तरीय चडी वनि जाइ,
त्रस जीव विणासरी, इम खटवट हो नीगमइ काई १।'

इसका नाम रास से अधिक उपयुक्त गीत हो सकता था। वस्तुतः यह पाँच कड़ी की गेय रचना मरुगुर्जर का गीत है।

भ० भुवनकीर्ति—आप भ० सकलकीर्ति के शिष्य थे। भट्टारक सम्प्रदाय में इन्हें सं० १५०८ में भट्टारक होना लिखा है। आपको संस्कृत, प्राकृत, मरुगुर्जर आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, आप विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे। ब्रह्मजिनदास ने लिखा है कि ये परमकीर्तिवान भट्टारक थे। उन्होंने अपने रामचरित्र काव्य में इन्हें परमज्ञानी और संयमी बताया है। भ० शुभचन्द्र, भ० सकलभूषण, भ० रत्नचन्द्र, भ० ज्ञानकीर्ति ने भी इनका यशः-गान किया है इससे यह स्पष्ट है कि ये महान् जैनाचार्य थे। आप स्वयं विद्याभ्यासी थे और आपने अनेक शिष्यों को विद्याभ्यास कराया, एवं उत्कृष्ट विद्वान् बनाया। इस प्रकार आपने स्वयम् और अपने शिष्यों द्वारा जैन-धर्म और साहित्य की महती सेवा की।

रचनायें—आपने जीवंधररास, जंबूस्वामीरास, अंजनाचरित्र आदि उल्लेखनीय कृतियों की रचना कर जैन साहित्य की श्री वृद्धि की।[1] साहित्य सृजन के अलावा आपने कितने ही स्थानों पर प्रतिष्ठा विधान सम्पन्न कराया तथा प्राचीन मंदिरों, प्रतिमाओं का जीर्णोद्धार कराया, इसमें चौबीसी की प्रतिमा प्रतिष्ठा सं० १५११, चतुर्विंशति प्रतिमा प्रतिष्ठा सं० १५१३ और गाधारपुर प्रतिमा की प्रतिष्ठा सं० १५१५ उल्लेखनीय घटनायें हैं।

भुवनकीर्ति—आप कोरंटगच्छीय कक्कसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५८० में 'कलावतीचरित्र' का निर्माण खंभात में किया। इसमें कलावती के पावनचरित्र का वर्णन सरल मरुगुर्जर भाषा में किया गया है। गुरु परम्परा और रचनाकाल का वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है :—

'पनरअसी बरसामी मृगसर शुदी पंचमी,
दिवस थंभतीरथ भले गुरुदिननिर्मल।
कोरंट गच्छ नन्नसूरि सुपट्टी श्री कक्कसूरि,
ताससीस इमभणे, अे उलट आपणे।

1. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० १७५-१८०

भुवन कीर्ति थीर थाये, कलावति गुण गाये,
दु:ख दलिद्र टले अे संपदासविमिले।
जे भणे मनरंग विलसे सुख ते अंग,
शील सांनिध करे, अे जिम मनि गहगहे।[1]

इसमें नन्नसूरि का उल्लेख है जो कोरंटगच्छीय सर्वदेवसूरि के शिष्य थे। इन्होंने 'विचारचौसठी' आदि अनेक रचनायें लिखी। इनकी (भुवन कीर्ति) की भाषा सरल मरुगुर्जर है। एक उदाहरण देखियें :—

'वीर जिणेसर पयनमी, समरी गोयम सामिरे,
चरित गाउं कलावती तणु. सील गुण करि अभिराम रे।[2]

मतिसागर—आगमगच्छ के आचार्य सोमरत्नसूरि की परम्परा में गुणनिधान, उदयरत्न के शिष्य गुणमेरु के आप शिष्य थे। आपने सं० १५९४ में लघुक्षेत्रसमासचौ०' पाटण में लिखी। 'संग्रहिणीढालबंध' नामक एक अन्य रचना के लेखक भी आगमगच्छीय गुणमेरु के शिष्य मतिसागर कहे गये हैं,[3] किन्तु इसका रचना काल सं० १६७५ बताया गया है। एक ही कवि ८१ वर्ष बाद दूसरी रचना करे यह विश्वसनीय नहीं है। इस रचना में रचना का समय इस प्रकार बताया गया है :—

'संवत सोलपंचोतरइ पोष मास उदार' इसका अर्थ संवत् १६७५ के बजाय सं० १६०५ उचित होगा, तब दोनों रचनाओं में केवल १०-११ वर्ष का अन्तराल रह जायेगा, जो संभव है। श्री देसाई ने भी जैन गु० क० भाग ३ में अपने पूर्व कथन को सुधार कर रचनाकाल सं० १६०५ ही लिखा है।

अतः प्रस्तुत मतिसागर की ही उक्त दोनों रचनायें सिद्ध होती हैं।

क्षेत्रसमासचौ०—इसमें जैनधर्म के मूल सिद्धान्त संक्षेप में बताये गये हैं। प्रारम्भ सरस्वती की वंदना के बाद गुरु परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'सरसति सामिणी करूं जुहार, जेहना गुण अप्पारावार,
ते सरसति नुं ध्यानज धरी, रचसिउं चुपै हरसिइं करी।
आगम गछि गुरुआ गुरुराय, श्री सोमरयण सूरि वंदू पाय,

१. श्री देसाई—जैन गु० क०—भाग १, पृ० १३४ और भाग ३ पृ० ५७४
२ वही
३. देसाई—जै० गु० क०, भाग १, पृ० ४९६-४९७

तसपटि श्री गुणनिधान सूरिंद, तस पट्टोधर सूरि नरिंद ।

× × ×

तसु परिवारि पंडित गुणमेरु, तास सीस कहि हरसि धरेवि,
चुपै बंधि करिसुं हुं सोइ, अहे विचार सुणियो सहुकोई ।

रचनाकाल—'संवत् पनर चुराणुइ, आसोइ बुधवारि,
रचीउं अे सूत्र ऊपरिइ पत्तननयर मझारि ।

'संग्रहिणीढालबंध' का रचना काल १६०५ पहले दिया गया है। इसका आदि पद्य इस प्रकार है :—

'अरिहंतादिक पंच जे परमेष्ठी प्रधान,
नमुं निरंजन चित्तस्युं मांगु अविचल मान ।'

इसमें ५५० चौपाई छन्द हैं 'चउपइ दूहा थइ पंचसइ ऊपरिवली पचास,
भाव सहित जे सांभलइ, भविया पुहतइ आस ।'

इसके अन्तिम ढाल का ५५० वाँ छन्द देखिये :—
अेह अर्थ निरूपम अमृत ऊपम सुण श्रवणे सुख करइ,
विचार करता चित्त धरता कर्म कोडिनी दुख हरइ ।'[1]

इन दोनों रचनाओं में विषयवस्तु एवं भाषा-शैली की दृष्टि में पर्याप्त साम्य है। दोनों में जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रवचन किया गया है। दोनों ही चौपाई और रास नामक प्रबन्ध-काव्यविधा में लिखी गई हैं। अतः दोनों के लेखक आगमगच्छीय गुणमेरु के शिष्य मतिसागर ही हैं। ये दोनों रचनायें गुजरात के दो नगरों पाटण और अहमदाबाद में लिखी गई हैं अतः इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव सहज ही द्रष्टव्य है।

मतिशेखर—आप उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि की परम्परा में शीलसुन्दरसूरि के शिष्य थे। आप वाचक पद से विभूषित एक उत्तम कवि थे। उपकेशगच्छ मारवाड़ के ओसियाँ गाँव के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इस गच्छ का प्रचार-प्रसार भी राजस्थान में अधिक रहा अतः आपकी रचनायें भी राजस्थान में ही लिखी गई होंगी। इनकी प्रमुख रचनायें निम्नांकित हैं :—धन्नारास (पद्य ३२८ सं० १५१४), मयणरेहारास (३४७ गाथा सं० १५३७), बावनी, नेमिनाथवसंतफुलडाफाग (१०८ गा०) कुरगडू

1. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६१८

महर्षिरास (गा० २४५ सं० १५३७), इलापुत्रचरित्र (१६५ गाथा) और नेमिगीत।[1]

धन्नारास—इसमें दान का माहात्म्य बताया गया है। कवि लिखता है :

'दानगिरुउ दानगिरूउदानि जसकित्ति,
दानहि वसित्रिणइ भुवनदानमान आपइं नराहिव
दान दुरिय नासइं सयल, दानि सेव सारइ सुरा हिव,
दान जेम धन्नइ दीयो, पन्नहि पामीय पात,
सावधान तुम्हि सांभलउ, पूरबभव अवदात।[2]

रचनातिथि—'सइं हत्थिथापीय तिणि गुणहारा,
गुणवंत सीलसुन्दर सारा, वारीय जिणि आणंगो।
तास सीस मतिसेहर हरसिंहि पनरहसइ चउदोत्तर वरसिंहि,
कीयो कवित अति चंगो।

यहाँ पनरह सइ चउदोत्तर का अर्थ सं० १५१४ ही है। इस रास में दान की महिमा के उदाहरण रूप में धन्ना के चरित्र को प्रस्तुत किया गया है।

'नेमिनाथवसंतफूलडा' में नेमिनाथ का पावन और मधुर चरित्र है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ ये हैं :—

'सारद माइ पाय नमीजइ, मांगउ एक पसाय रे,
नेमि जिणेसर ना भव गाइसु, लागउ मुझ मनि ठाउरे,
श्री यादवकुल मंडणउ—
यादवकुल मंडणउ स्वामी नेमि जिणंद रे,
भावइ जसु पयकमल जुहारइ सुस्वर इंद रे।

कुरगडु (कूरघट) ऋषिरास में ऋषि की तपश्चर्या का वर्णन किया गया है, लेखक कहता है :—

भावि भविक जन सांभलो तेह ऋषि ताणु चरित्र,
वाचक मतिशेखर कहि, जिम हुइं जनम पवित्र।

इसका अन्तिम छंद इस प्रकार है :—

'कूरगडूनु लेइ संबन्ध, तप ऊपरि अे कीयउ प्रबन्ध।
वाचक मतिशेखर इम कहइ, भणइ ति संपद संपद लहइ।'[3]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६०
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ४९
३. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४६९

मयणारेहासतीचरित्र—यह रचना मदनरेखा सती के शील पर आधारित है। इसका प्रथम छन्द देखिये :—

'श्रीजिन चउवीसइ नमी पणमीय गोयम पाइ,
करिसु कवित रलीयामणउ गुरु सरसति सुपसाइ ।१।

रचना काल—'पनरसइ सांत्रीसइ वरसि, अे प्रबन्ध कीधउ मन हरसि ।
वाचक मतिशेखर इम कहइ, भणइ गुणइ ते सर्व सुख लहइ ।३६९।

यह रचना सं० १५३७ में लिखी गई। गुरु परम्परा बताते हुए कवि ने लिखा है—

श्री उवअेस गछि गुरुराय, कक्कसूरि तसु पटि विखाय,
सांप्रत देवगुपति गणधार ते सदगुरुनां वचन आधार।'

ईलाचरित्र या इलातीपुत्र के चरित्र पर आधारित 'इलापुत्रचरित्र' भावना विषय पर आधारित है। इसमें कवि ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि दान, तप आदि सब कर्म यदि भावना विहीन हों तो व्यर्थ और निष्फल होते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए लेखक ने इलापुत्र का चरित्र उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसकी तथा इनके अन्य रचनाओं की भाषा राजस्थानी प्रभावित मरुगुर्जर है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिये—

'दान शील तप भावना, अे ग्यारह तसु भेद,
चहु' दिसि चिर भमिवा तणा क्षिणिहि क्षिपावइ खेद।
तिहि चिहुमांहि अधिकेरडउ, वली विशेषइ भाव,
दानादिक त्रिणइ विफल, भाव न भावइ जाम।'

इनकी सात में से पाँच प्रमुख रचनाओं के उद्धरण देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि भाषा और काव्य शैली की दृष्टि से वाचक मतिशेखर का जैन कवियों में विशेष स्थान है।

मलयचन्द—आप पूर्णिमागच्छीय साधुरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१९ में सिंघासणबत्रीसीचौ०, सं० १५१९ में ही धनदत्तधनदेवचरित (संग्रलतीकुमरचौपइ) और उसी वर्ष देवराजवत्सराजप्रबन्ध (गोपमंडली) में लिखा।

सिंघासन बत्तीसी की कथा लोकप्रसिद्ध है। जैन साहित्य में भी यह कथा अपने ढंग से काफी प्रचलित है और इस पर आधारित अनेक रचनायें की जा चुकी हैं। मालवा के महाराज विक्रमादित्य और उनकी धारा नगरी का उल्लेख करता हुआ कवि प्रारम्भ में कहता है :—

'समरिसु सामिणि सरसति देवी, विक्रम चरित्र कहुं संखेवि,
मालव मंडण जोयण बार, धारा नगरी नुं विस्तार,
उजेणी अधिपति व्रणवेसु, विदुर विक्रम नरेश,
कला कुतूहल कुतिग सुणइ, दान खडगस्युं दालिद्र हणई।'[1]

रचना काल 'संवत पनर उगणीसय अेय, चउपइ बंध रचीउ अेय,
मंडलीक मग्गण उपगार, रंगद्रयूयाडल नगर मझारि।'

गुरु परम्परा 'पूनिम गछि साधरतन सूरि, सीस मलइचन्द्र कहइ मति पूरी,
भणसइ गुणसइ सुचरित अेम, मनवंछित सुखलहीसइ तेम।'

धनदत्तधनदेवचरित्र का रचना काल इस प्रकार बताया गया है—
'संवत पनर उगणीसइ सुबंध, गोपमंडलीइ रचिउ प्रबन्ध।
भणइ सुणइ कवियण जे करइं, अंबिकि प्रसाद ते सुख लहइं।'[2]

इसमें धनदत्त के दान की महिमा दिखाई गई है। प्रारम्भ में भी दान की काफी बड़ाई की गई है। भाषा और विषयवस्तु तथा रचना शैली के नमूने के लिए प्रारम्भिक दो पद्य उद्‌धृत किए जा रहे हैं :—

'दान दीइं जे मुत्ति सुपत्ति, निरमल चित्तइं निरमल वित्त,
लछि लहइं जिम बंधव अेय, दान प्रभावि धनदत्त धनदेव।
दान बडुं सुणइ संसारि, दानि दुरित टलइं सही सारि,
दानि सुख सम्पत्ति संयोग, दानि जाइं बयर वियोग।'

देवराजवत्सराजप्रबन्ध भी सं० १५१९ की ही रचना है। यह सुखद आश्चर्य है कि इस कवि ने एक ही वर्ष में तीन प्रबन्ध रच डाले और आगे एक भी रचना नहीं की। कवि ने देवराजवत्सराजप्रबन्ध का भी स्वयं रचना समय बताया है, यथा—

संवत् १५१९ उगणीसइ सिद्ध, गोपमंडली सुरछइ सुप्रसिद्ध,
पूनिम गछि साधरतन सूरि, सीसमलयचन्द्र कहि मतिपूरि।

रचना के प्रारम्भ में ही धर्मपालन की महिमा बखानी गई है। वत्सराज को धर्मपालन से तन, धन, परिवार का जो सुख प्राप्त हुआ उसे कवि इस प्रकार कहता है :—

'अंबिकि सामिणि पणमी पाय, जससिरिगिरि गिरिनारह राय,
वत्सराजनुं करूं वषाण, धर्म्म कर्म्म तणउ सुणउ प्रमाण।

---

१. श्री देसाई—जैन गु० क०—भाग ३, पृ० ४७४-७५
२. वही

पुन्य काजि जे न करइ प्रमाद, सुषि सुषि तिहि नहीं विषाद,
विसमां विघन वलइ तीह जाइ, वत्सराज जिम सवि सुख थाई।'

अन्त में भी कवि धर्म की प्रशंसा करता है, यथा—

'धम्म काजि अे संबन्ध सुणी, आदर करू जिण धम्मह जाणी,
धरम प्रभावइं हुइ रुधि वृद्धि, सयल संघनइ वंछित सिद्धि।११८।'[1]

इस प्रकार कवि ने विभिन्न महापुरुषों के चरित्र का उदाहरण देकर सत्य, दान, धर्म आदि चारित्रिक गुणों का उत्कर्ष दिखाया है। एक ही वर्ष और एक ही स्थान गोपमंडली में सम्भवतः तीनों रचनायें लिखी गई इससे इनकी भाषा शैली में भी काफी एकरूपता दिखाई पड़ती है। भाषा सरल किन्तु प्रवाहपूर्ण मरुगुर्जर है।

महिन्दु या महाचन्द्र—आपने वि० सं० १५८७ में १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र 'संतिणाहचरिउ' नामक काव्य में चित्रित किया है। यह रचना अपभ्रंश में की गई है किन्तु कालप्रवाह को उल्टे ले जाने में कठिनाई होती है। इसकी भाषा कृत्रिम अपभ्रंश बन गई है और बीच बीच में मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी के टुकड़े साफ दिखाई पड़ते हैं। मरु-गुर्जर की रचना न होने के कारण इसके विस्तार में जाना समीचीन नहीं है। इसका उल्लेख मात्र यह सूचित करने के लिए किया गया है कि १६वीं शताब्दी में भी काव्य की एक पुरानी धारा अपभ्रंश भाषा शैली में प्रवाहित हो रही थी।[2]

महीचन्द्र—आप खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि की परम्परा में कमलचन्द्र के शिष्य थे। आपने 'उत्तमचरित्रचौ०' (गा० २०४) की रचना सं० १५९१ चैत्र शु० ३, मंगलवार को जावणपुर (जौनपुर) में की। आप बाबर के पुत्र हुमायूँ के समकालीन थे। इसमें उत्तम चरित्र के मुख्यगुण—दान का माहात्म्य बताया गया है। कवि कहता है :—

"दानि परंपर धन लहइ, दान सुजसु जग होइ,
उत्तम चरित राजा परइ, दान मिलइ सुरलोइ॥"

कवि रचना स्थान और तत्कालीन शासक का उल्लेख करता है, यथा—

'जवणापुर छइ दुर्ग अपार, तेहना गुण किम कहउ विचार,
बाबर पातिसाह नइ पूत, हम्माउ सुलिताण जगत्ति। ५९९।

१. श्री देसाई—जैन गु० क०—भाग ३, पृ० ४७४-४७५

२. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह—भाग २, पृ० १२३

रचनाकाल—'ता मुनि ऊगी नुरतीवेग, तह निवसइ परजानउ थेग,
पणरह सइ इक्काणु वरसि, चैत्र शुदि मितियानइ दिवसि,
संवत विक्रमरायह तणउ, वछर शुभकृत नामि हे भणउ
मंगलवारह कियउ कवित्त, भरणी नामिहि छइ नखित्त।'
गुरुपरम्परा—जिनराज सूरि तसु अनुक्रम हुवउ, निर्मल न्यान वसइ जसु हियउ,
कमलचन्द्र तसु पट्टि गणीस, महिचन्द तिहनउ जाणि सुसीस।[2]

इस रास की भाषा सरल मरुगुर्जर है। इसमें गुजराती का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस कृति में कवि ने अन्त में यह भी कहा है कि उसने रस, छन्द आदि का उत्तम प्रयोग किया है। कृति को देखते हुए कवि का यह दावा थोथा नहीं लगता। इस रचना में धर्मोपदेश को काव्य की सरस शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"नवरस सहित अछइ चउपइ, जो भवीयण जाणीसइ सइ,
तेहना पाप पडल सवि जाहि, देवतणा सवि सुख विलसाहि।६०६।

माणिक्यराज—आप पद्मनंदि के शिष्य थे। आपने अपभ्रंश प्रधान भाषा शैली में अमरसेनचरिउ और नागकुमारचरिउ नामक दो रचनायें कीं। प्रथम रचना 'अमरसेनचरिउ' में राजा अमरसेन का चरित्र चित्रित किया गया है जो धार्मिक प्रकृति का राजा था। वह संयम और तप का निष्ठापूर्वक पालन करता था। व्रत नियम और धर्म-कर्म में कभी प्रमाद नहीं करता था अतः उसे सद्गति प्राप्त हुई। इनकी दूसरी रचना नागकुमारचरिउ (सं० १५७९) में नौ संधियां हैं। इसकी कथा पुष्पदन्त के नागकुमारचरिउ पर आधारित है। इन रचनाओं को प्रायः विद्वान् अपभ्रंश की रचनायें मानते हैं और कवि ने सायास अपभ्रंश की रूढ़ काव्य शैली का प्रयोग भी किया है अतः इन्हें अपभ्रंश की प्राचीन धारा की कृतियाँ मानना ही उचित है। श्री नाहटा ने माणिकराज कृत 'नलदमयन्तीरास'[3] की सूचना दी है। यह रचना सं० १५९० जयपुर में रची गई। इसका विवरण उन्होंने नहीं दिया है अतः यह स्पष्ट नहीं हो सका कि ये माणिकराज पद्मनन्दि के शिष्य माणिक्यराज ही हैं अथवा अन्य कोई कवि हैं।

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खंड २, पृ० १४९७-९८
२. ,, एवं भाग ३, खंड १, पृ० ५९५
३. श्री अ० च० नाहटा—मरु गु० जै० क०—पृ० १९, क्रम सं० २००

माणिकसुन्दरगणि[1]—आप वृद्धतपागच्छीय भट्टारक रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। आपने मलधारी हेमचन्द्रसूरि कृत भवभावनासूत्र पर सं० १५०१ में बालावबोध की रचना की थी। कुछ लोग इसे सं० १५६३ की रचना बताते हैं। यह रचना देलवाड़ा (उदयपुर) में हुई। इसका विवरण गद्यखण्ड में दिया जायेगा। श्री अ० च० नाहटा ने माणिकसुन्दर की एक रचना 'नेमिश्वरचरित्र'[2] का उल्लेख मात्र किया है, उसका कोई उद्धरण या विवरण नहीं दिया है अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त गद्यकार माणिकसुन्दरगणि ही 'नेमिश्वरचरित्र के भी लेखक हैं किन्तु यह पूरी संभावना है कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं।

१५वीं शताब्दी में एक माणिकसुन्दर गणि हो गये हैं जो मेरुतुंग के शिष्य थे। इन्होंने १४७० के आसपास 'चन्द्रधवलधर्मदत्तकथा'[3] की रचना की। इनका विवरण यथास्थान दिया जा चुका है। उसी शताब्दी में माणिकसुन्दरसूरि' नामक प्रसिद्ध गद्यकार हो गये जिन्होंने सं० १४७८ में पृथ्वीचन्द्रचरित्र-वाग्विलास[4]' की रचना की थी। इनका विवरण भी गद्यखण्ड में दिया जायेगा। इस प्रकार १५वीं-१६वीं शताब्दी में माणिक-सुन्दर नाम के प्रायः चार लेखकों का पता लगता है किन्तु इनमें से १६वीं शताब्दी के माणिकसुन्दर गणि की मात्र एक काव्यकृति नेमिश्वरचरित्र की ही सूचना मिलती है अन्य विवरणों का अभाव है।

मुनिचन्द्रसूरि—आप पूर्णिमागच्छ की भीमपल्ली शाखा के विद्वान् लेखक थे। आपकी रचना 'रसाउलो' और रात्रिभोजनसज्झाय' में से 'रसाउलो' प्राकृत भाषा की है। अतः इसके विवरण की अपेक्षा नही है। दूसरी रचना 'रात्रिभोजनसज्झाय' पूर्णतया उपदेशपरक रचना है जिसमें रात्रिभोजन के दोषों का निरूपण किया गया है। इसकी रचना सं० १५५७ के आसपास हुई। इसकी भाषा सरल है।[5]

मूलप्रभसाधु--(भावप्रभ) आपने सं० १५५३ में गजसुकुमालसंधि' की रचना की। श्री देसाई ने जै० गु० क०–भाग ३ में रचनाकार मूलप्रभ के

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खंड २, पृ० १५७९
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क०—पृ० १६ क्रम सं० २०५
३. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ३५
४. वही —भाग ३, खंड २, पृ० १५७३
५. वही —भाग १, पृ० १३९

आगे प्रश्न चिह्न लगाकर भावप्रभ नाम बताया है अतः यह निश्चय नहीं हो पाता कि रचनाकार मूलप्रभ हैं या भावप्रभ, अथवा दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इसमें गजसुकुमाल की कथा दी गई है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ निम्नाङ्कित हैं—

"देस सोरठ द्वारापुरी, नमउ तिहाँ वासुदेवू अे,
दसइ दसार सिऊ राजिउ, बंधव श्री बलदेवू अे,
जीरे जीरे स्वामी समोसर्या, हरषिउ गोपीनाथू अे,
नेमिजी वंदणि अलजयु, अलज्यो यादव साथू अे।"[1]

इसमें काव्य सौष्ठव पाया जाता है। विप्रलम्भ शृङ्गार की निम्न पंक्तियां देखिये—

'रयणी वइरणि नवि जाद्ध, सूतां साथ रइ,
कुंअर कुंअर झखी भणइ अे,
रयणि किम नकि जाइ, चंदा रथ खेडिलाइ,
तु ं वेगि थइ अे
हूं हइ आनन्द हेजि प्रहि ऊगम मिलू,
कु ंअर नइ अलजइ अे।"[2]

प्रति अपूर्ण होने के कारण इसके अन्त के छन्दों का उद्धरण नहीं प्राप्त हो सका। अतः रचनाकार और रचना से सम्बन्धित अन्य अपेक्षित विवरण भी नहीं मिल सके।

(साधु) मेरुगणि—आप आगमगच्छीय साधु थे। आपने सं० १५०१ पौष वदी १२ को जीवदया के माहात्म्य पर 'पुण्यसारचरित्र' की रचना की। पुण्यसारचरित्र जीवदया के दृष्टान्त-रूप में वर्णित है। जीव दया पर प्रकाश डालता हुआ कवि कहता है—

"जीवदयानी हियइ धरउ बुद्धि, जीवदया पालउ मन शुद्धि,
जीवदया लगइ निरन्तर वृद्धि, जीवदया पालिइ ं सर्व सिद्धि।"[3]

लगता है कि आपका नाम सुमेरु या मेरु था, साधु और गणि शोभार्थ आगे पीछे बाद में जोड़े गये होंगे। कवि ने अपना नाम इस प्रकार लिखा है :—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ९५ तथा भाग ३, पृ० ५२३
२. वही
३. वही भाग ३, पृ० ४३२, श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ४६

'सुगुरु पसाइं नयर गोआलेर, घणी पुण्यसार रिद्धिइं कुबेर,
तासु गुण इम वर्णवइं अजस्त्र, साधु मेरु गणि पंडित मिश्र।'
तस चरित्र करी प्राकृतइं फेर, इम बोलइ गणि साधु समेर।'

नाम मेरु या सुमेरु होगा, पंडित, साधु, गणि, मिश्र आदि उपाधियाँ हैं जिनका उपयोग कवि प्रसन्नता पूर्वक अपने नाम के साथ प्रायः करता है।

रचनाकाल —'आसाढ़ादि पनर अेकोत्तरइ, पोस वदिइ ग्यारिसि अंतरइ,
धंधूकपुरि कृपारस सत्र, सोमवार समर्पिउ अे चरित्र।'

इस कथा का प्रारम्भ गौतम गणधर और श्रेणिक की वार्ता के बजाय आ० हेमचन्द्र और कुमारपाल के प्रश्नोत्तर से हुआ है। इसकी भाषा में मुहावरे और कहावतों के प्रयोग से शैली प्रभावशाली हो गई है, यथा :—

'अन्नाशाह उवअेसड उ, निफल होइ न तंति,
पाणी घणू विलोडई कर चुपड़ा न हुंति।

रचना सरस है, शैली प्रभावशाली है, जिसके आवेष्ठन में उपदेश भी रोचक और सुग्राह्य हो गया है। दो पंक्तियाँ देखिये :—

'पुण्यसार गुण श्री तणउं प्रबन्ध, आश्चर्यकारी उ भलउ संबंधि,
जीवदया दृष्टान्त पदीक, जिम जिम सुणीइ तिम रसीक।६०१।[1]

मेलिग —आप १६वीं शती के अन्तिम चरण के कवि हैं, आप तपागच्छीय मुनि सुन्दरसूरि के शिष्य थे। उनकी आज्ञा से आपने सं० १५७१ में 'सुदर्शनरास' की रचना की। रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'संवत पनर एकोतरइ एम्हा जेठह चउथि विशुद्धि सुणि,
पुष्प नक्षत्र गुरुवारि से एम्हा, चरित्रए पुहति प्रसिद्ध सुणि।२२२।'[2]

इस रास की प्रति पाटण के जैन भण्डार तथा प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान राजस्थान में उपलब्ध है।

मेरुसुन्दर उपाध्याय—(रचना काल सं० १५१८–सं० १५३८)—आप इस शताब्दी के संभवतः अति समर्थ गद्यकार हैं। आप की बीसों भाषा टीकायें, बालावबोध आदि गद्य रचनायें उपलब्ध हैं जिनका विवरण गद्य-

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा, पृ० ५७ और श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४५२
२. डॉ० क० च० कासलीवाल—म० कविवर बूचराज एवं उसका समय पृ० ३

खण्ड में दिया जायेगा। आपकी अब तक शायद कोई काव्यकृति उपलब्ध नहीं है किन्तु यह संभव नहीं कि इतने बड़े लेखक ने एक भी काव्य रचना न की हो, शायद वह अभी ग्रन्थ भण्डार के वेष्ठनों में आवृत हो। आप खरतरगच्छीय वाचनाचार्य रत्नमूर्ति के शिष्य थे।[1]

मंगलधर्म या मंगलाधर्म–आप रत्नाकरगच्छ के आचार्य जयतिलकसूरि की परम्परा में उदयधर्म के शिष्य थे। आपने सं० १५२५ में 'मंगलकलश रास' की रचना की।[2] श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग ३ में धर्म के सामने ज्ञानरुचि नाम लिखकर उसपर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।[3] मंगलधर्म ने अपने मंगलकलशरास का प्रारम्भ इस प्रकार किया है :—

'आदि जिणवर जिणवर सुखदाता र, संति जिणेसर संतिकर, नेमिनाथ सोभाग सुन्दर।
पास जिणंद विघनहर वर्द्धमान कल्याण मंदिर, पंचतीर्थंकर सुगुरु नमो सरसती अम्बिका देवी
समरवि मंगलकलशहु चरित्र भणिसु संखेवि।'

गुरु परम्परा के सन्दर्भ में कवि रत्नाकरगच्छ के आचार्य जयतिलक रत्नसिंह, उदयवल्लभ, ज्ञानसागर और उदयधर्म का उल्लेख करता है—

'मुनिवर वाचक श्री उदयधर्म, जाणिउ आगम शास्त्रह मर्म,
तास पसाइ फलइ कर्म, ज्ञानरुचि भणइ मंगलधर्म

इसमें 'भणइ' क्रिया का कर्ता मंगलधर्म प्रतीत होता है न कि ज्ञानरुचि। ज्ञानरुचि शब्द का सम्बन्ध फलइ क्रिया से हो सकता है। अस्तु, कवि ने रचना काल बताते हुए लिखा है :—

'मंगलकलश तणी चउपइय, संवत पनर पंचवीसइ हइय।
पढ़इ गुणइ संभलइ विचार, तस घरि उच्छव जय जयकार।

अज्ञात कवि कृत—'मंगलकलशरास'—वडतपगच्छीय जिनरत्नसूरि के किसी शिष्य द्वारा सं० १५३२ से सं० १५८२ के बीच यह रास लिखा गया जिसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ७१
   श्री मो० द० देसाई—जैन सा० नो इतिहास पृ० ५२२
२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ५९ और देसाई—जै० गु० कवि—भाग १, पृ० ५९-६०
३. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४८९

'गोयम गणहर पय नमी अे, सामिणी सरसत्ति,
सरस वाणी अविरल दीइ, आराहिसु भत्ति।
पमणिसु मंगलकलश रास, सांभलउ रसाल।
पुण्य प्रमाणिइं पामीय अे मंगल सुविशाल।'[1]

इसमें गुरु जिनरत्नसूरि का सादर स्मरण किया गया है, यथा—
'बड़तपे गच्छ केरो शृंगार, श्री जिनरत्नसूरि सुगुरु उदार,
तास सीस अेणीपरि भणइ, मंगल वात्री भवीअण जे सणइ।'

इन दोनों रचनाओं की भाषा मरुगुर्जर है जिसमें गुजराती का प्रभाव मरु की अपेक्षा अधिक है। लगता है कि ये रचनायें गुजरात में ही लिखी गई हैं। इनके लेखकों का नाम अनिश्चित है। दोनों रचनाओं का नाम एक है किन्तु कथा संयोजन और प्रस्तुति दोनों की स्वतन्त्र है। दोनों के दो लेखक प्रतीत होते हैं।

यशोधर—आपने प्राचीन हिन्दी अथवा मरुगुर्जर में काफी लिखा है किन्तु इतिहास ग्रन्थों में आपके सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है। आप काष्ठासंघ के संत सोमकीर्ति के प्रशिष्य एवं विजयसेन के शिष्य थे। युवावस्था में घर छोड़कर शास्त्राभ्यास एवं संत सेवा प्रारम्भ की और आजन्म लोकमंगल के कार्य में लगे रहे। आप कबीर, सूर आदि की तरह अच्छे गायक थे और पद बनाकर लोगों को सुनाते थे। आपको काव्य रचना की प्रेरणा सोमकीर्ति, विजयसेन और यशःकीर्ति से मिली जिनका अपनी रचनाओं में इन्होंने सादर स्मरण किया है।

ये नेमिनाथ के जीवन से अत्यधिक प्रभावित थे अतः नेमि-राजुल पर अधिक साहित्य सर्जन किया है। यद्यपि ये साधु थे किन्तु साहित्यिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति थे अतः आवश्यकतानुसार शृंगार आदि रसों का उत्तम वर्णन किया है।

भट्टारक सोमकीर्ति का समय सं० १५२६-१५४० के बीच माना जाता है, इनका भी इसी अवधि में जन्म होना चाहिये। इनकी दो रचनाओं में सं० १५८१ और सं० १५८५ का निर्देश हुआ है अतः अनुमान होता है कि सं० १५३० से लेकर १६०० तक आपका जीवन काल रहा होगा। इस अवधि में आपने मौलिक साहित्य लिखा और प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं। जिस गुटके में इनकी रचनाओं का संग्रह मिला है वह

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४९०

स्वयं इन्हीं द्वारा सं० १५८४ में लिखा गया है। अतः निश्चित है कि उस समय ये कार्यक्षम थे। इनकी लिपि सुन्दर एवं सुपाठ्य है। इस प्रकार ये एक उत्तम कवि और सुलेखक प्रमाणित होते हैं।

इनकी तीन रचनायें उल्लेखनीय हैं (१) नेमिनाथगीत, (२) मल्लिनाथ-गीत और (३) बलिभद्रचौपइ। अन्तिम रचना सबसे बड़ी तथा महत्त्वपूर्ण है। इसे कवि ने सं० १५८५ में स्कन्धनगर के अजितनाथ मन्दिर में पूरा किया था। इसमें श्रीकृष्ण और बलराम के भातृ-प्रेम की सुन्दर झलक दिखाई गई है। आपकी भाषा निखरी हुई है जिस पर गुजराती की अपेक्षा राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। आपकी काव्यशैली परिमार्जित है।

आपने नेमिनाथ के जीवन पर अधिक गीत लिखे हैं जिनमें राजुल के वियोग का मार्मिक वर्णन हुआ है। राजुल के सौन्दर्य वर्णन में कवि की सौन्दर्य भावना एवं सहृदयता का पूरा परिचय मिलता है। नेमिनाथ प्रथम गीत २८ पद्यों का सं० १५८१ में लिया गया, जिसका विवरण कवि ने इस प्रकार दिया है : –

'संवत पनर एकासीइ जी वंसपालपुर सार,
गुण गाथा श्री नेमिनाथजी, नवनिधि श्री संघव'र हो स्वामी।

राजुल की सुन्दरता का वर्णन देखिये :—

'रे हंस गमणीय मृग नयणीय स्तवण झाल झबूकती,
तप तपिय तिलक ललाट सुन्दर वेणीय वासुडा लटकती,
खलिकंत चूडीय मुखि वारीय नयन कज्जल सारती,
मलयतीय मंगल मास आसो इम बोली राजमती।[1]

दूसरे नेमिनाथ गीत में राजुल नेमि की बाट जोहती है—
'नेमि जी आवु न घरे घरे बाटडिया जोइ सिवयामा लाडली रे।

तृतीय गीत ६८ पद्यों का है इसमें नेमिनाथ के विवाह की घटना का मुख्य रूप से वर्णन हुआ है। राजुल की शोभा देखिये :—

'पायेय नेउर रणकणिरे धूधरी नु धम्मार,
कटियंत्र सोहि रुडी मेखलारे झूमणु झलकसार।
बांकीय भमरि सोहामणी रे, नयने काजल रेह,
कामधनु जानो तोडीयु रे, नर भग पाडवा एह।

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के संत कवि, पृ० ८४-८५-८६

राजुल से नेमि की सुन्दरता की बड़ाई करती हुई सखियाँ कहती हैं :—

'कानेय कुंडल लपि तपिरे, मस्तक छत्रि सोहंति,
सामला व्रण सोहामणु रे, सोइ राजुल तोरुकंत ।'[1]

इसमें गांसु, काइंकरु, नीकल्यारे, तिहां, आयणा आदि राजस्थानी शब्द प्रयोगों की बहुलता है ।

मल्लिनाथगीत में केवल ९ छन्द हैं जिसमें तीर्थंकर मल्लिनाथ के गर्भ, जन्म, वैराग्य, ज्ञान और निर्वाण का संक्षिप्त वर्णन है । इसका अन्तिम छंद देखिये :—

'ब्रह्म यशोधर वीनवी हूँ, छवि तह्म तणु दास रे,
गिरी पुरय स्वामीय मंडणु श्री संघ पूरवि आस रे ।

ब्रह्म यशोधर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक संयम का पालन करते रहे । अन्त में आपकी महत्त्वपूर्ण रचना बलिभद्रचौपइ के कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं । सर्वप्रथम कवि ने अपनी अल्पज्ञता और गुरु के आशीर्वाद का माहात्म्य लिखा है, यथा—

'न लहुं व्याकरण न लहुं छंद, न लहुं अक्षर न लहुं विन्द,
हूं मूरख मानव मतिहीन, गीत कवित्त नवि जाणूं कही ।
मूरख पणि जे मति लही, करि कवित्त अतिसार,
ब्रह्मयशोधर इम कहि ते सहि गुरु उपगार ।

इसमें द्वारका नगरी का वैभव, यादवों का मदपान एवं उन्मत्त होकर द्वैपायन मुनि को चिढ़ाना तथा उनके शाप से द्वारका के भस्म होने का प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया गया है । मदपान से उन्मत्त यादवों के बारे में कवि कहता है :—

'एक नाचि एक गाइं गीत, एक रोइ एक हरखि चित्त,
एक नासि एक उंडलि धरि, एक सुइ एक क्रीडाकरि ।
इणि परि नगरी आविजिसि, द्विपायन मुनि दीठु तिसि,
कोप करीनि ताडिताम, देइ गालवली लेइ नाम ।'[2]

इस दुर्घटना की चेतावनी नेमिकुमार ने पहले ही दी थी किन्तु कृत कर्मों का बन्ध बिना भोगे नहीं कटता अतः परिणाम भुगतना ही पड़ता है । इन रचनाओं के अलावा वैराग्य गीत, विजयकीर्ति गीत एवं २५ से भी अधिक

१. डॉ० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत, पृ० ८४-८५-८६
२. वही, पृ० ९१

पद आपने लिखे हैं जिनमें से अधिकांश नेमि-राजुल के वियोग वर्णन से सम्बंधित हैं। इन पदों में प्रेम और विरह की मार्मिक व्यंजना हुई है। कुछ पदों में वैराग्य एवं जगत् की असारता आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यशोधर की प्रतिभा में विशदता, विषयवस्तु में विविधता और वर्णन में मौलिक कुशलता दिखाई पड़ती है।

रत्नमण्डलगणि—आप तपागच्छीय आ० सोमसुन्दरसूरि अथवा उनके शिष्य सोमदेवसूरि के शिष्य थे और विक्रम की १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। यह सूचना श्री अम्बालालशाह ने दी है। आपने संस्कृत में सुकृतसागर, मुग्धमेधालंकार और जल्पकल्पलता आदि ग्रन्थ लिखे। मरुगुर्जर में आपकी एक सरस काव्य कृति 'नारीनिराशफाग' है जो प्राचीन फागु-संग्रह में प्रकाशित है। इस फाग की समग्र संरचना 'वसंतविलास' की तरह है किन्तु वह पूर्णतया शृंगारिक रचना है और यह नारी और शृंगार से निराश करने वाली रचना है। इनकी कई प्रतियाँ उपलब्ध हैं। किसी प्रति में इनका नाम रत्नमंडलगणि, किसी में 'सुरयणमंडन' और किसी में 'रैवतरत्नमंडनमृगण' भी मिलता है। इसमें एक संस्कृत का छंद और उसके बाद एक मरुगुर्जर का छंद आया है। नारी के प्रत्येक अंग की अलंकारिक उपमा को अन्यथा रूप से घटित करके उससे विरक्त रहने का सन्देश दिया गया है। जैसे नेत्रों पर कवि की उक्ति देखिये :—

'विकसित पंकज पाषंडी' आषडी ऊपम चालि,
ते विषसलिल तलावली सांवली पापिणि पालि।

अथवा मुख के प्रति कवि का यह कथन देखिये :—

'नारी नगरि मुखपोलि, कपोलि कपाट विचार,
ज्योति जलण मय कुंडल कुंड लगार न सार।

इसी भाव को संस्कृत में भी प्रस्तुत किया गया है, यथा—

'नरक पुरि पुरन्ध्या गोपुरं वक्त्ररन्ध्रं,,
किल कलित कपोलोद्घाटतादृक कपाटं।'

नारी की त्रिबली को त्रिविधकपट भरी रेखा और क्षीण कटि को युवकों को क्षीण करने वाली बताया गया है। नारी से निराश होकर जिसके मन में शमरस सुन्दरी का निवास हो जाता है उसी के जीवन में सुप्रभात का प्रकाश आता है :—

'जेह मनि शमरस सुन्दरी, सुन्दरी बसइ अरालि,
ते मझ सील सुदरिसण दरिसण दिउ सुप्रभाति।५०।'[1]

इस प्रकार ५३ छन्दों में नारी आसक्ति का उत्पाटन कर शान्तरस की स्थापना करने वाला यह फागु है। कवि संस्कृत और मरुगुर्जर का सक्षम प्रयोक्ता प्रतीत होता है। उसने मरुगुर्जर और संस्कृत में साथ-साथ नारी की शोभा का वर्णन करते हुए उससे विरक्ति पैदा करने का अलंकारिक चमत्कार दिखाया है। इस रचना में कवि के साहित्यशास्त्रीय ज्ञान एवं उसके प्रयोग के क्षमता की कुशल अभिव्यक्ति हुई है। यह रचना आध्यात्मिक दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही काव्य कला की दृष्टि से भी विचारणीय है।

रत्नसिंहसूरि शिष्य—रत्नसिंहसूरि के किसी शिष्य ने रत्नचूडरास लिखा है। यह सं० १५०९ की कृति है। श्री नाहटा का कथन है कि इसके कर्त्ता एवं इसके मूलपाठ के संबंध में मतैक्य नहीं है।[2] देसाई जी भी इसे कभी रत्नसिंह कृत और कभी रत्नसिंह शिष्य कृत बताते हैं।[3] रचना काल भी विभिन्न प्रतियों में सं० १५०१, १५०९ और १५१४ आदि पाया जाता है। इसमें दान, शील, तप का माहात्म्य बताया गया है, यथा—

'दान शील तप भावनासार, दान तणइ उत्तम विचार,
दानिइं जस कीरति विस्तरइ, त्रिणि जीव दानइं पण तरइं।'

रचनाकाल के दो पाठान्तर देखिये :—

(१) पनर नवोतरइं हुइउ प्रबन्ध, पढ़ता गणतां टलइं सविबंध'
(२) पनर एकोत्तरइ नीपनो प्रबंध रतनचूड नो अेह संबन्ध।[4]

इसके मंगलाचरण के दो पाठान्तर आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

'सरसति देवी पय नमी मागिसउ चित्त पसाउ,
रत्नचूड गुण वर्णविउं दान विषय जस भाउ।१।'

इसका पाठान्तर दूसरी प्रति में इस प्रकार है :—

'सरसति सामिणि वीनवुं मांगु एक पसाउ,
बत्रीस लक्षणि आगलउ, गाइसूं वत्सराजराउ'

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ७१-७२
२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६०
३. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४६४
४. वही

यह रचना १६वीं शताब्दी की है किन्तु इसका प्रामाणिक पाठ और रचनाकार तथा रचना सम्बन्धी अन्य विवरण अनिश्चित है।

रत्नसिंहसूरि के शिष्य द्वारा एक और रचना 'जंबूस्वामीरास' सं० १५१६ द्वितीय श्रावण शु० सोम० को लिखी गई। रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'संवत पनर सोलोत्तरइ अे मालंत, बीजइ श्रावण मासि सुणि सु;
शिवतिथि हूति ऊजली अे माल० सोमवारइ हुउरास।

इस रास में कवि ने अपने गुरु रत्नसिंह की वंदना की है :—

'तपगछि गणधर अभिनवा अे माल० अवतरिय गोयम सामि सु,
रयणसिंहसूरि ध्याइयइं अे मालं० अष्ट महासिद्धि नामि।

इससे स्पष्ट है कि यह रचना भी रत्नसिंहसूरि के किसी शिष्य की है किन्तु यह निश्चय नहीं कि ये रत्नचूडरास के कर्त्ता हैं या अन्य कोई शिष्य। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

सरसति सामणि सारदा अे, गोयम गणधार,
रास बंधि गुणवत्तीइ अे सिरि जंबकुमार।
जंबूदीवह भरहक्षेत्र मगध वर देस,
नयर राजगृहि जाणीइअे श्रेणीय नरेस।[1]

इस रास की भाषा पर गुर्जर भाषा का प्रभाव अधिक है। तपागच्छीय लेखक की रचना होने से इसका गुजरात में लिखा जाना और गुर्जर भाषी होना संभव है। संभवतः उक्त दोनों रचनायें गुजरात में ही लिखी गई हैं और दोनों के कर्त्ता एक ही व्यक्ति रत्नसिंह के शिष्य हो सकते हैं क्योंकि दोनों की रचना-शैली और भाषा में पर्याप्त साम्य है।

विक्रम की १४वीं शताब्दी में भी रत्नसिंहसूरि हो गये हैं जिनके शिष्य विनयचंद ने कई महत्त्वपूर्ण रचनायें कीं। उनका विवरण यथास्थान दिया जा चुका है।

रत्नसुन्दर—आप बड़तपगच्छीय जयधीर के शिष्य थे। आपने 'अर्बुद-गिरितीर्थबिंबपरिमाणसंख्यायुत स्त०' (२१ गाथा) नामक रचना अपभ्रंश प्रधान भाषा में रची है, जिसकी प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ भाषा के नमूने के लिए प्रस्तुत हैं :—

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ५२ और जैन सा० नो संक्षिप्त इतिहास पृ० २२३

'सिरि अब्बुय गिरिवर सिहर-सोहण रिसह जिणंद,
पभणउ तुह पयपउम जिण, नमि नरिंद सुरिंद।'

इनकी दूसरी रचना 'आदीश्वरस्तवन' में ४९ छन्द हैं। यह मरुगुर्जर की रचना है। आदीश्वर की प्रार्थना करता हुआ कवि कहता है:—

"आदि जिनवर आदि जिनवर आदि जगनाथ,
आदि सृष्टि रचना रचीअ, विविध वर्ण व्यापार मांडीय,
राजरंग रामा रमीअ व्यमीय काम मोह-मान छाडीय ।।[1]

कवि ने अपने गुरु का स्मरण करते हुए लिखा है—

"बडतप पक्षि चारित्र चोखइ पंडित श्री जयधीर,
तास सास रत्नसुन्दर पभणइ, मानुष पर बरवीर।

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है—

"आज अपूरब दिन दिन करयु, मइं जिनपति गुण अणसरयु,
मइं पुण्य भडार ज भरयु, हूं दुषसागर ऊतरयु।४९।[2]

इन उद्धरणों से यह विदित होता है कि यह कृति सरल एवं स्वाभाविक मरु-गुर्जर में लिखी गई है जिसमें आदीश्वर की प्रार्थना है।

रत्नशेखर[3]—रत्नशेखर नामक कई जैनाचार्य अलग-अलग गच्छों में समय-समय पर हो गये हैं। गौतमरास के लेखक रत्नशेखर की चर्चा १५वीं शताब्दी में हो चुकी है। १६वीं शताब्दी में कम से कम दो रत्नशेखर मिलते हैं उनमें से एक मुनिसुन्दर सूरि के शिष्य थे, जिन्होंने संस्कृत में 'श्राद्धप्रतिक्रमण' आदि ग्रन्थ लिखे। इनके शिष्यों में सोमदेव, चारित्ररत्न और नंदिरत्न आदि उल्लेखनीय हैं। सोमदेव कृत 'कथामहोदधि' महत्त्वपूर्ण रचना है।

रत्नचूडरास सं० १५१० के आसपास की लिखित एक कृति है जो शायद इन्हीं रत्नशेखर की रचना है। रत्नसिंहसूरि के शिष्य की रत्नचूडरास और इस रत्नचूडरास का जब तक पूर्ण पाठ न प्राप्त हो तब तक कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि ये दोनों रत्नचूडरास एक ही कृति हो तो इसका कर्त्ता रत्नशेखर के बजाय रत्नसिंहसूरि का कोई शिष्य होगा।

---

१. मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५०४
२. वही
३. वही भाग १ पृ० ४७, श्री नाहटा—परम्परा पृ० ६०

रत्नाकरसूरि—आप कवि देपाल के समकालीन थे। आपने 'आदिनाथ-जन्माभिषेक' और 'वसंतविलास' नामक रचनायें कीं। प्रथम रचना 'विविधपूजासंग्रह' और 'वसंतविलास' प्राचीन गुर्जरकाव्य संकलन में प्रकाशित है। देपाल के पुत्र चन्द्रपाल द्वारा आत्म पठनार्थ लिखित प्रति में वसंतविलास के लेखक का नाम रत्नाकरसूरि दिया गया है।

'आदिनाथजन्माभिषेक' का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—

विनीय नयरी विनीय नयरी नाभि नियमेहि,
मरुदेविहि ऊयरिसर, राय हंस सारिच्छ सामिय,
सिरि रिसहेसर पढम जिण, पढम रायवर वसहगामिय।
वसह अलंकिय कणय तणुं, जागो जग आधार,
तसु पयवंदिय तसु तणो कहिशुं जन्म सुविचार।१।[1]

इसकी भाषा अपभ्रंश-गर्भित है। इसमें आदिनाथ के जन्मोत्सव का वर्णन है।

वसंतविलास की रचना सं० १५०८ भाद्र शु० ५ गुरुवार को हुई। इसकी भाषा प्रथम रचना की तुलना में अधिक सरल और स्वाभाविक बोलचाल की मरुगुर्जर है, उदाहरणार्थ प्रारम्भिक छन्द उद्धृत हैं।

"पहिलूं सरसति अरचीसूं, रचीसूं वसन्त विलास,
वीणा धरइ कर दाहिण, वाहण हंसलु जासु।
पहुतीय तिउणी हिव रति वरति, पहुती वसंत,
दह दिसि पसरइ परिमल, निरमल थ्या नभ अंत।"[2]

इसमें प्रकृति का वास्तविक रुचिपूर्वक एवं मनोहारी रूप में वर्णन किया गया है, न कि केवल परम्परा का निर्वाह करने के लिए उद्दीपन विभाव रूप में किया गया है। नमूने के तौर पर अन्तिम पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

"दमनह गुणि मदमातउ, रातउ रूपिहिं भृंगु,
कुन्द कुसुम रमाडइ, छांडइ चांपुला संग।
इणिपरि नितु प्रिय रंजवइ, मंजु वइण इण ठाइ,
धन धन ते गुणवन्त, वसंत विलास जे गाइ।८६।"

इन पंक्तियों में वसंतश्री का सुन्दर वर्णन काव्योचित भाषा शैली में में किया गया है।

---

१. श्री मो० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ४१-४२
२. वही, भाग ३, पृ० ४५४

राजतिलकगणि—आप पूर्णिमागच्छीय साधु थे। आपका धातु-प्रतिमा-लेख सं० १५१६ और १५२९ का मिला है; अतः आपका समय १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध होना चाहिये। आप १५वीं शताब्दी के राजतिलक से भिन्न प्रतीत होते हैं जो विजयतिलक के शिष्य थे और जिन्होंने जंबूस्वामीफागु लिखा है।

विवेच्य राजतिलक की एक रचना 'शालिभद्रमुनिरास' (३५ पद्य) जैनयुग पुस्तक २, पृ० ३७० से ३७३ तक पं० लालचन्द गाँधी द्वारा अर्वाचीन गुजराती छाया सहित प्रकाशित है। इसके रचना काल के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें जम्बूस्वामीफागु के कर्त्ता राजतिलकसूरि ही मानते हैं।[1] शालिभद्रमुनिरास का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

'थंभणपुरि पहु पासनाह पणमेविणि भत्ति अे,
हउं पमणिसु सिरि सालिभद्द गुणि तिलयह रासू।
भवियहु निसणहु जेण तुम्ह हुइ सिवपुरि वासू।'

अन्त "सेणिय बोहिय भद्दा निय घरि, पत्ता सवद्धसिद्धिते मुणिवर,
राजतिलक गणि संथुणइ, वीर जिणेसरु गोयम गणहरु।
सालिभद्र नहि धन्नउ मुणिवरु, सयलसंघ दुरियइं हरउ।
सालिभद्र मुणिरासो जें खेलादिंती
तेसि सासण देवी जणयाउ सिव संती।३५।"[2]

पं० लालचन्द गाँधी ने जिस प्रति से सम्पादन किया है वह सं० १४९३ की लिखी बताई गई है अतः इस दृष्टि से यह रचना १५ वीं शताब्दी की ठहरती है। श्री देसाई ने इसे १६वीं शताब्दी की और श्री नाहटा ने १५वीं शताब्दी की रचना बताया है। इस अनिश्चय के कारण इस कवि की एक रचना 'शालिभद्रमुनिरास' का ही परिचय यहां दिया जा रहा है। इसकी भाषा में भी प्राचीनता के पुट के साथ अपभ्रंश-प्रयोगों की अधिकता है अतः यह भी संभावना है कि यह कवि पहले का हो। कहीं-कहीं इसका रचनाकाल सं० १३३० भी बताया गया है। यह विवाद विद्वानों द्वारा निर्णय की प्रतीक्षा में स्थगित रखा जा रहा है।

राजरत्नसूरि—आप खरतरगच्छ के साधु विवेकरत्नसूरि के प्रशिष्य एवं साधुहर्ष के शिष्य थे। आपने सं० १५९९ में 'हरिबलमाछीचौपइ' लिखा, जिसका रचना काल कवि ने स्वयं इस प्रकार बताया है—

---

१. श्री मो० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ५२ एवं भाग ३, पृ० ४७४
२. वही

"संवत पनरइ नवाणवइ अे, आदरि आसो मासि कि,
सांनिधि श्री संघह तणइ अे, नियमन तणइ उल्हासि कि।"

यह रचना जीवदया का महत्व दर्शाने के लिये लिखी गई है। इसमें कवि ने अपनी गुरु परम्परा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"खरतर गच्छि गोयम समवडि, विवेकरतन सूरींद,
तासु सीस साधुहरष गुरु, जसु पय नमइं नरींदं।
तासु सीस श्री राजरतन सूरि जीव दया फल जाणी,
बोलइ आपणम आणंदाइ, अमिय समाणी वाणी।"[1]

इसकी मरुगुर्जर भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव कुछ विशेष लगता है।

राजशील—आप भी खरतरगच्छीय साधुहर्ष के शिष्य थे। आपने सं० १५६३ (जेष्ठ सुदी ७) चित्तौड़ में 'विक्रमखापरचरित्रचौ०' लिखी जिसमें खापरा चोर का प्रसंग वर्णित है। २०५ पद्यों की इस रचना में पराई वस्तु की चोरी न करने का उपदेश दिया गया है—

यथा "इम सांभली पराइ वस्त भवियां नव लीजइ अदत्त,
चोरी पणउ निवारउ दूरी, जिव शिव सम्पद पामउ पूरी।

रचनाकाल और स्थान का उल्लेख इन पंक्तियों में देखिये—

"पनरसइ त्रिसठी सुविचारी, जेठे मासि उज्जल पखि सारी,
चित्रकूट गढ़ तास मझारि, भणता भवियण जय जयकारी।"[2]

गुरु का उल्लेख इन पंक्तियों में किया है—

"साधुहरष गिरुआ गुरुराय, जइवंता महियलि उवझाय,
जाणइ अंग इग्यार बखाण, जिणवरनी सिर पालइ आण।"

आपकी दूसरी रचना अमरसेनवयरसेनचौ० सं० १५९४ में लिखी गई जिसमें दोनों भाइयों के चरित्र के माध्यम से जिनेश्वर की पूजा का सुफल समझाया गया है। अन्त में कवि कहता है—

"इम जिन पूजा फल संभलि, वीतराग जे पूजा वली।
तह घरि नव रिद्धि मंगलच्यार, अहनिसि निश्चै जय जयकार।२६३।

रचनाकाल—"राजसील उवझाय मनरंगि, पूजाजिनफल आणि अंगि,
संवत पनरचउराणवइ, आणंद आणी मन आपणा।"[3]

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६३२

२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६३

३. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५४१

आपकी एक अन्य रचना 'उत्तराध्ययनगीत' का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—

"सरसतिमति अति निरमली, आपउ करीय पसाय,
गाइसु हुं जिन ध्रमतणउ, मूल विनय करी भाउरे।

× × ×

इम गुण विनय तणा सुणेणो, जे नितु करइ अभ्यास,
श्री राजशील उवझाय भणइ, सफल फलइ तीहां आ सार।"

अन्तिम पंक्तियाँ—"इम कह्या जिनवर वीरि समरथ अरथ जिनमत सार,
ते चित्ति धरतां विजय लहीयइ हवइ जय जयकार।[1]

श्री नाहटा ने परम्परा में प्रकाशित अपने लेख राजस्थानी साहित्य का मध्यकाल' में हरिबलचौ० (सं० १५९९) को भी आपकी रचना बताया है किन्तु वह रचना साधुहर्ष के दूसरे शिष्य राजरत्न की है जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है अतः यह राजशील की रचना नहीं हो सकती। श्री नाहटा जी ने यह भी सूचित किया है कि राजशील कवि के अलावा गद्यकार भी थे और सिन्दूरप्रकर पर बालावबोध लिखा है।

आपने उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का संक्षेप सारांश गीतों में लिखा है। इस तरह के ३६ गीत जो ४१६ पद्यों में निबद्ध हैं कवि की काव्य क्षमता और शास्त्रज्ञता के द्योतक हैं। इनके सम्बन्ध में डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि'[2] में पर्याप्त प्रकाश डाला है किन्तु 'हरिबलचौ०' की चर्चा नहीं की है।

लखमण (लक्ष्मण)——१३वीं १४वीं शताब्दी के तीन चार लक्ष्मणों की चर्चा यथास्थान हो चुकी है, प्रस्तुत लक्ष्मण मध्ययुग के प्रथम लक्ष्मण हैं। इन्होंने सं०१५६८ से पूर्व 'शालिभद्रविवाहलु' लिखा। इसके अलावा इन्होंने 'नेमिनाथस्तवन' सं० १५१३ कार्तिक, ८२ कड़ी, 'महावीरचरित' (कल्पसिद्धान्त भाषित) चौ० सं० १५२१ फाल्गुन वदी ७ सोमवार, '२४ जिननमस्कार' (२५ गाथा) आदि रचनायें लिखी। शालिभद्रविवाहलु में कवि अपना नाम लखमण बताता है, यथा—

१. श्री दे० जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५४२ (५३९ सं० ५४२ तक)
२. श्री क० च० कासलीवाल—क० बू० एवं उ० स० पृ० ९

'करजोड़ी लखमण भणइ अेह कलियुग कुडुरे,
कुडु नि रुडं जग रलीयामण अे—
जगगुरु हुं अणजाणतुं, गुण नवि लहुपार रे,
पार निइं सार करउ सेवक तणी अे ।१।'[1]

'नेमिनाथस्तवन' का रचनाकाल बताते हुए कवि कहता है :—

'पनर उगणीसिइ कातिमासि, भणीइ अति लखमण मनि उल्लास,
सुकुल बीजनइं आदीतवार, जइवंता जगि नेमिकुमार ।'[2]

'महावीरचरित' का रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

'पनर एकवीसु संवछर सार, फागुणं वदि सातमि सोमवार,
कयूं तवन मनि धरि आणंद, जगि जयवंता वीर जिणंद ।

इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

'पहिलूं धुरि समरु अरिहंत, आठ कम्मनुं आणइ अन्त,
वाग वाणि धुअ ब्रह्मा तणी, समरूं सरसति हूं साभली ।'

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

श्री महावीर तणूं चरित्र, भणता गुणतां जन्म पवित्र,
अेकमना जे नर सांभले, ते घरि नइचइ अफलां फलइ ।[3]

'२४ जिननमस्कार' का मंगलाचरण इन पंक्तियों से हुआ है :—

'पढम जिनवर पढम पाय प्रणमेवि,
सेत्रुंज-गिरिवर मंडणं नाभिराय-कुलिचंद-स्वामीय ।
सतभाष्या जे परवरू, करइ सेवनसि दवसि धामीय ।
युगलाधर्म निवारिउ, मुगति रमणि उरिहार,
वृषभलंछत ऋषभ जिन, मरुदेवी तणु मल्हार ।'[4]

इसके अन्त में कवि ने लिखा है :—

'अेक मना प्रणम्यु सहु मनि समरु नवकार,
कर जोड़ी लखमण भणि सफलकरूं संसार ।'

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ११६
२. वही भाग ३, पृ० ४६२-४६३ और भाग १, पृ० ११६
३. वही
४. वही

निसि का नसि, दिवस का दवसि, निश्चय का नश्चै जैसे चिन्त्य प्रयोगों को छोड़कर आमतौर पर इसकी भाषा सुबोध और सुन्दर है।

लखमसीह—आपने सं० १५२७ में 'शालिभद्रचौ०' (गा० १०४) लिखा। पता नहीं कि ये 'शालिभद्रविवाहलु' के कर्त्ता लखमण से भिन्न हैं या वही हैं। इसके प्रथम छन्द में कवि ने सरसती वंदना की है :—

'प्रथम विनवउ प्रथम विनवउ देवि सरसति,
कासमीरह मुख मंडणीय, हंस गमणि कर कमलि चंगिय।

कवि ने पाँचवें छंद में अपना नाम लखमसीह बताया है, यथा—

'लखमसीह कवि बोलइ ऐहु, भवियउ निसुणहु कन्नि सुणेहु,
पढत गुणंता नासइ दूरिउ, सालिभद्र बखाणु चरिउ।

इसकी अन्तिम कड़ी इस प्रकार है :—

'महा विदेहि मंणूया ? भवलहि (य) सिद्धि रमणि ते बीरेसइ मही,
सालिभद्दजे चरिउ पठंति, भाव भगति जे नर निसुणंति,
हरषि जाइ जिणहर जे दंति, मुगति रमणि फल ते पावंति।१०४।'[1]

इसकी भाषा पर अपभ्रंश की छाया यत्र-तत्र पड़ी है किन्तु इतनी सघन नहीं कि मरु-गुर्जर का रूप पूर्णतया आवृत हो जाय। इसमें शालिभद्र का प्रसिद्ध चरित्र चौपाई और दोहे छन्दों में सामान्य ढंग से व्यक्त किया गया है, इस चरित्र के श्रवण का फल मुक्ति की प्राप्ति बताया गया है।

ललितकीर्ति—आपका एक गीत ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह में प्रकाशित है जिसका नाम है 'श्री कीर्तिरत्नसूरिगीतम', । इसमें कीर्तिरत्न सूरि का इतिवृत्त दिया गया है। इनके अन्य शिष्यों ने भी इनकी स्तुति में रचनायें की हैं जिनमें से कुछ का वर्णन पहले किया जा चुका है और उनमें कीर्तिरत्नसूरि का वृत्तान्त वर्णित है। भाषा के नमूने के तौर पर इसका प्रथम छन्द उद्धृत किया जा रहा है :—

'अमीय भरं भललोयणे , तुं मुझ हे दीदार,
पाठक ललितकीर्ति कहै दिन प्रति जय जयकार।[2]

इसकी भाषा में उर्दू और खड़ी बोली के प्रयोग द्रष्टव्य हैं, यथा— 'जागती ज्योति अमृत' या 'दे दीदार' आदि। इनके अलावा सामान्यता भाषा सरल मरुगुर्जर है।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १२३

२. ऐ० जै० काव्य संग्रह—'श्री कीर्तिरत्न सूरि गीतम्'

लक्ष्मीरत्न सूरि—इनके सम्बन्ध में १६वीं और १७वीं शताब्दी को लेकर मतभेद के कारण इन्हें १७वीं शताब्दी में रखा जा रहा है। लक्ष्मीरत्न सूरि शिष्य कृत-सुरप्रियकुमाररास (द्रष्टव्य १७वीं शताब्दी)।

लक्ष्मी सागर—आपको सूरिपद सं० १५१८ में प्राप्त हुआ। आपकी प्रसिद्ध रचना 'वस्तुपालतेजपालरास' (५८ गाथा) इसी समय की कृति होगी। यह रचना प्रकाशित है। इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'वीर जिणेसर नमिय पाय, अने गोयम सामी,
सरसती तणे सुपसाउले अे, कहिसिउं सिरिनामी।
वस्तुपाल ते जगि तणो अे, अम्हे बोलिस्युं रासो,
भरह क्षेत्र धुरि गुजरात अणहिल ने वासो।'[1]

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'लक्ष्मीसागर बोलिउं अे मा, गिरुओ अेह जि रास सु०
वस्तुपाल तेजिग तणो अे मा, चरित सुणे नरनारि सु०
तेहने घरि अफलाफले मा, अष्ट सिद्धि पूरि सु०।'[2]

इसमें प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल तेजपाल का चरित्र चित्रित है।

लक्ष्मीसागर सूरि शिष्य—लक्ष्मीसागर के किसी अज्ञात शिष्य ने एक हीयाली गीत (गा० ६) लिखा है जिसकी कुछ पंक्तियाँ भाषा के नमूने के रूप में दी जा रही है :—

'सकल उत्तम नारि छइ बाल कुआंरि,
धवल वर्ण दीसइ सा नारि।
पूछउ तपगच्छ गुरुराय, अर्थ जाणइ लक्ष्मीसागर सूरि राय,
ये हइआली चंग, भणतां उपजइ रंग,
आदर करी लिउ सनईरंगि।'[3]

लक्ष्मीकल्लोल—आपकी लोकप्रिय रचना 'धन्नासज्झाय' का ठीक रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका है किन्तु यह निश्चित है कि आप १६वीं शताब्दी के कवि हैं। इस सज्झाय में प्रयुक्त ढाल की तर्ज बड़ी लोकप्रिय हुई थी। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४७३
२. वही, पृ० ४९६

'इम धन्नो धणनइं परिचावइ, नरभव अथिर दिखावइ रे,
तेहिज सांचा सयण कहावइ, जे जिणधरम सुणावइ रे।

इसके २३वें छन्द में कवि के नाम की छाप इस पंक्ति में है—

'इम जाणी शाणी अे जिनवाणी मनमांहि आणी सद्दहे अे,
तुम्हें भवियण प्राणी नरग समाणी दुरगति खाणी नवि लहो अे।
लक्ष्मीकल्लोलह पंडित इणिपरि बोलइ जे ते आचरो अे,
जिम नरभव पामी परभव पामी परभवि शिवरमणीवरो अे।[1]

इस छन्द में आनुप्रासिकता, लय और छन्द प्रवाह के कारण गेयता का विशेष गुण है। इसकी भाषा बोलचाल की स्वाभाविक मरुगुर्जर है जिसमें शब्दालंकारों पर कवि का विशेष ध्यान दिखाई पड़ता है।

लब्धिसागरसूरि—आपकी दो लघु रचनायें '२४ जिनस्तवन (चौबीसी) सं० १५३८ और 'बीसी' (२० स्तवन) सं० १५५४ प्राप्त हैं। बड़तपगच्छीय लब्धिसागरसूरि के पट्टधर धनरत्नसूरि और सौभाग्यसागरसूरि का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है। इसलिए चौबीसी और बीसी के रचनाकार बड़तपगच्छीय लब्धिसागर ही होंगे जिन्होंने संस्कृत में 'श्रीपालकथा' लिखी है। आप संस्कृत और गुजराती आदि भाषाओं के जानकार मालूम होते हैं। इनके चौबीसी और बीसी की कुछ पंक्तियाँ भाषा शैली के उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही हैं। चौबीसी की पंक्तियाँ देखिये—

इय वीर जिणेसर संघ सहिकर धम्म लखिमी भासणो,
हरि भुत्ति लंबण झलत्ति सासणि नीति सग्ग पयासणो।
नवरस पवित्त तुज्झ धत्त भणइं अणुदिण जे नरो,
सोइ लहि लद्धी जगपसद्धी गुणगंभीरिम सागरो।'[2]

इसके अन्त में लिखा है 'इति श्री महावीरस्य नवरस मयं स्तवन श्रीश्री श्री लब्धिसागरसूरिभि कृतानि चतुर्विंशति जिनानां स्तोत्राणि समाप्तानि। सं० १५३८ वर्षे महासुदि ६ रवौ लषितं।' 'बीसी' की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है:

'धवल मंगल गुण गाइ वाला, रासभास वर तोरण माला,
बाजइ किंत्ति भेरि भंकारा, घरि घरि उच्छव जयजयकारा।

---

१. श्री दे० जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४२
२. वही, पृ० ५२७

इय देव पुरन्दर सत्थिय सुंदर अज्जिय कीरिय परमेसरु अे,
जो पभणइ भावइं सरल सुभाविइं तूसइं तासनि जगगुरु अे।

इसके भी अन्त में लेखन काल दिया है संवत् १५ आषाढ़वदि ५४ वर्षे द्वितीय श्रावण सुदि १ सोमे लिखित शुभं भवतु।'[1]

रचनाकाल बताने की यह समानशैली दोनों रचनाओं के एक ही कर्त्ताका सूचक है। इनकी भाषा भी प्रायः एक जैसी सरल, सुबोध मरुगुर्जर है, यद्यपि बीसी की तुलना में चौबीसी की भाषा अधिक काव्यरूढ़ है।

श्री देसाई ने जै० गु० क० भाग १ में लब्धिसागर कृत 'श्रीपालरास' (सं० १५५७) एवं ध्वजभुजंगकुमार चौ० का उल्लेख किया है।[2] किन्तु भाग ३ में उन्होंने बताया कि श्रीपालरास मरुगुर्जर की रचना नहीं है, और ध्वजभुजंगकुमाररास के लेखक लब्धिसागर १८वीं शताब्दी के हैं। इस विचार से श्री अ० च० नाहटा एवं देसाई दोनों सहमत हैं; अतः लब्धिसागर की उक्त रचनायें यहां विचारणीय नहीं हैं।

लाभमंडन—आप आंचलिकगच्छ के भावसागरसूरि के शिष्य थे। आपने सं०१५८३ (कार्तिक शुद १३ गुरुवार) अहमदाबाद में 'धनसारपंचशालिरास' की रचना की। रचनाकाल की सूचना रास में इस प्रकार बताई गई है :—

'संवत पनरअेह संवत्सर त्रीसीइ रे रुअडउ कार्तिक मास रे,
गुरुवासर दिन तेरसि केरडउ, कीधो अे मनि उल्हासि रे, अरिहंत बे।
इसमें कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का वर्णन किया है, यथा :—
'श्री विधिपक्ष गछ गणधर रुपडारे श्री भावसागरसूरि रे,
नामि नवनिधि हुइ जेहनइ रे, पातिग जाइ सवि दूरि रे।'[3]

श्री भावसागरसूरि अञ्चलगच्छ की विधिपक्ष शाखा के ६१ वें पट्टधर थे। इनका जन्म मारवाड़ के ग्राम नरसाणी निवासी सांगा की पत्नी सिंगार दे की कुक्षि से सं० १५१० में हुआ था। इन्होंने सं० १५२० में दीक्षा ली और सं १५६० में गच्छेश पद पर प्रतिष्ठित हुए। लाभमंडन इनके शिष्य थे, अतः उनका रचनाकाल १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही होगा। इनकी

---

१. श्री अ० च० नाहटा—मरु-गुर्जर जैन कवि पृ० १२८
२. श्री देसाई—जै० गु० क०, भाग १, पृ० १०१
३. वही पृ० १३५

अन्य कोई कृति अबतक उपलब्ध नहीं है। इस रास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :—

'पणमवि वीर जिणंद, स्वामी सिद्धत्थरायकुलचंद,
सेवि सुरनर इंद, जस नामे होइ आणंद।
नाभिकमल जस वासं, थिरवासं, पूरअे आसं,
राजग्रह वरनयरं, राजा नामेण सेणिय सारं।
मन्त्री अभयकुमारं, उत्तम गुणबुद्धि भण्डारं।'[1]

इसमें अनुस्वार के अधिक प्रयोग द्वारा भाषा को संस्कृताभास बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। भाषा मरुगुर्जर ही है।

लावण्यदेव—आप जयदेव के शिष्य थे। आपने 'कर्मविवरणरास' नामक रचना की है। जयदेव तपागच्छीय आ० धनरत्नसूरि की परम्परा में थे। इस परम्परा में धनरत्नसूरि से पूर्व उदयधर्मसूरि और सौभाग्यसागर सूरि नामक दो आचार्य हो गये। इसका प्रारम्भिक छन्द देखिये—

'सकल जिणवर सकल जिणवर भगति प्रणमेवि,
सरसति सामिणि धरीय मनिय गोयम गणधर सामिय।
तास पसाइं हुँ तंबुय चौद गुणठाणिय,
गुरु वयणे सुपसाउले बोलिसु वचन विशाल।
जे सुणतां सुख संपजे टलिइ ति भवभयपास।'[2]

लेखक ने इस रचना में अपनी गुरु परम्परा बताई है। धनरत्नसूरि लब्धिसागरसूरि के पट्टधर थे। अतः यह कवि भी बडतपगच्छीय वृद्ध पोशालिक शाखा में सं० १६०० के आसपास हुआ होगा। इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'दान शील प्रभावे करी, निर्मल चित्त हैया आदरी,
लावण्यदेवइ इणिपरि कहि, भविक लोक ने कारण सही।७४।
जे भणतां मंगल घरि होय, भणतां संपति घरि सोय,
अे भणतां हुइ नविय निधान, अे भणतां णामे कल्याण।७५।'[3]

आपने इस ग्रन्थ रचना का काल इसमें नहीं दिया है किन्तु यह रचना इस शताब्दी के अन्तिम दशक की हो सकती है।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १३५
२. वही पृ० १६३
३. वही १६४-१६५

लावण्यरत्न—आप तपागच्छीय हेमविमलसूरि की परम्परा में सुरहंस के शिष्य थे। आप ने 'मत्स्योदररास', वत्सराज-देवराजरास, यशोधर चरित्र, कलावतीरास और कमलावतीरास की रचना की। यशोधरचरित्र-रास की रचना सं० १५७३ में हुई, यथा–

'विवेकरत्न श्री भणी आदरि, संवत पंनर सय त्रिहुत्तरी,
देवगिरि नगरे काति मासे, यशोधर चरित्र उल्लासि।'[1]

इसमें कवि ने तपागच्छीय आचार्य सोमसुन्दरसूरि, मुनिसुन्दरसूरि, रत्नशेखरसूरि, लक्ष्मीसागरसूरि, सुमतिसाधुसूरि, हेमविमलसूरि और धनदेव का यथाक्रम वर्णन किया है। सुरहंस इन्हीं धनदेव के शिष्य थे। प्रारम्भ में कवि ने भगवान् महावीर और गौतम गणधर की वंदना की है, यथा :—

'देवगिरिमंडन देवतरु वंदी वीरजिणंद,
इंद सवे सेवा करें दिइ जे परमाणंद,
गोयम गणहर गुरुवरसरण सरण करी मनखंति।'
तिहां यशोधर रायना नव भव नवरसबंध,
लावण्यरत्न कवि इम कहे सुणो (अेह) सांबंध।'

वत्सराजदेवराजरास का रचनाकाल सं० १५७१ पौष वदी १ की सूचना कवि ने इस प्रकार दी है—

'कला बहुत्तरि गुण आधारो, पंचमहव्वय सुद्धाचारो, वंदिससो गुरुसारो।
लावण्यरत्न तसुसीस हरसिं, संवतपनर एकोत्तर वरसि, पोसि पड़वे दिवस।
देवगिरि नगरि कीधउ रास, वच्छराज नु' सरस निवास,
भणंति ते सुख लहसइ।'[2]

इसमें भी सोमसुन्दर से सुरसंह तक की गुरु परम्परा गिनाई गई है। प्रारम्भ में गौतम गणधर तथा देवी सरस्वती की वन्दना की गई है, यथा—

'गोयम गणहर विघनहर, मणहर वचन विलास,
जास पसाइं प्रामीइ, ते प्रणमी करुं रास।
बंभसुता हंस गामिणी, सामिणी कवियण माय,
ते सरसति सेवु' सदा, जिम प्रामु' जसवाय।'[3]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० १३०-१३१
२. वही, भाग ३, पृ० ५६८-५६९
३. वही

मत्स्योदर चरित्ररास की रचना सं० १५७४ में हुई। कुछ लोग इसे लावण्यरत्न के गुरु सुरहंस की रचना समझते थे किन्तु श्री देसाई का निश्चित अभिमत है कि इसके कर्ता लावण्यरत्न ही हैं; न कि उनके गुरु सुरहंस। इसकी विभिन्न प्रतियों में पाठान्तर मिलता है। इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'श्री तपा रत्नशेखरसूरि जिणि पडिबोध्या सावक सहस,
संवत पनर चिहुत्तरि बरिसे, देवगिरि नगर कीधउ रास।'[1]

इससे यह पता चलता है कि प्रायः ये सभी रचनायें देवगिरि में रची गई और सं० १५७० के पश्चात् अगले दो तीन वर्षों में ही लिखी गई हैं। इनकी भाषा शैली भी इनके एक ही कर्त्ता का संकेत करती है।

लावण्यसमय—आप तपागच्छीय आचार्य सोमसुन्दरसूरि की परम्परा में समयरत्न के शिष्य थे। आप इस शताब्दी के एक महाकवि हो गये हैं और गुर्जर साहित्य के कतिपय इतिहास ग्रन्थों में १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को लावण्यसमय युग के नाम से भी पुकारा गया है। किसी महापुरुष के नाम पर किसी युग का नामकरण तभी होता है जब उसने किसी ऐसी प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया हो जो तत्कालीन साहित्य की युग-प्रवृत्ति बन गई हो, या उसने उस युग की सभी प्रतिनिधि प्रवृत्तियों और विधाओं में श्रेष्ठ काव्य की रचना की हो, अथवा उसने तत्कालीन साहित्यकारों और साहित्यिक गतिविधियों का नेतृत्व किया हो, या उसने समर्थ साहित्यकारों का एक ऐसा मंडल निर्मित किया हो जो उसके आदर्शों पर साहित्य रचना में संलग्न रहा हो। लावण्यसमय ने उस युग में प्रचलित प्रायः सभी काव्य विधाओं में प्रभूत साहित्य निर्मित कर मरुगुर्जर साहित्य को सम्पन्न किया और अपने गतिशील नेतृत्व द्वारा दूसरे अनेक लोगों को साहित्य सृजन में लगाया। इनके गुरुभाइयों और शिष्यों का एक समूह इन्हें केन्द्र मानकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुआ। अतः इन्हें यदि युग निर्माता[2] कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, लेकिन मरुगुर्जर में केवल गुर्जर साहित्य ही नहीं है उसमें मरुसाहित्य भी है अतः इन्हें मरुगुर्जर का युग निर्माता मानने में कुछ आपत्ति हो सकती है फिर भी ये मरुगुर्जर के निर्विवाद महाकवि हैं। इन्होंने छोटी-बड़ी पचासों रचनायें की हैं जिनमें रास, प्रबन्ध, हमचडी, संवाद, संज्झाय, बेलि, विवाहलु, गीत आदि अनेक काव्य प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। सहजसुन्दर

१. श्री देसाई—जै० गु० क०, भाग १, पृ० १३२
२. श्री देसाई—जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ५२४

कृत आंख-कान संवाद, यौवन-जरा संवाद इनके कर संवाद या रावण-मन्दोदरी संवाद से प्रभावित हो सकते हैं। आपके कृतित्व का विस्तृत परिचय साहित्य संसद की तरफ से स्व० मणिलाल बकोरभाई व्यास ने प्रस्तुत किया है। आपने खूब बिहार एवं भ्रमण करके धर्मोपदेश दिया और जैनधर्म की प्रभावना की।

वंशपरिचय—आपका वंश परिचय 'विमल प्रबन्ध' की प्रशस्ति में देखा जा सकता है। यह विमलमन्त्री पर आधारित प्रसिद्ध ऐतिहासिक रचना है जिसे मणिलाल व्यास ने सम्पादित-प्रकाशित किया है। इसके अनुसार आपके दादा मंग पाटण से आकर अहमदाबाद में बसे थे। इनके तीन पुत्रों में श्रीधर आजादपुर में रहते थे। श्रीधर के चार पुत्र वस्तुपाल, जिनदास, मंगलदास और लघुराज तथा एक पुत्री लीलावती थी। लघुराज ही आगे चलकर लावण्यसमय के नाम से प्रख्यात हुए। आपका जन्म सं० १५२१ में हुआ था। आपने आठ वर्ष की अवस्था में सं० १५२९ में लक्ष्मीसागरसूरि से दीक्षा ली और बड़े मनोयोगपूर्वक शास्त्राभ्यास में लग गये। गुरुकृपा से १६वें वर्ष में ही आपकी सरस्वती जागृत हो गई और तबसे आपने साहित्य सृजन प्रारम्भ कर दिया। आपकी रचनायें संवत् १५८९ तक की लिखी प्राप्त हैं। अतः यह निश्चित है कि आप १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में वर्तमान थे। आपकी प्रमुख रचनायें ये हैं :—सिद्धान्त चौपइ - लुंकावदनचपेटा, स्थूलिभद्रएकवीसा, गौतमपृच्छा चौ०, आलोयण विनती, नेमिनाथ हमचडी, सेरीशापार्श्व स्तव, रावण-मन्दोदरी संवाद, वैराग्यवीनती, सुरप्रियकेवलीरास, विमलप्रबन्ध, करसंवाद, देवराजवच्छराज चौ०, अन्तरीक पार्श्वजिन छंद, खिमर्षिरास, बलिभद्ररास, यशोभद्ररास, सुमन्तिसाधुसूरि विवाहलो, रंगरत्नाकर नेमिनाथ प्रबन्ध, दृढ़प्रहारी सज्झाय, पार्श्वजिन स्त० प्रभाती, चतुर्विंशति जिन स्त०, नवपल्लवपार्श्व स्त०, गर्भवेलि, आदिनाथभास, गोरी सांवली गीत विवाह आदि। 'सिद्धान्त चौ०' की रचना आपने मूर्तिपूजा निषेधक श्री लोकाशाह के मत का खंडन करने के लिए किया था। इसका नाम 'लुंकावदनचपेटा' भी है। कवि ने लिखा है :—

'अे चउपइ रची अभिराम, लुंकटवदनचपेटा नाम।'

इस नाम से कवि का प्रतिपक्ष पर अमर्ष अभिव्यक्त होता है, किन्तु कवि का कथन है कि यह रचना क्रोधपूर्वक नहीं की गई है बल्कि सिद्धान्त पर विचारार्थ लिखी है—

'क्रोधनथी पोषिउ मइ रती, बात कहीछइं सघली छती,
बोलिउ श्री सिद्धान्त विचार, तिहांनिदानु सिउं अधिकार १७४।'
जीव सबे मझ बंधव समा, पडइ वरांसइ धरिज्यो क्षमा।
जे जिम जाणइ ते तिमकरू, पणि जिनधर्म खरुआदरु।'[1]

इसमें लावण्यसमय ने अपनी गुरु परम्परा में सोमसुन्दर से लेकर लक्ष्मी-सागर, सोमंजय, सुमतिसाधु और समयरत्न को सादर स्मरण किया है। इसका रचना काल बताते हुए उन्होंने लिखा है :—

'संवच्छर दह पंच विशाल, त्रिताला वरषे चउसाल,
काती सुदि आठमि शुभ (रवि) वार, रची चउपइ बहुत विचार।'

अन्त में कवि कहता है—

नरनारी अेकमनां थइ, भणइं गुणइ जे अे चउपइ,
मुनि लावण्यसमय इम कहइ, ते मन वांछित लीला लहइ।१८१।

स्थूलिभद्र 'एकवीसो' की रचना 'संवत पंनर त्रिपनइ संवत्सरे, दिवस दीवाली तणउ, अर्थात् सं० १५५३ दीपावली के दिन हुई। इसमें स्थूलिभद्र की स्तुति २१ छन्दों में की गई है। इसके आदि और अन्त की पंक्तियां इस प्रकार है :—

आदि 'आविउ आविउ रे आविउ जलहर चिहुं पषे,
सोहाविउरे मास आसाढ़ सुणउ सखे।
नित समरू रे जेहनु नाम सदा मुषे,
सोइ सामी रे स्थूलिभद्र जो नामइ रखे।'

अन्त 'श्री स्थूलिभद्र मुनीन्द्र राजा चित्ति चोषइ गाइउ,
लावण्यसमय सुरंगि बोलइ अंगि निरमल थाइउ।'२१।[2]

'गौतमपृच्छा चौ०' (सं० १५५४ चैत्र सुदी ११ गुरुवार) यह भीमशी भाणेक द्वारा प्रकाशित रचना है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार है :—

'सकल मनोरथ पूरवइ, चउबीसमु जिणंद,
सोवन वन्न सोहइसदा, पेरव्यउ परमाणंद।'

इसका रचनाकाल 'बुझौवल शैली' में कवि ने इस प्रकार बताया है :—

'अे चउपइ रची चउसाल, कुण संवत नई केहु काल,
वरिस मास कहिस्यूं दिनवार, जोइलेज्यो जाण विचार।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ७०
२. वही, पृ० ७१—७२

पहिलु' तिथिनी संख्या आणि, संवत जाणि इणि अहि नाणि,
वाण बेद जउ वांचउ वाम, जाणु' वर्ष तणु अे नाम,
वासुपूज्य जिणवर वारमू' चैत्रथि को मास जिते नमु',
अजूआली इग्यारिसि सार, तहीइ सुरगुरु गिरुउ वार।'[1]

छन्द वन्ध का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

दूहा चउद अनइ चउपइ, इक जपमाली पूरी हुई।
ऊपर अधिको पाठ बखाणि, ते संख्याना भणियो जाणि।'

आलोयण विनती की रचना सं० १५६२ वामज नगर में हुई, इस संबंध में ये पंक्तियाँ देखिये :—

संवत पनखासिठइं आदिश्वर रे, अलवेसर साष तु,
वामिज मांहिवीनव्यो, सीमंधर रे देवदर्शन दाषि तु।'

कवि प्रारम्भ में सीमंधर देव से अपने पापों के क्षमा की प्रार्थना करता है।

नेमिनाथ हमचड़ी (सं० १५६२) में कवि ने सरस्वती के साथ नेमि और राजुल का स्मरण करता हुआ कहता है :—

'सरस बचन दीओ सरस्वती रे गायस्यु' नेमकुमारो,
सामल वरण सोहामणो, ते राजीमती भरतारो रे हमचडी।'

रचनाकाल 'संवत पनर बासठे रे गायु' नेमिकुमारो,
मुनि लावण्यसमय इमबोलइ, वरतिउ जयजय कारो रे।'

सेरीसा पार्श्वनाथ स्व० भी सं० १५६२ की रचना है। यह सेरीसा में स्थापित पार्श्वनाथ का स्तवन है।

संवत पन्नरवासट्ठि प्रसाद सेरीसातणो,
लावण्यसमे इमि आदि बोले नमो नमो त्रिभुवनधणी।[2]

वैराग्य वीनती (सं० १५६२ आसो शुदी १०) में आदीश्वर से वैराग्य प्राप्ति के निमित्त बिनती की है, यथा—

'जय पढम जिणेसर अति अलवेसर, आदीश्वर त्रिभोवन धणीय,
शेत्रुंज सुखकारण सुणि भवतारण वीनतडी सेवक भणीय।

---

१. श्री दे० जै० गु० क०, भाग १, पृ० ७२
२. वही, पृ० ७४-७५

सुरप्रियकेवलीरास की रचना खंभात नगर में सं० १५६७ में हुई। 'विमलप्रबन्ध' आपकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति है, यह सं० १५६८ में लिखी गई। देश-देश में विहार करते सोरठ से गिरनार होते लावण्यसमय मालसुंद आये और वहीं चातुर्मास किया। यहीं पर पार्श्वनाथ जिनालय के पास आपने संघ के आग्रह पर मंत्री विमल पर आधारित यह प्रबन्ध लिखा। यह रचना प्रकाशित और बहुत प्रसिद्ध है। इसका प्रारम्भ देखिये :—

'आदि जिणवर आदि जिणवर प्रथम प्रणम्योसु,
अंबाइ धुरि अर्बुदा सकल देवि श्रीमान ध्याउं,
पुमावय चक्केसरि वाग्वाणि गुण रंगि गाउं,
सहिगुरु आपसशीरिधरि आलस अलग करेसि,
कहि कवियण हूं विमलमति, विमल प्रबंध रचेसि।[1]

इसमें कवि ने अपना वंश परिचय और इतिवृत्तादि दिया है। रास सम्बन्धी विवरण देखिये—

'संवत पनर अठसठइ, वडु रास विस्तार,
ते प्रंमाणि पुरु चडिउं मालसमुद्र मझारि।'

अन्त में रचना विवरण इस प्रकार है—

'दूहा छंद कवित्त मिली, भाषा विविध वचन्न,
विमलरास अंके अछइ, तेरसया छप्पन्न।
बत्रीसे अक्षरि थिको, बांधइ ग्रन्थहमान,
सत्तरशत लीहि अग्रला, अेह ग्रंथनु न्यान'[2]

इनकी रचनाओं में गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि सभी भाषाओं के मिले-जुले प्रयोग द्रष्टव्य हैं। यह वस्तुतः उन सन्तों की भाषा है जो किसी प्रादेशिक सीमा में बंधे नहीं रहते। 'खिमऋषि, बलिभद्ररास' और 'यशोभद्ररास' की रचना सं० १५८९ अहमदाबाद में हुई। ये तीनों रास 'प्राचीनऐतिहासिकरासंग्रह' भाग २ में प्रकाशित हैं। 'करसंवाद' और 'रावणमंदोदरीसंवाद' संवाद शैली में लिखी रचनायें हैं। रचना का विवरण कवि ने इन पंक्तियों में दिया है :—

'मालव मरहठ सोरठ सार, गूजर देश सविहु सिणगार,
विनय विवेक विचार विशेष, दीसइ धम्मतिणउ बहु देस,

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ७५-७९
२. वही

जिहां पोढां जिणहर पोसाल, वसइ लोक दीपता दयाल
शांतिज (साती) नगर मंडि सुविशाल गायु करसंवाद रसाल।
संवत पनरपंचिहुत्तरइ, मुनि लावण्यसमइ उच्चरइ,
पामी चंद्रप्रभ जिनराय, बेकर संपिइ पूज्जइ पाय।'

किसी-किसी प्रति में 'संवत पनर चमोतरे' भी मिलता है।

अन्तरीक पार्श्व जिनछंद सं० १५८५-८६ वैशाख शु० ३ को लिखी गई। रावण मंदोदरी संवाद में रावण को सीताहरण के अनौचित्य पर मंदोदरी चेतावनी देती है, यथा :—

'सूतेलो सींह जगावीउ, नडीओ वासग नागरे,
सीत हरी तिं स्यु' कयु' इठा राम ना पाग रे।
सांभलि रावण राजीआ, जासे महियल माम रे,
सती सीता तइं कां हरी, विरी वंकडो रामरे। सांभलि।[1]

देवराजवच्छराज चौपाई आनन्दकाव्यमहोदधिमौक्तिक में प्रकाशित है। इसमें देवराज का चरित्र ६ खंडों में चित्रित किया गया है। यह एक सरस काव्य है किन्तु इसका रचना काल कवि ने नहीं दिया है।

'सुमतिसुरिसाधुविवाहलो' ऐतिहासिक रास संग्रह, भाग १ में प्रकाशित है। इसमें सुमतिसूरि का जीवनवृत्त है। इनके पिता जावरनगर वासी श्री गजपति शाह और माता संपूरी देवी थे। इनका जन्म सं० १४९४ में हुआ, रत्नशेखर सूरि से सं० १५११ में दीक्षा ली और सं० १५१८ में इन्हें सूरि पद मिला। सं० १५१८ में सूरि पद का महोत्सव हुआ। उसका इसमें वर्णन किया गया है। रास की भाषा शैली के नमूने के रूप में उस समय की पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं जब नीपराज (सुमतिसूरि) दीक्षा की अनुमति अपनी मां से मांगते हैं, मां समझाती है—

'ऋद्धि रमणि सुख भोगवइ वछ करु वीवाह,
मात भणइ मझमन तणउ वछ पूरि उमाह;
संयम छइ अति दोहिलउ वछ खडगनी धार,
ऊन्हउं आछण पीवऊं भोजन एक बार।
उन्हालइ अति दाझवउ जावउं देस विदेसि,
परघरि भिक्षा मांगवी वछ किम गमेसि।[2]

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ८३
२. ऐतिहासिक रास संग्रह, भाग १ 'सुमतिसूरि साधु विवाहलो'

कुल ८२ पद्यों की यह रचना भाषा और भाव की दृष्टि से संतुलित है।

'रंगरत्नाकरनेमिनाथप्रबन्ध' नेमिनाथ के चरित्र के सरस अंश पर आधारित रस प्रधान रचना है। इसका मङ्गलाचरण कवि ने संस्कृत श्लोक से किया है। इसका रचना काल नहीं दिया गया है। इसके छंदों में भाषा की लय और प्रवाह के कारण गेयता है, यथा

तुझ तनु सोहइ उज्जलकंति, पूनिम ससिहर परि झलकंती,
पय घमधम धुग्घर धमकंती, हंस गमणि चालइ चमकंती।
चालइ चमकंती, जगिजयवंती, वीणा पुस्तक पवर धरइ,
करि कमल कमंडल काने कुंडल रविमंडल परिकंति करइ।[1]

'दृढ़प्रहारीसंझाय', श्रावकविधिसंझाय, दान की संझाय और कई अन्य संझाय आपने लिखे हैं जैसे पंचतीर्थसंज्झाय, पंचविषयसंज्झाय, आठमदनीसंज्झाय, सातवारनीसंज्झाय इत्यादि। आपके लिखे स्तवनों की संख्या भी काफी है जैसे पार्श्वजिनस्तवनप्रभाती, चतुर्विंशतिजिनस्तवन आदि बड़ी लोकप्रिय और मधुर रचनायें हैं। चतुर्विंशतिजिनस्तवन मालिनी छन्द में है इसका एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

'कनकतिलक भाले हार हीइं निहाले,
ऋषभ पयपखाले पापना पंक टाले।
अर जिनवर भाले फूट रे फूल माले,
नरभव अजुआले रागनिइं रोस टाले।[2]

नवपल्लवपार्श्वनाथस्तवन एक ऐतिहासिक स्तवन है। इसमें ३५ पद्य हैं, इसकी रचना सं० १५५८ में हुई है। इसमें नवपल्लव पार्श्वनाथ की तीर्थ यात्रा का मनोहर वर्णन किया गया है।

'गर्भवेलि' और 'गोरीसांवलीगीत' लोकगीत के काव्य रूप हैं। सन्त तुलसी ने जैसे कहा है—

धर्म न अर्थ न काम रुचि, गति न चहौं निर्वाण।
जन्म जन्म रतिराम पद, यह वरदान न आन॥

उनसे काफी पहले कविलावण्यसमय 'गर्भवेलि' के अन्त में कहते हैं :—

'ऋद्धि वृद्धि राणिम घणी, भूम अरथ भण्डार,
नविमांगू मुगतामणी, गढ़मढ गजतोखार,

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ८६
२. वही, पृ० ८८

मुनि लावण्यसमय भणइ, कहूं जि बेकर जोडि,
कवि सुप्रसन्न होज्यो सदा सीमधंर धर्म थकी मुजजोडि।[1]

'गोरीसांवलीगीत' विवाह के अवसर पर गाया जाने वाला लोकगीत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लावण्यसमय ने सत्काव्य की ही केवल बड़ी मात्रा में सर्जना नहीं की बल्कि लोककाव्य भी पर्याप्त लिखा और हर प्रकार की काव्यविधा में प्रभूत साहित्य सृजन करके मरु-गुर्जर का भण्डार भरा।

इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव निस्संदेह अधिक है। इसीलिए श्री देसाई ने उन्हें गुजराती का ही कवि घोषित किया है परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये मरु-गुर्जर के महाकवि हैं। ऊपर दिए गये उद्धरणों से विज्ञ पाठक स्वयं इसका अनुमान कर सकते हैं।

लावण्यसिंह—आप खरतरगच्छीय उदयपद्म के शिष्य थे। आपने संभवतः सं० १५५८ में 'ढंढणकुमाररास' (५६ कड़ी) की रचना की। इस रास की अन्तिम चार पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

'खरतर गछि गुरु गुणनिलउ, उदयपद्म वणारीस,
वाचक लावण्यसिंह कहि, आदि नमंतु सीस।
मन्दिरि गिरिवर सागरु, शेष मणधर जाम,
रवि शशि मंडन जां तपि, ढंढण चरित्र गुणग्राम।५६।[2]

इसमें ढंढणकुमार के चरित्र का गुणानुवाद किया गया है। रचना अति सामान्य कोटि की है।

लीधो—आप १६ वीं शती के अन्तिम चरणके महत्त्वपूर्ण कवि हैं। १७ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि ऋषभदेव ने आपका श्रेष्ठ कवियों के साथ सादर स्मरण किया है। आपकी रचनायें 'पार्श्वनाथनाम्नासंवेगरस' चंद्राउला, देवपूजागीत (१५ दोहा), चौबीसजिननमस्कार (२५ कड़ी), बीसविहरमानजिनगीत (२१ गीत) आदि उल्लेखनीय हैं। 'चन्द्राउला' की भाषा-शैली का नमूना लीजिये—

'सकल सुरिंद नमि सदारे पास जिणेसर देवो,
मानव भव पामी करी रे, अहनिसि कीजि सेवो।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५१४

२. वही, पृ० ५२९

अहनिसि सेवा करीजइ जिनवर, तो निश्चय पामीजइ शिवपुर,
तुम्ह मुष जोंता हरष न भाउ, सकल सुरिंद सदा गुण गाउं।
अन्त : स्वामी ध्याउं श्री जिनचन्द, ध्यान धरंतां परमानन्द,
जेछइ सास्वत सुखअनन्त, लीधानइआपो भगवंत।[1]

'देवपूजागीत' की प्रथम पंक्ति में कवि जिनवर पूजन का विवरण देता हुआ कहता है—

'केवल भाषित सूत्र मझारि, जिनवर पूजा बहु विस्तारि।'

अन्त में पुनः कहता है—

'विस्तारि बहु जिनवर पूजा, ज्ञाताधर्मकथांग,
कर जोड़ी प्रणमत सेवक लीधउं सुगति आपु स्वामीउ।'

लीधा अपने को भगत कहते हैं और उनकी रचनाओं में तत्कालीन भक्ति काव्य का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने जो साहित्य लिखा है वह भगवंत की पूजा, विनती, नमस्कार अर्थात् भक्ति सम्बन्धी ही है। वीसविहरमानजिनगीत की निम्नांकित पंक्तियां इस सन्दर्भ में अवलोकनीय हैं—

'सामि सीमंधर पमुह जिणंद, वीसइ अे जगगुरु गाइइअे,
भगत लीधउं भणइ धरीअ आणंद, शास्वतां सुख जिम पाइइअे।'

लीधो एक भक्त एवं सरल हृदय सुकवि थे। भक्ति भाव आपके काव्य में मुख्य रूप से मिलता है।

वच्छ-वाछो—आप बडतपगच्छीय ज्ञानसागरसूरि के श्रावक भक्त थे। थोड़े से जिन श्रावकों ने साहित्य निर्माण में योग दिया है उनमें वच्छ या वाछो का स्थान महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इनके सम्बन्ध में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है। इनकी रचना 'मृगांकलेखाचरित्र' (सं० १५२३) जैन साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५४४ की प्राप्त है। इसका रचना काल मूलपाठ में इस प्रकार बताया गया है—

पनर त्रेवीस फागुण सुदि बहु बुद्धि तणु निवास,
रवि पक्ष अनइ तिथि तेरसि, ते रचिउं स्तुति प्रकाश।

इस चरित्र में सती मृगांकलेखा का पवित्र चरित्र चित्रित है। कवि ने रास के अन्त में अन्य सती नारियों जैसी सीता, सुलसा, चंदनबाला और

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १६२-१६३ और भाग ३ पृ० ६१९-६२०

सुभद्रा आदि के समकक्ष इसके चरित्र को पवित्र बताया है। इस रास की भाषा शैली के उदाहरणार्थ इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां दी जा रही हैं—

'गोयम गणहर पयनमेवी, बहु बुद्धि लहेसु,
मृगांकलेखा सतीय चरित्र, मनि सुद्धि कहेसु।
सीलइ सरोमणी गुणि निलुअे, मनि मांन न आणंइ,
मनसा वाचा काय करी, ते सील बषाणइ।[1]

इस रास में रचना काल लिखने के पूर्व वाछो कवि ने 'जीवभवस्थिति रास' का नामोल्लेख किया है, यथा—

'तास वयण सुणिआं मन सुद्धि, लीणइं बुद्धि हुइ प्रकाश,
कीउ उपगार तणी मति, जीवभवस्थिति रास।२८।[2]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि यह सूचना केवल 'जीवभवस्थितिरास' के सम्बन्ध में है किन्तु श्री देसाई जी का अनुमान है कि उक्त रचना तिथि दोनों कृतियों के सम्बन्ध में है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो दोनों रचनायें सं० १५२३ में लिखी गई, अन्यथा यही कहा जा सकता है कि मृगांकलेखा-चरित्र सं० १५४४ से पूर्व और जीवभवस्थितिरास सं० १५२३ में लिखी गई। इसका पूरा नाम 'जीवभवस्थिति-सिद्धान्तसार-प्रवचनसाररास' दिया है। श्री देसाई ने पहले तो इसे ज्ञानसागरसूरि शिष्यकृत कहा किन्तु जै० गु० क० भाग ३ में उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से ज्ञानसागर के शिष्य वाछो की रचना स्वीकार किया है।[3] जीवभवस्थितिसार की ईडरबाइयों के भंडार से प्राप्त प्रति के अन्त में रचनाकाल सं० १५२० बताया गया है'—

पनर से बीसा, फागुण सिद्धि तणउ निवास,
रवि पक्ष अने तिथि तरेसि ते रच्यउ पुन्यप्रकाश।'[4]

इसमें कवि ने अपने को बडतपगच्छीय ज्ञानसागरसूरि का शिष्य बताया है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है—

'सिरि रिसहेसर पयनमी, संतिकरण श्री शांति,
पूजिसु पास कपूरसिउं, पूरसिउं मन तणी खंति।'[5]

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६७
२. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ६४
३. वही भाग ३ पृ० ४९८
४. वही भाग १ पृ० ५६
५. वही भाग ३ पृ० ४८२

इसमें नाना प्रकार के राग, छंद और देशी लयों का प्रयोग किया गया है। इनकी तीसरी रचना 'चिहुंगतिवेलि' है, जिसके आदि और अन्त की पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

आदि— आदि देव अरिहंत तूं, आदीश्वर अवधारि,
चउ गइ पारन पामी अे, भवसागर भयवारि।
कुगुरु कुदेव कुधर्म हूअं, रल्यु अनंताकाल,
तू आविहुड मइं पामीउ, जयगुरु देवदयाल।'

अन्त— 'त्रणि काल जिनपूजा कीजइ, सुगुरु कहीजइ आण।
भवीअण श्री जिनधर्म कहतां, पामीसइ कल्याण।
चिहुंगतिनी अे वेलि, विचारी जे पालइ जिन आण,
तेहनाचरण-कमलनइ पसाइ, हूं वाछूं गुणठाण।१४२।'[1]

इनकी मरुगुर्जर भाषा पर गुजराती का प्रभाव पर्याप्त है।

वच्छभण्डारी—ये भी श्रावक कवि हैं और देपाल के समकालीन हैं। श्री देसाइ का अनुमान है कि वाछो और वच्छभंडारी एक ही व्यक्ति हैं। वच्छभडारीकृत 'नवपल्लवपार्श्वनाथकलश' प्रकाशित रचना है। यह मंगरोल में लिखी गई किन्तु इसका रचना काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। यह देपाल कवि के स्नात्रपूजासंग्रह के साथ प्रकाशित है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

श्री सौराष्ट्र देशमध्ये श्री मङ्गलपुरमंडणो, दुरितविहडंणो,
अनाथनाथ असरण सरण त्रिभुवन जनमन रंजनो।
२३ मो तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ तेह तणो कलश कहीशुं

ढाल 'हा रे वाणारसी नयरी वसेथ अनुपम उपम अवदाधार,
तिहां वापी सरोवर नदीयकूप जल वनस्पति भार अढार,
तिहां गढ़ मढ़मंदिर दिस अभिनव, सुन्दर पोलि प्राकार,
कोसीसा पाखल फिरति खाइ, कोटे विसमां घाट'[2]

भिन्न-भिन्न प्रतियो में इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप में मिलती हैं। इसके अन्तिम पंक्तियों का एक पाठ आगे दिया जा रहा है :—

'इम भणे वच्छभंडारी निजदिन अम मन अे अरिहंत,
अहेवा नीलवरण नवरंग जिनेसर, जयो जयो जयवंत।'

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ५००
२. वही भाग १, पृ० ६६

इसकी भाषा शैली भी वाछो की भाषा शैली के मेल में है। यदि ये दोनों कवि एक ही व्यक्ति हों तो वाछो या वच्छभंडारी की चार कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर वे मरुगुर्जर के एक श्रेष्ठ कवि प्रमाणित होते हैं।

वरसिंह-वीरसिंह—आपने सं० १५६९ से पूर्व 'ऊषाहरण' नामक काव्य लिखा। इसे श्री भोगीलाल सांडेसरा ने सम्पादित करके फार्बस गुजराती सभा के मुखपत्र (सन् १९३६ से ३८ तक के अंक) में प्रकाशित किया है। वरसिंह संभवतः जैनतेर लेखक थे, किन्तु ऊषाहरण की प्रतिलिपि के लेखक रत्नमेरु जैन थे और इसकी प्रति जैन-भंडारों में सुरक्षित हैं तथा इसकी भाषा मरु-गुर्जर है। अतः इसे मरुगुर्जर साहित्य के अन्तर्गत लिया जाना समीचीन है। इसमें विष्णु के अवतार श्री कृष्ण के वंशज अनिरुद्ध और वाणासुर की कन्या ऊषा के विवाह की रोचक कथा का वर्णन किया गया है। इसके प्रारम्भ में कवि ने माँ सरस्वती की वंदना की है और इसके श्रवण का फल संचित पापों का नाश बताया है। इससे संबन्धित पंक्तियाँ देखिये :—

'प्रणमसि सारद वरद विसेसि, वाणी विमल दिउमुझरेशि,
निघटस नवरस कथा संमध, प्राकृतपइं चुपै पिंड बंध।१।
शामा श्रोणितपुरीयमंझारि, रा वाणासुर तणीय कुमारि,
चिंतित वरवंछि मनमांहि, रचिस कवित हूँ तीणइ ठाहि
उषा हरार्ण सणि फल अेह, श्रवणि हृदयलि नवरस मेह,
संचित पाप अंगना जाइ, नीयडाज्वर अेकवीस न थाइ।[1]

इसमें मुख्यरूप से चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है, इसके अलावा अन्य कई छंदों और रागरागिनियों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। घुल सन्यासी राग में बद्ध एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

'बुहारीय छंडीय बाट, बाँधीयि परीयट पाट,
मंडपि उभोय शणगारीवि हाट, अबला शरि उढ़या घाट।
आठमिइं अवतारि, कंसमाला षाडिमारि,
बलितणु वाणासर मनावय हारि।
यादवबिंश वधारि, सोल सहस्र नारि,
वरसिंग भणइ द्वापर युग मंझारि।५०२।[2]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि–भाग ३, खण्ड २ पृ० २१२१
२. वही

वासण—आप तपागच्छीय आचार्य विजयदानसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५९७ में 'आनन्दविमलसूरिरास' की रचना की। यह ऐ० रा० सं० में प्रकाशित है। इसमें आनन्दविमलसूरि का चरित्र चित्रित है, सारांश नीचे देखिये। इसका प्रारम्भिक छंद इस प्रकार है :—

'सकल पदारथ पामीइ, जपंता श्रीजिननाम।
प्रथम तिथेसर ध्याइइ ऋषभजीकरु प्रमाण।[1]

इसके अन्त की पंक्तियों में पाठान्तर मिलता है, यथा :—

'श्री आनन्दविमलसूरिसरु तस पटोधरपवित्त,
ते श्रीविजयदानसूरि गुणनिलु, वासण प्रणमि, अे आणी नरमलचित्त।'[2]

दूसरी प्रति में इसका रचनाकाल 'साधुगुणरत्नमालरास' के नाम से बताया गया है—

संवत पनर सताणुइ, आसो आक्षूर आलोमास
साधनाम गुणरत्नमाल अे रास,
रचता अे मननइं, अति उलास उल्लास।

× × ×

जइवंता अजमान वरु श्रीविजयदान सूरींद,
भटारक राजविजय सूरि कहे वासणप्रण आणंद।१६०।[3]

आपकी दूसरी रचना 'आदिनाथरत्त' २१ कड़ी की लघु कृति है। इस पर संस्कृत में टीका की गई है। इस छोटी सी मरुगुर्जर की रचना के लिए संस्कृत में टीका गौरव की बात है। इसकी दो प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये—

पहिलू पणमिय देव परमेसर सेत्रुंज धणिय,
पय पंकज रम सेव, रंगिहि वि वसु तसु तणीय।

इसकी अन्तिम पंक्तियों में कवि का नाम इस प्रकार आया है :—

'सेवय सभासुर थुणिय भासुरगुरु वभासुर गंजणो,
मह सुविहि वासण देउ सासण विजयतिलउ निरंजणो।'[4]

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १६८
२. ऐतिहासिक रास संग्रह—आनन्दविमलसूरि रास, पृ० ८५-८६
३. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १६८
४. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६२४

यह काव्य विधा की नवीनता, भाषा की सुन्दरता और विषय प्रतिपादन की गम्भीरता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

आनन्दविमलसूरिरास (प्रका०—ऐतिहासिक रास संग्रह) से सूरिजी के संबंध में निम्नांकित महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। आनन्दविमलसूरि हेम विमलसूरि के पट्टधर थे। इनके पिता का नाम मेघजीशाह और माता का नाम मणिक्य दे था। आपका परिवार ईडर नगर में रहता था। ये लोग ओसवाल वणिक थे। आपके बचपन का नाम बाघजी था। आपका जन्म सं० १५४७ में हुआ। आपकी दीक्षा हेमविमलसूरि द्वारा सं० १५५२ में तथा सूरि पद सं० १५७० में सम्पन्न हुआ। आपने खूब विहार किया; यात्राओं का नेतृत्व किया और अपने प्रवचनों द्वारा जैनधर्म की प्रभावना की। सं० १५९७ में आपका स्वर्गवास हुआ। यह रास उसी वर्ष लिखा गया। इसमें कुछ १५३ छन्द हैं।

विजयसिंह—कवि विजयसिंह ने सं० १५०५ में 'अजियपुराण' (अजित पुराण) नामक काव्य की रचना की। इसमें दूसरे तीर्थङ्कर अजितनाथ का चरित्र चित्रित है। कवि ने इसे महापुराण बताया है किन्तु वस्तुतः यह एक चरित काव्य है।[1] इसकी भाषा अपभ्रंश गर्भित है अतः इसे मरुगुर्जर की रचना मानने में कठिनाई है। इसलिए इसके विस्तृत विवरण और उद्धरण आदि नहीं दिए जा रहे हैं।

भट्टारक विजय कीर्ति—आपने स्वयं मरुगुर्जर में रचना नहीं की किन्तु आपने साहित्य सृजन की प्रेरणा देकर साहित्य को सुरक्षित रखने की सुव्यवस्था करके और स्वयम् साहित्य का आलम्बन बनकर परोक्षरूप से साहित्य की स्मरणीय सेवा की है। शुभचन्द्र, यशोधर, ब्रह्म बूचराज जैसे समर्थ कवियों ने आपकी प्रशस्ति की और आपकी स्तुति में कवितायें लिखीं जैसे भ० शुभचन्द्र कृत 'श्रीविजयकीर्ति छन्द', ब्र० बूचराज कृत गीत आदि। कामराज, देवेन्द्रकीर्ति, लक्ष्मीचन्द, यशोधर आदि ने अपनी कृतियों में इनकी प्रशस्ति की है।

विजयगणि—श्री देसाई ने सं० १५९२ में रचित 'आराधनारास' का कर्त्ता इन्हें बताया था, किन्तु जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ६२१ में उसे अशुद्ध बताकर लिखा कि वस्तुतः यह रचना पार्श्वचन्द्रसूरिकृत है। अतः इस रचना

---

१. हि० सा० का बृ० इ०—भाग ३, पृ० २६६

पर पार्श्वचन्द्रसूरि के साथ ही विचार उचित है। आराधनामोटी, आराधनानानी, आराधनासंक्षेप नामक कई आराधना संज्ञक रचनाओं का संक्षिप्त परिचय पार्श्वचन्द्रसूरि के साथ पहले दिया जा चुका है।

विजयदेवसूरि—आप पुण्यरत्न के शिष्य थे। आपके पिता चाहडशाह जोधपुर के समीपवर्ती अरुणनगर निवासी ओसवाल वैश्य थे। आपकी माता का नाम चांपल देवी था। आपका जन्म का नाम वरदराज था। आपने बाल्यावस्था में ही पार्श्वचन्द्र से दीक्षा ली और विद्याभ्यास हेतु ब्रह्मऋषि के साथ दक्षिण देश चले गये। इन्होंने विजयनगर की राजसभा में दिगम्बर पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और महाराजा विजयनगर द्वारा ही इन्हें 'सूरि' पद प्रदान किया गया। बाद में ये जोधपुर आये और पार्श्वचन्द्र ने इन्हें विधिवत् सूरि पद प्रदान किया। खंभात में जाकर ये रोगग्रस्त हुए और ब्रह्मऋषि को विनयदेवसूरि के नाम से सूरि पद प्रदान कर स्वर्गारोहण किया।

रचनायें—आपने 'शीलरास' (शीलप्रकाशरास) की रचना जालौर में की। इस रास में नेमिनाथजी की प्रशस्ति है। अतः इसे नेमिनाथरास या शीलरक्षाप्रकाशकरास आदि कई नामों से अभिहित किया गया है। इस का प्रारम्भिक पद्य निम्नांकित है—

पहिलउं प्रणाम करउं जिनराय, लागु जी गोतम गणधर पायं,
सद्‌गुरु वाणी वली सांभलउ, भूलउ जी अक्षर आणिज्यो ठाइं।
रास भणिसु रलियामणउ, जे सुण्या सील हियइ थिर थाइं
कोकिला जिम कलिरवि करइ, मास वसंत जिम अंब पसाइं कि,
कंइशील अखंडितसेवज्यो।'१।[1]

इसमें शील के महत्त्व की चर्चा करता हुआ कवि कहता है—

'सिगली नारी न चंचल होई, पुरुष सवे भला मत कहा कोई,
सही सरखी नही अंगुली, चउ वरणे गुण सारिखा संती।
पुरुषह के पर स्त्री रमइ हसी हसी परि घरि पाय ठवंती।
पगतली मरण न पेखइ हाथ दीवीलयइ कूप पडंती।'[2]

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १४८-१५० और भाग ३ पृ० ५९६

२. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा, पृ० ६६

यह रास छोटा होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। श्री नाहटा ने इनके प्रगुरु का नाम पुजराज लिखा है। श्री भगवानदास तिवारी ने इसका रचनाकाल सं० १५७६ बताया है। रचनाकार ने रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है। इसकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव अधिक है। उदाहरणार्थ इसके अन्त की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

'हिवइ श्रीपूज्य पासचंद तणउ सुपसाउं, सीस धरइ निजनिरमल भाउ।
नयर जालोरह जगतउ हिवि, नेमि नमउ नितु बे करजोडि ॥

× × ×

स्वामी दुरित नइ कष्ट हरउ दूरि, वेगि मनोरथ महारा पूरि,
आणस्यउं संजम आपियो हिवइ, वीनवइ इमि श्रीविजयदेवसूरि।'[1]

इसमें नेमिनाथ के आदर्श चरित्र द्वारा शील का उच्चादर्श इंगित किया गया है। इसका विषय लोकप्रिय है और रचना सरस ढंग से सरल मरुगुर्जर भाषा में प्रस्तुत की गई है। अतः यह इतनी लोकप्रिय और बहुप्रचारित रही है कि इसकी पचासों प्रतियाँ विभिन्न भांडारों में प्राप्त हैं। ८० पद्यों का यह रास प्रकाशित है।

आपकी एक लघुकृति 'उपदेशगीत' (१९ कड़ी) प्राप्त है। इसकी प्रारम्भिक पंक्ति इस प्रकार है :—

'सुरतरुनीपरि दोहिलउरे, लाधउ नरभव सार।'

अंतिम पंक्ति देखिये :

'खिमा सहित तुह्मो तप करउ, इमि बोलइ रे विजयदेवसूरि।'

विद्याभूषण—आप भट्टारक विश्वसेन के शिष्य थे। आप सं० १६०० से पूर्व ही भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। आप संस्कृत और मरुगुर्जर भाषा के अच्छे विद्वान् एवं सुलेखक थे। मरुगुर्जर मे आपने लक्ष्मणचौबीसी पद, द्वादशानुप्रेक्षा और भविष्यदत्तरास की रचना की है। संस्कृत में आपने बारहसैचौतीसोविधान लिखा है। इनकी मरुगुर्जर की रचनाओं में 'भविष्यदत्तरास' विशेष उल्लेखनीय है। इसमें भविष्यदत्त के रोमांचक जीवन का आदर्शरूप चित्रित है। इससे पूर्व इस चरित्र पर आधारित संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक रचनायें हो चुकी हैं इससे पता लगता है कि यह चरित्र जैन जगत में बड़ा लोकप्रिय रहा है। यह कृति सोजंत्रा नगर स्थित सुपार्श्वनाथ के मंदिर में सं० १६०० श्रावण सुदी पंचमी को पूर्ण हुई।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १४९

इसकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव अधिक है। इसमें दूहा, चउपइ, वस्तु-बंध एवं विभिन्न ढालों का प्रयोग किया गया है। कवि ने इसमें अपनी गुरु परम्परा बताते हुए काष्ठासंघ, नंदीतट गच्छ के आ० रामसेन से लेकर विमलसेन, विश्वसेन तक की वंदना की है। रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है—

संवत सोलसि श्रावण मास, सुकुलपंचमीदिन उल्हास,
कहि विद्याभूषण सूरीसार, रास ए नन्दु कोड वरीस।[1]

इस रचना का विषय लोकप्रिय है किन्तु विषय स्थापना के लिए तदनुरूप भाषा और काव्यशैली के अभाव में यह एक सामान्य रचना ही बन सकी है।

विद्याधर—आपकी एक ही रचना 'बारभावना' का पता चला है। इसमें कवि ने जैनधर्म के अनुसार आचरणीय बारह भावनाओं का वर्णन किया है। प्रारम्भिक छन्द में प्रथम भावना का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है :—

'पहिलीय भावना भावयो अे, अेह अनंतता सहूइ जाणयो अे,
गढ़ मढ़ मंदिर भवन गेह, यह आज भला न रहिं काल तेह।'

कवि कहता है कि संसार के क्षणभंगुरता की भावना करके मनुष्य को धर्म में चित्त लगाना चाहिये। अन्त में कवि कहता है:—

'सुरनर अपछरा इंद्रजेह, सवि आप पहूतइ न रहइ तेह,
नरय तर्यंच मानवीय माहि, क्षणि उपजइं नई वली वलीय जाइ।
भणइ विद्याधर भावयो अेह भावना बार,
भवियणं भगतिइ सांभलु, तु करइ सफलसंसार।[2]

यह शुद्ध धार्मिक रचना है इसमें संसार की असारता की तरफ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने की कवि ने चेष्टा की है।

विद्यारत्न—आप तपगच्छीय आचार्य हेमविमल सूरि की परम्परा में लावण्यरत्न के शिष्य थे। आपने १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में 'मृगापुत्ररास' की रचना की। सं० १६११ की लिखित इसकी प्रति प्राप्त है। इसमें रचना काल नहीं है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ आगे उद्धृत हैं :—

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत, पृ० २०९-२१०

२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि—भाग ३, पृ० ६४१

'तित्थेसर ग्रेवीसमु त्रिभुन तारण तात,
पणमंता पातक टलइ, समर्या हुइं सुखसात ।
भोग सुखि भंमेरिया, भवी भवइं भवकोडि,
थाइ वैरागी वेगला, विषइ विषडी खोडि ।[1]

इसके अन्त में गुरुपरम्परा दी गई है। इसकी अन्तिम चौपाई इस प्रकार है :—

'तस पय कमलि रमलि अलि समु', श्री लावण्यरत्न सुविहाणइ नमु,
ते गुरु सीस आणंदि घणंइ, विद्यारत्न इणिपरि भणइ ।१२३।'[2]

श्री विद्यारत्न की दूसरी कृति 'मंगलकलशरास' ३२९ पद्यों की है। यह सं० १५७३ में लिखी गई। इसमें पाठकों की चित्तवृत्ति को पाप से हटा कर पुण्य की तरफ प्रेरित करने का प्रयास किया गया है। रचनाकाल इसमें दिया है :—

'तस पयकमल विमल चित्त धरी, विद्यारत्न कहे इणि परि,
संवत पनरस्य तहोत्तरि रिष, मागसिर वदि नवमि मणि हरिष ।'[3]
पुण्य ऊपरि ए कीयो प्रबंध, पाप तणा टालिउं समंध,
भणंता गुणंता सुणंता सार, ऋद्धि वृद्धि मंगल जयकार ।

भाषा के उदाहरण स्वरूप इसका प्रारम्भिक छंद प्रस्तुत है :—

'श्री श्री राउलि जिन जपु', जगजीवनदेव,
समर्यां काजसवे सरै, करइं सुरासुर सेव,
भारति आरति सह हरै, चितवतिमति अति (अन्त),
जे दरिस देखइं डरी, दुरमति जाय दिगंत ।'
जीव अनते अनन्त सुख लाधा धर्म प्रमाण ।
मंगलकलश प्रतिफलिउ सुनसे तास वषांण ।'

यह संतुलित एवं स्वाभाविक मरुगुर्जर भाषा की कृति है जिसमें मरु एवं गुर्जर के शब्द-प्रयोग समन्वित हैं।

विनयचंद (२)—आप तपागच्छीय रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१६ में जम्बूस्वामीरास' लिखा। इसका रचनाकाल कवि ने स्वयम् इस प्रकार बताया है :—

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६३९
२. वही
३. श्री अ० च० नाहटा—म० जै० गु० क०—पृ० १४३-१४४

'संवत पनर सोलोतरइ मा० बीजउ श्रावण मास सु०
शिवतिथि हूंती ऊजली अे मा० सोमवार हूउ रास ।

इसकी अन्तिम कड़ी इस प्रकार है—

'चंद सूरिज जा ऊगमइ अे (मालंत) मेरु गिरि ध्रूयतार, सु०
तां लगइ हरषिइ गाइअे मा०, स्वामी जंबू कुमार।
सुणि सुन्दरे स्वामी जंबू कुमार।११२।[1]

१४वीं शताब्दी से १६वीं शती तक विनयचन्द नामक तीन विद्वान्-लेखक हो गये हैं लेकिन मरुगुर्जर साहित्य के ये दूसरे विनयचन्द हैं। प्रथम विनयचन्द भी रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे, ये भी रत्नसिंहसूरि के शिष्य हैं किन्तु प्रथम विनयचन्द १४वीं शताब्ती में हो गये जिनका विवरण यथा स्थान दिया जा चुका है। एक भट्टारक विनयचन्द थे जिन्होंने चूनड़ी और 'कल्याणकरास' लिखा। प्रस्तुत विनयचन्द तपागच्छीय रत्नसिंहसूरि के शिष्य और १६वीं शताब्दी के साहित्यकार एवं जैनाचार्य हैं।

विनयचूलागणिनी—आपको श्री अ० च० नाहटा ने 'हेमरत्नफागु' का रचयिता बताया है।[2] किन्तु यह काव्य विनयचूला के आग्रह या आदेश पर लिखा गया प्रतीत होता है न कि स्वयं उनके द्वारा प्रणीत। इसके २१वें छन्द में विनयचूला का नाम है किन्तु पंक्ति त्रुटित होने के कारण यह स्पष्ट नहीं है कि वे इसकी लेखिका हैं, यथा—

'विनयमेरु अनुकूला, चूला गरिम निवास,
...मम...लहर ..मणहर देसण भास।२१।'[3]

यह रचना 'प्राचीनफागुसंग्रह' में प्रकाशित है। इसमें वस्तुतः फागु का कोई लक्षण नहीं मिलता। कृति के अन्त में लिखा है—इतिश्री हेमरत्न सूरि गुरु फागु विद्वषी विनयचूला गणि निवंधेन कृतम्।' इससे लगता है कि यह रचना हेमरत्नसूरि के किसी शिष्य की है। हेमरत्न का समय १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध बताया गया है अतः यह रचना भी उसी समय की होगी। इस फागु में हेमरत्न की प्रशस्ति है। तमाम नरनारी उनकी वंदना करते हैं और वसंत ऋतु में नृत्यगान करते हैं। बस इसी अर्थ में इसे फागु नाम दिया गया होगा। इस फागु के अनुसार हेमरत्न सूरि का जन्म खेतसी वंशीय भीमग के

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ५२ और भाग ३ पृ० ४७२-४७३
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० १२०
३. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ७७-७८ 'हेमरत्नसूरिफागु'

घर हुआ। अमरसिंहसूरि के उपदेश से इन्होंने संयम धारण किया। इसका प्रारम्भि पद्य इस प्रकार है :—

'अहे जुहारिस जगत्रय अधिपति, मुनिपति सुमति जिणंद,
अहे गायसु रंगि घनागम, आगम गच्छ मुणिंद।
श्री हेमरत्न सूरि भगतिहिं, विगतिहिं गुण वर्णवेसु,
गुरु पद पंकज सेविय, जीविय सफल करेसु।'[1]

अन्तिम छन्द देखिये—

'इणिपरि सुहगुरु सेवउ, केवउ नहीं भववासि,
दुर्लभ नरभव लाधउ, साधउ सिद्धि उल्हास।२२।'

रचना काव्यत्व की दृष्टि से सामान्य कोटि की है।

विनयभाव—आप आनन्दविमलसूरि के शिष्य थे। आपने गुरु पर आधारित दो रचनायें लिखी हैं (१) आनन्दविमलसूरिस्वाध्याय, (२) आनन्दविमलसूरिसज्झाय। ये दोनों रचनायें 'ऐतिहासिकजैनगुर्जरकाव्य संचय' में क्रमांक १७ और १८ पर प्रकाशित हैं। विजयदानसूरि के शिष्य वासण ने भी 'आनन्दविमलसूरिरास' लिखा है जिसका विवरण दिया जा चुका है।

विनयभाव की इन रचनाओं से आनन्दविमलसूरि के सम्बन्ध में मुख्य रूप से ये सूचनायें मिलती हैं कि वे सं० १५४७ में ओसवंशीय मेधा की पत्नी माणेकदे की कुक्षि से पैदा हुए थे। उनका बचपन का नाम बोधकुँवर था। उन्होंने सं० १५७० में हेमविमल सूरि से दीक्षा ली और स्वाध्याय, तपश्चर्या और धर्मोपदेश किया। इन्हें सं० १५८२ में हेमविमलसूरि ने सूरिपद दिया और सं० १५८७ में ये आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने गुजरात, मालवा, बागड़, राजस्थान आदि प्रान्तों में बिहार किया और अपने धर्मोपदेश द्वारा अनेक साधु बनाये, जनता को धर्म का बोध कराया। कई प्रतिष्ठायें कराई और सं० १५९६ चैत्र सुदि ७ को ९ दिन का अनशन करके अहमदाबाद में शरीर त्याग दिया। इन्ही तथ्यों को इन रचनाओं में पद्य बद्ध कर दिया गया है। ये कृतियाँ सं० १५९६ के आसपास लिखी गई होंगी।[2] इनकी भाषा सामान्य मरुगुर्जर है। काव्यत्व की दृष्टि से ये सामान्य रचनायें हैं।

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० ७८
२. जैन ऐतिहासिक काव्य संचय (सं० मुनि जिनविजय) क्रम सं० १८-१९

विनयरतन—आप बडगच्छीय मुनिदेवसूरि वाचक महीरतन मुनिसार के शिष्य थे। आपने सं० १५४९ में सुभद्राचउपइ (१५३ पद्य) लिखा। इसके रचना काल की सूचना आपने इस प्रकार दी है—

संवत पनर गुणचासइ चरी, भाद्र बडइ मति उपनी खरी।

इसके प्रारम्भ में सुभद्रा के शील वर्णन की प्रस्तावना है, यथा—

'कमलवदनि सुभद्रा तणउ, सीलइ सोहगरूप,
अविचल सीलइ जीवसुख, शीलइमानइ भूप।'[1]

कवि ने गुरु परम्परा के सम्बन्ध में बड़गच्छ के देवसूरि, मुनीश्वरसूरि, मेरुप्रभ, राजरतन, मुनिदेवसूरि और महीरतन का उल्लेख किया। इसका अन्तिम छंद इस प्रकार है—

'शास्त्र मांहि मइ दीठी जिसी, चउपइ बंधए आणी तिसी
भणइ भणावइ निसुणइ जेह, वरकाणाधिप तूसइ देव।५३।[2]

इसकी भाषा बोलचाल की स्वाभाविक मरुगुर्जर है। इसकी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय में उपलब्ध है।

वाचक विनयसमुद्र—१६ वीं शताब्दी के श्वेताम्बर महाकवियों में आप प्रायः अन्तिम श्रेष्ठ रचनाकार हैं। आप उपकेशगच्छ के वाचक हर्ष-समुद्र के शिष्य थे। आपका कार्यक्षेत्र अधिकतर राजस्थान था। आपका रचना काल सं० १५८३ से १६१४ तक स्वीकृत है। इस अवधि में आपने करीब २५ रचनायें कीं, जिनमें से २० रचनाओं का विवरण श्री अ० च० नाहटा ने राजस्थानभारती भाग-५, अंक १ में 'वाचक विनयसमुद्र' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। इनके प्रमुख रचनाओं की सूची यहाँ दी जा रही है—

[१] विक्रमपंचदण्ड चौ०, पद्य ५९३, सं० १५८३, [२] आरामशोभा चौ०, पद्य २४८, सं० १५८३, [३] अम्बड़ चौ०, सं० १५९९ तिवरी, [४] मृगावती चौ०, सं० १६०२, बीकानेर, [५] चित्रसेनपद्मावतीरास पद्य २४७ सं० १६०४ जोधपुर, [६] पद्मपरित्र (रामायण) सं० १६०४ बीकानेर, [७] शीलरास, पद्य ४४ सं० १६०४, [८] रोहिणीरास सं० १६०५, [९] सिंहासनबत्तीसी चौ० सं० १६११ बीकानेर, [१०] पार्श्वनाथस्तवन, ३९ पद्य, [११] नलदमयन्तीरास, पद्य ३०५ सं० १६१४, [१२] संग्रामसूरि चौ०-बीकानेर, [१३] चन्दनबालारास, [१४]

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० १३६
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क० पृ० १३७

नमिराजर्षि संधि, पद्य ६९, बीकानेर, [१५] साधुवंदना, पद्य १०८, [१६] ब्रह्मचारी, ५५ गाथा, [१७] सीमंधरस्तव, पद्य ४१, [१८] शत्रुंजयआदीश्वर स्तव पद्य २७, [१९] स्तम्भनपार्श्वनाथ स्तव पद्य १३, [२०] इलापुत्ररास।[1] आगे कुछ प्रमुख रचनाओं का परिचय एवं उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पद्मचरित्र—इसमें जैनमतानुसार सीताराम के पावन चरित्र का चित्रण किया गया है। कवि ने उपकेशगच्छीय रत्नप्रभसूरि, सिद्धसूरि, कक्कसूरि को वंदन किया है और रचना तिथि का उल्लेख किया है, यथा—

> 'बीकानयरइ वीर जिणचंद, तासु पसाई परमाणंदि,
> चउबीह संघ तणइ सुप्रसादि, सोल चिडोत्तर फागुण आदि।'
> कीधी कथा अे सीतातणी, सीलतणी महिमा जसु धणी।[2]

अबंडचउपइ—यह सं० १५९९ में तिमरा में लिखी गई। यह सरस कथा कवि ने मुनिरत्नसूरि से सुनी और उसके आधार पर अंबड के पावन चरित्र का वर्णन चउपइ बन्ध में तिमरामंडण जिन भगवान् के उपाश्रय में किया—

> 'हरषसमुद्र वाचक तसुसीस, तिमरा मंडण श्री जगदीश,
> पास जिणंद तणइ सुपसाउ, विनयसमुद्र कह्यो मनि भाउ।

रचनाकाल 'पनर निवाणू प्रवर प्रसिद्धं, अे प्रबन्ध मइ सुललित किद्ध,
> महा सुकिल द्वितीय रविवार, रच्यो तिमरा नयरि मझारि।'[3]

पूर्णिमागच्छ के संस्थापक श्रीचन्द्रप्रभसूरि, धर्मघोषसूरि, समुद्रघोषसूरि के शिष्य मुनिरत्नसूरि ने अंबडचरित्र संस्कृत में लिखा था। उसी संस्कृत रचना के आधार पर यह चौपइ मरुगुर्जर में लिखी गई है।

विक्रमपंचदण्डचौपई सं० १५८३ की रचना है। इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है—

> 'देवि सरसति देवि्सर सति प्रथम प्रणमेवि, वीणा पुस्तक धारिणी
> वंड विहंसि सुप्रसंसि चुल्लइ, कासमीरपुरवासिणि,
> देइनांण अनांण-पिल्लइ।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ६६-६७
२. श्री देसाई—जैं० गु० क०—भाग १, पृ० १६८-१७०
३. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १ पृ० १६९

कवियण नीतु मण्डली, दिउ मुझ बुद्धि विशाल।
जिम विक्रम राजा तणउ कहुं प्रबन्ध विशाल।[1]

इसके प्रारम्भ में गणेश-वन्दना इसकी विशेषता है, यथा—
'गवरिनन्दन गवरि नन्दन गणपत्ति,
एकदंत गजवदन पुणि विघन बिसन सविदूरि टालइ।'

इसकी अन्तिम पंक्तियों में रचनाकाल दिया गया है, यथा—
संवत पनरह् सइ त्रयासीयइ, ए चरित्र निसुणी हरसीयइ,
साहसीक जे होइ निसंक, कायर कंपइ जे बलि रंक।९०।
पंचदंड नाम सुचरित्र, देखी तेहनुं अति विचित्र।
तिणि विनोद चउपइ रसाल, कीधी सुणतां सुफल विशाल।९३।

आरामशोभाचौपाई सं० १५८३ (बीकानेर) का आदि पद्य देखिये—
'श्री जिन शासन जगि जयउ, जिणि राजा अरिहंत,
दया धर्म भाव उभलउ, भयभंजण भगवंत।
भावतणि जिम पामियउ, परिभव उत्तिम ठाय।
सुणि आरामशोभा तणउं, प्रकट कियो निजनाम।

अन्त और रचनाकाल—'अे आराम शोभा चउपइ भावतरे ऊपरि मइ कही,
बरस त्र्यासिये मागसिर मासि, नीका नयरिहि मन उल्हासि।२४८।[2]

मृगावतीचौपाई सं० १६०२ बीकानेर—यह रचना मृगावती के शील-माहात्म्य पर प्रकाश डालती है, यथा—
शीलि मनोरथ मनतणा, सीझइ सुणि निसि दीस,
मृगावती शीलइ छल्यौ, मालवपति अवनीश।
चंडप्रद्योत नरिंदवर, सतीसिरोमणि जेणि।
हार वियो हे जइकरी, कहुउंते कारण केणि।

इसके आदि में शारदा की वन्दना और बाद में गुरु परम्परा दी गई है। अन्तिमछंद 'जां लगि मेरु मही रविचन्द्र, जांलगि जलधि पुण्य पहुवंद,
तां अविचल अे चरित सुचंग, सुणतां भणतां हुइ बहुरंग।९८।[3]

चित्रसेनपद्मावतीरास की रचना सं० १६०४ जोधपुर में हुइ। इसका मङ्गलाचरण देखिये—

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क०, पृ० १४८-१४९
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६२५ से ६२९
३. वही —भाग ३, पृ ६२७

'संति जिणवर संति जिणवर, जिणवर सकल सुखकर,
पंचम चक्केसर पवर संतिकरण, सवि दुरिय दुखहर। इत्यादि

अन्तिम पंक्तियों में रचनाकाल इस प्रकार दिया गया है—

'संति विमल श्री पासइ, कीधउं चरित्र रसालो रे,
सोल नडोत्तर श्रवण मासहि, सुणज्यो पुण्य विशालो।'

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आप मरुगुर्जर भाषा के एक उत्तम कवि हैं। आपने अनेक प्रसिद्ध महापुरुषों के चरित्र पर आधारित चउपइ, रास आदि सरस रचनायें की हैं। आपकी भाषा शैली काव्य लेखन के लिए समर्थ और सरस है।

आपकी कतिपय लघु कृतियाँ जैसे चित्रसंभूतिकुलक, इलापुत्रकुलक आदि की हस्त प्रतियाँ सं० १६५३-५४ की प्राप्त हैं। समयोल्लेख सहित इनकी रचना नलदमयन्तीरास सं० १६१४ की लिखित प्राप्त है इसलिए उक्त दोनों रचनायें भी इसी के आसपास की होंगी। अतः वाचक विनयसमुद्र की रचना अवधि सं० १६१४-१५ तक स्वीकार की गई है।[1]
आप १६ वीं एवं १७ शताब्दी की संधि के महाकवि हैं।

विशालसुन्दर शिष्य—इस अज्ञात कवि की रचना 'सत्तरिसयजिनस्तव' (६४ गाथा) ज्ञात है। इस कृति के लिए कवि श्री विजयदानसूरि की कृपा के प्रति आभार व्यक्त करता हुआ कहता है :—

'श्री तपागछइ दीपइ सुविहत मुनि समवाय,
सम्प्रति यति नायक श्री विनयदान सूरि राय।
तस चरणि प्रसादिइं, सत्तरि सयजिन नाम,
इस समरण करतां सीधां सघलां काम।[2]

इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'समरी सरसति भगवति वाणी, निज गुरु भगति चिंति जाणी।
एक सउत्तरि श्री जिन नाम, समरि समरि करता सप्रणाम।

अन्त 'श्री विशालसुन्दर सगुरु सेवक कहइ अविचल पदभणी,
मुझ हूज्यो भवि भवि कुशल कारणी, सेवो श्रीजिणवरतणी।६४।

यह जिन भक्ति सम्बन्धी सामान्य रचना है।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत, पृ० २१३-२१४
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खंड २, पृ० १५०१

भट्टारक वीरचन्द—भट्टारकीय बलात्कारगण शाखा के संस्थापक भ० देवेन्द्र कीर्ति की परम्परा में भ० लक्ष्मीचन्द्र के आप शिष्य थे। इनका सम्बन्ध सूरत की गादी से था किन्तु इन्होंने गुजरात के अलावा राजस्थान में भी खूब विहार किया। आप व्याकरण एवं न्यायशास्त्रवेत्ता, छन्द, अलंकार तथा संगीतशास्त्र के ज्ञाता थे। आप उत्तम वक्ता एवं उच्चकोटि के तपस्वी थे। नवसारी के शासक अर्जुन जीवराज आपके भक्त शिष्य थे। भ० शुभचन्द्र ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में इनके विद्वत्ता, चरित्र एवं प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की है। आप संस्कृत, प्राकृत एवं मरुगुर्जर के पारंगत विद्वान् एवं साहित्यकार थे। मरुगुर्जर में आपकी आठ रचनायें उपलब्ध हैं (१) वीरविलासफागु, (२) जंबूस्वामीबेलि, (३) जिनआंतरा, (४) सीमंधरस्वामी गीत, (५) संबोधसत्ताणु, (६) नेमिनाथरास, (७) चित्तनिरोधकथा और (८) बाहुबलिबेलि। इनमें से इनकी प्रथम रचना 'वीरविलासफागु' एक खंडकाव्य है जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन की एक मार्मिक घटना का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। इसमें १३७ पद्य हैं। इसके प्रारम्भ में नेमिनाथ की शोभा का वर्णन देखिये :—

'केलि कमल दल कोमल सामल वरण शरीर,
त्रिभुवनपति त्रिभुवनतिलो, गुणनीलो गुणगंभीर।'
लीलाललित नेमीश्वर अलवश्वर उदार,
प्रहसित पंकज पाखंडी आखंडी-रूपि अपार।'[1]

इसके बाद राजुल की सुन्दरता का एक उदाहरण लीजिये :—

'कठिन सुपीन पयोधर मनोहर अतिउतंग,
चांपकवर्णी चंद्राननी माननी सोहि सुरंग।
हरणी हरखी निज नयणीउ वयणीउ साह सुरंग,
दँत सुपंती दीपंती सोहती सिर वेणी वंध।

राजुल को जब नेमि के वैराग्य की सूचना मिलती है तो उसका करुण क्रन्दन बड़े मार्मिक ढंग से कवि ने व्यक्त किया है, यथा —

'कनकमि कंकण मोड़ती, तोड़ती मिणिमिंहार।
लूंचती केश कलाप, विलापकरि अनिवार।
नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनि भूरि,
किमंकरूं कहिरे साहेलड़ी विहि नडिगयोडिमझनाह।

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० २६६-२६७

वर्णन सरस हैं, भाव अनूठे हैं, भाषा समर्थ है अतः रचना उच्चकोटि की है। अन्त में कवि अपना परिचय इस प्रकार देता है :—

'श्री मूलसंघि महिमानिलो, जतीतिलो श्री विद्यानंद।
सूरि श्री मल्लिभूषण जयो, जयो सूरी लक्ष्मीचंद।
जयो सूरि श्री वीरचन्द गुणिद, रच्यो जिणि फाग।
गाँता साभंलता ए मनोहर, सुखकर श्री वीतराग।'[1]

कवि ने फाग में रचनाकाल नहीं दिया है किन्तु डा० कासलीबाल का मत है कि यह रचना सं० १६०० में पूर्व की ही है।

जंबूस्वामी बेलि— जंबूस्वामी के जीवन पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक रचनायें की गईं जिनके आधार पर कई कृतियाँ मरुगुर्जर में भी लिखी गईं। प्रस्तुत बेलि की भाषा आदर्श मरुगुर्जर है जिस पर यत्र-तत्र डिंगल भाषा शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह रचना काव्य की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से अधिक पठनीय है। इसमें दूहा, त्रोटक एवं अन्य कई छंदों का प्रयोग किया गया है। कवि ने इसके भी अन्त में मूलसंघ की गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है। इसका रचनाकाल अज्ञात है। भाषा के नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

'तेह वारे उदयो गति, लक्ष्मीचन्द्र जेण आण।
श्री मल्लिभूषण महिमा घणो, नमे ग्यासुदीन सुलतान।
तेह गुरुचरण कमल नमी अनें बेलि रची छे रसाल,
श्रीवीरचन्द्रसूरिवर कहे, गांता पुण्य अपार।'[2]

जिनआंतरा में उस अन्तर का वर्णन है जो २४ तीर्थंकरों में एक के बाद दूसरे के बीच होता है। संबोधसत्ताणुभावना एक उपदेशात्मक कृति हैं। पूरी रचना दोहों में हैं। दोहे शिक्षाप्रद किन्तु सरल शैली में हैं। एक दोहा देखिये—

नीचनी संगति परिहरो, धारो उत्तम आचार,
दुल्लभि भव मानस तणो, जीवतूं आलिम हार।५०।

सीमंधर स्वामीगीत—इस लघु गीत में सीमन्धर का स्तवन है।

---

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० २६६-२६७
२. वही पृ० ११०-१२

चित्तनिरोधक कथा—१५ पद्यों की छोटी रचना है, जिसमें चित्त को वश में रखने का उपदेश दिया गया है। 'बाहुबलि बेलि' में बाहुबलि का संक्षिप्त जीवन चरित्र विविध छन्दों विशेषतया त्रोटक एवं रागसिन्धु में वर्णित है।

नेमिकुमार रास—नेमि की वैवाहिक घटना पर आधारित कवि की यह दूसरी कृति है जो सं० १६७३ की रचना है। इस कृति में रचना काल दिया गया है, यथा :—

> 'संवत सोल ताहोत्तरि श्रावण सुदि गुरुवार।
> दशमी को दिन रूयडो, रास रच्यो मनोहार।

इस आधार पर ये १७वीं शती के कवि हो सकते हैं किन्तु डॉ० कासलीवाल ने इन्हें १६वीं शती का कवि कहा है। यद्यपि उन्होंने अपनी इस मान्यता का कोई ठोस आधार नहीं बताया है अतः ये १६वीं और १७वीं शताब्दी की संधि बेला के कवि हो सकते हैं। अपनी इन कृतियों के आधार पर ये मरुगुर्जर साहित्य के श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं किन्तु इनका रचनाकाल अनिश्चित है।

शांतिसूरि—आप सांडेरगच्छीय आमदेवसूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'सागरदत्तरास' सं० १५१७ से १५१९ के बीच किसी समय लिखी गई है। यह प्राकृत, अपभ्रंश और मरुगुर्जर की मिली जुली भाषा-शैली में लिखित १३७ पद्यों की एक रसमय काव्यकृति है। इसमें रासउ, कुण्डलियां, घत्ता, मालिनी, रूपक, छप्पय, पद्धडी आदि विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। आप सं० १५९७ तक विद्यमान थे। सागरदत्त रास की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

> 'विमलकर-कमल-परिमलमिलंत रोलबं मंगलाराव
> अमिय कमंडलु पाणि, पणमामि सरस्सयं दिवि।
> सिद्धत्थो सिद्धत्थो पसिद्ध पल्ली पुरालये वीरो,
> सिद्धत्थराय पुत्तो सुद्धत्थं देहु महु बयणं।
> सिरि आमदेव सूरिसर पय पउम जुयलवंदे,
> लक्ष्मी सरसइउ सुपसन्ना जस्स सेवाअे,
> छंदतर कल्लोलं, वन्नजलं संतिसूरिणा महियं,
> सायरचरिअं सायर सरिसं निसामेह।'[1]

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५१८

आपकी दूसरी रचना 'शत्रुञ्जयभास' (गाथा ११) सं० १५३५ के आसपास की रची है। यह जैनयुग पु० ५ पृ० ४७३ से ४७७ पर प्रकाशित है। इसका प्रथम एवं अन्तिम छन्द आगे उद्धृत किया जा रहा है :—

प्रथम छन्द 'करि कवि जणणि पसाउ, हमइं सरसति रहइ भूं वयणलां अे।
गायस तीरथराउ हमइं सेत्रुंज भवसायर तणउ अे।'[1]

अन्त 'दूरि थिकिउ नहीं दूरी, हमइं जइ किम जइ किम ऊजम ऊपजइ अे,
इम बोलइ शांतिसूरि, हमइं सेत्रुंज सेत्रुंजहइ घरि आंगणइ अे।'

इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १५३५ की प्राप्त है अतः यह रचना भी १५१५ या १५२० के आसपास की हो सकती है। इसलिए दोनों के कर्त्ता एक ही शांतिसूरि हो सकते हैं। १६वीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में किसी अन्य शांतिसूरि नामक मरुगुर्जर के लेखक का अबतक पता भी नहीं चला है अतः इन दोनों के रचनाकार एक ही शान्तिसूरि होंगे। इन दोनों रचनाओं की भाषा शैली अवश्य भिन्न है। प्रथम में मिली-जुली भाषा शैली का प्रयोग किया गया है जबकि इस लघु कृति में शत्रुंजय तीर्थ का माहात्म्य सामान्य मरुगुर्जर में प्रस्तुत किया गया है। सागरदत्त रास की भाषा का मूलाधर मरुगुर्जर ही है। काव्यत्व की दृष्टि से सागरदत्त रास एक सरस काव्य कृति है।

शिवसुन्दर—आपने सं० १५९५ में 'लुंकटमत निर्लोढन रास' गाथा ३८ लिखी जो स्पष्ट ही खंडन-मंडन की दृष्टि से लिखी गई है अतः इससे काव्य कला या साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। ये रचनायें बौद्धिक तर्क पर आधारित होने के कारण गद्य के लिए अनुकूल होती हैं, शिवसुन्दर मूलतः गद्यकार हैं। आप खरतरगच्छीय लेखक थे और जिनमाणिक सूरि के भक्त थे। इसकी भाषाशैली का नमूना प्रस्तुत है—

आदि 'शासन नायक प्रभु नमूं, त्रिशला राणी नंदनवीर कि
रास करउं सोहामणउ, अलवइ पामउं भवजल तीरकि।१।'

अन्त में रचनाकाल भी है।

'संवत पनर सताणवइ, जयवंतउ जिनमाणिक सूरि कि,
खरतरगच्छनउ राजियउ, श्री शिवसुन्दर आणंदपूर कि।'[2]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग ३, पृ० ४९३

२. वही, पृ० ६१८ और भाग ३ खंड २ पृ० १५००

भट्टारक शुभचन्द्र—आप भ० विजयकीर्ति के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १५३० और १५४० के मध्य हुआ होगा। ये सं० १५७३ में भ० विजयकीर्ति के पट्टधर भट्टारक बने और बलात्कार गण की इडर गद्दी पर सं० १६१३ तक सुशोभित रहे। इस अवधि में इन्होंने राजस्थान, पंजाब, गुजरात और उत्तर प्रदेशमें जैनधर्म और संस्कृति का खूब प्रचार किया। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और मरुगुर्जर में अनेक ग्रन्थ स्वयं लिखे और अपने शिष्यों द्वारा प्रतिलिपियाँ कराकर उन्हें भाण्डारों से सुरक्षित रखवाया। आप षट्भाषा कवि चक्रवर्ती कहे जाते थे। आपके शिष्यों में सकलभूषण, तेजपाल, क्षेमचंद्र, सुमतिकीर्ति आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ० कासलीवाल ने इनकी संस्कृत में लिखी २४ कृतियों की सूचना दी है जिनमें चन्द्रप्रभचरित्र, पाण्डवपुराण, करकण्डुचरित्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, चन्दनाचरित्र, जीवन्धरचरित्र, श्रेणिकचरित्र के अलावा कई पूजा और कथा आदि सम्मिलित हैं। इनकी हिन्दी या मरुगुर्जर की निम्नांकित रचनायें प्राप्त हैं:—(१) महावीरछंद (२) विजयकीर्तिछंद, (३) गुरुछंद, (४) नेमिनाथछंद, (५) तत्वसारदूहा, (६) दानछंद, (७) अष्टाह्निकागीत, (८) क्षेत्रपालगीत और अनेक स्फुट पद तथा गीत आदि।

महावीरछंद—इसमें महावीर स्वामी का स्तवन है। इसमें कुल २७ पद्य है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित है। इसका प्रथम छंद देखिये :—

'प्रणमीय वीर विवुह जण रे जण, मदमइ मान महाभय भंजण,
गुणगण वर्णन करीय वखाणु, यतो जण योगीय जोवन जाण।
महे गहे गुहदेश बिदेहह, कुण्डलपुर वर पुहवि सुदेहह।
सिद्धि वृद्धि वर्द्धक सिद्धारक, नरवर पूजित नरपति सारथ।[1]

विजयकीर्तिछंद—ऐतिहासिक कृति है। इस रूपक काव्य में कवि ने अपने गुरु की प्रशंसा २९ पद्यों में की है। इसकी भाषा एवं वर्णन शैली सुन्दर है। इसमें प्रतिनायक कामदेव, मत्सर, मद, माया आदि की सेना लेकर विजयकीर्ति पर आक्रमण करता है किन्तु उनके शम, दम, नियम आदि सैनिकों ने उन्हें खदेड़ दिया। कामदेव पराजित हुआ। कवि लिखता है :—

'भागो रे मयणा जाई अनंग वेगि रे थाई।
पिसिर मनर मांहि मुंक रे ठाम।
रीति र पायरि त्यागि मुनि काहने वर मांगी,
दुखिर काटि र जागी जंपइ नाम।

१. डा० क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन संत पृ० ९३-१०५

श्री विजयकीर्ति यति अभिनवो,
गछपति पूरब प्रकट कीनि मुक निकरो ।[1]

भ० विजयकीर्ति का गुणानुवाद कवि ने एक अन्य लघु कृति 'गुरु छन्द' में भी किया है। इसी छन्द में सर्वप्रथम उन्होंने विजयकीर्ति के पिता गंगासहाय एवं माता कुंवरि का नाम प्रकट किया है। इसमें कुल ११ छन्द है।

नेमिनाथछंद —२५ पद्यों में निबद्ध इस छन्द में नेमिनाथ के पावन एवं मनोहर जीवन का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित है। नेमिनाथ के विवाह के समय विविध वाद्ययन्त्रों के बजने से समूचा वातावरण किस प्रकार गूंजित हो रहा था, उसका वर्णन इन पंक्तियों में देखिये—

'झण झणण करती टणण धरती सद्ध वोल्लइ झल्लरी,
घुम घुमुक करती कण हरती एहवज्जि सुन्दरी।
तण तणण टंका नाद सुन्दर तांति मन्दर वण्णिया,
धम धमहं नादि घणण करती धुग्धरी सुहकारीया।'[2]

दानछंद—इसमें कृपणता की निंदा और दान की प्रशस्ति केवल दो छंदों में की गई है।

तत्वसार दूहा—इसमें जैनसिद्धान्तानुसार सात तत्वों का वर्णन किया गया है। इस सैद्धान्तिक रचना में ९१ दोहे हैं। इसकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव अत्यधिक है। इसे कवि ने दुल्हा नामक श्रावक के अनुरोध पर लिखा था :—

'रोग रहित संगति सुखीरे, संपदा पूरण ठाण,
धर्म बुद्धि मन शुद्धडी, दूल्हा अनुक्रमि जाण।

मोक्ष का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है :—

'कर्म कलंक विकरनो रे, निःशेष होयिनाश,
मोक्ष तत्व श्री जिन कही, जाणवा भानु अन्यास।

मरुगुर्जर की ये रचनायें भ० शुभचन्द्र की संस्कृत कृतियों के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु इनसे उनकी काव्य प्रतिभा का अनुमान होता है, ये रचनायें भाषा, काव्यतत्त्व एवं वर्णन शैली की दृष्टि से उत्तम हैं। इनके

१. डा० क० च० कासलीवाल —रा० के जै० सं० पृ० १०२
२. वही

अलावा दानछन्द, अष्टाह्निकागीत, क्षेत्रपालगीत एवं अन्य स्फुट गीत, पद आदि उपलब्ध हैं जिनके आधार पर इन्हें मरुगुर्जर का उत्तम कवि निस्संदेह स्वीकार किया जायेगा।

शुभशीलगणि—आप तपागच्छीय मुनिसुन्दर सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५०९ में 'प्रसेनजितरास' की रचना की। श्री देसाई ने सं० १५०१ में लिखित, 'सुदर्शनश्रेष्ठिरास' का भी इन्हें लेखक बताया है।[1] किन्तु प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। भाग १ पृ० ४२-४३ पर तो उन्होंने इसका कर्त्ता संघविमल को बताया था किन्तु भाग ३ में सुधार कर शुभशील को बताया है। अतः सुदर्शनश्रेष्ठिरास का विवरण भी इन्हीं के साथ दिया जा रहा है।

'प्रसेनजितरास' का केवल नामोल्लेख ही श्री देसाई और श्री नाहटा ने किया है, इसका विवरण, उद्धरण नहीं दिया है। श्री नाहटाने सुदर्शनश्रेष्ठि रास के सम्बन्ध में लिखा है कि इसकी कई प्रतियों में चन्द्रप्रभसूरि पाठ मिलता है और उनके नामके साथ सुदर्शनश्रेष्ठिरास का विवरण दिया जा चुका है। किसी-किसी प्रति में इसका लेखक 'मेलासंघवी' कहा गया है। श्री देसाई जी दस प्रतियों का मिलान करने के बावजूद भी किसी एक को कर्त्ता नहीं निश्चित कर पाये हैं किन्तु श्री नाहटा जी ने चन्द्रप्रभसूरि को कर्त्ता कहा है अतः इस रास का विवरण वहीं दे दिया गया। यह रचना 'संवत पनर एकातरइ' अर्थात् सं० १५०१ की है और लेखक मुनिसुन्दर सूरि का शिष्य है किन्तु कौन लेखक है यह निश्चित नहीं है। रचना निर्विवाद है, और अच्छी रचना है अतः लेखक का प्रश्न विचारणीय है। शुभशीलगणि 'प्रसेनजितरास' के निर्विवाद लेखक हैं पर उस रचना का विवरण उपलब्ध नहीं है।

शुभवर्द्धन शिष्य—(सुधर्मरुचि ?) आपने सं० १५६३ में शान्तिनाथ-स्तवन (३१ कड़ी) लिखी। इसमें रचनाकाल बताया गया है, यथा :—

'पनर त्रेसठइ तू हिज तवै, दसमी दिन भाद्रवामासे,
तवीथउ स्वामी हरख्ये पामी, पूरै श्रेवकारो आसे।'

आपकी दूसरी रचना 'गजसुकुमालरास' का रचना-काल सं० १५९१ से पूर्व श्री देसाई ने निश्चित किया है।[2] इस कवि की तीसरी रचना 'आषाढ़

१. श्री देसाई—जैन गु० क० —भाग ३, पृ० ४५५-४५६

२. वही भाग १ पृ० ४३ और भाग १ पृ० ४३ तथा भाग ३ पृ० ५६६-५६७

भूतिरास' को १७वीं शतीं में परिगणित किया है। साथ ही जै० गु० क० भाग ३ में इस कवि को निश्चित रूप से १६वीं शताब्दी का बताया है। हो सकता है १६वी शताब्दी शुभवर्द्धन शिष्य जिन्होंने शान्तिनाथ स्तवन और 'गजसुकुमालरास' लिखा, वे सुधर्मरुचि से भिन्न हों। अतः सुधर्मरुचि और उनकी रचना आषाढ़भूति का विवरण १७वीं शताब्दी में ही देना उचित होगा।

समरचन्द्र (समरसिंह)—आप पार्श्वचन्द्रगच्छ के संस्थापक आचार्य पार्श्वचन्द्र के शिष्य थे। आप सिद्धपुर पाटण के निवासी श्रीमालवंशीय श्री भीमाशाह की पत्नी वालादे की कुक्षि से सं० १५६० में पैदा हुए थे। आपकी दीक्षा सं० १५७५ में हुई और सं० १५९९ में उपाध्याय पद मिला। आप सं० १६०० में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा सं० १६२६ में खंभात में आपका स्वर्गवास हुआ।

आपने गुरु पार्श्वचन्द्र की स्तुति में 'पार्श्वचन्द्रसूरिस्तुति संज्झाय' लिखा। आपने सं० १६०७ में 'महावीरस्तवन' खंभात में लिखा। इसके अलावा प्रत्याख्यानचतुःसप्ततिका, पंचविंशतिक्रियासंज्झाय, आवश्यक-अक्षरप्रमाणसंज्झाय, शत्रुञ्जयमंडनआदिनाथ स्तवन (सं० १६०८), शान्ति-जिन स्तवन, चतुर्विंशतिजिननमस्कार, सं० १५८८ आदि कई स्फुट रच-नायें हैं।

शत्रुञ्जयमंडनआदिनाथ स्त० में कवि ने अपना नाम समरसिंघ लिखा है, यथा :—

> 'श्री पासचंद सूरिंद सीसइ, समरसिंघ संवछरइ,
> माघ मासिइं शुकिल अठमि सोलसइठउतरइ।'[1]

'ब्रह्मचारी' नामक कृति में ब्रह्मचर्य का गुण गाया गया है। ९४ कड़ी की इस रचना का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

> गोयम गणहर पाय प्रणमी करी, ब्रह्मव्रत घुवसि उं हरष हीइधरी,
> सुधूं पाली भवसागर तरी, प्रीणी पामंइ पामिसि शिवपुरी।'

'उपदेशसाररत्नकोश–११ बोल संज्झाय' की अन्तिम पंक्तियां देखिये—

> 'ज्ञेय वस्तु स्वरूप जाणी धर्म्मस्यु मन राखिये,
> सूरींद श्री पासचंद सीसिइं समरसिंघ इम भाषिये।'

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० १५०-१५१

ऋषभस्तव, कल्याणकस्तव, शंखेश्वरस्तव, नेमिस्तव आदि कई स्तव भी आपने भावपूर्ण और रमणीय शैली में लिखा है। इसमें से महावीर स्तव की कुछ पंक्तियां उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही हैं :—

'श्री त्रिसलानंदन गुणभयेउ श्री वर्द्धमान जिनराय,
इम वीर जिणवर तेजि दिणयर भविय मणहर संथुउ।
समरचंदिइ मन आणंदिइ चउद छंदिइ संजुउ।'[1]

इसमें कवि अपना नाम समरचंद्र लिखा है, इससे मालूम होता है कि कवि समरचन्द्र और समरसिंघ दोनों नाम लिखता था और ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।

आपकी रचनायें छोटी-बड़ी मिलाकर संख्या में पर्याप्त हैं और उनमें कहीं-कहीं उच्चकोटि की भावव्यन्जना भी मिलती है। इनकी मरु-गुर्जर भाषा काव्यरचना के लिए सक्षम है।

समरचन्द्र शिष्य—आपने 'श्रेणिकरास' लिखा। यह शिष्य पार्श्वचन्द्र सूरि स्तुति' लिखने वाले समरचन्द्र का न होकर किसी अन्य समरचन्द्र नामक विद्वान् का शिष्य था।[2] ये समरचन्द्र लुंका ऋषि रूपजी की परम्परा में रत्नागर के शिष्य थे। इस 'श्रेणिकरास' में कवि ने स्पष्ट गुरु परम्परा दी है और बताया है कि ऋषिरुपजी, जीवजी, कुंवरजी, मल्ल, रत्नागर के शिष्य समरचन्द्र का कवि शिष्य है, यथा—

सासनि मंडन दुरित खंडन समरचन्द अणगार।
ते सद्‌गुरु सुपसाइलि मिइं रचीउ रे खंड बीजु सारकि।

श्रेणिकरास के दूसरे खंड का प्रारम्भ इन दोहों से हुआ है—

'श्री जिननायक भावसुं, वंदु जग आधार।
वर्धमान स्वामिजयु सेवक जनहितकार।

× × ×

समरचंद ऋषि निति नमुं, संयम सुखदातार।
तास प्रसादि वर्णवूं सरस कथा सुविचार।

इस प्रकार श्रेणिकरास का लेखक लोंकागच्छीय ऋषि समरचन्द्र का शिष्य है।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ५९७
२. वही पृ० ६०१

सर्वाङ्गसुन्दर—बड़तपगच्छीय जयशेखरसूरि की परम्परा में जयसुन्दर उपाध्याय के आप शिष्य थे। आपने सं० १५४८ (मागसिर शुदी १०, मानुष्यपुरी) में 'सारसिखामणरास' लिखा। इस रास में रात्रि भोजन निषेध, जीवहिंसा त्याग, अभक्ष्य त्याग इत्यादि हितप्रद बातों की शिक्षा दी गई है। इसकी भाषा मरुगुर्जर है किन्तु हिन्दी का अनुपात अधिक है। इसमें प्रायः ढाई सौ पद्य हैं। इस कृति का रचनाकाल कवि ने इन पंक्तियों में बताया है :—

'पनरसइ अडतालइ संवत्सरि, मागसिर सुदि दसमी गुरु मानुष्यपुरी,
नित निय मंगल जय करुअे।'[1]

इसके अन्त में लिखा है :—

'अे हित शिष्या नितु हइइ धरस्यइ,
दुखसागर ते निश्चइ तरस्यइं, शिवसुख अविचल पामस्यइ।'

इसमें कवि ने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए बडतपगच्छीय जयशेखरसूरि, जिनसुन्दरसूरि, जिनरत्नसूरि और जयसुन्दर उपाध्याय का सादर स्मरण किया है। कवि की भाषा सरल और रचना उपदेश-परक है। कवि ने अपना नाम सर्वांगसुन्दर के स्थान पर संवेगसुन्दरउवझाय लिखा है, यथा—

'तास सीस गुरु लहीय पसाय, श्री संवेगसुन्दरउवझाय,
रचिउ रास अे रुअडो अे।'[2]

अतः 'सारसिखामणरास' के लेखक सर्वांगसुन्दर या संवेगसुन्दर एक ही व्यक्ति हैं।

सहजसुन्दर—आप उपकेशगच्छ के उपाध्याय रत्नसमुद्र के शिष्य थे। आप इस शताब्दी के उत्तम कवियों में गिने जाते हैं। आपने सं० १५७० से लेकर सं० १५९५ तक रचनायें कीं। इस अवधि में आपने बीसों सुन्दर रचनायें मरुगुर्जर में कीं, जिनमें से कुछ प्रमुख रचनाओं का नाम दिया जा रहा है—(१) इलातीपुत्रसज्झाय, पद्य ३१ सं० १५७०, (२) गुणरत्नाकर छंद सं० १५७२, (३) ऋषिदत्तारास, (४) रत्नसारकुमारचौपइ, सं० १५८२, (५) आत्मरागरास सं० १५८२, (६) परदेशीराजारास, पद्य २११९; (७) शुकराजसाहेलीचरित्र, पद्य १६७, (८) जंबूअन्तरंगरास पद्य

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३ पृ० ६७
२. वही

६३, (९) यौवनजरासंवाद रास, पद्य २५ (१०) तेतलीमंत्रीरास सं० १५९५ (११) प्रसन्नचन्द्र रास, (१२) गर्भबेलि, गाथा ४४, (१३) आँखकान संवाद, (१४) सरस्वती छन्द, (१५) शालिभद्र सज्झाय इत्यादि।[1] रचनाओं में रचना-स्थान नहीं दिया है किन्तु भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। श्री नाहटा जी का कथन है कि चूँकि लेखक का सम्बन्ध उपकेशगच्छ से है जिसका प्रभाव-क्षेत्र राजस्थान है अतः यह राजस्थानी कवि है। वस्तुतः सभी आग्रह छोड़कर इन्हें भी अन्यों की तरह मरुगुर्जर का महाकवि मानना ही उचित है। इनकी तमाम रचनाओं में गुणरत्नाकर छंद सर्वाधिक कवित्वपूर्ण और लोक प्रसिद्ध है। गुणरत्नाकर की रचना सं० १५७२ में हुई; इसमें चार अधिकार हैं। इसमें स्थूलिभद्र का चरित्र नाना प्रकार के छंदों में उत्तम ढंग से वर्णित है। स्थूलिभद्र की जीवनी के सरस रसिक भाग से इस रचना का सम्बन्ध होने के कारण यह सरस काव्यकृति हो गई है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'शशिकर निकर समुज्वल मराल मारुह्य सरस्वती देवी,
विचरति कवि जन हृदये सदये संसार भयहारिणी।
हस्त कमंडल पुस्तक वीणा, सुहझाण नाण गुणछीणा,
अप्पइ लील विलासं सा देवी सरसइ जयउ।'[2]
आणी नवनव बंध नवनव छंदेण नवनवा भोगा,
गुण रत्नाकर छंद, वन्निसु थुलिभद्दस्स।'

इसमें पाटलिपुत्र के मंत्री शकटार के पुत्र स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या की परिचित कथा के माध्यम से स्थूलिभद्र का उच्च संयम एवं श्रेष्ठ चरित्र-बल वर्णित है। इसका रचनाकाल इस प्रकार कहा गया है :—

'संवत पन्नर बिहुत्तर वरसे, अेम इं छंद रचिओ मन हरसे,
गिरुओ गणहर नवनव छंदइ, सहिजसुन्दर बोलइ आणंदइ।'

इलातीपुत्र सज्झाय – इसका रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

'संवत पनर कहिउं ७० जेठ वदि नवमी दिनिइ,
सुख पामिस्यइ जे भाव मणिस्यइ काज सरस्यइ अेक मनइ।'

ऋषिदत्ता रास का मंगलाचरण देखिये :—

'पणमवि सरसति जगि जइवंता, हंसगमनिलि चालइ मलपंता,
मदि माता मयगलजिसीय।

---

१. श्री अ० च० नातटा—'परम्परा' पृ० ६४
२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु०क० भाग १ पृ० १२१

पुस्तक वीणा हाथिकमंडल, झबझब तेजकरी रविमंडल,
कुंडल कानि उलस्सीय।
कइ कवित करूं मनभावि, सासण देव तणइ परमावि,
सिद्धसूरि गुरुपय नमीय,
सील सिरोमणि गुणसंयुक्ता, नमि अनोपम श्री रषिदत्ता,
जलधि सुता जगिते समीय।'[1]

इसका रचनाकाल कवि ने 'संवत पनरइं विहुत्तरइ' बताया है।

रत्नसारकुमारचौपइ में रत्नसार और रत्नमंजरी की कथा का वर्णन किया गया है। यह रचना सं० १५८२ में की गई, यथा—

'संवत पन्नर व्यासी संवछरिअे रचीउ मइं रासरे।'

आत्मराजरास (सं० १५८२) की प्रारम्भिक पंक्तियां देखिये :—

'सिरि सरसती सरसति, आपु वचन विलास।
श्री आतमराज पभणिसु चरित्र उल्हास।'

परदेशीराजारास में कवि ने गुरु परम्परा का उल्लेख करके बताया है कि वे सिद्धसूरि, धनसूरि, रतनसमुद्र उपाध्याय के शिष्य थे। इसमें परदेशी राजा के वृत्तान्त के माध्यम से कवि ने धर्म का माहात्म्य समझाया है।

शुकराजसाहेलीकथा रास—इसमें कथा के माध्यम से पुण्य का प्रभाव बताया गया है, यथा—

पुण्ये राजहरंगघण, पुण्ये टले वियोग,
पुण्ये रोगन ऊपजे, पुण्ये सुललित भोग।

इसमें कवि सरस्वती से याचना करता है :—

'हरष घणो, गुण बोलतां, सुणतां सिद्धि बुद्धि होय,
सुडा ने साहेलीयां तणी, कथा सुणो सहुकोय।'[2]

तेतलीमंत्रीरास '(सं० १५९५) कवि के रचनाकाल के अन्तिम दिनों की रचना है। इसे पहले किसी कवियण की रचना समझा जाता था किन्तु इसके अन्त में कवि ने अपना नाम और रचनाकाल दिया है, यथा—

'संवत पनर पंचाणुइ, आसो मासि धरी मण हीइ,
शुदि आठमि नि मंगलवार, गण बोला रषिना अवधार।

---

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, पृ० ५५८-५५९

२. वही, भाग १ पृ० १२७

साची शासन देवि प्रसन्न, सहिजसुन्दर बेलि सुवचन्न,
पामी सद्‌गुरु तणी आसीस, अे रुषिराज नमूं नसदीस।'[1]

इरियावहीरास (७५ कड़ी) इसमें कवि गौतम गणधर की वंदना करके नवतत्त्व, बारह व्रत, बत्रीस अनंतकाय आदि की चर्चा करता है। इसका प्रथम छंद देखिये :—

'वर राजगृही जाणीइ, समोसर्या तिहिं वीर,
पहिलुं गणधर गुणनिलउ, गाजइ गुहिर गंभीर।'

अंत 'जे पडिकमसइ इरीयावही, शिवरमणी ते वरसइ सही,
पुहवि परगट ते गहगहइ, सहजिसुन्दर पाठक इम कही।'[2]

लघुअंतरंगरास का रचनाकाल, स्थान तथा अन्य विवरण नहीं दिया गया है। इसी प्रकार अन्य कई छोटी कृतियां हैं जैसे जइतवेलि ३४ गाथा, सरस्वतीछंद, सालिभद्रसंज्झाय, आदिनाथशत्रुंजयस्तव, आंखकान-संवाद और यौवन-जरासंवाद। पिछली दोनों रचनायें संवाद शैली में होने के कारण पाठकों को विशेष रूप से आकृष्ट करती हैं अतः उनका नमूना नीचे दिया जा रहा है। यौवन-जरासंवाद का आदि पद्य देखिये :—

अमर कुमर भुज सबल विमल कुल कित्ति विलक्खण,
धीर वीर गंभीर सधर गुणवंत विचक्षण।
श्री सारद मुख कमलि रमलि जिमकरइ सुहंसी,
दानवंत गुणवंत धर्म धनवंत सुवंशी।
उल्लसित हसित लीला ललित, कला ललित यौवन सहित,
श्री भोजराज भोगिक भमर करइ रज्जदूषण रहित।[3]

इसकी भाषा में सानुप्रासिकता, प्रवाह, लयमयता तथा गेयता द्रष्टव्य है। भाषा संस्कृत गर्भित तत्सम प्रधान मरुगुर्जर है। इसी प्रकार आंख-कान-संवाद का अन्तिम छंद देखिये :—

'जिन जेइवा अति आंखि हरखइं रूप निरखइं वली वली,
संगीत गीत रसाल नवनव सुणइं कान वली वली।
विसरी बात विवादनी परि भाव भगति करइं घणी,
करकमल जोडी सहज सुन्दर भणइं वाणि सोहामणी।'[4]

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५६२
२. वही, भाग ३, खंड २ पृ० १४९२-१४९३
३. वही, भाग १, पृ० १२९
४. वही, भाग ३, पृ० ५६२

कवि कहता है कि जब तक तर्क बुद्धि है तभी तक विवाद है किन्तु जब भावना-प्रवण होकर आंख जिनेश्वर का सुन्दर रूप निहारने लगी और कान उनकी मधुर वाणी से कृतकृत्य होने लगे तो सारा विवाद समाप्त हो गया। इन्होंने दो-तीन संज्झाय भी लिखे हैं। उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए शालिभद्रसंज्झाय की कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं:—

'प्रथम गोवाल तणे भवेजी, दीधू मुनिवर दान,
नगरी राजगृही अवतरिउ जी, रुपे अे मयण समान, सोभागी०
धन धनो सुगति गउजी, सालभद्र अनुतर विमान,
सहेजसुन्दर इम वीनवेजी, साची प्रवचन वाणि।'[1]

इन रचनाओं के आधार पर सहजसुन्दर एक समर्थ महाकवि सिद्ध होते हैं जिनकी भाषा सामर्थ्य अपने समकालीन अन्य कवियों की तुलना में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने प्रायः सभी रसों और नाना छंदों, देशी और ढालों का प्रयोग करके अपनी विविध रचनाओं में जैन समाज में प्रचलित कथाओं के माध्यम से संयम एवं सच्चरित्रता का सन्देश दिया है। आप कोरे उपदेशक नहीं बल्कि एक सहृदय एवं उच्चकोटि के साहित्यकार थे। अतः आपके सन्देश विशेष प्रभावशाली बन पाये हैं।

सर्वसुन्दरसूरि—आप मलधारीगच्छ के गुणसुन्दरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१० में 'हंसराजवत्सराजचरित्र' देवपाटण में निर्मित किया। इसमें पाँच प्रकरण हैं। आप पद्य के साथ उत्तम गद्य के भी समर्थ रचनाकार थे। आपने मेघराज कृत 'वीतरागस्तोत्र' पर अवचूरि लिखी है।[2] इसकी भाषा का निश्चय न होने से उद्धरण-विवरण नहीं दिया गया।

सारविजय—आपने नवपल्लवपार्श्वनाथगीत (गा० ८) लिखा है जिसका प्रथम छन्द निम्नांकित है:—

'मझमति उलट उपन्नउ, पूजिवा जिणवर पाय,
मणुय जनम फल लेइसिउं, करसिउं निरमलकाय।'[3]

इसकी आठवीं गाथा इस प्रकार है:—

सारविजय गुरु उपदेसइं श्री संघ पूजइ पास,
पास पसाइ संघनइं, दिनिदिनि अधिक प्रताप।'

---

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि, भा० १, पृ० ५६३
२. श्री देसाई—जैन साहित्य नो इतिहास पृ० ५१४
३. श्री देसाई—जै० गु० कवि, भाग ३, पृ० ४९३-४९४

साधुकीर्ति—आपकी रचना 'श्रीकीर्तिरत्नसूरिगीतम्' 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित है। इसका अन्तिम छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

'सुहगुरु थवणा पढइ गुणइ, वांचता आपण वयण सुणइ,
कुशल मंगल तसु पुण्य थुणइ, श्री साधुकीरति पाठक पभणइ।'[1]

साधुमेरु—आप आगमगच्छीय हेमरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५०१ (आषाढ़ी वर्ष पोष वदी ११) में धुधुंका में जीवदया पर आधारित अपना प्रसिद्ध 'पुण्यसाररास' लिखा। इसमें जीवदया को सब पुण्यों का सार बताया गया है। रचनाकाल का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—

'आषाढादि पनर अेकोतरइ पोसवदि इग्यारिसि अंतरइ,
धंधूकपुरि कृपारस सत्र सोमवारि समर्पिउ अे चरित्र।'[2]

'एकोतरइ' का अर्थ १५०१ ही है न कि १५७१ जैसा श्री देसाई ने किया था। कवि ने अपने नाम को पंडित, मिश्र, गणि आदि उपाधियों से अलंकृत किया है, यथा—

'सुगुरु पसाइ नयर गोआलेर, धरणी पुण्यसार रिद्धिइकुबेर,
तासु गुण इम वर्णवइ अजस्र, साधुमेरु गणि पंडित मिश्र।'[3]

इसमें जीवदया द्वारा ही सर्वसिद्धि की प्राप्ति संभव बताई गई है, अन्तिम छंद देखिये—

'जीवदयानी हियउ धरउ बुद्धि, जीवदया पालउ मनशुद्धि
जीवदया लगइ निरन्तर वृद्धि, जीवदया पालिइ हुइ सर्वसिद्धि।'

साधुरत्नसूरि—आप पुण्यरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने 'कयवन्नारास' की रचना चौपाई छंद में की है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है—

'पणमिय वीर जिनेसर देव, सरसति सामिणि समरी हेव,
करजोडिनइं कहुं विसाल, कयवन्नानउ रास रसाल।
दान बहु सुणयो संसारि, दानइं दुर्गति दूरइं वचारि,
दानइ सुख सम्पत्ति संयोग, दानइं मनवंछित लहीइं भोग।'[4]

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—'श्रीकीर्तिरत्नसूरिगीतम्'
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १२२
३. वही, भाग ३, पृ० ४५३
४. वही, भाग १, पृ० १३८

इसमें कयवन्नाचरित्र के माध्यम से दान का माहात्म्य समझाया गया है। इसकी अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

'साधुरतन सूरि इम भणइ, कयवन्नानु चरित्र जे सूणइं,
भणइ भणावइ जे बलि गणइं, चउदरयण नवनिधि आगंणइ।'

सालिग—आपने जीवदया के ऊपर 'बलभद्रबेलि' (२८ गाथा) लिखी है। इस बेलि में जीवदया और सम्यक्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'द्वारिका नयरी नीकल्या, बे बंधव इक ठाय,
त्रिषा ऊपनी कृष्णनइ, बंधव पाणी पाय।
बंधव जाइ लाव्युनीर, ऊबीसम साहस धीर,
पउढयउ छइ वृखतली छाया, कुमलांणी कोमलकाया।'

कृष्ण और बलभद्र द्वारका भस्म होने पर वहां से चलकर वन में पहुँचे, कृष्ण को प्यास लगी, वही से वेलि प्रारम्भ हुई है। इसका अन्त इन पंक्तियों से हुआ है—

'इम जीव दया प्रतिपालउ, साचउ समकित रयण उजालउ,
समकित विण काज न सीझइ, सालिग कहइ सुधउ कीजइ।'[1]

कृष्ण के जीवन के करुण प्रसंग पर आधारित यह रचना भावना युक्त है और भाषा भी भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त एवं सक्षम है।

सिद्धर (श्रीधर)—(मोढ अडालज वणिक मंत्रि सहसा सुत) आपने सं० १५५५ में जूनागढ़ में 'रावणमंदोदरीसंवाद' की रचना की। इस कवि को भी देसाई ने जैनेतर बताया है क्योंकि प्रारम्भ में कवि ने जिन भगवान् का स्मरण नहीं किया है, यथा—

'गाउस गोर सुगुरु रघुपति रमा, वारस धूय अनइ ब्रह्माण,
ताइं शिरोमणि सवि सकति, सिद्धर देउ वाधगाणि।'

इसका रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है—

'संवत पनर प्रपा शुधि ? (पासठइ) जीर्ण दुर्ग निरवास,
पूरण ग्यारह चोपइ, बे सइं बुद्धि प्रकाश।
प्रकाशइं पातिक हणइं, गाइं जे नरनारि,
रामकथा श्रवणे सुणइं अवतरिनहि आवार।''[2]

---

१. नाहटा—जै० म० गु० क० भाग १, पृ० १३४, १३५

२. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खंड २ पृ० २११८-२१२०

अपना परिचय देता हुआ कवि लिखता है—

'मंत्रीसर सहसा सूतन, कविता सिद्धर नाम,
उतपति मोट अडालिजा, सोइतूठा श्रीराम।'

संवाद शैली की इस रचना में रावण-मंदोदरी के संवाद द्वारा पवित्र रामकथा कही गई है। मरु-गुर्जर में एक श्रेष्ठि द्वारा लिखित यह रामकथा अन्य रचनाओं से भिन्न कोटि की है क्योंकि यह जैन दृष्टिकोण के बजाय वैष्णव दृष्टि से लिखी गई है, दो पंक्तियाँ संदर्भ में उद्धृत हैं—

सिंघासण वइठा श्रीराम, सकल लोकना सारइं काम,
सो उपगार अमीरस थया, तिम सिद्धरनइ दीधी मया।'

सिंहकुशल—आप तपागच्छीय हेमविमलसूरि, ज्ञानशील के शिष्य थे। आपने सं० १५६० चैत्र शु० १३ गुरु को 'नन्दबत्रीसीचौपइ' लिखी। यह रचना प्रकाशित है। इनकी दूसरी कृति 'स्वप्नविचारचौपइ' ४२ कड़ी सं० १५६० में ही लिखी गई। श्री मो० द० देसाई ने इनका नाम सिंहकुशल, सिंहकुल और संघकुल[१] भी बताया है। नन्दबत्रीसीचौपइ का प्रथम छन्द इस प्रकार है—

'आगम वेद पुराणं, जाणता ने नरा हीयं मग,
जं जं कवित कविअण तं सारद तुह पसाउ थाउ।
पहिलुं प्रणमुं सरस्वती भगवती लील विलास,
श्री जिनवर शंकर नमुं मांगु बुद्धि प्रकाश।'

रचना काल—'संवत पनर साठ मझारि, चैत्र शुदि तेरस गुरुवार,
जे नर विदुर विशेषइ सुणइ, सिंहकुशल इणि परि इम भणइ।'

इस पंक्ति में लेखक ने अपना नाम सिंघकुशल लिखा है।

पहले नंदबत्रीसी हेमविमलसूरि की रचना समझी जाती थी किन्तु वह उनके शिष्य ज्ञानशील के शिष्य सिंहकुशल की रचना प्रमाणित हुई है। श्री शामलभट्ट ने इस पर वार्त्ता लिखी है और नन्दबत्रीसी पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

स्वप्नविचारचौपइ के प्रारम्भ में सरस्वती की वंदना करता हुआ कवि कहता है—

पहिलु मनि जोइ करी, गुरुमन गरुउ सार,
सरसति माइ पसाउलि, बोलसुं सुपन विचार।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५२९ और भाग १, पृ० १०३

प्रथम पहरि रयणी जाणि जे, सुहउ पणि होइ,
तस तणउ फल शुभ अशुभ, वरस छेहि तु जोइ ।[1]

इसकी अन्तिम पंक्तियां देखिये—

'नानशील पंडित जयवंत, ते सहिगुरु प्रणमी अेकंति,
संवत पनर साठा मांहि, सुहण फल सुणज्यो चउपइ ।
भणसिइ गुणसिइ जे नरनारि तस घरि मंगल नवरच्यारि ।
सुपन विचार वली सुहलहि, मुनिवर सिंघकुल इणिपरि कही ।'[2]

सिंहकुल—ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहकुशल और सिंहकुल दो भिन्न कवि थे। आप बिवदणिकगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५५० में 'मुनिपतिचरित्र' की रचना की। इस रचना में कवि ने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार लिखी है—

'बिबदणीकगच्छ सोहि गणधार, श्री देवगुप्त सूरि जयकार,
तास शिष्य सिंघकुल इम भणी, सांभलता नवनीध्य अंगणइ ।'[3]

इसकी भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठान्तर मिलता है और किसी प्रति में रचनाकाल सं० १५५० और किसी में सं० १४८५ भी मिलता है, यथा एक प्रति में यह पाठ है—

'संवत पनर पचासो जाणि वदि वैशाख मास मनि आणि ।'

और दूसरी में 'संवत चउद पच्चासीइ जाणी, वैशाखवदि मास मनि आणि ।'[4] पाठ है।

प्राचीन प्रति में रचनाकाल सं० १५५० दिया गया है अतः वही ठीक मालूम पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि 'मुनिपतिराजर्षिचरित्र' के लेखक सिंहकुल 'नन्दबत्रीसी' के लेखक सिंहकुशल से भिन्न हैं। अतः यह भी स्पष्ट है कि सिंहकुशल का नाम सिंहकुल या संघकुल नहीं था। सिंहकुल या संघकुल 'मुनिपतिराजर्षिचरित्र' के लेखक हैं और सिंहकुशल से भिन्न व्यक्ति हैं।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १०३ और भाग ३ पृ० ५२९

२. ,, वही,

३. ,, वही, भाग ३ पृ० ५१९

४. ,, वही, भाग १ पृ० ९०

सिंहदत्तसूरि[1]—आप आगमगच्छीय विद्वान् थे। आपने सं० १५८२ से पूर्व 'शालिभद्ररास' की रचना की। आपके शिष्य सोमदेवसूरि ने 'सम्यकत्व कौमुदी' लिखी। इस रचना की हस्तलिखित प्रति जिनसागर शाखा भण्डार, बीकानेर में सुरक्षित है।

सीहा—इनकी प्रथम रचना जंबूस्वामीबेलि (१८ कड़ी) सं० १५३५ वैशाख शु० ६ को लिखी गई। दूसरी उपलब्ध रचना है 'रहनेमिवेलि' (१६ कड़ी) जो सं० १५३५ में लिखी गई। ये दोनों रचनायें जैनयुग के पु० ५ पृ० ४७३ से ४७७ तक छपी हैं। इनकी प्रथम रचना का प्रथम छन्द इस प्रकार है—

'समुद्र श्री प्रियपति भणइं, हुंउ जल तुं रतुसारलि,
बग करि सुगज कंगु वण, फलिया मन उनमूलि।
गडमण्डकइ सगध बहु चूकिसि, काम भोग सुख मूलि नाह
न भूलीयइ।[2]

इसमें रचना या रचनाकार का विवरण नही है। अन्तिम पंक्ति देखिये—

'नवाणवइ कोडि कनक तजी, जंबुकुमरु आठ नारि,
वीर जिणंद मुद्रा लइ, विरतउ इणि संसारि।
अनुदिन चतुविधि सयल संघ मुनि, अणुदिणु सीहा स्वामी।'

इनकी दूसरी रचना नेमि-राजुल की सरस कथा पर आधारित है। इसका प्रथम और अन्तिम छन्द दिया जा रहा है।

प्रथम :—प्रिय बन्दण परबति चडी, वरिसइ गहिर गम्भीर,
भीनउ कंबल कंचउ, मुख गोमटुं सरीर।
देखी गज गामिनी गयवर गहिगहिउ,
जिम कमलिणि मधुकारवेली पराली।'[3]

अन्त— 'संधदास सीहुभणइ, भविभवि नमि पायचल,
रहनेमि राजलि चरित सुणि, पाप पणासइ दूरि,
प्रसन्न चतुर्विध संधसयल मुनि अनुदिन सीहा या सामि।१६।'

इनकी भाषा पर प्राचीन काव्य भाषा-शैली का प्रभाव है।

---

१. श्री मो० देसाई—जै० गु० क०-भाग ३, खंड २ पृ० १४९४
२. वही, भाग ३, पृ० ४९१-४९२
३. वही

सुन्दरराज[1]– आपने सं० १५५३ में 'गजसिंहकुमारचौपइ' लिखी। इस रचना और इसके रचनाकार के सम्बन्ध में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है।

मुनिसुन्दरसूरि—ये तपागच्छीय साधु थे। इन्होंने सं० १५०१ में 'सुदर्शनश्रेष्ठिरास' की रचना की।[2] डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल के अनुसार मुनिसुन्दरसूरि की इस रचना के अलावा १८ रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें रोहिणीयप्रबन्धरास, जंबूस्वासीचौपइ, व्रजस्वामीचौपइ, अभयकुमारश्रेणिकरास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री अगरचन्द नाहटा सुदर्शनश्रेष्ठिरास का कर्त्ता मुनिसुन्दरसूरि के स्थान पर चन्दप्रभसूरि को बताते हैं। श्री मो० द० देसाई इसका लेखक मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य संघविमल या शुभशील को मानते हैं। सुदर्शनश्रेष्ठिरास का विवरण पहले दिया जा चुका है। श्री देसाई मुनिसुन्दरसूरि को 'शांतरास'[3] का लेखक बताते हैं किन्तु इसके रचनाकाल के सम्बन्ध मे निश्चित नहीं हैं। वे इसे सं० १४५५ की रचना बताते हैं। इस प्रकार उनके विचार से मुनिसुन्दरसूरि १५वीं शताब्दी के कवि हैं जबकि डॉ० कासलीवाल इन्हें १६वीं शताब्दी के प्रथम दशक का कवि स्वीकार करते हैं। डॉ० कासलीवाल और श्री देसाई ने इनकी जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनका विवरण उद्धरण नही दिया है। अतः इस सम्बन्ध में शोध की अपेक्षा है।

मुनिसुन्दरसुरि आदि शिष्य—'नेमिचरित-नेमि स्तव०'[4] नामक रचना का कर्त्ता मुनिसुन्दरसूरि का आदि शिष्य कौन है संघविमल, शुभशील या चन्द्रप्रभ—यह कुछ पता नही चल पाया है। इस रचना के रचनाकाल का भी पता नहीं है। यह सब शोध का विषय है। इसका प्रथम छंद निम्नांकित है :—

'जय जय नेमि जिणंद, समुद्र विजयराय कुलतिलो अे,
तिहुअण नयनाणंद, मुख जिम पूनिम-चन्दलो अे,
गोयम गुरु पणमेवि, सरसति सामिणि मनधरि अे,
पभणसु हूँ संखेवि, नेमितणा नव भव चरीई।

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ९५
२. क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन सन्त–पृ० २११-२१२
३. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४२२
४. वही, खंड २ पृ० १४९०

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'अभिनव गुरु गोयम अहबक सोहम सिरि सोमसुन्दर जगुपवर।
गुरु सिरि मुनिसुन्दरसूरि पुरंदर श्री जयचन्द्र मुनिन्द्र गुरु।
सिरि जिनकीरति च्यारिइ गणधर तास सीस अे इम भणइ अे,
जो भवीअ भणोसइ भाव सुणेसइ चिन्तामणिं करिताह
तणइ अे।३४।[1]

सूरहंस—आप तपागच्छीय हेमविमलसूरि—धनदेव के शिष्य थे।

'मत्स्योदरनरेन्द्रचौपइ' सं० १५७४ का कर्त्ता आपको बताया गया है।[2] इसके रचयिता का प्रश्न भी विवादास्पद है। श्री देसाई ने सूरहंस के शिष्य लावण्यरत्न की रचनाओं के साथ भी इस रास को गिनाया हैं और वही रचनाकाल भी बताया गया है। हो सकता है कि इसके लेखक लावण्यरत्न ही हों। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

'श्री तपारत्नशेखर सूरि, जिणि पडिबोध्या सावक सहस,
संवत पनर चिहुत्तरि वरिस, देवगिरि नगर कीधउरास।'[3]

इससे पता चलता है यह देवगिरि में लिखा गया। लेकिन रचयिता का नाम स्पष्ट नहीं है।

सेवक—आप तपागच्छीय लक्ष्मीसागरसूरि के भक्त थे। आपने सं० १५२५ के लगभग 'शालिभद्रफागु' गाथा ७२ लिखा। इसकी भाषा के नमूने के लिए इसके प्रथम दो छंद देखिये :—

'गोयम गणनिधि गण निलु, लवधि तणुभण्डार,
नामि नवनिधि पामीइ, वंछित फल दातार।
सरसति सामिनि पाए नमूं, मांगू अविरल वाणि,
सालिभद्र गुण वर्णवुं ले चडयो सुप्रमाण।

इस रचना के अन्त में कवि ने कुछ प्रतिष्ठा आदि का समय बताया है यथा :—

'सालिभद्र वीजउ सुणु, सुद्र सतन गदराज,
गूजरन्याति कुलतिलु कीधां उत्तमकाज।

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३, खंड २ पृ० १४९०

२. वही, भाग १, पृ० १३२

३. वही

संवत पनर वीसमि नयर सोत्रिजा मध्य,
देवभवन पद विसणां विम्ब प्रतिष्ठा कीध ।
संवत पनर पंचवीसमी भीमसाह प्रासादि,
अर्बुदगिरि श्री आदि जिन थाप्या श्री गदराज ।[1]

इन्ही प्रतिष्ठाओं के आसपास यह रचना भी हुई होगी। कविने रचना में अपने गुरु त० लक्ष्मीसागरसूरि को भी भक्तिपूर्वक प्रणाम किया है। यथा—

अन्तिम छंद — "एकमनाँ जे सांभलि, सालिभद्रनु रास,
कर जोडी सेवक भणि, करसिलील विलास।'

सेवक—आप अंचल विधिगच्छीय गुणनिधानसूरि के शिष्य थे। आदिनाथदेवरासधवल सं० १५९०, ऋषभदेवविवाहलुधवलबंध ४४ ढाल सं० १५९०, सीमंधरस्वामीशोभातरंग' और 'आर्द्रकुमारविवाहलु' गा० ४६ तथा 'नेमिनाथचंद्राउला' आपकी उपलब्ध रचनायें[2] हैं'। आप पूर्ववर्ती सेवक कवि से भिन्न, एक स्वतन्त्र एवं सबल कवि प्रतीत होते हैं। आगे इनकी भाषा शैली का नमूना तथा रचनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

'आदिनाथदेवरास' में चक्रेश्वरी की प्रार्थना करता हुआ कवि लिखता है :—

'प्रणमिसु पहिलू चक्रेश्वरीमात, जिन शासन स्वामिनी अे,
थापती विधपखि अतिहि उदार, सार करइ सेवकतणी अे।
ध्यायसूं जिनचुबीस जे सार, आदि आदीश्वर गाइसूं अे,
माय मरुदेवीअ तण मल्हार, नाभिराया कुल मंडणू अे।'

इस रास में भावसागरसूरि, गुणनिधानसूरि का सादर उल्लेख किया गया है। रचनाकाल का निर्देश इन पंक्तियों में है :—

'संवत पनर निऊइ अे काती मासि,
आजुआली गायु श्री जिनजगदाधार।'

'ऋषभदेवधवल' में ऋषभदेव के चरित्र का गुणानुवाद विवाहलो या धवल नामक काव्य विधा में किया गया है। इसकी भाषा में गेयता द्रष्टव्य है यथा :—

इम श्री नाभिनन्दन दुरित खंडण जगत्रमंडण जिनवरो,
इम गुरु तणइ सुपसाउ घामी गाइया जगहितकरो,

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० १२१-१२२
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५८१

अेह धवल गाइ जिन अराहइ जेह नरनारी सदा,
ते मुगति जाइ सुखीय थाइं बोलइ सेवक इम सदा।'[1]

सीमंधरस्वामीशोभातरंग में उनकी शोभा का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

'सुखकंदा कनक केतकी कांति कदली कोमला,
मनुषो अवतार मानूं पवित्र कारणि भूतला,
अष्टकर्म्म निर्मुक्ति सिद्धा आइरिया जगि सोहीइ,
आठ गणि संवदा जुत्ता आचार श्रुततनु मोहीइ।'[2]

'नेमिनाथचन्द्राउला'—२६ कड़ी की इस लघुकृति में नेमिनाथ का सरस एवं पवित्र चरित्र चित्रित है यथा—

'दोइ करजडी वीनवुं रे स्वामी श्री जिनरायो,
नेमिकुमर गुण गाइवा रे, हीयइ हर्ष न मायो।
हीयडि हर्ष न माइ रे सांमी नेमि जिणेष शिव गइ-गांमी,
भाग्य जोगि तुम्ह सेवा पामी, तुं प्रणमूं हुं निज सिरनामी।'[3]

इसकी अन्तिम चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'संयम पाली रायमइ रे शिवपुर आगलिधायो,
बहू जण तारी जिणवरु रे पूठिइं शिवपुरि जायो,
पूठिइं जिननी सार करेयो, सेवक-जननइं साथिइ लेयो,
कहइ सेवक स्वामी अवधारु दयाकरी सेवक निइ तारो।'

इस कवि के भावों में गहराई, तल्लीनता और रमणीयता तथा भाषा लालित्य के कारण यत्र-तत्र उच्चकोटि की कविता के दर्शन होते हैं। कवि ने जैनधर्म के प्रधान चरित्रों का आदर्श संयम, सिद्धान्त एवं उनकी त्याग-तपस्या का उदाहरण देकर पाठकों को जीवन का उच्चादर्श काव्य की रमणीयता के साथ समझाया है।

आचार्य सोमकीर्ति—आप काष्ठासंघ के नन्दीतट शाखा के प्रसिद्ध भट्टारक लक्ष्मीसेन के प्रशिष्य एवं भीमसेन के शिष्य थे। पट्टावलियों में आपको काष्ठासंघ का ८७वां भट्टारक बताया गया है। आपके गृहस्थ जीवन के

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५८२
२. वही
३. वही

सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है किन्तु आप सं० १५१८ तक भट्टारक बन चुके थे। आप उद्‌भट विद्वान्, श्रेष्ठ साहित्यकार एवं उत्कृष्ट संत थे। संस्कृत, प्राकृत, मरुगुर्जर आदि भाषा के ज्ञाता थे। आपने राजस्थान एवं गुजरात में निरन्तर भ्रमण कर जनसाधारण के बीच ज्ञान, धर्म, तप और संयम का संदेश प्रसारित किया। आपने अनेक मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराई, सांस्कृतिक समारोहों का नेतृत्व किया। इनका रचनाकाल सं० १५२६ से सं० १५४० तक माना गया है।[1] इनके शिष्यों में यशोधर, यशःकीर्ति, और वीरसेन आदि उल्लेखनीय विद्वान् हो गये हैं। आपने संस्कृत में सप्तव्यसन कथा, प्रद्युम्नचरित्र और यशोधरचरित्र लिखा। आपकी मरुगुर्जर भाषा में छह कृतियों का विवरण उपलब्ध है। उनके नाम है—गूर्वावली, यशोधररास, ॠषभनाथ की धूलि, मल्लिगीत, आदिनाथ विनती और त्रेपनक्रियागीत।

गुर्वावली—ऐतिहासिक रचना है जिसमें काष्टासंघ के पूर्वाचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। यह संस्कृत और मरुगुर्जर दोनों भाषाओं में लिखी गई है और गद्य तथा पद्य विधाओं का प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा का नमूना देखिये :—

'काम कोह मद मोह, लोह आंबतु टालि,
कट्ठसंघ मुनिराउ, इणी परि अजूयालि।
श्री लक्ष्मसेन पट्टोधरण पावपंक छिपी नहीं,
जो नरह नरिंदे वंदीइ, श्री भीमसेन मुनिवर सही।'[2]

इसका रचनाकाल इस प्रकार लिखा है :

'परनहसि अठार मास अषाढह जाणु,
अक्कवार पंचमी बहुल परव्यह बखाणु।

यशोधररास—यशोधर का चरित्र आचार्य जी को इतना प्रिय था कि इसे आपने संस्कृत और मरुगुर्जर दोनों भाषाओं में लिखा। यह एक प्रबन्ध काव्य है। संस्कृत में यह रास सं० १५३६ में लिखा गया। मरुगुर्जर में यह रास उसके बाद ही लिखा गया होगा। इनमें राजा यशोधर के जीवन का वर्णन १० ढालों में विभक्त करके वर्णित किया गया है। यह अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ लिखा गया रास है। रास के वर्णन प्रभावशाली है यथा—

---

१. कासलीवाल—राजस्थान के जैन सन्त, पृ० ३९-४९
२. वही, पृ० ४४

कोइल करइं टहुकडाए, मधुकर झंकारफूली,
जातज वृक्ष तणीथे वनह मझार वन देखी मुनि राउ मणि।
इहां नही मुझ काज ब्रह्मचार यतिवर रहितु अविलाज।

महारानी अपने रुपवान पति को धोखा देकर कोढ़ी के पास जाती है तो कवि को नारी चरित्र पर कुछ कहने का अवसर मिलता हैं। वे लिखते हैं :—

नारी विसहर वेल, नर वंचेवाए धडिए,
नारीय नामज मोहल नारी नरकमतो तडी ए,
कुटिल पणानी खाणि, नारी नीचह गामिनी ए,
सांचु न बोलि वाणि बाधिण सापिण अगिन शिखाये।'[5]

नारी सम्बन्धी ये उद्‌गार भक्तिकालीन अन्य सन्तों के स्वर से भिन्न नहीं है।[1] इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

'आदिनाथविनती' एक लघु स्तवन है जिसमें आदिनाथ का यशोगान किया गया है भक्ति भाव का एक उदाहरण देखिये :—

'तिणि कारणि तुझ पय कमलो सरण पयवउ हेव,
राखि क्रिया करे महरीय राव किं केव।
नवनिधि जिस धरि संपजिए अहनिशिजपता नाम।'

'त्रेपनक्रियागीत' में श्रावकों के पालने योग्य त्रेपन क्रियाओं की विशेषता बताई गई है। 'ऋषभनाथ की धूल' में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के संक्षिप्त जीवन कथा पर प्रकाश डाला गया है। इसमें जन प्रचलित सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। आपने अपने काव्यों में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा एवं अनेकान्त का विभिन्न कथाओं के माध्यम से प्रतिपादन किया है। इनकी भक्तिकाव्य की रचना भी बड़ी भावनापूर्ण है। आप मरुगुर्जर भक्ति साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों में थे।

सोमकुंजर—आपने सं० १५१४ से १५३० के बीच 'खरतरगच्छ पट्टावली' लिखी। यह प्रकाशित है। इसमें खरतरगच्छ के मुनियों का ऐतिहासिक क्रम से संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इनकी भाषा का नमूना देखने के लिए इसके प्रारम्भ की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है :—

'धन धन जिण (शासन) पातग-नाशन, त्रिभुवन गरुअउ गहगह अे,
जसु तषउ जसुवाउ गंगाजल, निरमल महिअले महमह अे।

१. कासलीवाल—पूर्वोक्त पृ० ४८

दस सय चउवीसहिं गये, उथापिउ चेइंय वासू अे,
श्री जिन शासनि थापिउ वसितिहिं सुविहित मुनि (वर) वासू अे।

इसके अन्त की एकाधपंक्ति खण्डित है यथा—

'आराधतउ विधि खरतर सं०....'
इम भणिइ भगतिहि सोमकुंजर जंम चन्द-दिणंदउ।'[1]

सोमचन्द्र—आप नागेन्द्रगच्छीय गुणदेवसूरि एवं गुणरत्नसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५२० के आसपास 'कामदेवरास' लिखा। आपकी दूसरी रचना 'सुदर्शनरास' का रचनाकाल नहीं ज्ञात हो सका है। कामदेवरास की प्रारम्भिक पंक्तियां प्रस्तुत हैं:—

'अरिहंत सिद्धनन्वयया पय-पंकय पणमिउण भावेण,
मांगेमि मंगलंवरा सुहकरगें दुरियडहरणं।

इसमें कवि ने आचार्य गुणदेव तथा गुणरत्न का उल्लेख किया है, तथा अन्त में लिखा है:—

'भावना भावइ दोष जावइ पाप पावइ भव थकी,
दान देई दीख लेई कठिन कर्म क्षयी करी।
बहुलोक तारी कुगति वारी मुगति रामा रसिधरी,
इम कामदेव कुंवरनी परि जैनधर्म जि कै करई।'
सयल संध बखाणीइ, कवि सोमचन्द भदंत,
जे सुणइ पभणइरास अे, तसु प्रसन्न श्री अरिहंत।३१४।[2]

इसके प्रारम्भ के कुछ छन्द प्राकृत भाषा में हैं, उसके बाद इस रास में अन्त तक मरुगुर्जर भाषा का प्रयोग किया गया है।

सुदर्शनरास भी उसी प्रति में एकत्र मिला जिसमें कामदेवरास है, अतः इसे भी सोमचन्द्र की ही कृति समझा जाता है। इसकी भाषा शैली भी प्राकृताभास और पुरातनता लिए हुए है अतः दोनों कृतियों का एक ही लेखक प्रतीत होता है। सुदर्शनरास का प्रारम्भिक छन्द इस दृष्टि से अवलोकनीय है:—

'पहिलउं प्रणमिसि अनुक्रमइं अे गणहर चउवीस,
पछइ शासन देवता, अेनेह नामूं सीस।
समरीय सामिणि सारदा अे, सानिधि संभार'

---

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, खंड २ पृ० १४९०-९१

२. वही, पृ० ४८५-४८६

आगइ पालु प्रतिपनु' अे, कविस्यू' अेकहारु।'[1]

इसमें सुदर्शन का चरित्र वर्णित है। रचना सामान्य कोटि की है, भाषा माधुर्य और काव्यसौष्ठवका अभाव है।

सोमचरित्र गणि—आपने तपागच्छीय आचार्य लक्ष्मीसागसूरि का चरित्र 'गुरुगुणरत्नाकरकाव्य' नामक प्रसिद्ध प्रबन्ध में लिखा है जिसके द्वारा १६वीं शताब्दी की गुजरात से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का सही वत्तान्त जाना जा सकता है। आप सोमदेवसूरि के प्रशिष्य एवं चरित्रहंस के शिष्य थे। यह रचना सं० १५४१ में संस्कृत में लिखी गई इसलिए यह मरुगुर्जर के इतिहास की परिधि में नहीं आती किन्तु यह इतिहास को जानने का एक प्रमुख स्रोत है अतः सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में इसका ऐतिहासिक महत्व रहेगा। इसीलिए इसका उल्लेख मात्र कर दिया गया है।

सोमजय—आप तपागच्छीय सोमदेव के शिष्य थे। आपने 'जीरावला पार्श्वनाथ' (४४ कड़ी) की रचना की। इसका विषय स्वतः स्पष्ट है। भाषा के नमूने की दृष्टि से इसके आदि और अन्त का छंद दिया जा रहा है :—

आदि—'जीराउलि राउलि कयनिवास, वासव संसेविअ पवर पास,
पासप्पहु महतुं पूरी आस, आससेण वंश विहिअप्प यास।'

अन्त—सोमजय समुज्जल कित्तिपूर, भवियण जण अन्तरतिमिरसूर,
इय मत्तिहि जुतइ थुणिअ पास, जीराउलि जिणमुझपूरि आस।[2]

यह पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखी हुई भक्तिपरक रचना है। इसमें विनय एवं दैन्य का प्राधान्य है। भाषा में अपभ्रंश की पुट मिलती है।

सोमविमलसूरि—आप तपागच्छीय आचार्य हेमविमलसूरि के शिष्य श्री सौभाग्यहर्षसूरि के शिष्य थे। हेमविमलसूरि और सौभाग्यहर्षसूरि के बीच आनन्दविमलसूरि हो गये हैं। आप ईडर निवासी ओसवाल मेघ की पत्नी माणेक दे की कुक्षिसे सं० १५४७ में पैदा हुए थे। मूलनाम बाधजी था। आपने सं० १५७० में हेमविमलसूरि से दीक्षा ली और सं० १५८२ में सूरि पट्टपर प्रतिष्ठित हुए किन्तु उसी समय इन्होंने गच्छभार अपने गुरुभाई सौभाग्यहर्ष को सौंप दिया जिन्होंने लघुपाशाल नामक एक नई शाखा चलाई। इसलिए तपागच्छ की पट्टावली में आनन्दविमलसूरि का नाम नहीं आता। सोमविमलसूरि ने इन्हीं आनन्दविमलसूरि से विद्याभ्यास किया

१. देसाई—जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास—पृ० ४९३, ७२९ और ७४५
२. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४६१

था और आपने आनन्दविमल के चरित्र पर आधारित 'आनन्दविमलसूरि संज्झाय' सं० १५९६ में लिखा क्योंकि उसी वर्ष आनन्दविमलसूरि चैत्र शुदी सप्तमी को स्वर्गवासी हुए थे। सोमविमलसूरि की १६ वीं शताब्दी में लिखी यहीं एक कृति है शेष रचनायें १७वीं शताब्दी में आती है किन्तु उनका संक्षिप्त परिचय यहीं दिया जा रहा है।

जीवनवृत्त सोमविमलसूरि के शिष्य आणंदसोम ने सं० १६१९ में 'सोमविमलसूरिरास' लिखा है। इस रास के आधार पर सूरि जी का संक्षिप्त जीवनवृत्त मालूम होता है। आप खंभात निवासी प्रसिद्ध मंत्री समधर के वंशज रूपवंत की पत्नी अमरादे की कुक्षि से सं० १५७० में पैदा हुए थे। आपका मूल नाम जसवंत था। हेमविमलसूरि के प्रवचन से इन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने ही दीक्षा देकर बालक का नाम सोमविमल रखा। इन्होंने संयम, व्रत, विद्याभ्यास के पश्चात् जब वाचक की पदवी पाई तो बड़ा उत्सव हुआ और लोगों को पाँच-पाँच सेर लड्डू भरी थालें बाँटी गई थीं। सं० १५९४ में आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और सं० १६३७ में स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार आप १६वीं और १७वीं शताब्दी के मध्य विद्यमान थे।

आप एक श्रेष्ठ साहित्यकार थे। आपकी प्रमुख रचनायें 'आनन्दविमल-सूरि स्वाध्याय', 'श्रेणिकरास' (सम्यक्त्वसाररास) सं०१६०३ (कुमारगिरि), 'धम्मिलरास' सं० १६१५ (कहीं-कहीं सं० १५९१) खंभात, 'चंपकश्रेष्ठी-रास' सं० १६२२ अहमदाबाद और 'क्षुल्लककुमाररास' सं० १६३३ अहमदाबाद हैं। इनके अलावा 'कुमारगिरिमंडणश्रीशांतिनाथस्तवन', चसिमां शब्दना १०१ अर्थ नी संज्झाय सं० १६३२ और मनुष्यभवोपरि दशदृष्टान्तनांगीत आदि कई छोटी रचनायें भी प्राप्त हैं। रचनाओं की विस्तृत सूची, विषयवस्तु स्थापना की शैली तथा भाषा-संरचना को देखते हुए आप १६वीं शताब्दी के अन्त और १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं। आपकी लिखी हुई १६वीं शताब्दी की प्रथम रचना है :—'आनन्दविमलसूरि सज्झाय[1] जो मुनि जिनविजय द्वारा संपादित 'ऐतिहासिक जैन गुर्जर काव्यसंचय में प्रकाशित है। इससे पता चलता है कि आनन्दविमल परिवार में विजयदानसूरि, विद्यासागर उपाध्याय, अमरहर्ष और विमलभाव आदि योग्य विद्वान् थे। विनयभाव ने भी आनन्दविमलसूरि पर दो स्वाध्याय लिखे हैं जो ऐ० जै० गु० काव्य-संचय में प्रकाशित हैं।

---

१. सं० मुनिजिन विजय—ऐ० जै० काव्य संचय

'धम्मिलरास' को श्री मो० द० देसाई ने सं० १५९१ की रचना बताया है।[1] इस रास में रचनाकाल इस प्रकार दिया गया है :—

'संवत् चन्द्रनिधान वली तिथि सिउं करी अ प्रधान,
रोस मास शुदि सार, वली पडवे आदित्यवार।'

इसमें कवि ने अपनी गुरु परम्परा के अन्तर्गत रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, सुमतिसाधु हेमविमल और अपने गुरु सौभाग्यहर्ष का सादर स्मरण किया है। भाषा के नमूने के लिए आरम्भ की कुछ पंक्तियाँ यहां दी जा रही हैं:—

'सरसति मझ मति दिउ धणी, आणी अंग उछाह,
पय पंकज सेवइं सदा, जेहनइं सुरनर नाह।
आदि संति श्री नेमि जिन, प्रगट पास जिनचन्द,
सयल ऋषि मंगल करण प्रणमुं वीर जिणंद।[2]

'श्रेणिकरास' प्रकाशित रचना है। इसे अहमदाबाद से शा० छोटालाल मगनलाल ने प्रकाशित किया है। रचनाकाल इस प्रकार कहा गया है :—

'भुवन आकाश हेमकर कलाअे मा० संवत हि नाण,
भाद्रवा सुद सोहामणि अे मा० पडवे चडयो प्रमाण।'[3]

यह रास कुमारपाल द्वारा स्थापित कुमारगिरि नगर में लिखा गया। इसमें मगध के प्रसिद्ध सम्राट बिम्बसार (श्रेणिक) का आख्यान वर्णित है। कवि ने इसे रसाल कहा है और रचना को भरसक सरस बनाने का प्रयास भी किया है। भाषा और काव्यशैली के उदाहरणार्थ अन्तिम चार पंक्तियाँ देखिये :—

'सुणी जे नरनारी गायसे अे मा० सुणसे आणि रंग,
ने सुख संपदा पामसे अे मा० भोग भलीपरे चंग
ज्यां लगे मेरु महीधर अे मा० ज्यां लगे शशधर तार,
त्यां लगे रास चिरन्जयु अे मा० नित्य मंगल जयकार।[4]

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४९, भाग १, पृ० १८६
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४९
३. वही, पृ० १८५
४. वही

चंपकश्रेष्ठिरास (सं० १६२२) का रचनाकाल कवि ने इन शब्दों में बताया है :—

'तेणइ रचीउ रास रसाल रे, वरनयर वइराटइ विशाल,
वरस बाहु नयने रस चंदरे संवत्सर इणि इह नाणिइ।

इस रास में दान का माहात्म्य श्रेष्ठि चंपक के चरित्र के आधार पर स्पष्ट किया गया है, यथा :—

'इम दाननउ महिमा जाणी रे, दान देयो भवीयण प्राणी,
धन सारथ वाहि घृत दानि रे, लहिउ जिनवर पद बहुमानि।

दान के लिए प्रसिद्ध व्यक्तियों जैसे शालिभद्र, चन्दनबाला आदि का भी दृष्टान्त यथावसर दिया गया है। कवि का भाषा पर उत्तम अधिकार प्रतीत होता है। मंगलाचरण से दो छंद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

'कमलनयन तनया विमल कमल कमण्डल जुत्त,
कमलिनयन कमलामुखी, कवि कमलादिउपुत्त।
हंसवाहनि सरसती, हंसगामिनि कवि मात,
हंसवणि सोहइ सदा, हंस समतेज विख्यात।[1]

छुल्लककुमारास' सं० १६३३ अहमदाबाद में लिखा गया। इसमें क्षुल्लकऋषि का आदर्श चरित्र चित्रित किया गया है। इसका रचनाकाल इस प्रकार बताया है—

संवत्सर सोलतैत्रीस भाद्रवा वदि आठमिदीस,
श्रीनेमि जिणेसर सामी, तसु नामि नवनिधि पामी।'[2]

छोटी रचनाओं की प्रतिनिधि के रूप में 'चसिमा शब्दना १०१ अर्थनी संझाय' का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। यह क्षुल्लककुमाररास से एक वर्ष पूर्व अर्थात् सं० १६३२ अहमदाबाद में लिखी गई। इसका आदि देखिये :—

'प्रणमउं परम पुरुषपरभावि, मनोरथ सीझइ जास प्रभावि,
अविरल वाणी सदा वरसति, सरसति मां वरसति।
मोटु भारती नुं भण्डार, शब्द रयणनउ जिहां नहीं पार,
जेहथी लहीइ अर्थ अनेक, चसिमां शतहुं लेइ एक।'[3]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६५०
२. वही, भाग १, पृ० १८७
३. वही, भाग ३, पृ० ६५२

इसमें रचनाकाल एवं स्थान इन पंक्तियों द्वारा बताया गया है :—

'अे चसिमाँ बोलना अर्थ ऐकसु' अेक,
श्री सोमविमलसूरि जपंइ करि विवेक।
श्री विक्रम नृप श्री संवत्सर शतसोल,
बत्रीस श्रावणि सुद सातमि रंगरोल।
नक्षत्र शुभ स्वाति अहमदावादि अर्थं,
रचिया अे भणता सीझइ सघला अर्थ।

उपरोक्त उद्धरणों से लेखक की काव्यक्षमता का अनुमान सहृदय अवश्य लगा सकेंगे और समझेंगे कि आप एक श्रेष्ठ कवि थे।

सौभाग्यसागरसूरि शिष्य—सौभाग्यसागर बड़तपगच्छीय लब्धिसागरसूरि के शिष्य धनरत्नसूरि के शिष्य थे। इनके किसी अज्ञात शिष्य ने सं० १५७८ दमण में 'चम्पकमालारास' नामक काव्य लिखा। सम्पूर्ण रास दोहे-चौपाइयों में लिखा गया है। इसमें चम्पकमाला के सतीत्व की स्तुति की गई है। इसका प्रथम दोहा देखिये :—

'गणहर मुख्य इग्यारह गुरु गोयम प्रणमेवि,
चंपकमाला सती तणु' चरीय भणु' संखेवि।'[1]

इसमें रचनाकाल का उल्लेख निम्नवत् है :—

'संवत पनर अठोतरे अे मा० उज्ज्वल आसोमास।'

इसमें कवि ने अपनी गुरु परम्परा बताकर अपने को सौभाग्यसागर का शिष्य कहा है। दोहा, चौपाई के अलावा इसमें पाँच-छह वस्तुछंद भी हैं। एक उदाहरण लीजिये—

थोडइदिन सीख्यउघणू' अे, सवि रहि सउपास,
चउरासी आसण भला अे, कामरंग अभ्यास।
पिंगल भरह विचार सार, नाटिक षट्भाषा
चतुरिम गुहिर गंभीर वख, अेहनी अे शाषा।'[2]

कवि ने अपनी भाषा को षट्भाषा कहा है। प्राचीन काल से वस्तुतः 'षट्भाषा' की परम्परा चलती रही जो हिन्दी में रीतिकाल तक मिलती

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि—भाग ३, पृ० ५७३
२. वही

है। इसका भक्तिकालीन रूप सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा के नाम से जाना जाता रहा है। ये कवि अपनी भाषा-संरचना में बड़े उदार होते थे, प्रादेशिक संकीर्णताओं से मुक्त थे, पर्यटनशील और संत कोटि के थे अतः सभी प्रदेशों की मिली-जुली भाषा शैली का प्रयोग करते थे ताकि सर्वत्र वह रचना समझी जा सके। इसे ही पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर कहा गया है जो प्रकृति से मिश्र भाषा है। सौभाग्यसागर के शिष्य ने भी वही भाषा अपनाई है।

संघकलश—आप तपागच्छीय सोमसुन्दरसूरि, मुनिसुन्दरसूरि, जयचन्द्रसूरि, विशालराज, रत्नशेखर और उदयनन्दिसूरि की वन्दना करके अपने प्रसिद्ध 'सम्यक्त्वरास' के रचना काल का निर्देश करते हैं—

> 'संवत पनर पचोतरइ अे माल्हतड़े मागिसर रचीउ रास सु,
> तलवाड़ापुरि निपनुअे माल्हतड़े, पुन्यरस कलस संकाश सु०।'[1]

यह १६ वीं शताब्दी के प्रथम दशक (सं० १६०५ तलवाड़ा) की रचना है। इसमें आठ भास हैं। यहाँ भास का अर्थ ढाल से है। इसमें 'माल्हतड़े' शब्द भी किसी लोकगीत की देशी का ही अंश है। रास का मंगलाचरण देखिये—

> 'परमाणंद रमानउ कंदो, पूनिम ससि जिम नयणाणंदो,
> चिदानंद मय जिणजयउ,
> केवल कमला लीलावासो, वासव सलहिय महिम निवासो,
> सासय जिणवर वंदीइ अे।'

कितनी संगीतमय पदावली है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> पढइ गुणइ मति सद्वहइं अे मा० जे सुणइ समकित रास,
> समकित पामी ते क्रमइं मा० पामइ शिवपुरि वास, सुणि।
> जां लगइ चंद सूरिज तपइ मा० जलनिहि जलपूरि,
> तां जयउ समकित सुरतरु अे मा० संघ मणोरह पूरि, सुणि।'[2]

इस कवि की भाषा में गेयता, प्रवाह और काव्योचित कोमलता है।

संघविमल—आपकी रचना 'सुदर्शनश्रेष्ठिरास' की चर्चा चन्द्रप्रभसूरि और शुभशीलगणि के साथ हो चुकी है। विशेष विवरण के लिए

---

१. श्री अ० च० नाहटा—परम्परा पृ० ५९
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४५७

देखिये श्री मो० द० देसाई कृत जै० गु० क० भाग १ पृ० ४२। यह रचना चन्द्रप्रभ, शुभशील, मेलासंघवी और संघविमल के नाम से जुड़ी है किन्तु अब तक इसके वास्तविक लेखक का निर्णय नहीं हो पाया है। यह प्रश्न विद्वानों के सत्प्रयास की अपेक्षा रखता है।

संघमाणिक्य शिष्य—संघमाणिक्य के किसी अज्ञात शिष्य ने 'कुलध्वजचौपइ' की रचना की है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

सारदसार नमुं सदा ससिवयणी सुजाणि,
सरसति सामिणि समरतां सुख संपति दि वाणी।
हंस वदन हंसवाहिनी. हरिहर सेविपाय,
हरिलंकी मृगनयणी हीइ धरु तुम्हें माइ।[1]

इस चौपइ में कुलध्वजकुमार का चरित्र शील के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्यतया दोहे और चौपइ छन्द का प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है, उदाहरणार्थ चौपइ की अन्तिम पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'अेहवु कुलध्वज राजा कहयउ, बुद्धि पसाइं जेहवु लहयु।
जे नरनारी पालि शील, कुलध्वज नी परि करसि सील।
शील प्रबन्ध मणि सांभली, तेह घरि लक्ष्मी अफलां फलइ।'[2]

संयममूर्ति—आप कमलमेरु के शिष्य थे। आपने सं० १५९४ (ज्ये० शु० ३ बुधवार) में कलावती चौपइ (गाथा २०१) और सं० १५९७ में 'गजसुकुमाल संधि' (कड़ी ७०) की रचना की। 'उदाइराजर्षि-संधि' नामक रचना के लेखक भी संयममूर्ति हैं। किन्तु इसमें लेखक संयम-मूर्ति ने अपने गुरु का नाम विनयमूर्ति दिया है। इसकी सं० १६६२ की प्रतिलिपि प्राप्त है। इसमें लेखक ने अपना नाम 'संजिम' लिखा है, यथा—

'उवझाय श्री विनयमूरति सीस 'संजिम' इम कहइ,'

कलावती चौपइ में संयममूर्ति लिखा है और गुरु का नाम कमलमेरु कहा है: —

'वाचक कमलमेरु सुपसाइ, कीयो कवित मन घरी उछाह
विधिइ करी संयममूर्ति कहइ, भणइ गुणइते नवनिधि लहइ।'[3]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६३७

२. वही पृ० ६३८

३. वही पृ० ६०४-६०५

गजसुकुमाल के अन्त में लेखक ने अपना नाम संजिममूरति लिखा है, यथा—

सिद्धमेद वरसह मुनिचन्द, देवकोटि माहे जिमचन्द,
संजिममूरति ते चिरनंदइ, गजसुकुमाल सदा जउ बंदइ।[1]

इससे लगता है कि लेखक अपना नाम संयममूर्ति, संजिममूरति और संजिम भी लिखता था और एक ही व्यक्ति हो सकता है, जहाँ तक गुरुओं की समस्या है, ऐसा लगता है कि संयममूर्ति वाचक कमलमेरु के नहीं बल्कि विनयमूर्ति उपाध्याय के ही शिष्य थे। गजसुकुमाल और उदाई भी ऋषि थे, अतः रचना के विषयवस्तु और अन्य विवरणों जैसे भाषा शैली, रचना काल आदि के आधार पर इन तीनों रचनाओं के कर्त्ता एक ही कवि संयम-मूर्ति मालूम पड़ते हैं।

कलावती चौपइ का प्रथम छंद निम्नाङ्कित है—

'तित्थेसर चुवीसमउ, वीर जिणंदह देव,
सिद्धरथ राय कुलतिलउ सारउ सुरनरसेव।

रचना तिथि 'संवत पनर चउराणसार, जेठ सुदी त्रीजइ बुधवार'

रचीयउ अेह उपशम भंडार, श्री विधिपक्ष गच्छ उदार।

गजसुकुमाल सन्धि का आदि छन्द देखिये—

पणमवि स्वामी नेमि जिणंद, जस सेवइ सुर नरवइ इंद,
गजसुकुमाल संधि मनरंगइ, पमणि जिम अंतगड अंगइ।

इनकी भाषा शैली में समानता है। उदाइ राजर्षिसंधि और गज-सुकुमाल संधि की काव्य विधा में भी समानता है। अतः बहुत सम्भावना है कि ये तीनों रचनायें एक ही कवि की हों।

उदाईराजर्षिसंधि की प्रतिलिपि के आधार पर देसाई ने इसका विवरण १७ वीं शताब्दी में दिया है किन्तु वे इसकी मूल रचना १६ वीं शताब्दी की मानने के पक्ष में हैं।[2]

संवेगसुन्दर (उपाध्याय)—आप जयसुन्दर उपाध्याय के शिष्य थे। आपकी रचना सारशिखामणरास सं० १५४८ का उल्लेख सर्वांगसुन्दर के नाम के साथ पहले किया जा चुका है। ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६०५

२. वही, भाग १, पृ० ४६२

हैं। इनका विशेष विवरण जानने के लिए जै० गु० क० भाग १ पृ० ६६ और भाग ३ पृ० ५०२ देखा जाय।

हर्षकलश या हर्षकुल (१)—आप तपागच्छीय हेमविमलसूरि के शिष्य कुलचरण के शिष्य थे। आपने सं० १५५७ में 'वसुदेव चौपइ' की रचना लासनगर में की। इसकी एक प्रति में रचना सम्बन्धी विवरण इस प्रकार दिया गया है :—

'वरलासनयर पुरिहरसि, सय पन्नर सत्तावन वरसइ,
कुलचरण पंडित गुण सीस, कहइ हरषकलस निसदीस।[1]

दूसरी प्रति में हरषकलश के स्थान पर हर्षकुल नाम मिलता है, यथा—

'वर लास नयरि धरि हरिस, सय पन्नर सत्तावन वरिस,
कुल चरण सुपंडित सीस, कहइ, हरषकुल निसदीस।'[2]

हर्षकुल ने वाक्यप्रकाश पर टीका लिखी है अतः सही नाम हर्षकुल ही मालूम पड़ता है। ३५८ कड़ी की यह रचना प्रायः दोहा और चौपाई छन्द में लिखी गई है। इसमें यदुवंशी वसुदेव का इतिवृत्त है। इसकी भाषा स्वाभाविक मरुगुर्जर है। नमूना देखिये :—

आदि 'सकल मनोरथ सिद्धि कर, धुरि चउवीस जिणिंद,
पय पणमि सुभावि करी, भवियण नयणानंद।
जे वसुदेव सोहामणी, यादव कुलि सिणगार,
चरित्र रचूं हूं तेहनूं सुणियो अतिहि उदार।[3]

इसमें गुरु परम्परा के अन्तर्गत लक्ष्मीसागर, सुमतिसाधु और हेमविमलसूरि का उल्लेख किया गया है।

हर्षकुल (२)—एक हर्षकुल नामक अन्य कवि १६ वीं शताब्दी में हुए जो पुण्यसागर के शिष्य थे। आपने 'महो० श्री पुण्यसागर गुरु गीतम' की रचना की है जो ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित है। यह ६ छंदों की लघु रचना है जो राग सूहव में निबद्ध है, इसमें पुण्यसागर को गुरु बताया गया है, उदाहरणार्थ देखिये :—

---

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि–भाग १, पृ० १०२
२. वही, भाग ३, पृ० ५२७-५२८
३. वही, भाग १, पृ० १०२

'विमल वदन जसु दीपतउ, जिम पूनम तउ चंदजी,
मधुर अमृत रस पीवता, थाइ परमाणंद जी।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'श्री जिनहंस सूरि सरइ सइ हथि दीखिय शीस जी,
हरषी हरषकुल इम भणइ गुरु प्रतपउ कोडि वरीस जी'।६।[1]

उपाध्याय हर्षप्रिय—आप खरतरगच्छीय क्षान्तिमन्दिर के शिष्य थे। आपने सं० १५७४ में 'शाश्वतसर्वजिनद्विपंचाशिका (गा० ५२) खंभात में लिखा। आपकी दूसरी रचना 'शीलइकतीसो (३१ गाथा) है। शाश्वत सर्वजिन द्विपंचाशिका एक स्तुतिपरक रचना है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :--

समरति सारदादेवि, त्रिभुवन तीरथ सासता ए,
ते संख्या पभणेसु, ते जिन शासन जागता ए।
वृषभानन व्रधमान चन्द्रानन तह वारिषेण,
ऐ चिहुं नाम समान सासय पडिमा त्रिहुभवणि।'

रचना काल और स्थान का निर्देश इस छन्द में किया गया है :—
'पनर चिहुत्तरि तवन कीध, खंभातइ नयरि,
भणतां गुणतां नितु विहाणि सुह संपय तसु धरि।'[2]

कवि कहता कि इस बावनी को पढ़ने से शेत्रुंज गिरनार, सम्मेत शिखर आदि तीर्थों की यात्रा का फल प्राप्त होगा—

'तिम सासय जिण इयाण बावन्नी भणंता,
श्री हर्षप्रिय उवझाय एम बोधि मांगइ रचिता।'

शीलइकतीसो में शील का माहात्म्य दर्शाया गया है। कवि गुरु का स्मरण करता हुआ अन्त में लिखता है—

'मन वचन काया तजी माया, विषय सुख मधु विंदुआ,
अरिहंत वाणी जीव जाणी, म करि नारी छंदुआ।
जे शील लाधैं जीव साधैं, मोक्ष ना सुख ते सुण्यौ,
श्री क्षान्तिमन्दिर गुरु प्रसादैं हर्षप्रिय पाठक भण्यो।'[3]

---

१. ऐ० जै० का० संग्रह क्र० सं० २१
२. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० क०—पृ० १४५
३. वही

इस उद्धरण से पता चलता है कि आप क्षान्तिमन्दिर के शिष्य थे और पाठक उपाधि से विभूषित थे। आपकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्वभावतः अधिक है। इस रचना में कवि ने शील की सुरक्षा के उपाय और उसके महत्त्व तथा उससे प्राप्त पुण्य फल का वर्णन किया है।

हर्षमूर्ति—आप भावडारगच्छ के भावदेव सूरि के शिष्य विजयसिंह सूरि के शिष्य थे। आपने 'पद्मावती चौपइ' की रचना की है जिसमें गुरु परम्परा के अन्तर्गत कालकसूरि से हरषमूरति तक का उल्लेख है। इसमें कवि ने पद्मावती के चरित्र द्वारा शील की महिमा का उद्‌घाटन किया है। शील की महिमा पर जोर देता हुआ कवि कहता है—

'सीलइ सवि सुख पामीइ, सील लगइ हुइ ऋद्धि,
सीलइ महिमा विस्तरी पामइ बहु परिसिद्धि,
सीलइ संकट सहू टलइ, सीलइं हुइ बहुरंग,
सुरनर सेवइ पयकमल दिनिइ हुई उत्सरंग।'[1]

इसके प्रारम्भ में भी दान, शील, तप आदि का बखान किया गया है। यथा—

आदि जिणेसर पयकमल विमल चित्त पणमेवि,
सील तणा महिमा सुणु हीयडइ हरष धरेवि।
दान सीलतप भावना, अे छइ च्यारि सार,
तीह चिहु माहि अधिकेरडु सील रयण संसारि।

आपकी एक अन्य रचना 'चन्द्रलेखाचौपइ' सं० १५६६ की लिखी हुई है। भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठभेद के कारण रचनाकाल कहीं १५६६ और कहीं १५६० भी लिखा है, यथा—

'पनर सठइ संवत्सर जांणि, श्रावण सुदि तेरसि मन आणि।
तिणि दीहाडइ हुउ विचार, चुपइ कीधी हरष अपार।
चन्द्रलेषानुं लेइ सम्बन्ध सामायकनु रचिउ प्रबन्ध,
हरष मूरति मुनिवर इम भणइ, गुणइ ते सिव सुख लहइ।'[2]

लेकिन दूसरी प्रति में पाठान्तर है, यथा—

'पनर छासठि वरसइ जाणि, श्रवण सुदि तेरस मनि आणि।'[3]

---

१. वही, भाग ३, पृ० ५३१
२. वही, भाग १, पृ० १०५
३. वही, भाग ३, पृ० ५३०

चन्द्रलेखा चौपइ में गुरु परम्परा नहीं दी गई है किन्तु यह पूरी सम्भावना है कि ये दोनों कृतियाँ एक ही कवि हर्षमूर्ति की हैं।

पण्डित हरिश्चन्द्र—जैन पण्डितों में तीन हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध हैं। प्रथम हरिश्चन्द्र संस्कृत के प्रसिद्ध कवि थे जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। दूसरे भट्टारक हरिश्चन्द्र बड़े उत्तम गद्य लेखक थे। इनके गद्य बन्ध का उल्लेख बाणभट्ट ने किया है। प्रस्तुत हरिश्चन्द्र तीसरे हैं। इनकी रचनाओं में मरुगुर्जर का प्रयोग मिलता है यद्यपि इनका झुकाव अपभ्रंश की ओर अधिक था। ये अग्रवाल कुलोत्पन्न विद्वान् लेखक थे। इन्होंने पद्धड़ी छन्द में 'अनस्तमित व्रतसन्धि' की रचना की है जिसमें रात्रि भोजन का निषेध मनोहर ढंग से किया गया है। इस कृति में किसी कथा का सहारा कवि ने नहीं लिया है बल्कि स्वतन्त्र रूप से इसे १६ सन्धियों में पूरा किया है। इसकी भाषा अपभ्रंश गर्भित और क्लिष्ट है। पता नहीं यह क्लिष्टता पांडित्य प्रदर्शन हेतु आचार्य केशवदास की तरह साभिप्राय है या मात्र अभ्यासवश है।

इनकी दूसरी रचना 'पंचकल्याण' है जिसमें तीर्थंकर के गर्भ, जन्म आदि पंच कल्याणकों का वर्णन किया गया है। कवि की भाषा और रचना के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालने के लिए एक उद्धरण प्रस्तुत है—

'गब्भ जम्म तप णण पुण महा अमिय कल्लाण।

इस भाषा के आधार पर इन्हें मरुगुर्जर का कवि कहना कठिन है अतः अधिक उद्धरण एवं विवरण अपेक्षित नहीं है।

हेमविमल सूरि—आप तपागच्छ के ५५ वें पट्टधर थे। आपने सं० १५६२ (आसो शु० १५ सोम०) में मृगापुत्र चौपइ' की रचना की। यह १०४ कड़ी की कृति हैं। इसके प्रारम्भ के दो छन्द भाषा के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

'वीर जिणेसर प्रणमूं पाय, अनइ बली गोयम गणहर राय,
धर सरसति समरू हुं देवि, चरिय मृगापुत्र रचउं संखेवि।
सुग्रीव नयर छइ रलीयामणुं, अति ससोभित वनतस तणुं।
राज करइ तिहां बलभद्र भूप, तस पटराणी अतिहि सरूप।'

---

१ श्री० मो० द० देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ६८ और भाग ३ पृ० ५०३

इसकी रचना तिथि इस प्रकार बताई गई है—

'संवत पनर वासठी जाणि, चरी रचउं मन उलट आणि,
आसोइ पूनिम सोमवार, करी चउपइ श्रुत आधारि।

इसका अन्तिम छन्द देखिये—

'मृगापुत्र ऋषि राजाओजी, जे गावइ नरनारी,
हेमविमल सूरि भणइ जी, ते तरस्यइ संसार।'

हेमहंसगणि—तपगच्छ के रत्नशेखर सूरि आपके गुरु थे। आपने सं० १५१५ में गिरनारचैत्यपरिपाटी (५० कड़ी) नामक ऐतिहासिक रचना लिखी जो पं० बेचरदास द्वारा सम्पादित होकर पुरातत्व वर्ष १ अंक ३ में प्रकाशित है। इसका प्रथम छन्द प्रस्तुत है जिसमें कवि ने गौतम और सरस्वती की वन्दना की है, यथा—

'पणमवि गोयम सामि नामि जसु आठइ सिद्धी,
सरसति अंबिक देवि बे भूवलय पसिद्धि।
कर सिरि जोड़ी वीनवू अे दिउ मउ मति माडी,
ऊजिल गिरिवर तणीय करिसु हिव चौत्र-प्रवाडी।[1]

इसमें लेखक ने अपनी गुरु परम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है—

'श्री सोमसुन्दर गुरुअ गणहर सीस शिव सुखदायको,
जयत श्री गुरु रयणसेहर सूरि तपगछ-नायको।
तसु सीस लेसिंहि हेमहंसिहिं थुणिय रेवयगिरिवरो,
जे भविअ भावइं तांह आवइं सयलसिद्धि सयंकरो।'[2]

आप उत्तम गद्य लेखक भी थे। आपने सं० १५०० में 'नमस्कार बालावबोध' लिखा जो संक्रान्तिकालीन गद्य भाषा का अध्ययन करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

हेमकान्ति—आप सुमतिसागरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५८९ (भाद० आठ, रवि) में 'श्रावकविधिचउपइ' (८४ गाथा) लिखा इसका प्रथम छन्द निम्नवत् है—

'सकल कला गुण जिणवर जांणा, तेह तणी तहमे मांनु आण,
अंग उपांग निर्युक्तिइ जोइ, सार वचन जिण वरना होइ।'

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४६१
२. वही

इसकी रचना तिथि कवि ने इस प्रकार बताई है—

'हुं अल्पश्रुत कविय न जाणउं, अच्छूत्र मिछा दुक्कड़ आणउ,
विधि पक्षि बहु श्रुत सोधीइ अे।
संवत पनर नव असीइ भाद्रव आठमि आदितवार
समतिसागर सूरि उपदेसीउं अे,
हेमकान्ति हरषउ आराहु, सामी वीर जिणेसर ध्याउ,
ऋद्धि वृद्धि कल्याण करो।'[1]

हेमध्वज—आपने सं० १५५० में 'जैसलमेरचैत्यपरिपाटी' (१६ गाथा) लिखी। रचना तिथि का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—

'संवत पनरह सय पंचासइ भाव भगति नमंसिया,
मगसिरइ मासइ मन उल्हासइ हेमध्वज पसंसिया।

इसका प्रथम छन्द वाग्वाणि की स्तुति में लिखा गया है, यथा—

'पहिलु हुं समरसि वाग्वाणि, माता दयउ मुखि विमल वाणि,
जिम चैत्र प्रवाड़ी करूंअ रंगि, जेसलमेरू देखी हरषि अंगि।'[2]

इसका अन्तिम छन्द भाषा के उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

'गणधर गण मूरति गरुइ, आदि जिणवर पादुका,
मरुदेवि मायड़ी सयल संघह, करउ मङ्गल मालिका।'

हंसधीर—आप तपागच्छ के आ० हेमविमलसूरि के शिष्य दानवर्द्धन के शिष्य थे। आपने सं० १५५४ में 'हेमविमलसूरिफाग' की रचना की। यह रचना 'जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय' में प्रकाशित है। इसी के साथ जै० ऐ० गु० काव्य संचय में 'हेमविमलसूरिस्वाध्याय' भी प्रकाशित है किन्तु उसके लेखक का ठीक पता नहीं चल पाया है। इस फाग के अनुसार आ० हेमविमल सूरि का जन्म जीराउला पार्श्वनाथ के समीपवर्ती बड ग्राम निवासी श्री गङ्गाधर की पत्नी गङ्गा की कुक्षि से सं० १५२० में हुआ था। आपका मूल नाम हदराज था। लक्ष्मीसागर सूरि के प्रभाव से वैराग्य दृढ़ हुआ। सं० १५२८ में आपने दीक्षा ली, तभी नाम हेमविमल पड़ा। आपने सुमति साधु से शास्त्राभ्यास किया। सं० १५४८ में गच्छ नायक हुए। सं० १५७० में आपने महोत्सवपूर्वक आनन्दविमल सूरि को डामिला ग्राम में सूरि पद प्रदान किया। इनकी लोकप्रियता की शिकायत किसी ने बादशाह

१. श्री देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, खण्ड २ पृ० १४९४
२. श्री अ० च० नाहटा—म० गु० जै० कवि पृ० १३७

से की और कहा कि इस साधु का सर्वत्र स्वागत शाहंशाहों जैसा हो रहा है, यह ठीक नहीं है। बस फिर क्या था, तुरन्त घुड़सवार सूरि जी की तलाश में दौड़ाये गये किन्तु जैन श्रावकों एवं साधुओं ने मिलकर बादशाह को समझा बुझा कर शान्त कर दिया। हेमविमल सूरि ने अन्त में आनन्दविमल सूरि से गणमुख्य का पद भार सँभालने का प्रस्ताव किया किन्तु उनकी विरक्ति को देखकर यह पद सौभाग्यहर्ष को सौंप दिया और स्वयम् सं० १५८३ में स्वर्ग सिधारे। फाग की अन्तिम पंक्तियाँ देखिये—

'हेम विमलगच्छ नायक दायक मुगतिविलास,
व्रत पूजा गिरिमंदर, कंदर गिरिकविलास।
दानवर्द्धन वरपंडित, पंडित वादीय वीर,
चरण कमलि अलिज मलि अे रमलि अे रसि हंसधीर।
संवत पनर अे चउपनइ ऊपनइ बुद्धि प्रकाश,
फाग रचिउ सुमुहुरतइ पुरतइ श्रावणमासु।[1]

इस फाग में ऐतिहासिक महत्त्व की अनेक सूचनायें हैं। आणंदविमल सम्बन्धी कई शंकाओं का इससे निवारण होता है और पता चलता है कि उनके रहते सौभाग्यहर्ष को गच्छ नायक क्यों बनाया गया। इसी प्रकार अन्य कई सूचनायें सरल भाषा में उपलब्ध हैं। इसमें हेमविमलसूरि के संयम, चारित्र और उच्चशील का वर्णन करके उनकी मदन निवारण शक्ति की पराकाष्ठा दिखाई गई है और इसी अर्थ में इसका फागु शीर्षक चरितार्थ होता है। इस फागु का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'अहो मन धरी सरस ते सरसती, वरसती अविरल वाणि,
सिरि तपगच्छपति गाइसुं, भाविसुं नित सुविहाणि।
हेमविमल सूरीसर इसर किर अवतार,
अणुदिण मयण निवारण तारण सयल संसार।[2]

हंससोम—तपगच्छ के आ० हेमविमलसूरि के शिष्य कमलधर्म आपके गुरु थे। आपने सं० १५६५ में 'पूर्वदेशचैत्यपरिपाटीरास' लिखा। इसका रचनाकाल कवि ने इन पंक्तियों में बताया है :—

'संवत पनर पासठइ मा० जात्र करी उदार सु०
संघ सहु घरि आविआ अे मा० दिन दिन उच्छव सारसु।[3]

१. ऐ० जै० गु० काव्यसंचय पृ० १९०
२. देसाई—० गु० क०—भाग १, पृ० ९८
३. ,, ,, पृ० ११३

इस संघ के साथ पं० कमलधर्म ने भी यात्रा की थी यथा—

'कमलधर्म पंडित वरु अे मा० जात्रा कीधी संघ साथ, सु०
सफल जनम हवइ मुझ हुओ अे मा० मुगति हुई हव हाथ।

गुरु परम्परा इस प्रकार बताई गई है:—

'तपगछनायक शिवसुखदायक श्री हेमविमल सूरिंद गुरु,
तस आण धुरंधर विबुध पुरंदर कमलधर्म पंडितवरु।
तस सीस नामइ हंससोमइ तीरथमाल रचि सुविमल,
जे भविअ भणेसि भावि सुणेसि, ते नर पामइ जात्रफलो।'[1]

इसमें कुल ५३ गाथायें हैं। संघ यात्रा का वर्णन और चैत्य दर्शन का पुण्यफल दिखाना ही इस रचना का उद्देश्य है। रचना सरल मरुगुर्जर में लिखी गई है।

श्रुतकीर्ति—आपने सं० १५५२ में हरिवंश पुराण और सं० १५५३ में 'परमेष्ठि प्रकाशसार' नामक ग्रन्थ लिखे। हरिवंश पुराण इस परम्परा की आदिकालीन मरुगुर्जर साहित्य के अन्तिम छोर की रचना है। परमेष्ठी-प्रकाशसार में सृष्टि की उत्पत्ति और नाना प्रकार के जीवादि का वर्णन किया गया है। तीसरी रचना योगसार[2] में योग, प्राणायाम और धार्मिक चिंतनादि का विवेचन किया गया है। उक्त तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित है। हरिवंश पुराण के अलावा शेष दोनों ग्रन्थ उपदेशपरक हैं और लघुकाय हैं, जिनकी भाषा सरल और भाव व्यन्जना सपाट हैं।

सं० १५५२ की लिखी 'धर्मपरीक्षा'[3] नामक कृति हरिषेण की धर्मपरीक्षा के आधार पर भ० श्रुतिकीर्ति ने लिखी। हरिषेण ने सं० ११४४ में जयराम की धर्मपरीक्षा के आधार पर अपनी धर्मपरीक्षा पद्धड़िया छन्द में की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसका रचनाक्रम प्राकृत, अपभ्रंश से होता हुआ मरुगुर्जर तक अक्षुण्य है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता हरिवंश के कर्त्ता श्रुतकीर्ति ही हैं या अन्य कोई श्रुतिकीर्ति हैं यह पता नहीं चल सका। दोनों का रचनाकाल एक ही है अतः पूरी संभावना है कि दोनों एक ही कवि हैं।

ऋषिवर्धनसूरि—आप आंचलगच्छीय गच्छनायक जयकीर्ति सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१२ (चित्तौड़) में 'नलदमयंतिरास' नलराज

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग १ पृ० ११३
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास ३ पृ० २४७ और २८१
३. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी—राजस्थानी सा० का सामान्य परिचय।

चउपइ' लिखी। इसमें नल और दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा जैनमतानुसार वर्णित है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये—

'सयल संघ सुहसंतिकर, प्रणमीय शांति जिणेसु,
दानशील तप भावना, पुण्य प्रभाव भणेसु।
सुणंता सुपुरिसवर चरिय, वाधइ पुण्य पवित्त,
दवदंती नल रायनूं निसुणु चारु चरित्त।[1]

इसका रचना काल इस प्रकार कहा गया है :—

संवत पनर बारोत्तर बरसे, चित्रकूट गिरिनगर सुवासे,
श्रीयसंघ आदर अति घणइ अे।
अेह चरित जे भणइ भणावइ, रिद्धिसिद्धि सुख उच्छव आवइ,
नितुनिमंदिर तस तणुइ अे।३३१।'

यह ३३१ पद्यों की रास रचना है। रास की वर्णन प्रणाली मनोहर है। श्री ऋषिवर्धनसूरि ने अतिशयपंचाशिका या जिनेन्द्रातिशयपंचाशिका की भी रचना की है। इसके तीन हस्तलिखित प्रतियों की सूचना श्री मो० द० देसाई ने दी है।[2]

ज्ञान (ज्ञानचन्द्र) आप सोरठगच्छ के क्षमाचन्द्र सूरि की परम्परा में वीरचन्द्र सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५६५ चैत्र शु० ६ गुरु० मंगरोल में वंकचूलरास (पवाडउ) लिखा। सं०१५९३ श्रावण बदी ९ गुरु० मंगरोल में 'वेतालपंचवीसी' और सं० १५९९ (मागसर शुदी १० गुरुवार) में 'सिहासनबत्रीसी' लिखी, आपकी एक छोटी रचना 'बारमास' (१८ कड़ी) भी है जो जैनयुग पु० ५ पृ० २५६ पर प्रकाशित है। सर्वप्रथम इसके ही आदि अन्त के पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं।

आदि 'सरसती चित समरी करी प्रणमी जिन पाय,
राजुल कहे सुणि चांदला चंदा कहजेरे जाय।
यदुपति नेमजी गाइयो, दीठे अति आणंद,
विशेष (वीर) चंद कविराज नो शिष्य कहे ज्ञानचंद।'[3]

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क० भाग १, पृ० ४८ एवं श्री अ० च० नाहटा परम्परा पृ० ६०
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ४६७
३. वही, पृ० ५४६

इसमें नेमि और राजुल की मधुर कथा के माध्यम से बारह मासों का वर्णन है। वेतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी अति लोकप्रसिद्ध[1] राजा विक्रमादित्य की कथाओं पर आधारित रचनायें हैं। वंकचूल की कथा द्वारा कविने संयम पालन का महत्त्व प्रतिपादित किया है। सिंहासनबत्तीसी का रचनाकाल कवि ने इस प्रकार बताया है :—

संवत पनर बाणवइ, मागसिर मासपवित्त,
शुक्ल पक्ष दसमी दिनइ श्री गुरुवार अवित्त।

इसके प्रारम्भमें सरस्वती की वंदना वस्तु छंद में की गई है, यथा—

वंभ तनया बंभ तनया पाय पणमेवि;
वपु धनसारह वर्ण जे धवल हंसजस वाहनि रज्जइ,
धवल वस्त्र जे पंगरणि, धवलहार गुण कंठि छज्जइ।
धवल सिंहासण आसणइ, धवलह पुस्तक पाणि,
न्यान कहइ ताइं सानधइ विक्रम कथा बखाणि।

इसमें विक्रमादित्य के सिंहासन की बत्तीस परियां एक के बाद एक करके ३२ कथायें संगुफित करके कहती है जैसे गोभी या केले के पत्ते में से दूसरा पत्ता निकलता जाता है।

बैतालपचीसी में राजा विक्रम और बैताल से सम्बन्धित पचीस कथायें बड़े मनोरंजक ढंग से कही गई हैं। इसका प्रारम्भ इस छन्द से हुआ है :—

'उदधिसुता सुत स्वामि रिपु, पिता नाभि उतपन,
तास सुता हूँ पयनमी, मागिस विमल वचन।

गुरु परम्परा और रचना काल भी इसमें दिया गया है, यथा—

'सोरठि गछि सोहामणा गुरु गरुआ गुणवंत,
खिमाचन्द्रसूरीसधर जणि कीधउ क्रम अन्त।
तास पाटि कहइ मन्दधी पंचवीशी वैताल,
ज्ञानचन्द्रसूरि इम वदइ, विक्रम गुण सविसाल।

रचनाकाल 'संवत पनर तिउइ रचीचारु कथा विचित्त,
श्रावण वदितिथि नवमीइ सुरगुरुवार पवित्त।

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३ पृ० ५४५

यह रचना कवि ने रत्नागरपुर के नवपल्लव पार्श्व के मन्दिर में की थी।

वंकचूलरास का रचनाकाल कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

'संवते पनरने पासठे चैत्रशुदतिथि छठि,
गुरुवारे मंगलपुरे रच्यु गच्छ सोरठि।

विन्ध्यवासिनी देवी का वर प्राप्त करने से सम्बन्धित इस पवाड़े के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड का अन्तिम छन्द देखिये :—

'न्यान भणइ कणिपार कहूँ, पव्वाडउ परचन्ड,
वंकचूल रा वर्णविउ अेक पणी परिखंड।[1]

इसका प्रारम्भ कवि ने पूर्व कवियों की स्तुति से किया है, यथा—

'ग्रन्थ अगगउ ग्रन्थ अगगउ किद्ध कवि श्रेणि,
ते बुधि बहुली निमीय जगह माहि तणि सुजस लीद्ध।

दूसरे खंड का आरम्भ कवि ने इस दोहे से किया है :—

न्यानचन्द्र कहि नृति करी, बांधू बीजू खंड,
बंकचूल किम वर्णबु, पव्वाडउ परचंड।'

इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव यत्रतत्र दिखाई पड़ता है। सामान्यतया भाषा सरल किन्तु आवश्यकतानुसार सरस तथा सक्षम भी है।

भ० ज्ञानभूषण (प्रथम)—आप भ० भुवनकीर्ति के शिष्य थे। बलात्कार-गण में ज्ञानभूषण नाम के चार भट्टारक हो गये हैं।[2] इन चारों में से प्रस्तुत ज्ञानभूषण प्रथम ने 'आदीश्वर फागु' की रचना की। आप विमलेन्द्र कीर्ति के शिष्य थे किन्तु बाद में भुवनकीर्ति को अपना गुरु मान लिया था। ज्ञानभूषण और ज्ञानकीर्ति सगे भाई और गुरुभाई थे। ये गोलालारे जाति के श्रावक थे। ज्ञानभूषण वडसाजनों के और ज्ञानकीर्ति लोहड साजनों के गुरु कहलाते थे। ये गुजरात के रहने वाले थे। भुवनकीर्ति के पश्चात् सागवाड़ा की भट्टा-

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ५४५
२. द्वितीय ज्ञानभूषण वीरचन्द के शिष्य थे और सं० १६०० से १६१६ तक भट्टारक रहे, तृतीय ज्ञानभूषण शीलभूषण के शिष्य थे (१७वीं शती) और चतुर्थ ज्ञानभूषण रत्नकीर्ति के शिष्य थे जो १८वी शताब्दी में हुए।

रक गादी पर ज्ञानभूषण बैठे और सं० १५५७ तक भट्टारक रहे। तत्पश्चात् अपने शिष्य विजयकीर्ति को भट्टारक पद देकर स्वयम् मुमुक्षु बन गये। आपने स्वयम् साहित्यसृजन किया और प्राचीन साहित्य की प्रतियाँ कराकर उन्हें सुरक्षित किया।

आत्मसंबोधन काव्य, ऋषिमण्डलपूजा, तत्वज्ञान-तरंगिनी, पूजाष्टक टीका, भक्तामर-पूजा, श्रुत-पूजा, सरस्वती-पूजा, शास्त्र-मंडल-पूजा आदि अनेक रचनायें आपने संस्कृत में की हैं। मरुगुर्जर की प्रसिद्ध रचना आदीश्वर फागु का उल्लेख पहले किया गया है। यह दो भागों में निबद्ध है। इसमें भगवान आदिनाथ के जीवन का संक्षिप्त वर्णन है जो पहले संस्कृत तत्पश्चात् पुरानी हिन्दी (मरुगुर्जर) में वर्णित है। इसमें २३९ पद्य संस्कृत के और २६२ पद्य पुरानी हिन्दी के हैं। प्रारम्भ में सरस्वती की वंदना इस प्रकार की गई है :—

'आहे प्रणमइ भगवति सरसति जगति विबोधन माय,
गाइस्यूं आदि जिणंद सुरिंदवि वंदित पाय।'[1]

आदिनाथ की बाललीला वर्णन का उदाहरण निम्न पंक्तियों में देखिये—

'आहे देवकुमार रमाडइ मातज माउरक्षीर,
एकधरइमुख आगिल आणीय निरमलनीर।
आहे एक हंसावइ ल्यावइ कइडि चडावीय बाल,
नीति नहीय नहींय सलेखन नइ मुखिलाल।

बड़े होकर आदिनाथ इन्द्र के समान प्रजा पर शासन करने लगे। एक दिन नीलांजना नामक नर्तकी की नृत्य करते करते मृत्यु हो गई जिसे देखकर इन्हें विरक्ति हो गई और सब त्याग कर मुक्ति मार्ग पर चल दिए। वे सोचते हैं :—

'आहे आयु कमल दल सम चंचल चपल शरीर,
यौवन धनइव अथिर करम जिम करतल नीर।
आहे भोग वियोग समन्वित रोग तणूं घर अंग,
मोहमहा मुनिनिंदित नारीयसंग।

इसका रचना काल सं० १५६० से कुछ पूर्व ही है।

'पोसहरास' व्रत के माहात्म्य पर आधारित रचना होते हुए भी अपनी

१. क० च० कासलीवाल—राजस्थान के जैन सन्त पृ० ४९-६३

काव्यशैली की विशेषता के कारण मधुर रासक है किन्तु पं० परमानन्द एवं डॉ० प्रेमसागर इसे द्वितीय ज्ञानभूषण की रचना कहते हैं। इस प्रकार इसके लेखक का निश्चित पता नहीं है। इसकी भाषा भी अपभ्रंश गर्भित है, अतः इसका विशेष विवरण एवं उद्धरण नहीं दिया जा रहा है।

इनकी अन्य रचनाओं में षट्कर्मरास, जलगालन रास, अक्षयनिधिपूजा आदि उल्लेखनीय हैं। 'षट्कर्मरास' कर्मसिद्धान्त पर आधारित लघु रासक काव्य है। इसमें देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान को षट्कर्म कहा है जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसमें ५३ छंद हैं। इसका अन्तिम छन्द नमूने के रूप में उद्धृत किया जा रहा है :—

'सुणउ श्रावक सुणउ श्रावक एहषट्कर्म,
घरि रहइतां जे आचरइ, तेनर पर भवि स्वर्ग पामइ।
नरपति पदपामी करीय नर सघला नइपाइ नामइ।
समकित धरतां जु घरइ श्रावक ए आचार,
ज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते पामइभवपार।[1]

जलगालन रास में जल छानने की विधि बताई गई है। इसमें ३३ पद्य हैं। इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

पाणीय आणीय यतनकरी, जे गलसिइ नर नारि,
श्री ज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते तरसिइं संसारि।[2]

आपका स्मरण कई परवर्ती लेखकों जैसे शुभचन्द्र और सकलभूषण आदि ने अपनी कृतियों में किया है। आपकी मृत्यु सं० १५६० के बाद किसी समय हुई होगी। आपकी अधिकतर रचनायें श्रावकों एवं साधुओं के लिए कर्त्तव्य कर्मों का विधि विधान बताने वाली हैं अतः इनमें साहित्यिक सरसता कहीं खोजने पर ही मिलती है।

ज्ञानसागर—आप नायलगच्छीय गुणसमुद्रसूरि की परम्परा में गुणदेव सूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५२३ में 'जीवभवस्थितिरास' (२२३२ गाथा), सिद्धचक्ररास—श्रीपालरास सं० १५३१ में लिखा लेकिन श्री मो० द० देसाई का कथन है कि जीवभवस्थितिरास का कर्त्ता बड़तपगच्छीय ज्ञानसागर का कोई शिष्य (संभवतः वच्छ या वाछा) है। ज्ञानसागर की निश्चित रचना सिद्धचक्ररास ही है।

१-२. कासलीवाल—राजस्थान के जैन सन्त पृ० ६०

सिद्धचक्ररास में श्रीपाल का लोकप्रसिद्ध चरित्र पद्यबद्ध है, इसमें कवि ने श्रीपाल के चरित्र के माध्यम से सिद्धचक्र नवकार मन्त्र का माहात्म्य बताया है इसलिए इसके दोनों नाम प्रसिद्ध हैं। कवि ने रास के अन्त में लिखा है कि जो भी यह रास पढ़ेगा वह नवकार मन्त्र के बल से उसी प्रकार सर्वसिद्धि प्राप्त करेगा जिस प्रकार राजा श्रीपाल ने प्राप्त किया था, यथा—

'रास रच्यो सिद्धचक्र नी अे मा० गाइउ श्री नवकार,
एकमनां जे सांभलइ अे मा० तेह घरि मंगलमाल
रिद्धि अनन्ती भोगवइ अे मा० जिम नृपति श्रीपाल।'[1]

गुरुपरम्परा के अन्तर्गत कवि ने नागेन्द्रगच्छ के गुणसमुद्र सूरि, आणंद प्रभसूरि और गुणदेव सूरि का वंदन किया है तत्पश्चात् रास की रचना तिथि बताई है :—

'तास सीस अे रास रचिउ अे मा० ज्ञानसागर उवझाय,
संवत पनर अेकत्रीसइ मागसिरिइं अे मा० उजलीबीज गुरुवार।[2]

जीवभवस्थिति रास—बृहत् रास ग्रन्थ है और निश्चित रूप से १६वीं शताब्दी का है अतः यहीं उसका भी परिचय दिया जा रहा है। इसे बड़तपगच्छीय ज्ञानसागर के शिष्य वाछा की रचना कहा गया है। यह कृति सं० १५२० में लिखी गई। इस सन्दर्भ में इसकी अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

'बड़तपगछ रत्नागरसागर जिम भरपूरि,
तिहांगच्छपति अछइ विद्यमान श्री ज्ञानसागर सूरि।
तास वयण सुण्यां मनशुद्धिइ तीणइं बुद्धि हुओ प्रकाश,
कीधु उपगारतणी मति जीवभवस्थिति रास।

रचनाकाल इस प्रकार बताया गया है :—

'पनर से बीसा फागुण सिद्धि तणउ निवास,
रवि पक्ष अने तिथि तेरसि ते रच्यउ पुन्य प्रकाश।[3]

यह हो सकता है कि यह रचना वाछा या वच्छ की हो और वे अन्य ज्ञानसागर के शिष्य हों, केवल भ्रमवश यह रास इन ज्ञानसागर के नाम से प्रचलित हो गया हो। अतः यह प्रश्न विचारणीय है।

१-२. देसाई—जै० गु० क०—भाग १ पृ० ५६-५८ और भाग ३ पृ० ४८७-४८८
३. वही —भाग १, पृ० ५६

ज्ञानाचार्य—आपकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं (१) 'विल्हण 'पंचाशिका' और (२) 'शशिकला पंचाशिका'। दोनों प्रसिद्ध कश्मीरी कवि[1] विल्हण की रचनाओं पर आधारित हैं। यह रचना १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण की होनी चाहिये क्योंकि इसकी सं० १६२६ की हस्तलिखित प्रति प्राप्त है। यह रचना प्राचीन काव्यसुधा भाग ४ पृ० १५७ पर प्रकाशित है। इसके प्रकाशक शेठ हंसराज पुरुषोत्तम विश्राम भाव जी हैं। इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'मकरध्वज महिपति वर्णवूं, जेहनूं रूप अवनि अभिनवूं,
कुसुम बाण करिकुंजर चडिइ, जार प्रपाणि धराधडहडइ।
कोदंड कामिनी तणू टंकार, आगलि अलि झंझा झंकारि,
पाखलि कोइलि कलरवकरइ, निर्मल छत्रश्वेतशिर धरइ।'[2]

इसमें नानारसों से युक्त अनेक मनोहारी वर्णन हैं किन्तु भाषा की अक्षमता के चलते मूल भाव आच्छादित हो गये हैं, यथा—

'आपि वारु अेक अवास, मणि माणिक घन संपूं नास,
दूरब प्रेम बिहि जण धणउ, पारन पामि कविते तणउ।
कामि काजि कीधूं चूपइ, खंति करी निरखउ थिरथइ,
भणिसइ विल्हण वाणी तेह, ज्ञान भणइ रसि राता जेह।'[3]

विल्हण की मूल रचना शृंगार प्रधान है; उसमें प्रेमानुभूति के नाना सरस प्रसंग है, उच्चकोटि का काव्यत्व है किन्तु ज्ञानाचार्य ने उन कोमल भावों पर भाषा का जो वस्त्र पहनाया है, उससे उसकी प्रकृत शोभा आच्छादित हो गई है।

---

१. बिल्हण—यह कश्मीरी विद्वान् कवि था जो कश्मीर से चलकर गुजरात आया और पर्याप्त समय तक अनहिलवाडा में रहा। उस समय वहां राजा कर्णदेव राज्य करता था। यह कवि इससे पूर्व पंजाब के हाकिम क्षितिपाल के यहाँ रहा और उसकी पुत्री से प्रेम करने लगा था, फलतः क्षितिपालने कुपित होकर इसे हटा दिया। उस समय विल्हण को जो विरह जन्य स्वानुभूति हुई थी उसे उसने संस्कृत भाषा में 'विल्हण पंचाशिका' नाम से लिखा था। श्री ज्ञानाचार्य की 'विल्हण पंचाशिका' इसी रचना पर आधारित मरुगुर्जर भाषा में लिखी गई है।

२. देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० १७३ और भाग ३ पृ० ६३६

३. वही भाग १, पृ० १७४

'शशिकला पंचाशिका' की भाषा तो श्री देसाई जी के शब्दों में अति भ्रष्ट है क्योंकि इसकी ४० चौपाइयां मरुगुर्जर भाषा में शेष मरुगुर्जर मिश्रित संस्कृत में होने के कारण रचना अटपटी हो गई है। इसमें ऐतिहासिक हाकिम क्षितिपाल और उसकी पुत्री के स्थान पर कल्पित पात्र गुजरात के वीरसिंह और उनकी पुत्री शशिकला को रखा गया है। इन्हें लेकर विल्हण ने जो काव्य लिखा, ज्ञानाचार्य की यह रचना उसी पर आधारित है। ज्ञानाचार्य ने शशिकला के पिता का नाम पृथ्वीचन्द्र रखा और उसे पाटण का राजा बताया है। इस काव्य में विल्हण ने राजकुमारी के साथ नायक द्वारा भोगे गये विलास सुख का उन्मादक चित्र खींचा है। जैन साधु श्री ज्ञानाचार्य ने अपनी कृति का उपयुक्त आधार नहीं चुना क्योंकि वे न तो कामोद्दीपक स्थलों का सही भाषान्तरण करने की स्थिति में थे और न उन्हें छोड़ कर रचना पूर्ण कर सकते थे, अतः द्विविधा में फँस कर यह रचना कुंठित हो गई है। इसकी भाषा पर गुजराती प्रभाव अधिक है। इसका आरम्भ इस प्रकार हुआ है :—

'एक दिन बइठी सहिइर साथि हसि हरखि ताली देइ हाथि,
सही कही सांभलि शशिकला, पूंछू बात एक निर्मला।
जिम विल्हण परकास्यूं सर्व, तिम तूं कहि मूंकी मन गर्व,
कही कुमरी सुणिज्यो सहू, तेहने नेहनी बात प्रकाशूं अह्मे।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'थयु विह्लिल छोड़ी आगली, क्रीड़ा सुरत कीध तणि बली,
वार वार संभारु तेह, प्राण पाहि बाहलु वर अेह।'[1]

इसमें कुल ६० चौपाइयाँ हैं जिनमें से बीस संस्कृत गुजराती मिश्रित भाषा में है, शेष की भाषा भी विल्हण के भावों को यथावत् अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। वस्तुतः इन साधुओं की भाषा उपदेश परक बातों को सरल ढंग से समझाने योग्य हैं किन्तु उच्च कोटि की ध्वनि, व्यंजना, माधुर्य आदि से रहित होने के कारण कोई बड़ी काव्यकृति का भाव वहन करने में अक्षम है। यह स्थिति सभी लेखकों की नहीं है अपितु कुछ तो तत्कालीन अन्य भाषा कवियों की तुलना में कहीं अधिक सक्षम भाषा शैली का प्रयोग अपनी रचनाओं में कर गये हैं।

---

१. देसाई—जै० गु० क०-भाग १, पृ० १७४

अज्ञात कवि कृत कृतियाँ—अब तक १६ वीं शताब्दी के ज्ञात कवियों की रचनाओं का परिचय यथासम्भव दिया गया है, अब कुछ ऐसी रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है जिनके लेखकों का नाम अज्ञात है। ये रचनायें विभिन्न संकलनों में संकलित हैं या इतिहास ग्रन्थों में उनका उल्लेख हो चुका है। इनमें से कुछ रचनायें साहित्यिक महत्त्व की हैं और कुछ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं अतः इन्हें छोड़कर कोई साहित्येतिहास ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विभिन्न जैन-भांडारों में न जाने कितनी हस्त-लिखित प्रतियाँ अभी भी वेष्ठनों में बँधी मूल्याङ्कन की प्रतीक्षा कर रही हैं, लेकिन यह कार्य इतिहास लेखन से अधिक अन्वेषण और खोज का है इसलिए वह कार्य इस ग्रन्थ में पूरा करना न सम्भव है और न अपेक्षित है। अकेले १६ वीं शताब्दी की पचासों ऐसी कृतियाँ हैं जो काफी समय से पाठको-पंडितों के सामने हैं किन्तु उनके लेखकों के नाम और अन्य विवरणों पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका है। यह कार्य भी विद्वानों और अनुसंधित्सुओं के ध्यानाकर्षण की प्रतीक्षा कर रहा है। जैन श्रावकों और साधुओं ने जिस निष्ठा से ग्रन्थ लेखन और भण्डारण का श्लाघनीय कार्य किया है विश्वास है, उसी तत्परता और आस्था के साथ वे लोग इस विशाल साहित्य के शोध-सम्पादन और प्रकाशन कार्य भी अवश्य करेंगे।

सर्वप्रथम भोगीलाल सांडेसरा और सोमाभाई पारेख द्वारा सम्पादित 'प्राचीनफागुसंग्रह' में संग्रहीत उन कृतियों का विवरण दिया जा रहा है जिनके लेखकों का नाम-पता अज्ञात है ये रचनायें अधिकतर जैन विद्वानों द्वारा लिखित हैं किन्तु कुछ रचनायें जैनेतर लेखकों की भी विचारणीय हैं।

विरह देसाउरी फाग'[1] यह जैनेतर कृति है किन्तु १६ वीं शती की महत्त्वपूर्ण फागु कृति है। इसमें लौकिक नायक-नायिका को आलम्बन बनाकर 'बसन्त बिलास' की तरह पहले विप्रलंभ और बाद में संयोग शृङ्गार का वर्णन किया गया है। काव्य के उत्तरार्द्ध में नायक प्रवास से लौटता है इसलिए 'विरह देसाउरी' नाम सार्थक है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'आज सखी मन कम्पये तालावेलि करेइ,
फागु खेलणदिन आवीउ प्रिय देसान्तर लेइ।

---

१. 'विरह देसाउरी फागु' प्राचीन फागु संग्रह पृ० २३४-२४०

दो छन्दों के बाद संस्कृत का श्लोक और उसके बाद पुनः मरुगुर्जर के छन्द हैं। प्रवत्स्यत्पतिकाविरहिणी कहती हैं :—

'हांसलाविण किसिउं सरोवर, कोइल विण किसिउं राग,
वालभं विणकिसिउं गोरडी, रहि रहि नाह अजाण।

वह पति से जाते समय कहती है :—

'कंत कायर मति जाइसि घर छांडी,
तइं जीवतइ हुउतउ हूं जि रांडी।

इसके वर्णन बड़े मनोहर हैं, वसन्त वर्णन का एक उदाहरण देखिये—

'केसुअडा रुलीआमण, भमरला रणझणकार,
चांपला चिहुं दिशि फलीआ, वनि वहिकइ सहकार।[1]

प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन देखिये :—

'विरह संतावए पापीउ दाझए माझि शरीर,
तन मन यौवन विलसए, नयणि न सूकइ नीर।

वह मयूर से सन्देश भेजती है :—

'एक मनु घरि आवि रे, मेल्हि है आनु मयल,
स्त्री रस जीणि न माणीउ पुरुष नही ते बयल।

इसी प्रकार वह चन्दा आदि को भी सम्बोधित कर अपना विरह निवेदन करती है। उसी समय उसका प्रिय परदेश से लौटा, कामिनी ने शृङ्गार किया और प्रिय के साथ संभोग में रत हो गई। यहाँ से कवि को संभोग शृङ्गार के वर्णन का अवसर मिलता है वह प्रिय से कहती है :—

'रसिया रसि बेध्या रहि, भमर भमी रस लेउ,
'रसक सवेध न जाणसा ते नर जीवइ काइं।'

रास के अन्त में कवि कहता है—

'विरति वसंत सो आवीउ, फागुणि तरुणि गाइं,
राज करू रहीयां घणुं सरसति तणइ पसाइ।५८।'[2]

यह शुद्ध सरस एवं शृङ्गारिक काव्य है, इसमें न कोई शिक्षा है और न अन्त में काव्य को शान्त रस में पर्यवसित करने का प्रयास है। यदि काव्य का उद्देश्य रस है तो ऐसी कृतियों का भी सम्मान करना होगा, किन्तु

१. भो० सांडेसरा—प्राचीन फागु संग्रह पृ० २३४-२४०
२. वही

साहित्य सृजन यदि धर्म प्रचार का साधन मात्र हो तो ऐसे साहित्य के प्रति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी को स्वीकार करना होगा।

अज्ञात कवि कृत 'कामीजनविश्रामतरंगगीत' भी एक जैनेतर कृति है इसका प्रथम छन्द देखिये :—

'फागुणि फूली बीजउरडी तुनवरंग, पहुतल मास बसन्त तु,
बनि बनि तरुवर कूपल्यां तु नवरंग, परिमल कहणउ न जाइतु।

वसन्त वर्णन के साथ यह फागु प्रारम्भ होता है। यद्यपि कवि ने इसका नाम फागु न रखकर बसन्त गीत रखा है किन्तु बसन्त-गीत का अर्थ फागु ही है। यह काव्य वर्णन-पद्धति और विषय-वस्तु की दृष्टि से फागु ही है; उदाहरणार्थ भौरों को सम्बोधित करता हुआ कवि कहता है :—

'करणी कारणि भमरलउ तु भमसि म झाझिम राति तु,
काची कली न ऊगइ तु नवरंग, भोगवि नवनवी राति तु।'[1]

विभिन्न प्रान्तों की सुन्दरियों की विशेषतायें बताता हुआ कवि लिखता है :—

'चतुर सनागर गोरडी तुनवरंगगूजरि केरी नारि तु,
माथसिर भरी मरहठी तु नवरंग सोरठडीय सुजाणु तु।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ भी काव्य और भाषा शैली के नमूने के रूप में प्रस्तुत है :—

'सींगी जलि भरि पाणीइं तु नवरंग छांटइ वाली वेस तु,
वृंदावनि गोरी मिली तु नवरंग हीयडइ हरष धरेवि तु।३४।[2]

अन्त में लिखा है—

'इति श्रृङ्गार भावेन कामी जन विश्राम तरंग गीत सम्पूर्णम्'।

इससे स्पष्ट है कि यह भी शुद्ध श्रृङ्गार रस प्रधान रचना है और धर्म प्रचार इसका लक्ष्य नहीं है, अतः ये विशुद्ध काव्य के अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

अज्ञात कवि कृत 'चुपइ फागु'—इस फागु के साथ बारहमासे का रूप मिला-जुला है। इसमें प्रकृति और नारी के सौन्दर्य का वर्णन मनोहर ढंग से हुआ है। इसका प्रथम छन्द देखिये :—

१. डा० भो० सांडेसरा—प्राचीन फागु संग्रह पृ० १०८
२. वही

'आविउ बसन्त कि सुणि रे सही, आंबा डालि कोइलि गहगही,
कसिम परिमल राहणउ जाइ, वनि वनि वनि वहिस्यु बणराइ।

वसन्त वर्णन के नाम पर वृक्षों की यह सूची देखिये :—
'केलि खजूरी नइ नारिंगी, अम्बा जांबू नइ भारिंगी,
पाडल सेवंत्री मुचकन्द, रमइ वृंदावन गोपी गोव्यंद।

सर्वत्र सूची गिना कर परम्परा का निर्वाह ही नहीं किया गया है, कहीं-कहीं प्रकृति का सुन्दर वर्णन भी किया गया है, यथा—
'सरभि समीरण बायइ बाअ, पाडल फूल षिरइ जलमांहि
तीरइ तीरइ सारंग फिरइ, सरोवर पाणी इह कांकरइ।'

इसी प्रकार नारी सौन्दर्य का भी एक उदाहरण देखिये :—
'करइ श्रृङ्गार सार गलइ हार, चरणे नेउरना झमकार,
चित्रा लंकिइति कुच कठोर, पडंती रसियां चित्त चकोर।
पिहिरण नवरंग अनोपम चीर, गोरी चंपावन्न सरीर,
तपत कंचू कसण कसमसइ, युगम पयोधर भारिल लसइ।'
जंघ यशाउ कदली थंभ, रूपइ जमलि न दीसि रंग,
मदन मेषली हीरे जड़ी नहरि जिस्या सत कमल पाषड़ी।
पद्मिनि हस्तनी चित्रणि नारि, लीलावंती रमइ मुरारि,
सोल सहस बनइ मिली अनंद, रास भासि गाइ गोव्यंद।'[1] इत्यादि

यह श्रृङ्गार वर्णन हिन्दी कविता के रीतिकाल का अग्रगामी मालूम पड़ता है और लगता है कि पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर में एक ऐसी काव्य धारा वर्तमान थी जिसमें एक विशेष रीति या पद्धति पर नायक-नायिका की श्रृङ्गारी चेष्टायें वर्णित की जाती थीं। हिन्दी की तमाम रीतिकालीन श्रृङ्गारी कविता उसी अग्रगामी काव्य धारा की उत्तराधिकारी है। चुपइ फागु में विषय वस्तु एवं काव्य बंध फागु का है किन्तु छन्द चौपाई प्रयुक्त किया गया है। अतः उसका नाम 'चुपइ फागु' सार्थक है।

इसमें प्रत्येक महीने का उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णन किया गया है जैसे पौष का एक वर्णन प्रस्तुत है :—

'प्रिय तणा गण पोसि मास, सेजइ पइठी बालंभ पास,
मेहिली लाज अंग आपीइ, प्रीय तणां रस द्राम पामीइ।'

१. डा० भो० सांडेसरा—प्राचीन फागु संग्रह पृ० ११२

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'रत्न अमूलक सरव सिद्धडी, जाणे किरि विश्मामित्र घड़ी,
मदन मेखला भीजी रहइ, धीणु ऊपम केही कहइ।६४।'

यह भी शृङ्गार प्रधान सरस काव्य रचना है। १६ वीं शताब्दी की ये रचनायें हिन्दी रीति काव्य की पूर्व सूचना देती हैं।

अज्ञात कवि कृत 'फागु' ११२ दोहों की लघु कृति है। इसका भी विषय फागु का परंपरित विषय है अर्थात् विरहिणी, बसन्त आदि। इस रचना में प्रिय बसन्त ऋतु में लौट कर घर आता है। प्रिय को देखते ही कृशगात विरहिणी खुशी के मारे फूल कर कुप्पा हो जाती है और उसके कंचुकी के बन्धन तड़तड़ाकर टूट जाते हैं, यथा—

'कांचूआ कंसण विमूटी आ रे, आव्यू मूं भरतार,
हार हइड़ा हुं तु हरशी उरे, बालभं हइडुता हिरु रे।

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'फागुण रति बसन्त षेलीय रे, हइडि हरष मन मां नाह।'

इसमें भी बसन्त का वर्णन विप्रलंभ एवं संभोग शृङ्गार के उद्दीपन विभाव के रूप में ही हुआ है। ये सभी रचनायें शृङ्गार रस प्रधान है, तथा फागु का स्वाभाविक स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं।

बाहणनुं फाग[२]—यह भी अज्ञात कवि कृत रचना है इसमें बसन्त का शृङ्गारिक वर्णन नहीं है बल्कि जैनधर्मानुसार मुक्ति का मार्ग वाणिज्य मूलक रूपक द्वारा समझाया गया है। यह निश्चय ही किसी जैन विद्वान् की रचना है। इसी तरह की रचना १७ वीं शताब्दी के कवि कुशललाभ की 'श्रीपूज्यवाहनगीत' भी है जिसमें कहा गया है कि तृष्णारूपी जल, अभिमान रूपी लहरें और मिथ्यात्व रूप जलचरों से भरे इस संसार समुद्र में वियषभोग की प्रलय वायु के थपेड़े खा-खाकर जीव निरन्तर भटकता रहता है इससे तारने वाले जिनचन्द सूरि हैं। प्रस्तुत फागु भी इसी प्रकार का है जिसमें कुल १२ दोहे हैं और लटकणियाँ के रूप में 'श्री जिन' की आवृत्ति है, यथा—

---

१. डा० भो० सांडेसरा—प्राचीन फागु संग्रह पृ० ११६

२. वही

'क्रोध मान माया जल बहइ, उपशम दलूयां मेल्हि,
संवर सषाइयु राष जे, जाणइ विवेक विचार, श्री जिन ।'

रचनाकाल इस प्रकार कहा गया है :—

'अहे संवत पनर सत्यासिइं आषाढ़ शुदि रविवार, श्री जिन,
एह फाग जे गाइसिउं तेह घरि मंगल चार,
श्री जिन शासन गाइसिउं लाभई सुष अपार ।१२।

अर्थात् यह रास सं० १५८७ में लिखा गया। इसकी प्रति रषिराज ने सुश्राविका वाछी के पठनार्थ तैयार की थी।

अज्ञात कविकृत 'नेमिनाथ फागु' एक उत्तम रचना है। नेमि के विरह में राजुल अपने बारह महीने किस वेदना के साथ व्यतीत करती है, यही इस फागु का वर्ण्य विषय है। यह एक प्रकार का बारहमासा भी है किन्तु नाम फागु है अतः दोनों का मिला-जुला रूप इसमें मिलता है। नेमिराजुल की कथा इतनी लोकप्रिय है कि केवल प्राचीन फागु संग्रह में ही इस विषय पर ९ रचनायें हैं। आषाढ़ मास से कवि विरह वर्णन प्रारम्भ करता है—

'निशि अधियारी अकेली, मधुर म वासिलि मोर,
विरह संतापी पापीउ वालिम हुउइ कठोर।'

इसी प्रकार वर्ष के बारह महीने उस विरहिणी को एक से अधिक एक कष्ट देकर व्यतीत हो जाते हैं—

'बारहमास माहि भूलिगु जेठ वडेरुहोइ,
पभणइ राणी राइमइ नेमि न मेलइ कोइ'।[1]

अन्त में कृष्ण उसे सान्त्वना और उपदेश देते हैं, तथा वह भी जप तप में तल्लीन हो जाती है और नेमि से पूर्व ही भवमुक्त भी हो जाती है—

जप तप संयम आदरी, कीधउ निर्मल काइ,
नेमि पहिली राइमइ, इम बइठी शिवपुरी जाइ।२३।

इन रचनाओं की भाषा काव्योचित सामर्थ्य एवं माधुर्य आदि गुणों से संयुक्त है तथा इनमें उच्च कोटि का काव्यत्व भी दृष्टिगोचर होता है।

अज्ञात कवि कृत 'हेमरत्नसूरि फागु'—यह काव्य १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विनयचूला साध्वी के आग्रह पर लिखा गया। हेमचन्द्रसूरि का जन्म भीमग के घर हुआ था। ये बचपन से ही उदासीन थे, अमरसिंहसूरि की शिक्षा से मोहभंग हो गया और संयम ग्रहण किया। इस फागु में कवि

१. सांडेसरा—प्राचीन फागु संग्रह, पृ० १२४

लिखता है कि संघ में नरनारी गुरुवंदन हेतु आते हैं और वसंतऋतु में नृत्य-गानादि करते हैं। इस अर्थ में इसका फागु नाम सार्थक है, यथा—

'रूपिइं कउतिग करतिअ धरतिअ रंभ तगतागु,
वसंत ऋतुराय खेलइं मेलइं गाती फागु।'[1]

इस फागु की चर्चा विनयचूला के नाम पर इससे पूर्व की जा चुकी है और वहाँ भी यह आशंका व्यक्त की गई है कि यह रचना विनयचूला की नहीं बल्कि उनके आग्रह पर किसी अज्ञात कवि द्वारा जो हेमरत्नसूरि का भक्त शिष्य रहा होगा, की गई है। अतः इसके पुनः विस्तार की अपेक्षा नहीं है।

'राणकपुर मंडन चतुभुज आदिनाथफाग'—यह भी अज्ञात कवि की रचना है। यह सं० १५५७ से पूर्व लिखी गई होगी क्योंकि इसकी उसी वर्ष की लिखी हस्तप्रति प्राप्त है। यह प्राचीन फागुसंग्रह में १८वें क्रम पर प्रकाशित है। मारवाड़ में सादड़ी के पास राणकपुर के जैनमन्दिर में आदिनाथ की चतुर्मुखी मूर्ति स्थापत्य की दृष्टि से बड़ी उत्तम है। इसे राणकपुर के श्री धरणाशाह ने बनवाया था। यह फागु उसी की वन्दना में अर्पित है। यह स्थापना सं०१४९६ में हुई थी अतः यह फागु १६वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में ही लिखा गया होगा। सोमसुन्दरसूरि के किसी शिष्य ने यह रचना की होगी क्योंदि मेवाड़ के राणाकुंभा के अधिकारी धरणाशाह ने यह मन्दिर सोमसुन्दरसूरि के उपदेश-आदेश से ही बनवाया था। इसमें राणकपुर, धरणाशाह एवं मन्दिर के शिल्प का सुन्दर परिचय है। यह ८१ कड़ी का फागु है। इसका छन्द-बन्ध फागु और रासक से निर्मित है। कवि कहता है कि कुम्भकर्ण के शासन में सम्पन्न नगरी राणकपुर की बराबरी न कर सकने की ग्लानि से ही लंका ने जलवास ले लिया था, यथा—

'जिणि जीता अमरावती, नासती गइय आकासि,
लंका शंका करती अ, तरतीय रहीय जलवासि।'

उस नगर के तमाम धनकुबेरों में धरणाशाह अग्रगण्य थे। मूर्ति की वन्दना में कवि लिखता है :—

'विहुकाने कंचणमयकुंडल, तेजइ जाणे रवि ससि मंडल,
भामंडल झलकंति वु जय जय। अथवा—

१. प्राचीन फागु संग्रह, पृ० ७७

साभे आभरणे दीपंते, झगमग आरी से दीसंते,
जिम तेजोमय सद्धितु जय जय ।'[1]

ऋतुराज आया, यात्रा में आई सुन्दरियों का कवि इन शब्दों में उल्लेख करता है—

'आव्यु ए रितुराज काज करती सवे भामिनी,
यात्रा मास वसन्त नीं पद्मिनी आवी मिलइं सामिनी ।

संघ द्वारा दर्शन पूजन का इस फागु में विस्तृत वर्णन किया गया है ।

मोहिनी फागु—यह रम्य रचना भी किसी अज्ञात कवि की है । उसकी कथावस्तु प्रचलित ग्राम लोकवार्ता से ली गई है । मोहिनी नामक एक वनजारिन का पति परदेश गया । पति की अनुपस्थिति में उसने चार यारों को रिझाया और पति के आने पर उसे भी झाँसा देती रही । इसमें काफी अंश अश्लील भी हैं जिन्हें छोड़ दिया गया है । यह उन ग्राम्य गीतों, जो वसन्त ऋतु में फागु के नाम से गाये जाते थे और साहित्यिक फागु के बीच की जोड़ने वाली कड़ी के रूप में महत्वपूर्ण है । इससे दोनों के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । चम्पक नगर में रहने वाली मोहिनी स्वभाव से छिनाल थी—

'नयणि अभीसरु वींधई छूटइ तरुण न कोइ', अर्थात् किसी को छोड़ती नहीं थी । उसका स्वास्थ एवं रूप भी उन्मादक था, यथा—

'हियडइ हसमस करता प्रगट किया थण तेउ,
सोवन कलश कि पूरियां कामी अमी रस लेउ ।[2]

उसका पति परदेश गया इधर वसन्त की मादक हवा चली, मोहिनी काम से बेहाल हो गई । 'मोहिणी मनमथु मोहिउ पहिलउ विरह प्रवेसि' । उसने चार यारों को पटाकर उनके लिए प्रहर बाँट दिये, और दिनरात भोग विलास में बिताने लगी । इसी बीच उसका पति आया, उसने पति को बहकाया कि मैंने स्वप्न में तुम्हारी मृत्यु देखी, मैंने ज्योतिषी से पूछा तो उसने बताया कि चार युवक बुलाकर साथ खिलाओ, तो दोष दूर हो जायेगा । मैं इस समय वहीं कर रही थी । पति खुश हो गया । कुल ५३ छन्दों की यह रचना स्थान-स्थान पर काफी अश्लील हो गई है । यह किसी जैनेतर रसिक की लिखी प्रतीत होती है ।

---

१. प्राचीन फागु संग्रह क्रम सं० १८

२. वही

'अमररत्नसूरि फागु'—यह भी अज्ञात कवि कृत ऐतिहासिक कृति है। इसे अमररत्नसूरि के किसी शिष्य ने लिखा होगा। यह प्राचीन फागु संग्रह में प्रकाशित है। इसके अनुसार सं० १५१३ में अमररत्न को आचार्य पद प्राप्त हुआ था। अतः इस फागु की रचना १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुई होगी। हेमरत्नसूरि ने अमररत्न को सूरि मन्त्र दिया था। आगमगच्छीय आचार्य अमररत्न की महिमा का बखान करने के लिए ही यह संक्षिप्त काव्य फागुबन्ध में लिखा गया है। फागु के प्रारम्भ में अमररत्न की जन्म-भूमि श्रीमाल और उनके माता-पिता का उल्लेख है, तत्पश्चात् उनके संयम और काम विजय की महत्ता बखानी गई है। वसन्त वर्णन से सम्बन्धित दो पंक्तियां देखिये :—

'अहे ललना ललकइं लहरइं पहिरइं जादर चीर,
झलहलइ हार नागोदर, सहोदर मन्मथ वीर।'१२।[1]

इस फागु का अन्तिम बन्ध इस प्रकार है—

'फागुण फाग सीदूरिहिं पूरिहिं सरवरि सार,
भगतिहि सुगुरु मल्हावउं पावउं जिम सविवार।
श्री अमररत्नसूरि मनोहर सुहगुरु बालकुंआर,
रत्तवतां भवियण अम्ह घरि तम्ह घरि जयजयकार।'[2]

'उदयनकुमार चरित्र'—इसके लेखक का नाम और रचना की तिथि आदि का विवरण अज्ञात है। इस रचना की जो प्रति संघ भण्डार पाटण में उपलब्ध है वह खंडित है। उसमें २५६ छन्द ही प्राप्त हैं अतः यह पता नहीं कि इसके आगे कवि ने कुछ विवरण दिया है अथवा नही। इसकी अन्तिम कड़ी इस प्रकार है :—

'पणि एक दोसिइ दैवे दूष्यो, चित्रक रोगि कोढ़ी रे,
तेणि तुं पुन पटन्तर भणजे, गात्रि पछेडी ओढ़ी रे।२५६।[3]

इसका प्रारम्भिक छन्द निम्नांकित है :—

'सिद्धारथ नरपति कुलिइ, आषाढि सुदि छठइ,
आयु सुदिन देखाउतु, तव तिसला हुई तुठी।'

इसमें उदयनकुमार के चरित्र के माध्यम से दया का महत्व दिखाया गया है यथा—

---

१. प्राचीन फागु संग्रह पृ० २४२

२. वही

३. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४३

विरासी नवि पाय पड़ती, दोष निज अंगी करी
वन्दति मिच्छामि दुक्कडं सर्वेन्यान सिरीवरी,
तीओ उदयनकुमार चरितं दया जिणिमनि अणुसरी,
सुणउतस आख्यान अनोपम, भविय मनि उद्यम घरी।'[1]

'बंकचूलरास'—इस रास में बंकचूल द्वारा चार नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए मुक्ति प्राप्त करने की कथा संक्षेप में कही गई है। इसकी भाषा सरल मरुगुर्जर है। भाषा के नमूने के लिए इसके आदि और अन्त के छन्द प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

आदि 'आदि जिनवर आदि जिनवर पमुह चउवीस।
तित्थंकर पणमेवि सवि, धरिय चिति सरसति सामिणि।
तिहुयण जण मुखमण्डणी, वागवाणि वर हंसगामिणि।
तास तणय सुपसाउलइं करसिउं कवित्त रसाल,
वंकचूल राय पालिया, नीम च्यारि सुविशाल।

अन्तिम छन्द इस प्रकार है—

'विनय करी गुरुना पग नमइ, राजरिधि ते नवि गमइ,
गणसइ जे संसार असार, ते पामेसि भवनो पार।
बंकचूलनू अेह चरित्र, अेकमनां सांभलो पवित्र,
सांभलता हुइ पाव पणास, सयल संघनी पूरइ आस।९५।'[2]

इसके भी रचयिता का नाम-पता अज्ञात है और न यही पता है कि यह रचना किस वर्ष लिखी गई किन्तु यह १६वीं शताब्दी की रचना सर्वमान्य है।

'पुण्याढ्य नरेश्वररास'—यह अज्ञात कवि कृत रचना सं० १६२६ से पूर्व की होगी क्योंकि इसकी उस वर्ष की लिखी हस्तप्रति प्राप्त है। अतः इसे १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशक की रचना अनुमानित किया जा सकता है। इसका प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

वन्दिय वासुपूज्य जिन स्वामिय पामीय पुण्य प्रमाण,
श्री पुण्याढ्य नरेसर गायसु, सुणीय निर्मल जाण।'[3]

---

१. देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४३-६४४
२. वही
३. वही

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ निम्नांकित है :—

'तुं रे शिवपुर वासि पहूता राजन अमर करइ जयकार,
श्री पुण्याढ्य नरेसर प्रणमूं सिद्धि रमणि सिणगार।
मुगति पहूता मूरती पेखी, सार करु मझ स्वामी,
भवि भवि महाऋषीश्वर वांद्रू, जिनशासन हुँ पामी।'[1]

इसका विषय, इसकी रचनाशैली एवं भाषा सामान्य मरुगुर्जर जैन रचनाओं की भाँति है, कोई अतिरिक्त वैशिष्ठ नहीं है।

'पुण्यसाररास'—इसमें भी पुण्य का ही महत्व समझाया गया है। इसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। पुण्य का महत्व समझाते हुए कवि लिखता है :—

'पुणिहि उतिम कुलनइ जानि, पुण्यइ हि लहीइ पुहवीख्याति,
पुणिहि धणकण कंचण घणां, पुण्यइ हि वयरी हुइ आपणा।'

इसके आदि का वस्तुबन्ध इस प्रकार है :—

सयल जिनवर सयल जिनवर सव सुहकर
सेवइ जाण कप्पतरु सुजणलोय विहुअ अवि आसइ,
चउवीस चतुरमुह, धम्म मुल चडविह पयासइ।
इह लोकि वंछिय करणि, परभवि सग्गं विमाण,
श्री पुण्यसारकुमार जिम, लह्यां ते करूं वखाण।'

इसके अन्त की पंक्तियाँ देखिये :—

'पुणिहि आपि नरपति मान, पुणिहि घरि नित्य मंगलगान,
पुणिहि सफल करइ संसार, जिम सुणीइ पुण्यसार कुमार।'[2]

'परदेशीराजारास'—इसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। इसकी भाषा शैली के नमूने के लिए प्रारम्भ की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत है :—

वस्तु वीर जिणवर वीर जिणवर पाय पणमेवि
राय प्रदेशी तेहनु भणिसु रास उल्हाय आणीय,
करइ कुकर्मह कोडि परि पछइ लोक परलोक जाणीय,

१. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० क० भाग ३, पृ० ६४४
२. वही पृ० ६४५
३. वही ३, पृ० ६४६

अवट अन्याइ जूवटी मेहलु नरगि प्रियाण,
श्वेतवती नगरी तिहां, वरतइ पाप विनाण।'[1]

अज्ञात कवि कृत 'साधुवन्दना' २५१ कड़ी की मध्यम श्रेणी की रचना है। इसका प्रथम छन्द इस प्रकार है :—

'वन्दिय गुरुआ सिद्ध अनन्त, तीर्थंकर गणधर भगवन्त,
करजोडी ऋषिवन्दन करूं, जिम लाभइ चारित्र अति खरूं।

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'काल अनादि अनन्ते भवे, ते अपराध खमावु सवे,
सूत्र विरुद्ध जे काइ होइ, शुद्ध करु गीतारथ सोइ।२५१।'[2]

अज्ञात कवि कृत 'जीवदया चौपई' ३० कड़ी की छोटी रचना है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिये :

'पहिलूं प्रणमूं वीर जिणंद, तेणइ तूठइ होइ परिमाणंद,
चउवीसमउ तीर्थंकर देव, सुरनर इंद्र करइं पय सेव।

भाव और भाषा के उदाहरणार्थ अन्तिम दो पंक्तियाँ भी प्रस्तुत है :—

'इमजाणी जीव रक्षा करउ, जइणाधर्म्म सूधउ आदरउ,
कुगुरु भ्रंम छांडउ मिथ्यात, प्रवचन वचने प्रीछु वात।३०।'[3]

अज्ञात कविकृत 'ऋषिदत्तारास' की रचना सं० १५०२ में हुई किन्तु इसके लेखक या इस रचना से संबन्धित विवरण भी अज्ञात हैं।[4]

अज्ञात कविकृत 'समकितगीत' (गाथा ५) और सम्यक्त्व गीत (गाथा ८) के भी विवरण उपलब्ध नहीं है। इनके उद्धरण श्री मो० देसाई कृत जै० गु० क० भाग ३ पृ० ४९५ पर उपलब्ध हैं।

अज्ञात कविकृत 'हीयाली' का उल्लेख श्री देसाई जी ने पृ० ४९६ पर किया है (जै० गु० क० भाग ३)। हीयाली एक प्रकार का बुझौवल है। इसकी दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

'सकल नारि सुकलीणी सुणीइ, गुणवंती वखाणुं जगिजाणुं रे,
जे देखइ तेनउं चित्त मोहि, सती सिरोमणि जाणुं रे।'

---

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६४५
२. वही खण्ड २ पृ० १४९९
३. वही, पृ० १५००
४. वही, ४५६

अज्ञात कविकृत '१८ नातरां संबंध' (२५ गाथा) सं० १५६७ से पूर्व की कृति है। इसमें जंबू स्वामी का चरित्र चर्चित है। इसका प्रथम छन्द निम्नांकित है :—

'मथुरापुरि नगरिवंश, कांबेर वेशाउइरे,
जंब कानां तास घरे, दिवस दस थवारी
पइय संचारी रयण विभागि मूकया जिमणां तारे।'

इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'इसउ अनभव जांणी चरित जंबु सामि,
विरत संसार माहि मुगति मांगउ।१५।[1]

अज्ञात कवि कृत 'नलदवदंती (नल राय) रास ६९ कड़ी की रचना है। इसमें नलदमयन्ती की प्रसिद्ध कथा जैन दृष्टि से संक्षेप में वर्णित है। इसका प्रथम छंद देखिये :—

'सरसति सामिणि सुगुरु पाय, हियडइ समरेवि,
करजोड़ी सासण देवि, अंबिक पणमेवि।
नलदवदंती तणउ रास भावइं पभणेवउ,
एकमना थइ भविय लोय, विगतइं निसुणेवउ।'

इसकी अन्तिम पंक्तियाँ निम्नांकित है :—

'पढइ पढावइ जे सांभलइ, अष्ट महासिद्धि तेह घरि फलइ,
जे भणइसिइ नित नरनारि, नवइनिधि ते घरि बारि।६९।[2]

अज्ञात कवि कृत 'बार भावना' नामक ९४ कड़ी की कृति सं० १५९५ से पूर्व की लिखी हुई प्राप्त है किन्तु विवरण अप्राप्त है। इसका कवि सुबुद्ध मालूम पड़ता है, वह कहता है :—

'भाषा अनेक भमीउ घणुं, वीतकनूं सिउं सभारणउ,
भावित चारित्र लहिउं दुर्लभ, द्रव्यत हिइ प्रभु म करविलंब।'[3]

अज्ञातकवि कृत 'बारव्रत चौ०' (३३८ गाथा) की रचना सं० १५३४ आसाढ़ सुदी १५ पीपरवाड़ा में हुई।[4]

१. श्री देसाई—जै० गु० कवि, भा० ३, पृ० ५०३
२. वही पृ० ५३५
३. वही पृ० ६१९
४. वही पृ० ४९१

अज्ञातकवि कृत 'अनाथीरिषि चौ०' (६३ कड़ी) सं० १५८९ वे पूर्व की रचना है। इसकी प्रथम कड़ी प्रस्तुत है :—

'सिद्ध सवेनइ करूं प्रणाम, जेहे पुण प्रामिउं उत्तम ठाम।
साधु सवेनइ नमुं करजोडि भव भमिवा जिणि भांजी खोडि।

× × ×

अन्त उत्तर गुणे करी संजुत्त, गुपतिइ गुपतिउ दंडविरत्त,
पंखीनी परि हलूउ थइ, मोह विगत जे विचिरय मही।६३।[1]

अज्ञात कवि—जम्बूस्वामीगीत (३७ कड़ी) सं० १५९७ से पूर्व की रचना है। इसमें जम्बूस्वामी का माहात्म्य चित्रित है। इसका आदि देखिये:—

'सेठि रिषभदत्त राजग्रहि वसइ, तास नारि धारणि उल्लसइ,

धारणी अपुत्री होने से दुखी थी। गुरु ने उसे नित्य जम्बू स्वामी का चरित्र पाठ करने को कहा, जिसके फलस्वरूप उसे पुत्र प्राप्ति हुई। इसका अन्तिम छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

'प्रभव स्वामी पांचसिइ नइं, मायताय मेली करइ,
सुख संजम सहिता बांदु काज संघला जिम सरइ।३७।[2]

विमलधर्म के किसी शिष्य ने 'जीराउलीपार्श्वनाथविनति' (गाथा १८) और 'महावीर वीनती' (१४ कड़ी) नामक रचनायें सं० १५२० में लिखीं। कवि ने रचना समय का उल्लेख स्वयं किया है, यथा :—

'संवत पनर वीसोतरइअे, जेठह सुदि दसमि उच्छव करइ अे,
जे नरनारी नित भणइ अे, नवनिधि घरि विलसइ तीह तणइ अे।'[3]

अज्ञात कवि कृत 'उदयचूला महत्तराभास' नामक रचना जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय (सं० मुनि जिनविजय) में संकलित है। सम्पादक महोदय ने उसके रचनाकार और रचनाकाल का विवरण नहीं दिया है। श्री लक्ष्मीसागर सूरि ने उदयचूला को महत्तरापद प्रदान किया था। इनके पिता का नाम कर्मसी और माता का करमादे था। आप शिवचूला की पट्टधर थीं। आपके भाषण कला की बड़ी प्रसिद्धि थी। कहा गया है—

१. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग ३, पृ० ६०२
२. वही पृ० ६२३-२४
३. वही पृ० ५५३

'तुह वाणी अभिनवी सूखडो, सुणी नीगमइ भवियण भूखड़ी ।'[1]

उदयचूला का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

'कदली दल कोमल अमल काय, सामिणि गुण गाईं सुर निकाय,
पालइ सयल अे जीव निकाय, जाणो ऊपनी अभिनवी भुवनमाय ।

इसकी अन्तिम तीन पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'नवि मांगउं राज नवि अमरवास;
देज्यो देज्यो निअ पयकमल वास,
जे भणइअ भणावइ अे संझाय ते थाइ सिवनगरी ना राय ।
सिरि महत्तरा उदयचूल महिमपूर,
जयउ जयउ जां जगित पइ सूर ।'[2]

इसी संकलन में अज्ञात कवि कृत 'गुणनिधानसूरि स्तुति' नामक रचना भी संकलित है । गुणनिधान आंचलगच्छ के ६२ वें पट्टधर थे । आपका जन्म पाटण के श्रीमाली नगराज सेठ की पत्नी लीला की कुक्षि से सं० १५४८ में हुआ था । आपका जन्म नाम सोनपाल था । सिद्धान्तसागर ने सं० १५५२ में दीक्षित किया, विद्याभ्यास कराया और सं० १५६५ में भावसागरसूरि ने इन्हें सूरि पद प्रदान किया । सं० १५८४ में महोत्सव पूर्वक इन्हें गच्छ नायक पद प्रदान किया गया । इसी अवसर पर या इसी के आसपास इनके किसी शिष्य ने यह स्तुति लिखी होगी । देवसागर रचित व्युत्पत्तिरत्नाकर की प्रशस्ति से पता चलता है कि सं० १६०१ में आपका निर्वाण हुआ । सिद्धान्तसागर ६० वें और भावसागर इस गच्छ के ६१ वें पट्टधर थे । भाषा की दृष्टि से यह स्तुति उल्लेखनीय हैं । इसमें संस्कृत, अपभ्रंश और खड़ी बोली के प्रयोग मिले-जुले मिलते हैं । अपभ्रंश का यह छन्द देखिये :—

'आ गया तत्थ सिद्धान्तसायर गुरु, विहरमाण जणानन्दणे सुरतरु,
सेणीउ मेहकुमरव्वजिण अग्गए, तं कुमार गुरुणं तहां अप्पए ।'[3]

इसमें 'आ गया' स्पष्ट खड़ी बोली की क्रिया है । शेष पद अपभ्रंश गर्भित है । इसका अन्तिम छन्द निम्नांकित है :—

---

१. जैन ऐतिहासिक गु० काव्य संचय पृ० २२२
२. वही
३. वही

'इय अइसय भाजन सिरि जिन शासन कानन पंचानन पवरू;
विबुहावलि बोहण गुणमणि रोहण, गुण निधानगुरु जयउचिरु ।[1]

इस स्तुति में सिद्धान्तसागर और भावसागर के सम्बन्ध में ऐतिहासिक महत्व की सूचनायें दी गई हैं अत: यह तीन गच्छनायकों का इतिहास बताने वाली महत्वपूर्ण स्तुति है। इसके अनुसार सिद्धान्त सागर का जन्म सं० १५०६ में हुआ। इनके पिता पाटण वासी सोनी जावड़ थे। माता का नाम पूरल दे था। इनकी दीक्षा सं० १५१२ और इन्हें आचार्य पद सं० १५४१ तथा गच्छनायक पद सं० १५४२ में प्राप्त हुआ। सं० १५६० में आपका तिरोधान हुआ।

भावसागरसूरि मारवाड़ के नरसाणी ग्रामवासी वोरासांगा की पत्नी सिंगार दे की कुक्षि से सं० १५१० में पैदा हुये। जन्म नाम भावड़ था। सं० १५२० में जयकेसर सूरि द्वारा दीक्षित हुए। सं० १५६० में आचार्य एवं गच्छपति पद प्राप्त हुआ। आपका स्वर्गवास सं० १५८३ में हुआ। इस कृति का प्रारम्भ इन पंक्तियों से हुआ है :—

'थंभपुर सार का सार हंसोबमं,
नमवि सिरिपाल जिणमपलमुत्तमतमं,
सकल सुरिंद समुदाय सोहाकरं थुणिसु
गुणनायगं गुणनिहाणंगुरु ।[2]

ऐ० जै० काव्य संग्रह में संकलित १६ वीं शताब्दी की कुछ अन्य उल्लेखनीय रचनायें हैं 'कीर्तिरत्न सूरि चौपइ', क्षेमहंस कृत गुर्वावली, जिनहंस सूरि गीत आदि। इनमें से दो रचनायें तो ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बन्धित हैं। क्षेमहंस की गुर्वावली में खरतरगच्छ की गुरु परम्परा दी गई है। इन कृतियों का ऐतिहासिक सूचनाओं की दृष्टि से कुछ महत्व भले हो किन्तु भाषा विकास और काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है। कीर्तिरत्नसूरि के सम्बन्ध में जयकीर्ति, अभयविलास और सुमतिरंग ने भी गीत लिखे हैं। 'श्री कीर्तिरत्नसूरि फागु' के लेखक का नाम अज्ञात है। कीर्तिरत्नसूरि से सम्बन्धित अन्य गीतों का यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। कीर्तिरत्नसूरि चउपइ के लेखक कल्याणचन्द्र के साथ इसका विवरण दिया जा चुका है।

---

१. जै० ऐ० गु० का० संचय पृ० २२३
२. वही

अज्ञात (केहरू ?) कृत 'श्री जिनभद्रसूरि पट्टे जिनचन्द्रसूरि गीतम' दो गाथाओं की लघु रचना है जो मल्हार राग में निबद्ध हैं। श्री जिनचन्दसूरि का आचार्य पद स्थापन सं० १५१४ में हुआ था और सं० १५३० में स्वर्गवास हुआ, अतः यह गीत इसी अवधि में किसी समय लिखा गया होगा। इसकी भाषा का नमूना देने लिए इसकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है :—

'कुंजर मयण नमवि मच्छरु करि, हरि हरु ब्रह्म नयह्न जाणी,
मुरिख विरहिणि बहु सोता पणुं पंच बागन नमनि आणी।
रति अनइ प्रीति दिबसि विधिवतणु,
कवण कुमति तुव विधि रुठउ,
भुंजइ सुंडि दण्डु दंतूसलि मुनि केहरु जब दिठि दीठउ।'[1]

इन पंक्तियों में आया पद 'मुनिकेहरु' रचनाकार का नाम भी हो सकता है, परन्तु केहरु मुनि का कोई अन्य विवरण नहीं मिल सका अतः यह निश्चय नहीं कि ये कौन लेखक थे।

अज्ञात कवि कृत रयणावली (३३ गाथा) सं० १५२० की रचना है। इसकी समाप्ति पर सूचित किया गया है कि यह कृति सुधानन्दन गणि के शिष्य द्वारा लिखी गई है। इसका अन्तिम छन्द इस प्रकार है :—

'च्यारि रतनावलि गुणधार, पाटसूत्र मुक्ताफल हार,
सरल कंठि नियहियडइ धरउ,
मुगति रमणि संइवरि तुम्हि वरउ।'[2]

अज्ञात कवि कृत 'प्रभवजम्बूस्वामिबेलि' सं० १५४९ में लिखी गई। इसका आदि छन्द निम्नांकित है :—

'करजोड़ी प्रभवु भणइ जम्बुकुमर अवधारि,
विषय सौख्य भोगवि भलां, रंगिइ पंच प्रकारि।'

अन्त 'कणय निवाणूं कोडि त्यजि नवपरणित अट्ठनारि,
प्रभवासिउं जम्बूकुमर, जुतू संजम भारि
क्षिपीय करम नइं लीला पांमी, भुगति रमणी वरनारि।'[3]

किसी अज्ञात कवि कृत 'हेमविमलसूरिविवाहलु' (पद्य ७१) की सूचना श्री अ० च० नाहटा जी ने जैन मरुगुर्जर कवि और उनकी रचनायें

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० म० गु० कवि पृ० ११७-११८
२. वही
३. वही पृ० १३२

भाग १ के पृ० १३५ पर दिया है किन्तु प्रति के त्रुटित होने के कारण इसका पूर्ण पाठ और विवरण स्पष्ट प्राप्त नहीं हो सका है।

अज्ञात कवि कृत परनिंदाचौपइ (पद्य १७५) सं० १५५८ में लिखी एक मनोरंजक कृति है। इसका मंगलाचरण देखिये—

'देवि सरस्वती पय पणमेवि, मनसिउं शिवनायक समरेवि,
कहुं कथा चउपई प्रबन्ध, पर निंदा ऊपरि सम्बन्ध।
पण्डित धर्मी विनय विवेक, नीम निपुण आचार अनेक।
तपसी दानी ए कहइ लोक, निंदा करइ तु गुण सवि फोक।

इसमें से एक फोक शब्द निकाल देने पर यह हिन्दी की रचना ज्ञात होती है। भाषा में अधिक पार्थक्य अब भी नहीं प्रतीत होता। इस तरह की हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी की मिली-जुली काव्य भाषा को मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी कहना ही समीचीन है। इसका अन्तिम दो छन्द नमूने के रूप में प्रस्तुत है :—

'पर निंदक नइ नरक निवास, आप निंदक नइ शिव सुखवास,
दुख मन्दिर परनिंदा पाप, सुखमन्दिर निंदा आपाद।'

इसका रचना काल इस प्रकार बताया गया है :—

'कला कुमुदनी वछर वेद, सुदिया सोमासर तसुरिद।
नाग पण्डव संख्याइ तिथिवार, धुरिदिन आरम्भ पूर्ण विचार।
निंदाना अवगुण जेतला, मइ नवि कह्निवाई तेतला।
प्रबन्ध सांभलयां तणु प्रमाण, निंदा मोकु तुम्हें सुजाण।[1]

अज्ञात कवि कृति 'मुनिपतिराजऋषिचरित्र'[2] यह, काफी बड़ी रचना है। इसका रचनाकाल भिन्न भिन्न प्रतियों में अलग-अलग प्रकार से वर्णित है। कहीं संवत पनर पंचासो' और कहीं 'संवत चउद पच्चासीइ' मिलने से शताब्दी का अन्तर पड़ जाता है अतः इसका विवरण अनिर्णीत समझ कर छोड़ा जा रहा है।

अज्ञातकवि कृत 'मंदोदरी संवाद'[3] सं० १५६५ में लिखी गई कृति है। इस प्रकार की अनेक रचनायें अज्ञात कवियों की हैं जिनपर शोध होना अपेक्षित है जिससे इन रचनाओं तथा इनके रचनाकारों पर प्रकाश पड़ सके। इनमें कुछ रचनायें महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. श्री अ० च० नाहटा—जै० गु० म० कवि भाग १, पृ० १३८
२. श्री देसाई—जै० गु० क०—भाग १, पृ० ९०
३. वही, पृ० ११२

इस शताब्दी में वल्लभ सम्प्रदाय के उदय और प्रचार के बाद कई जैन कवियों ने नेमिनाथ और स्थूलभद्र के रसिक चरित्रों को लेकर अनेक सरस काव्यकृतियाँ प्रस्तुत कीं, इनमें नेमिनाथ पर आधारित लावण्यसमय कृत विविध छंद युक्त कृति 'रंगरत्नाकर नेमिनाथ प्रबन्ध' सं० १५६४ और स्थूलिभद्र पर आधारित सहजसुन्दर कृत नानाछन्दों में निवद्ध कृति 'गुण रत्नकार छंद, सं० १५७२ का उल्लेख यथास्थान हो चुका है। सोमसुन्दर सूरि की शिष्य परम्परा में रत्नमंडन गणि, धनदेव गणि और स्वयम् सोम-सुन्दर सूरि ने इस प्रकार के रसिक काव्य की रचना की और अन्य कवियों को प्रेरित किया। लावण्यसमय कृत 'नेमिनाथ हमचडी' 'स्थूलिभद्र एक-वीसो आदि इसी प्रकार की रचनायें हैं। पुण्यरत्न ने नेमिनाथ यादवरास, पद्मसागर ने स्थूलिभद्र अणवीसो, शुभवर्धन शिष्य कृत स्थूलिभद्ररास और बुधराज कृत मदनरास इसी प्रेरणा से प्रसूत प्रस्तुतियाँ हैं।

इस शती में जैनदर्शन, पर्व और तीर्थों पर भी अनेक सुन्दर रचनायें की गईं जैसे चन्द्रलाभ कृत चतु:पर्वी रास, धर्मसमुद्र कृत रात्रिभोजनत्याग, गज-लाभ कृत बारव्रत चौ० और पार्श्वचन्द्र सूरि की आराधना पर आधारित अनेक रचनायें इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

लोक साहित्य–१६वीं शताब्दी में प्रभूत लोक साहित्य रचा गया। इनके लेखकों में जैन एवं जैनेतर विद्वान् भी हैं। इन लोकप्रिय रचनाओं में जैन-तीर्थङ्कर, जैनतीर्थ और विक्रमादित्य जैसे महाराजा और महापुरुषों का इतिवृत्त अंकित किया गया है। जिनहर कृत विक्रमपंचदण्ड रास, राजशील कृत विक्रमादित्यखापरा रास, उदयभानु कृत विक्रमसेन रास, आदि कई रचनायें विक्रमादित्य के चरित्र पर आधारित हैं और उनके लोकप्रियता की सूचना देती हैं। इसी प्रकार कड़वा और पद्मसागर की लीलावती, सुमतिविलास रास नामक रचनायें पर्याप्त लोकप्रिय कथाओं पर आधारित हैं।

ऐतिहासिक प्रबन्ध रचना का प्रारम्भ आ० हेमचंद्र कृत द्वयाश्रय काव्य के साथ ही शुरू हो गया था अत: श्री देसाई जी ऐसी रचनाओं का प्रारम्भ-कर्त्ता श्री शामलभट्ट को मानना उचित नहीं समझते। इन रचनाओं में जैन लेखक अपने आचार्यों, महापुरुषों, मंदिरों, तीर्थों आदि का इतिहास पद्यबद्ध करते थे जैसे जंबूस्वामी रास, सहजसुन्दर कृत जंबूअतंरंगरास, धर्मदेव कृत वज्रस्वामी रास, हंसधीर कृत हेमविमल सूरि फागु, हंससोम कृत

पूर्वदेश चैत्य रास, खीमाकृत शत्रुंजय चैत्य परिपाटी, पार्श्वचन्द्र कृत वस्तुपाल तेजपाल रास और वासण कृत आनन्दविमलसूरि रास आदि।

इस शताब्दी में कई उत्तम अनुवाद भी किए गये जैसे विल्हण की पंचाशिका का ज्ञानाचार्य कृत अनुवाद इत्यादि।

जैनेतर कवि—नंदबत्रीसी के लेखक नरपति और दामोदर, वीरसिंह, दल्ह एवं गणपति आदि की चर्चा यथास्थान हो चुकी है। जैनेतर गुर्जर कवियों में इस शताब्दी के सर्व प्रसिद्ध व्यक्ति नरसिंह मेहता माने जाते हैं। अनेक विद्वान् उन्हें गुर्जर साहित्य का आद्यकर्त्ता भी मानते हैं। उनका रचनाकाल सं० १५१२ से सं० १५३७ तक था। चूँकि वे जैन लेखक नहीं हैं वल्कि वैष्णवभक्त हैं अतः उनका विवरण नहीं दिया गया है। इनके अलावा इस काल के कवियों में भालण, केशव, भीम आदि जैनेतर कवि भी उल्लेखनीय हैं।

श्वेताम्बर जैन कवियों ने प्रायः काव्यरचना मरुगुर्जर में किया किन्तु दिगम्बर कवियों का झुकाव हिन्दी की ओर अधिक था। वैसे १६वीं शताब्दी तक जिस प्रकार राजस्थानी और गुजराती में समानता थी उसी तरह हिन्दी और राजस्थानी में भी काफी सादृश्य था।'[1] राजस्थान के बागड़ प्रदेश और गुजरात में दिगम्बर भट्टारकों की गादियाँ थीं। इन भट्टारकों और उनके ब्रह्मचारी शिष्यों द्वारा लोकभाषा में विपुल साहित्य का सृजन किया गया, जिनमें भ० सकलकीर्ति और ब्रह्मजिनदास आदि का परिचय दिया जा चुका है। इनकी भाषा में हिन्दी प्रयोग बहुतायत से पाये जाते हैं। मरुगुर्जर में लिखित साहित्य की भाषाशैली भी स्पष्टतया दो प्रकार की है। चर्चरी, फागु आदि लोकसाहित्य की रचनायें जो जनसामान्य द्वारा गाई जाती थीं वे बोलचाल की भाषा के अधिक निकट हैं किन्तु स्तवन, स्तोत्र आदि पूजापाठ का साहित्य प्रायः परिनिष्ठित और अपभ्रंश गर्भित शैली में लिखा गया है। लोकगीत प्रारम्भ में मौखिक रूप से ही प्रचलित थे, बाद में जैनकवियों ने शृंगार की पृष्ठभूमि पर शान्तरस का प्रभावशाली चित्र लोक साहित्य के माध्यम से अंकित किया। सिरिथूलिभद्र फागु, चर्चरी आदि इस कोटि की प्रारम्भिक रचनायें हैं।

जैन साहित्य में जन सामान्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। जनसाधारण की भाषा को काव्य का माध्यम बनाया गया किन्तु इसीलिए हम इसे उसी अर्थ में जनसाहित्य नहीं कह सकते जिस अर्थ में आज इस शब्द का

---

१. श्री अ० च० नाहटा—'परम्परा' पृ० ६७

प्रयोग होता है। जैन साहित्य मूलतः निवृत्तिप्रधान है अतः प्रवृत्तिमूलक गृहस्थ जीवन का यह आदर्श भले हो किन्तु सम्पूर्ण यथार्थ नहीं हो सकता। फिर भी इस साहित्य में प्राप्त जनसामान्य के लिए नैतिक चरित्र और संयमित जीवनचर्या का संदेश आज के युग में पहले से भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। यदि प्रासंगिकता को काव्य की कसौटी माना जाय तो मरुगुर्जर जैन साहित्य की प्रासंगिकता पर किसी युग में प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता। भक्तिकाल के अनेक मधुर सम्प्रदायों का साहित्य कभी बेमानी भले हो जाय किन्तु इसी काल में लिखा गया जैनसाहित्य सदैव प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा और मनुष्य को उच्चतर जीवन की ओर अग्रसर करता रहेगा।

अध्याय ६

मरु-गुर्जर जैन गद्य-साहित्य

सामाजिक प्राणी को जीवन की सुरक्षा का ध्यान सर्वप्रथम होता है। उसकी सबसे प्रबल इच्छा 'जीने की इच्छा' है। इसी जिजीविषा के चलते मनुष्य को समाज का संगठन और भाषा का आविष्कार करना पड़ा। विद्वानों ने भाषा की अनेक परिभाषायें दी हैं किन्तु सभी इससे सहमत हैं कि 'मानवीय वाणी द्वारा मानवीय भावों की साभिप्राय एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति ही भाषा है।'[1] भाषा का वरदान मिलने के बाद मनुष्य ने अपनी सम्पूर्ण व्यावहारिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के लिए गद्य को माध्यम बनाया। गद्य का अर्थ ही है 'कही जाने वाली बात'। अतः मानव जीवन के व्यवहार में गद्य का मौखिक प्रयोग पद्य की अपेक्षा अति प्राचीन है, किन्तु प्रत्येक भाषा के साहित्य में लिखित गद्य का इतिहास पद्य के पश्चात् प्राप्त होता है। जब छापेखानों की सुविधा नहीं थी और साहित्य को कंठस्थ करने की विवशता थी तब तुक, छंद, लय आदि के कारण गद्य की अपेक्षा पद्यको स्मरण रखना अवश्य ही आसान रहा होगा, लेकिन विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति, विधि और चिकित्साशास्त्र जैसे अनेकानेक विषयों की शिक्षा पद्य में नहीं दी जा सकती थी और न प्रत्येक व्यक्ति कविता में चिट्ठी-पत्री लिख सकता था। सभी व्यक्ति कविता समझ भी नहीं सकते, उसको समझाने के लिए भी गद्यात्मक टीकाओं की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए कुछ देर-सबेर साहित्य में भी गद्य का प्रारम्भ हो ही जाता है। अतः गद्य साहित्य का इतिहास भी काफी प्राचीन है।

किसी देश के बौद्धिक एवं वैज्ञानिक उत्कर्ष की परख के लिए गद्य-साहित्य का अवलोकन आवश्यक होता है। कविता के द्वारा यदि हम किसी समाज के हृदय का पर्यवेक्षण करते हैं तो उसकी भौतिक उन्नति, लौकिक रीतिनीति आदि का परिचय उसके गद्य द्वारा ही प्राप्त कर पाते हैं। व्यावहारिक गद्य के अलावा ललित गद्य में लेखक की प्रतिभा, कल्पना और

1. Language may be defined as the articulate expression of human thought by means of human speech—N. B. Divetia "Gujarati Language and Literature, vol II, p. 1

सर्जनशीलता की अधिक परख हो सकती है, शायद इसीलिए 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' कहा गया है।

हमारे देश में गद्य की प्राचीन और अटूट परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई आधुनिक देश्यभाषाओं तक प्रवाहित होती आई है। अतः मरुगुर्जर गद्यसाहित्य के इतिहास की पूर्वपीठिका के रूप में प्राचीन गद्य साहित्य का एक विहंगम चित्र प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

संस्कृत भाषा में गद्य का प्राचीनतम प्रयोग यजुर्वेद की तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी संहिताओं में मिलता है। अथर्ववेद के छठें भाग में भी गद्य का प्रयोग हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में गद्य का बाहुल्य है। महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतंजलि, मीमांसक शबरस्वामी, न्यायदर्शन के आचार्य जयन्तभट्ट तथा अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक आद्य शंकराचार्य ने भी संस्कृत गद्य का पुष्ट प्रयोग किया है। सूत्रकाल के सभी विवेचनापरक शास्त्र गद्य में ही लिखे गये हैं।

जैन और बौद्ध साहित्य में भी प्राचीनकाल से ही गद्य का प्रयोग होता रहा है। इन धर्मों के आचार्यों ने प्राकृत, पाली और संस्कृत में प्रचुर गद्य साहित्य लिखा है। गुप्तकाल के पूर्व से ही बौद्ध एवं जैन पंडितों ने दार्शनिक विचारों की व्यन्जना के लिए संस्कृत गद्य का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था। नवीं और दशवीं शताब्दी के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में लिखा गद्य कम उपलब्ध होता है जबकि संस्कृत गद्य में विविध स्तरीय रचनायें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं। जैनाचार्यों ने तेरहवीं शताब्दी में संस्कृत गद्य में विविध प्रबन्ध (जीवनवृत्त) भी लिखे हैं। संस्कृत गद्य में विचारपरक शास्त्रीय गद्यग्रन्थों के अतिरिक्त अलंकृत गद्य भी प्रचुर परिमाण में लिखा गया। अलंकृत गद्य के प्राचीन नमूने महाक्षत्रप, रुद्रदामा और समुद्रगुप्त की गद्यप्रशस्तियों में मिलते हैं। संस्कृत की कथायें और आख्यायिकायें अलंकृत गद्य की प्रतिनिधि रचनायें हैं। अनेक जैनाचार्य संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और उन्होंने प्राकृत की गूढ़ और क्लिष्ट रचनाओं को समझाने लिए संस्कृत गद्य का सहारा लिया और संस्कृत में प्रभूत गद्य साहित्य लिखा।

प्राकृत और अपभ्रंश में भी प्रचुर कथासाहित्य लिखा गया। किन्तु वह अधिकतर पद्य में लिखा गया। इसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि इन भाषाओं में गद्य लिखा ही नहीं गया। सर्वप्रथम प्राकृत गद्य हमें जैनागम साहित्य में उपलब्ध होता है। आचारांग के प्रथम एवं दूसरे श्रुत-

स्कंध अधिकांशतः गद्य में ही लिखे गये। सूत्रकृतांग में यद्यपि पद्यभाग अधिक है, किन्तु शेष अंगआगम स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति), ज्ञाता, उपासकदशा, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्न-व्याकरण, विपाक और इसी प्रकार उपांग साहित्य के लगभग सभी ग्रंथ प्राकृत गद्य में ही हैं। चार छेदसूत्र, अनुयोगद्वार, आवश्यक आदि प्राकृत गद्य की ही रचनायें हैं। यह गद्य साहित्य ई० पू० पांचवी शती से ईसा की पांचवी शती तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में लिखा गया। सच तो यह है कि प्राकृत में जो गद्यसाहित्य मिलता है वह प्रायः जैन परम्परा में ही मिलता है। अन्यत्र जो अत्यल्प गद्यसाहित्य मिलता है वह ऐसी कृत्रिम भाषा शैली में लिखा गया है कि उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

प्राकृत गद्य का प्रयोग स्त्रियों और सामान्यजनों के संवाद के लिए संस्कृत नाटकों में भी यत्रतत्र मिलता है। इन नाटकों में प्रयुक्त भाषा आगे क्रमशः कृत्रिम होती गई, साथ ही यह रूढ़ि बन गई कि स्त्रियाँ और विदूषक शौरसेनी प्राकृत तथा निम्नवर्गीय पात्र मागधी का प्रयोग करें। संस्कृत मिश्रित प्राकृत में विपुल जैन आगमिक व्याख्यात्मक गद्यसाहित्य लगभग सातवीं शती में चूर्णियों के रूप में लिखा गया। गद्यसाहित्य का सर्वाधिक सृजन जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी प्राकृत में क्रमशः श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा किया गया। इनमें जैनसिद्धांत एवं व्याख्या ग्रन्थ पर्याप्त मात्रा में लिखे गये। महाराष्ट्री प्राकृत में पद्य की और शौरसेनी में गद्यसाहित्य की मात्रा अधिक पाई जाती है।

प्राकृत के तत्कालीन साहित्यिक गद्य का स्वरूप कथा-आख्यायिकाओं में अधिक पाया जाता है। भामह ने आख्यायिका को 'ललित कथायुक्त मनोहर गद्य' है। कथा के लिए छन्द का बन्धन अनिवार्य नहीं था। दण्डी ने कथा और आख्यायिका को मूलतः एक ही प्रकार की रचना बताया है। 'बृहत्कथा' प्राकृत की प्रसिद्ध रचना है किन्तु यह नहीं पता की वह गद्यबद्ध है अथवा पद्यबद्ध।

लीलावइकहा (८वीं शती) के लेखक कोउहल (कौतूहल) ने इसे 'दिव्यमानुषी' कहा है इससे अनुमान किया जाता है कि उस समय मानुषी, दिव्य और दिव्यमानुषी नामक तीन कथा—प्रकार प्रचलित रहे होंगे। लीलावइकहा में प्रयुक्त गद्य द्वारा प्राकृत में लिखित कथाओं की गद्यशैली का अनुमान सुगम होगा, अतः उसका एक गद्यांश अवतरित किया जा रहा है :—

"सुहावगाह णिम्मल जलासओ। तरुण तरुञ्जाणरिद्धि रमणीओ। कमल सर संड मंडियासा मुही। सुस्साय फल भरोणमिय वच्छपला वासिय पहिय जण समाउलो। सव्वोवसाग भय रहिओ। चाउवण्ण समाउत्तो।"[1]

शुद्ध गद्य में लिखी प्राकृत की रचना 'वसुदेवहिण्डी' से यह प्रमाणित होता है कि प्राकृत में गद्यबद्ध कथायें अवश्य लिखी जाती रही होंगी। इसमें वसुदेव के प्रवास की कथा है। इस कथा शैली पर बाद में अनेक कथा ग्रन्थ लिखे गये जैसे पादलिप्ताचार्य कृत तरंगवतीकहा, हरिभद्रसूरि कृत समराइच्चकहा आदि, किन्तु इनमें अधिकतर पद्य का प्रयोग किया गया।

प्राकृत-अपभ्रंश में लिखित अनेक छोटी-मोटी रोचक कथाओं के प्रमाण मिलते हैं। ऐसी कुछ रचनाओं की सूचना उत्तराध्ययन की टीका में पाई जाती हैं। उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमालाकथा (सं० ८३५) ऐसी ही एक प्रसिद्ध कथाकृति है। नमूने के रूप में इसका एक उदाहरण निम्नांकित है :—

'सयलं पुहुइमंडलं परिभमिऊण संपत्तो महुराउरीए। एत्थ एवकम्मि अणाहमंडवे पविट्ठो। अवियतत्थ ताव मिलियालए कोड्ढीए, वलक्ख खइयए। दीण दुग्गय। अन्धलय। पंगुलय। मंदुलय। मडहय। वामणय। छिण्णणासय तोडिय कण्णय।'[2]

इस रचना में तत्कालीन बोलचाल की भाषा के भी नमूने मिलते हैं। अतः यह तत्कालीन गद्य भाषा का प्रामाणिक उदाहरण है। जहाँ तक अपभ्रंश का प्रश्न है, इसमें गद्य अपेक्षाकृत कम लिखा गया क्योंकि गद्य में प्रायः बोलचाल की जन-सामान्य भाषा का ही प्रयोग होता है और अपभ्रंश १२ वीं शताब्दी तक जनता के बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी अतः अपभ्रंश में गद्य का कम लिखा जाना स्वाभाविक ही है। डॉ० टेसीटोरी की साक्षी पर श्री दिवेटिया का मत है कि ११वीं शती के पूर्वार्द्ध से ही अपभ्रंश का युग समाप्त समझना चाहिये।[3] आचार्य हेमचन्द्र ने जब अपभ्रंश का व्याकरण लिखा तब वह जनता के बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी।

---

१. श्री हरिमोहन श्रीवास्तव—मध्यकालीन हिन्दी गद्य पृ० २३

२. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० २० पर उद्धृत

3. We may safely put up the limit a little later than Dr. Tessitory puts it, and say the first half of the Eleventh century said the extinction of Apabhramsa of Hemchandra's Grammar.

—N. B. Divatia—History of Gujarati Language and Literature Vol. II, Page 2.

अतः इसमें पद्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक लिखा गया। इसी समय अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो गया था। कविजन इन नवोदित देश्यभाषाओं का भी प्रयोग करने लगे थे। इसलिए कुछ काल तक संक्रमण कालीन भाषा प्रयोग का प्रचलन साहित्य में मिलता है। यही कारण है कि एक ही रचना की भाषा को कभी अपभ्रंश-अवहट्ट, कभी पुरानी हिन्दी-मरुगुर्जर या जुनी गुजराती अथवा प्राचीन राजस्थानी बताया गया है। सच पूछा जाय तो १२ वीं शती से १५ वीं शती तक की गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में कोई बड़ा भाषा वैज्ञानिक अन्तर नहीं दिखाई देता। एक ही प्रकार की भाषा राजस्थान, गुजरात और मालवा तक साहित्य में व्यवहृत हो रही थी। इसके लिए 'देश्य भाषा' सम्बोधन का प्रयोग किया जाता था और उसे ही यहाँ मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी कहा गया है। यही देश्य भाषा या उत्तरकालीन अवहट्ट अथवा पुरानी हिन्दी या मरुगुर्जर जनता के बोलचाल में प्रचलित थी। अतः इसमें गद्य साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया।

अपभ्रंश के गद्य और पद्य की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। पद्य भाषा का आधार तद्भव और देशज शब्द है जबकि गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। १२ वीं शताब्दी के बोलचाल की भाषा का सबसे अधिक प्रामाणिक रूप दामोदर कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में प्राप्त होता है। दामोदर भट्ट काशी-कान्यकुब्ज नरेश गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल की तीसरी रानी जो जैनमतावलम्बिनी थी, के आश्रित थे। इस रचना में लोक प्रलचित भाषा के उदाहरण उपलब्ध हैं।

'उक्ति' का अर्थ होता है 'लोक प्रचलित भाषा-पद्धति' और व्यक्ति का अर्थ होता है 'स्पष्टीकरण', अर्थात् लोकजीवन में व्यवहृत भाषा की विवेचना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। डॉ० सुनीति कुमार ने इसकी भाषा को कोसली या पूर्वी हिन्दी बताया है किन्तु यह ग्रन्थ १२ शताब्दी के जनमानस में अपभ्रंश से देश्य भाषाओं के जन्म लेने की प्रक्रिया का सच्चा प्रतिबिम्ब है। इस परम्परा में आगे चल कर अनेक 'उक्ति' ग्रन्थ लिखे गये जिनमें सं० १४५० में लिखा 'मुग्धावबोध औक्तिक' संक्रमण कालीन भाषा के अन्तिम मील का पत्थर है। इसके अतिरिक्त साधुसुन्दर गणि कृत 'उक्ति रत्नाकर' और उक्ति व्यक्ति की व्याख्या में लिखित 'उक्ति व्यक्ति विवृत्ति' इस प्रकार की अन्य उल्लेखनीय रचनायें हैं। रोडकृत राउरवेल भी बोलचाल (औक्तिक) की भाषा में रचित कोसली की महत्वपूर्ण पद्यात्मक कृति है जिसके बीच-

बीच में गद्य खण्ड उपलब्ध हैं। इसमें तत्कालीन प्रचलित सात बोलियों के नमूने मिलते हैं।

नवोदित देश्यभाषाओं में पूर्व में मिथिला से लेकर पश्चिम में गुजरात तक गद्य लिखा जाने लगा था। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की समकालीन रचना 'वर्णरत्नाकर' मैथिली अवहट्ट की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने सात कल्लोलों में बाट कर नायक-नायिका, ऋतु, वन आदि का विशद एवं मनोरम वर्णन किया है। महाराष्ट्र में रचित ज्ञानेश्वरी गीता की भाषा में भी अपभ्रंश से नवोदित मराठी के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। वर्णरत्नाकर की शैली में रचित कथारत्नाकर, आभाणक रत्नाकर और बैजनाथकलानिधि आदि अन्य गद्य कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं। कथारत्नाकर सं० १३१९ में रचित नरचन्द्र सूरि की वर्णनात्मक रचना है जो १५ तरंगों में विभक्त है। 'बैजनाथकलानिधि' की भाषा से अनुमान होता है कि यह रचना दक्खिणी गुजरात में लिखी गई होगी, यथा—'आतां ! नगर वर्णन। आटालिया। अपरिया। मालीया। गजद्वारे। खड़की द्वारे।··· करु आड़े नडे चौकिया धवल हारें वसुआरे मालवधे कोच निबद्धे कोठारे कोटिवा।'[1]

मैथिली गद्य की अन्य रचनाओं में विद्यापति ठाकुर कृत कीर्तिलता और कीर्तिपताका का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनमें प्रयुक्त गद्य खण्डों की शैली संस्कृत की अलंकृत गद्य शैली के समान है जिसमें लम्बे-लम्बे समासयुक्त वाक्य और विशेषण पर विशेषण जड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं एकाध क्रिया अथवा अव्यय छोड़कर कीर्तिलता में प्राप्त समस्त शब्दावली संस्कृत या तत्सम शब्दों से निर्मित है। इसकी रचना-पद्धति प्राकृत के कथा-आख्यायिका की परम्परा से सम्बद्ध है। इस प्रकार इसकी भाषा-शैली संस्कृत से और संरचना पद्धति प्राकृत से प्रभावित होने के कारण यह दोनों परम्पराओं की सम्पदा से सम्पन्न एक उत्तम कृति है। इसके गद्य का एक नमूना प्रस्तुत है :—

'जेन्हे रात्रे अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाअे साहस साधि पातिसाह आराधि दुष्ट करेओ दप्प चूरओ पितृवैर उद्धरि साहि करो मनोरथ पूरेओ।'[2]

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, खंड ३ पृ० ४५३ (ना० प्र० सभा, काशी)

२. विद्यापति—कीर्तिलता पृ० १४

कीर्तिलता के छन्दों के बीच बीच में इसी प्रकार के गद्य खण्ड प्राप्त होते हैं। विद्यापति ने इसे 'पुरुष काहाणी हउं कहउं' काहाणी कहा है। इससे पता चलता है कि उस समय तक गद्य में कथा आख्यायिका के लिए काहाणी शब्द का प्रयोग प्रचलित हो चुका था। इसके द्वारा परवर्ती कहानी और गद्य का प्रारम्भिक सूत्र मिलता है। शलाकापुरुषों के गुणानुवाद करने वाले चरितकाव्यों की अनेक विशेषतायें कीर्तिलता में मिलती हैं।

तत्कालीन मध्यदेश की शिष्ट भाषा के रूप में दिल्ली की कौरवी या खड़ी बोली का प्रचार उत्तर भारत से लेकर दक्कन तक हो रहा था। दक्कन में इसे 'दक्खिनी' के नाम से पुकारा जाने लगा था। ग्रियर्सन ने इसे मूलतः गङ्गा के ऊपरी द्वाबे, मेरठ और पश्चिमी रुहेलखण्ड की ठेठ बोली बताया है।[1] इस प्रकार मध्यदेश और दिल्ली की बोली होने के कारण इसका बोलचाल, व्यापार-व्यवहार की भाषा के रूप में व्यापक प्रचलन हो गया था। बोलचाल की भाषा होने के कारण यह गद्य के लिए अधिक उपयुक्त थी। इसीलिए अन्य समकालीन देश्य भाषा-बोलियों की अपेक्षा इसमें गद्य का विकास पहले हुआ। इसके प्राचीन प्रयोग उक्तिव्यक्ति-प्रकरण, वर्णरत्नाकर आदि में मिलते हैं। नाथपंथियों की रचनाओं से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। गोरखनाथ, चरपटनाथ, चौरङ्गीनाथ आदि की रचनाओं में खड़ी बोली के पर्याप्त प्रयोग प्राप्त हैं। सिद्ध साहित्य में खड़ी बोली के प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलते हैं किन्तु उनका नितान्त अभाव नहीं है। परबतसिद्ध कृत 'भूगोल पुराण' के सम्बन्ध में आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि यह रचना १४ वीं शती से कुछ पूर्व की होगी। इसकी भाषा में खड़ी बोली का प्रारम्भिक प्रयोग देखिये :—

'सुमेरु पर्वत ऊपरि चारि दिशा चारि पुरिया है। कउण कउण पुरी कउण कउण दिशा है। पूर्व दिशा आगै ऊपरि पृथ्वी ऊपरि चउबीस सहस्र जोजन अम्रितपुरी ऊची है। तहां राजा इन्द्र राज करता है।'[2]

बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली 'दक्खिनी' के नाम से बरार, हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर आदि प्रदेशों में १३ वीं शताब्दी से ही प्रचलित हो रही थी। इन प्रदेशों के प्राचीन राज्यों चालुक्य, यादव, बहमनी आदि का उत्तर भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध था, किन्तु दक्षिण में खड़ी बोली के प्रचार का श्रेय मुसलमानों के राज्य विस्तार एवं प्रभाव विस्तार को है।

1. G. A. Grierson—Linguistic Survey of India, Vol. IX, part I, p. 47
२. नाथ सिद्धों की बानियां—परिशिष्ठ पृ० ३

मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद बनाया, राजधानी तो पुनः दिल्ली लौट आई किन्तु दिल्ली की खड़ी बोली वहीं रह गई और इसमें १४ वीं शताब्दी से ही गद्य-पद्य का साहित्य लिखा जाने लगा। इसके प्रथम लेखक सूफीसंत गेसूदराज वंदानवाज थे जिनका जन्म सं० १३७५ में दिल्ली में हुआ था और अपने पिता के साथ वे देवगिरि जाकर बस गये थे। इनकी भाषा में १४ वीं शताब्दी की दिल्ली की भाषा का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। आपकी तीन पुस्तकें मेराजुल आशकीन, हिदायतनामा और रिसाला-ए-बारह का उल्लेख मिलता है। इनमें खड़ी बोली का प्राचीनतम गद्य सुरक्षित है। एक उदाहरण देखिये—'निर्गुन हुआ तो शफा पावेगा, तबीब फरमाये त्थूं परहेज करे तो उन्ने वी तबीब होवेगा।' या 'पीर मना किए तो परहेज करना।' इनमें करना, होवेगा आदि क्रिया और 'उन' सर्वनाम तथा परसर्ग 'ने' का प्रयोग द्रष्टव्य है। वाक्य विशेषण और विशेष्य खंडों में बंटे हुए हैं। ये लक्षण प्रौढ़ खड़ी बोली गद्य के 'मेराजुल आशकीन' में उपलब्ध हैं। इन लेखकों ने हिन्दीपन का बराबर ध्यान रखा और पुस्तकों का नाम भी नौरस, सवरस, नेहदर्पन, दीपक पतंग आदि रखा है। वजही इन लेखकों में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

खड़ी बोली के साथ ही शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजभाषा ब्रजक्षेत्र की लोकभाषा के रूप में १३ वीं शती से ही प्रयुक्त होने लगी थी। भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप धार्मिक प्रभाव और अपने स्वाभाविक माधुर्य के कारण यह शीघ्र ही विस्तृत क्षेत्र की काव्यभाषा बन गई। यह सत्य है कि इसमें पद्य अधिक लिखा गया किन्तु गद्यरचनाओं का भी पूर्णतया अभाव नहीं है। ब्रज भाषा गद्य के छिटपुट प्रयोग तो नाथपंथियों की रचनाओं से ही ढूढ़े जा सकते हैं। वस्तुतः प्राचीन रचनाओं जैसे उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्राकृत पैङ्गलम आदि में खड़ी बोली, व्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी और गुजराती तक के बीज मिलते हैं। अतः इनमें व्रजभाषा के प्रयोग भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उसके बाद प्रायः दो सौ वर्षों तक व्रजभाषा गद्य का कोई प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता। उस समय इस दायित्व का निर्वाह शौरसेनी की जेठी बिटिया राजस्थानी या मरुगुर्जर ने उत्तमढंग से सम्पन्न किया। इसलिए इसमें प्राचीन गद्य के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनका विवरण प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है। वस्तुतः ब्रजभाषा गद्य का विकास पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा ही संभव हुआ किन्तु इनमें विट्ठलनाथ को छोड़कर अन्य आचार्य और उनकी रचनायें हमारे आलोच्य काल सीमा के बाद की हैं। अतः इनका विवरण यथास्थान ही उचित होगा।

मरुगुर्जर गद्य के छिटपुट उदाहरण १३ वीं शताब्दी से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। राजस्थान में राज्याश्रय के कारण इनका लेखन और संरक्षण अधिक सुचारु रूप से हो सका और राजकीय प्रोत्साहन के कारण इसका क्रमशः विकास होता गया। फलतः गद्य-कृतियाँ नाना साहित्य रूपों में प्रचुर परिमाण में लिखी गईं। इनकी प्रामाणिक प्रतियां प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की प्राप्त हो जाती हैं। इनकी अविच्छिन्न परम्परा १४ वीं शताब्दी से लगातार चलती है और परवर्ती देश्य भाषाओं के गद्य-साहित्य पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस विस्तृत साहित्य को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) जैन गद्य और (२) जैनेतर गद्य। जैनेतर गद्य साहित्य अधिकतर मरुगुर्जर की चारण शैली डिंगल में लिखा गया है। दोनों प्रकार का गद्य यद्यपि राजस्थान और गुजरात में ही लिखा गया है तथा भाषा भी मरुगुर्जर या उसकी विशेष शैली है किन्तु इनमें स्वभावगत पार्थक्य है। मरुगुर्जर जैनसाहित्य धर्मप्रधान है किन्तु चारण साहित्य राजाश्रित होने के कारण प्राकृत-जनों (राजाओं, सामन्तों, श्रीमंतों) का गुणानुवाद करता है। पहले में शान्तरस की और दूसरे में शृङ्गार अथवा वीररस की प्रधानता है। मरुगुर्जर जैन साहित्य इतिहास की कसौटी पर प्रायः खरा उतरता है किन्तु डिंगल साहित्य डींग और अतिरंजना के कारण इतिहासकार को निराश करता है। जैन कवि सायास साहित्यिक सौन्दर्य, अलंकार, चमत्कार, रसादि का आयोजन नहीं करता जबकि चारण कवि दरबारी मनोवृत्ति के कारण शब्दाडंबर, अलंकार-अतिशयोक्ति आदि का साभिप्राय प्रयोग करते हैं। कुल मिलाकर राजस्थान और गुजरात का मरुगुर्जर-गद्य साहित्य विविध विधात्मक, सम्पन्न, प्रमाणिक एवं प्रचुर है।

इस विशाल साहित्य में जैनेतर गद्यकारों का अंशदान प्रशंसनीय है। यह तो पहले भी कहा जा चुका है कि राजस्थानी और गुजराती भाषायें अपने शैशवकाल में एक ही थीं जिसे डॉ० टेसीटोरी ने पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया था। प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे ही मरुगुर्जर कहा जा रहा है। इसका गद्य साहित्य दो भाषा-रूपों में लिखा गया (१) जैन लेखकों की स्वाभाविकमरुगुर्जर में और (२) चारणों द्वारा गढ़ी गई विशेष शैली—डिंगल में। प्रारम्भिक गद्य साहित्य अधिकतर पद्य-ग्रन्थों के बीच-बीच में प्रयुक्त गद्य खंडों के रूप में मिलता है जैसे कुवलयमालाकथा, जगत्सुन्दरीप्रयोगमाला, वर्ण रत्नाकर, कीर्तिलता और राउरबेल आदि। अजैन गद्यसाहित्य प्रायः चारणों द्वारा डिंगल में लिखा गया है। डिंगल काव्यभाषा-शैली का निर्माण पश्चिमी

राजस्थानी या मारवाड़ी में अपभ्रंश के मिश्रण से किया गया था। इसमें वीररस प्रधान कविता और गद्य लिखा जाता था। मधुर कविता के लिए पूर्वी राजस्थानी और ब्रजभाषा के संयोग से एक अन्य भाषा शैली विकसित हुई थी जिसे पिंगल कहते थे।

मरुगुर्जर में लिखित जैनेतर गद्य रचनाओं के प्राचीनतम नमूने ताम्र-पत्रों, शिलालेखों और प्राचीन बहीखातों में मिलते हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने इस प्रकार के कुछ पट्टे-परवाने काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा काफी पहले प्रकाशित कराये थे और उन्हें पृथ्वीराज चौहान के समय का बताया था किन्तु रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने उन्हें जाली सिद्ध कर दिया। अतः विवादास्पद होने के कारण उनकी चर्चा यहीं छोड़ दी जाती है। पट्टे-परवानों के अलावा डिंगल का गद्य साहित्य अनेक साहित्य विधाओं जैसे वचनिका, बात, ख्यात, दवावैत, विगत, पीढ़ी, वंशावली और सिलोका आदि रूपों में मिलता है। इनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

वचनिका—हिन्दी भाषी क्षेत्र के पश्चिम से लेकर पूरब तक की रचनाओं अर्थात् पृथ्वीराजरासो और कीर्तिलता आदि सभी प्राचीन कृतियों में वचनिका के उदाहरण मिलते हैं। डा० टेसीटोरी ने वचनिका की पहचान बताते हुए इसे तुकात्मक गद्य कहा है। आचार्य बामन ने भी ऐसी रचनाओं को वृत्ति गन्धि की कोटि में रखा था अर्थात् जिसमें पद्य का आभास हो। इन रचनाओं में अन्तर्तुक का प्रयत्न प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। यह एक वचनिका की निम्न पक्तियों से स्पष्ट होगा।

"दिल्ली रा वाका उजेणे रा साका च्यारि जुग रहिसी
कवि बातकहिसी।"

श्री अ० च० नाहटा ने इसे ठीक ही पद्यानुसारी गद्य कहा है। उन्होंने 'रघुनाथ-रूपक' नामक छन्दग्रन्थ के आधार पर गद्य के दो भेद बताये हैं (१) वचनिका और (२) दवावैत। वचनिका भी दो प्रकार की होती है (१) पदबन्ध (२) गदबन्ध। रासो में अधिकतर पदबन्ध वचनिकाएँ मिलती है, यथा—

"वचनिका : जमा सुविहानं। शाहबदीन सुल्तानं। पैगम्बर परवरदिगार। इलाह करीम कबार। सुल्तान सिकन्दर जाया। सुल्ताम साहबदीन अवहउ आया।" वचनिकाओं की तुकात्मकता का कारण, कुछ विद्वान्

फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली का प्रभाव बताते हैं, किन्तु अन्य मनीषी इन्हें प्राकृत की कथा—आख्यायिकाओं की अलंकृत गद्य शैली का परवर्ती विकास समझना अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। ये वचनिकायें इतनी लोकप्रिय हुईं कि बाद में स्वतन्त्र रूप से अनेकानेक वचनिकायें लिखी गयीं जिनमें अचलदासखींची री वचनिका, सिवदास री कही तथा वचनिका 'राठौर रतनसिंहजी री महेसदसौत री खिरियाजगा री कही' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। पहली वचनिका सं० १४७० के आसपास की लिखी गई है। इसमें गांगुराणा के शासक अचलदास और माण्डू के बादशाह के युद्ध का ओजस्वी वर्णन चारण सिवदास ने किया है। अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली का वर्णन करने में तल्लीन होने के कारण कवि का ध्यान ऐतिहासिक तथ्यों पर नहीं टिक सका है। अतः यह भाषा व काव्यत्व की दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण कृति है, उतनी इतिहास की दृष्टि से नहीं।[1] इसकी भाषा का नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'इसी नही ही ठाकुर। इसी कीजै। गले सत का अवांसा सौ लोहडो करती जाइजै। जितरा जितरा दृग दीजे तितरा अश्वमेध ज्यांग का फल लीजै। इणिर विधि जे जीव निवेदी जे ते सूरिज मंडल भेदी जै। तितहै बात कहता वार लाजै।'[2]

दूसरी वचनिका में रत्नसिंह की कीर्ति का वर्णन किया गया है। उन्होंने अपने स्वामी यशवन्तसिंह के लिए औरंगजेब से लड़ते-लड़ते वीरतापूर्वक अपना प्राण न्यौछावर कर दिया था। यह वचनिका हमारी कालसीमा के बाद की है अतः इसका उद्धरण यहाँ आवश्यक नहीं है।

दवावैत—ये गद्य और पद्य दोनों रूपों में लिखे जाते हैं। इनके भी दो भेद किए जाते हैं (१) गदबन्ध और (२) शुद्धबन्ध। गदबन्ध दवावैत में तुकान्त खण्डवाले गद्य होते हैं। जैनों और चारणों दोनों ने दवावैत लिखे हैं। जिनसुखसूरि और जिनलाभसूरि कृत दवावैत गद्य की उत्तम रचनायें कही जाती हैं। चारणों द्वारा लिखित लगभग २५ दवावैतों का उल्लेख श्री

---

1. Correctness of the accounts is much disturbed by poetical exaggeration and fiction"—Dr. L P. Tessitory [A Descriptive Catalogue of Bardic and historical manuscripts. Sec. I Part II Page 41.]
२. डॉ० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और उसका साहित्य पृ० ३७

सौभाग्यसिंह शेखावत ने शोधपत्रिका वर्ष १३ अंक ४ में किया है। इनमें से अधिकतर रचनायें १५वीं शताब्दी के बाद की हैं। श्री अ० च० नाहटा ने भी दवावैतों के कई उदाहरण दिए हैं, किन्तु वे भी परवर्ती हैं। कुछ पंक्तियाँ नमूने के तौर पर अवतरित की जा रही हैं :—

'हाथियों के हलके खंभू ठाणा तैं खोले।
ऐरावत के साथी भद्र जाति के टोले।
अत देहु के दिग्गज विंध्याचल के सुजाव।
रंगरंग चित्रे सुडा उँडू के बणाव।
झूल की जलूसे बीर घंटुके खणके।'[1]

बात—डॉ टेसीटोरी द्वारा संग्रहीत 'फुटकर ख्यात बात तथा गीत' में बात की परिभाषा इस प्रकार दी गई है 'जिण खिसा मै कम दराजी सो खिसो बात कहावै।'[2] अर्थात् इसमें कथातत्त्व की प्रधानता होती है। यह कहानी या आख्यायिका जैसी गद्य विधा है। इसमें 'अनंतराय सांखला री बात' सं० १३२५ की महत्वपूर्ण रचना है। १५वीं शताब्दी की बातों में ढाढी बादर कृत 'निसाणी बीरभाण री बात' और प्रतापसिंह कृत 'चंदकुंवर रा बात' विशेष उल्लेखनीय हैं। अद्यावधि बात साहित्य की सैकड़ों रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं।

ख्यात—चारणों ने अपने आश्रयदाताओं के यश-पौरुष और पराक्रम आदि का खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया, इस प्रकार जिन रचनाओं में राजाओं की ख्याति का वर्णन किया गया है उन्हें ख्यात कहते हैं। उस समय राजाओं द्वारा अपनी विरुदावली लिखवाने की प्रथा चल पड़ी थी अतः ऐसी रचनायें भी बड़ी संख्या में लिखी गईं। इनकी परम्परा १६वीं शताब्दी के पहले भी मिलती है किन्तु इसमें मनगढन्त और कपोलकल्पित बातें अत्यधिक पाई जाती हैं अतः इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इनमें 'सिसोदिया री ख्यात' राठौड़ाँ री ख्यात, कछवाहा री ख्यात आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। ख्यातों में सर्वप्रसिद्ध रचना है 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' जिसका समय सं० १७२२ है अतः इसका विवरण यथास्थान दिया जायेगा।

ख्यात के समान ही कुछ अन्य गद्य रचनायें भी हैं जैसे पीढ़ी, वंशावली, विगत आदि। पीढ़ी और वंशावली में राजवंशों की वंशावली और उनके वीरता की अतिशयोक्तिपूर्ण व्यञ्जना मिलती है। इनमें यत्र-तत्र ललित पद्य

१. नाहटा—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० ११७
२. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १०७

के नमूने अवश्य प्राप्त होते हैं; किन्तु तथ्यों की तोड़-मोड़ भी पर्याप्त मात्रा में की गई है।

विगत—इसमें किसी राजा-सामन्त या अन्य महापुरुष का वंश परिचय और इतिवृत्त प्रस्तुत किया जाता है, जैसे 'मेवाड़ रा भाखरा री विगत' या 'सिसोदिया चूडावतां री साखरी विगत' इत्यादि। ये रचनायें प्रायः परवर्ती काल की हैं अतः इनका विवरण एवं उद्धरण आगे देना ही उचित होगा।

सिलोका—ये भी गद्य-पद्यमय होते हैं। विवाह के अवसर पर साला अपने बहनोई की बुद्धि-परीक्षा के लिए श्लोक पढ़ता है और उनसे उसका अर्थ पूछता है या वैसा ही दूसरा श्लोक पढ़ने का आग्रह करता है। इसलिए इसमें पद्य के साथ-साथ साले-बहनोई के संवाद के रूप में बोलचाल की ठेठ भाषा के नमूने भी उपलब्ध हो जाते हैं। इनका उद्धरण जैन गद्य रचनाओं के साथ दिया जायेगा।

मरुगुर्जर जैन गद्य—गद्य के विकासक्रम की दृष्टि से तथा वैविध्य, संख्या और साहित्यिकता की दृष्टि से जैन गद्य अन्य लोगों द्वारा लिखित गद्य की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से जैनधर्म के सिद्धांत, दृष्टांत और उदाहरण तथा सिद्धान्तों की व्याख्या आदि की गई है। पद्यों को समझाने के लिए भी टिप्पण के रूप में गद्य का प्रयोग किया गया है जैसे ढंढणकुमारकथा में प्रारम्भ में श्लोक देकर उसका भावार्थ और दृष्टान्तस्वरूप कोई छोटी कथा गद्य में देकर उसका आशय स्पष्ट किया गया है। पहले कह चुके हैं कि इस प्रकार का गद्य साहित्य १३वीं शताब्दी से ही मिलने लगता है। इन प्राचीन गद्यावतरणों का प्रतिनिधि संकलन है 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' जिसके सम्पादक मुनि जिनविजयजी हैं। यह गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से सं० १९८६ में प्रकाशित है। सर्वप्रथम इसी संकलन से कुछ महत्वपूर्ण गद्यखण्ड प्रस्तुत किए जा रहे हैं। 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' के अन्त में भी कुछ इसी प्रकार के गद्य खण्ड संकलित हैं उनमें से प्रायः सभी गद्यसन्दर्भ में भी संकलित हैं। इन संकलनों में १३-वीं शताब्दी की एक-दो रचनाओं के अलावा अधिकतर रचनायें १४वीं या उसके बाद की शताब्दियों की हैं। इस समय तक जैन काव्यसाहित्य का विकास पर्याप्त रूप से हो चुका था और अन्य भाषाओं के साहित्यिक विकासक्रम के अनुसार ही मरुगुर्जर में भी काव्य का विकास हो चुकने पर गद्य की रचना प्रारम्भ हुई।

जैन साहित्यकार सामान्यतया साधक और सन्त थे। साहित्य इनके लिए विशुद्ध कला की वस्तु कभी नहीं रही। वह धार्मिक आचार की पवित्रता और साधना का साधन रहा है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति की सरलता, सुबोधता और सहजता का यहाँ सदैव सर्वोपरि ध्यान रखा गया है। उस समय मरुगुर्जर बोलचाल और व्यवहार की प्रचलित भाषा थी अतः जैन साहित्यकारों ने इसी भाषा में अपनी भावना और विचारणा को सहज ढंग से व्यक्त किया।

मरुगुर्जर जैन गद्य साहित्य के भी स्थूलरूप से दो भाग किए जा सकते हैं (१) मौलिक गद्य और (२) टीका, टव्वा, बालावबोध और अनुवाद आदि। मौलिक गद्य धार्मिक, ऐतिहासिक और कलात्मक आदि नाना शीर्षकों में बाटा जा सकता है। धार्मिक गद्य के अन्तर्गत तत्त्वनिरूपण सम्बन्धी रचनायें और कलात्मक कृतियाँ अधिक मिलती हैं। ऐतिहासिक गद्य गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली आदि रूपों में लिखा हुआ मिलता है। इनमें इतिहास की रक्षा का पूरा प्रयत्न किया गया है।

आचार्यों की प्रशस्ति में भी ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं की गई है। कलात्मक गद्य वचनिका, दवावैत, बात, सिलोका, संस्मरण आदि नाना रूपों में उपलब्ध होता है। अनुप्रासात्मक झंकारमयी शैली और अन्तर्तुकात्मकता, अलंकृति और कलात्मकता इनकी महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं।

प्रारम्भ में आगमों में निहित गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से निर्युक्तियाँ और भाष्य पद्यबद्ध शैली में लिखे गये और इनपर गद्य में चूर्णियाँ लिखी गई किन्तु तब साहित्यभाषा का स्थान प्राकृत या संस्कृत को प्राप्त था। आगे चलकर टीका युग आया और निर्युक्तियों, भाष्यों और आगमों पर टीकायें, संस्कृत से प्रारम्भ करके बाद में मरुगुर्जर में लिखी जाने लगीं। इनके दो विशेष रूप प्रचलित हुए (१) टव्वा और (२) बालावबोध। टव्वा संक्षिप्त रूप है जिसमें शब्दों के अर्थ ऊपर-नीचे या बगल में लिख दिए जाते हैं परन्तु बालावबोध में व्याख्यात्मक समीक्षा का प्राचीन स्वरूप दिखाई पड़ता है। इन रचनाओं में निहित सिद्धान्त को कथा और उदाहरण-दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया जाता था कि बालक जैसा अबोध भी उनके सार का बोध प्राप्त कर सके अतः इन्हें बालावबोध कहा गया।

१३वीं-१४वीं शती की गद्य रचनायें

'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' में सबसे प्राचीन गद्य रचना 'आराधना' है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति सं० १३३० की लिखित है अतः यह रचना १३वीं शताब्दी की अवश्य होगी। प्राचीनतम नमूने के रूप में इसका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। इसकी भाषा का एक नमूना दिया जा रहा है :—

'अतीत निंदउ वर्तमान संवरहु अनागतु पच्चरवउ। पंच परमेष्ठि नमस्कारु जिनशासनि सारु चतुर्दश पूर्व समुद्धारु संपादित सकल कल्याण संभारु विहित दुरितापहारु क्षुद्रोपद्रव पर्वत वज्रप्रहारु लीला दलितसंसारु सु तुम्हि अनुसरहु जिणि कारणि चतुर्दश पूर्वधर चतुर्दश पूर्व संबधिउ ध्यानु परित्यजउ।'[1] यह वाक्य अभी भी अपूर्ण है। इस गद्य की यह विशेषता है कि वाक्य लम्बे हैं; वाक्यों के बीच में अन्तर्तुकात्मक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का पर्याप्त प्रयोग भी ध्यातव्य है जैसे अतीत, वर्तमान, अनागत, चतुर्दश, संपादित, सकल, विहित, दुरित, क्षुद्र, पर्वत, प्रहार इत्यादि। संस्कृत की सन्धियों और सामासिक पदावली का प्रयोग भी इसकी महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं। 'सम्पादित सकल कल्याणु सम्भारु' और 'क्षुद्रोपद्रवं पर्वत वज्र प्रहारु' इत्यादि सामासिक पदावली के नमूने हैं।

श्री संग्रामसिंह—आपने भाषाशिक्षा (व्याकरण) को सुगम ढंग से समझाने के लिए सं० १३३६ में 'बालशिक्षा' नामक एक पुस्तिका लिखी जो 'प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ' में संकलित है। इसे दो अधिकारों (भागों) में बाँटा गया है। प्रथम अधिकार में व्याकरण, कर्त्ता, क्रिया, कारक आदि को समझाया गया है और दूसरे अधिकार में औक्तिक पदों का संग्रह किया गया है। अतः यह मरुगुर्जर के भाषा-स्वरूप के अध्ययनार्थ महत्वपूर्ण रचना है।

प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ में संग्रहीत अन्त रचनायें—'नवकार व्याख्यानम्' (सं० १३५८); सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन (सं० १३५९) और 'अतिचार' (सं० १३६९) १४वीं शताब्दी के गद्य का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इनमें प्रायः एक ही प्रकार की गद्यशैली प्रयुक्त है। इनकी भाषा-

१. आराधना—प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—सम्पादक मुनि जिनविजय, पृ० २१८-१९

शैली का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए 'सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन' की कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जा रही हैं :—

'पहिलउं त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थङ्कर सर्वपाप-क्षयंकर हउं नमस्करउं। तदनंतरु पांचे भरते पांच ऐरवते पांच महाविदेहे सत्तरिसउ उत्कृष्ट कालि विहरमाण हउं नमस्कारउं।'[1]

इन रचनाओं की गद्यभाषा में भी तत्सम शब्दों का प्रयोग, तुकात्मक प्रवृत्ति और लम्बे वाक्यों की संरचना द्रष्टव्य है।

'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में इन रचनाओं के साथ सं० १३४० की लिखित 'अतिचार' नामक एक विशेष रचना भी संकलित है। यह १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की गद्यभाषा का नमूना प्रस्तुत करती है। अतः इसकी भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

'सातमइ भोगोपभोग व्रति संचित द्रव्य विगइ खासहाइ पावही पानि, कोकलि बइसणि आखणि समणि न्हाणुअइ अंगोहलि फलिफूलि भोजनि आच्छादतिजु कोइ अतिचारु हुयउ पक्ष दिवस मांहि···।'[2]

इसमें द्रव्य, पक्ष, दिवस जैसे तत्सम शब्दों के साथ अपभ्रंश प्रभावित वइसणि, आसणि, सयणि आदि 'ण' कार युक्त शब्दावली का प्रयोग इसे संक्रमणकालीन भाषा का उत्तम नमूना सिद्ध करते हैं। इन रचनाओं में बालशिक्षा के लेखक श्री संग्रामसिह को छोड़कर अन्य रचनाओं के लेखकों का नाम, परिचय आदि ज्ञात नहीं है।

१४वीं शताब्दी की दो गद्य रचनाओं—(१) 'धनपालकथा', (२) 'तत्वविचार प्रकरण' को श्री अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित कराया है। धनपाल की प्रसिद्ध कृति 'तिलकमंजरी' किसी अग्नि-काण्ड में भष्म हो गई थी, जिसे उन्होंने पुनः लिखा था। धनपालकथा में इसी घटना का वर्णन है। इसकी भाषा का उदाहरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'उज्जयिनी नाम नगरी। तहिठे भोजदेव राजा। तीयहि तणय पंचइ सयह पंडितह मांहि मुख्यु धनपाल नामु पंडितु। तीयहि तणइ घरि अन्यदा कदाचित् साधु विहरण निमित्तु पइठा।'[3]

१. 'सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन' प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—सं० मुनि जिन-विजय पृ० २१९

२. अतिचार—'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' सं० ए० एन० जानी पृ० ८७-८८

३. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान भारती—वर्ष ३, अंक २ पृ० ९३-९६

दूसरी रचना 'तत्त्वविचारप्रकरण' की भी दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'एउ संसारु असारु। खणभंगरु, अणाइ चउ गइउ। अणोरु अपारु संसारु अणाइ जीव। अणेग अणादि कर्म संयोगि सुभासुभि कर्म अचेष्टित परिवे णिढिमा जीव पुणु नरक गति।'[1]

इन रचनाओं की भाषा में 'अतिचार' के समान तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ ही अपभ्रंश की 'उकार' बहुल प्रवृत्ति भी बनी हुई है। यह संक्रमणकालीन प्रवृत्ति १५वीं शताब्दी तक की जैन-अजैन मरुगुर्जर गद्य रचनाओं में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

श्री एन० बी० दिवेटिया ने अपनी पुस्तक में १३वीं-१४वीं शताब्दी की गद्य रचनाओं के कुछ उद्धरण दिए हैं। इनमें से प्रायः सभी 'प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ' में संकलित हैं, अतः उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उन्होंने सं० १४४९ की एक जैनेतर रचना 'गणितसार' का जो उद्धरण दिया है, उसकी कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जा रही हैं :—

'शिवु भणीइ देवाधिदेवु भट्टारकु महेश्वरु किसु जु परमेश्वर कैलास सिषरु मंडनु पार्वती हृदयरमणु विश्वनाथ जिणि विश्व नीपजाविउं तसु नमस्कारु करीउ बालावबोधनार्थं बाल भणीइं अज्ञान तींह किहि अवबोध जाणिवा तणइ अर्थि आत्मीय यशोवृद्ध्यर्थं श्रेयस्करणार्थं श्रीधराचार्य गणि जु प्रकटीकलु।'[2]

दिवेटिया जी का कथन है कि कुछ विद्वान् इस भाषा को प्राचीन गुजराती कहते हैं किन्तु ये गद्यखण्ड मात्र गुजराती के नहीं हैं बल्कि उस संक्रमणकालीन भाषा के हैं जिसे 'गुर्जर-अपभ्रंश' कहना चाहिये।[3] श्री दिवेटिया जी के इस कथन से हम सहमत हैं कि ये गद्यखण्ड मात्र गुजराती के नहीं हैं बल्कि मरुगुर्जर के हैं क्योंकि उस समय तक गुजराती, राजस्थानी और पुरानी हिन्दी में कोई भेद नहीं था। 'गुर्जर-अपभ्रंश' नाम विवादास्पद हो सकता है किन्तु इस भाषा के लिए मरुगुर्जर नाम प्रायः सर्वमान्य हो चुका है और यही नाम इन गद्यखंडों की भाषा के लिए उचित है।

१. अ० च० नाहटा—राजस्थान भारती वर्ष ३, अंक ३-४, पृ० ११८-१२०

२. एन० बी० दिवेटिया—गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृ० ४२

3. I must refuse to recognise the language of the above extracts as Gujarati. I have already stated that it should be called Gurjara Apabhramsa. (N. B. Divatia—Gujarati Language and Literature Vol. II, Page 42

१४वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण की गद्य रचनाओं में ज्ञात लेखक कृत सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण कथा रचना है 'कथारत्नाकर'; जिसके लेखक हैं 'नरचन्द्रसूरि'। यह 'वर्णरत्नाकर' के कोटि की रचना है जो १५ तरंगों में विभक्त हैं। इसका रचना काल सं० १३१९ बताया गया है। अतः यह मरुगुर्जर की अद्यावधि ज्ञात कथा कृतियों में सर्वाधिक प्राचीन रचना ठहरती है। इसका विवरण श्री भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता ने नागरी प्रचारणी पत्रिका (सं० २०२२ अंक–४) में प्रकाशित कराया है। इसके साथ ही उन्होंने इसी कोटि की एक महत्वपूर्ण गद्यकृति 'आभणक रत्नाकर' की भी सूचना दी है। यह औक्तिक पदों का संग्रह होगा, इसलिए भाषा-स्वरूप के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना होगी। इनके विवरण उक्त पत्रिका से प्राप्त हो सकते हैं, अतः यहाँ सूचना मात्र दी गई है। कथा-रत्नाकार वर्णनात्मक शैली में लिखित गद्यात्मक कथा कृति है। इसलिए मरुगुर्जर के कथा-साहित्य के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अगरचन्द नाहटा ने अपने लेख 'प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा में' 'सिलोका' का परिचय दिया है। उनका कथन है कि सिलोका का प्रचलन १३वीं १४वीं शताब्दी से ही हो गया था। जब कोई व्यक्ति अपनी शादी में ससुराल जाता था तो उसके साले-सालियाँ उसकी मतिपरीक्षा के लिए एक श्लोक कहकर उससे उसका अर्थ पूछते थे या वैसा ही अन्य श्लोक सुनाने का आग्रह करते थे। इसी श्लोक का यह ठेठ रूप 'सिलोका' है। श्लोकों के इस पारस्परिक आदान-प्रदान, टीका और संवाद में प्रयुक्त भाषा के लिखित नमूने १४वीं शताब्दी से ही प्राप्त होने लगते हैं १४वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के एक 'सिलोका' का उदाहरण आगे दिया जा रहा है :—

'तप्तं तपः साधुजनाय दत्तं दानं स्मृता पंज नमस्क्रिया च।
सतीर्थयात्रा विहिता च तेन पुण्येन लब्धा भवतः स्वसेयम्।'

अहो शालकः! मइ पूर्विलइ भवि निर्मलु बार भेदु तप कीधउ। चारि त्रिया तपोधन कि ही भावनापूर्वाकु दान दीधउ। अनइ जिनशासन सारु पंच परमेष्ठि नमस्कारु स्मस्मउं श्री शत्रुँजय गिरनार सरीखइ तीर्थं जाइ इ। श्री वीतराग पूज्या। सीणि पुण्य करिउ मइताहरी वहिण लाधी।'[1]

इनकी भाषा निश्चय ही तत्कालीन बोलचाल की भाषा का प्रामाणिक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। अतः भाषा विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

1. अगरचन्द नाहटा—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा–पृ० ११

१५वीं शताब्दी का मरुगुर्जर गद्य साहित्य

कुलमंडनसूरि—आपने सं० १४५० में 'मुग्धावबोधऔक्तिक' की रचना की। यह दामोदरभट्ट कृत 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के परम्परा की महत्व-पूर्ण कृति है। इसमें विभक्तिविचार, कृदन्तविचार, उक्तिभेद के साथ शब्दसंग्रह और औक्तिक पद दिए हुए हैं। इसकी भाषा में तत्कालीन प्रचलित भाषा का प्रामाणिक रूप उपलब्ध होता है।[1] श्री दिवेटिया इसे मरुगुर्जर गद्य की जययात्रा का एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशस्तम्भ मानते हैं। इसके पश्चात् के गद्य-साहित्य में गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का अलग-अलग स्पष्ट स्वरूप मिलने लगता है। इसके अतिरिक्त 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के ढंग की अन्य कई रचनायें प्राप्त हैं जिनमें साधुसुन्दरगणि कृत 'उक्ति-रत्नाकर' और 'उक्तीयक' १६वीं शताब्दी की रचनायें हैं।[2] इनमें 'मुग्धाव-बोध' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, अतः इसकी भाषा का नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है :—'मेघि वरिसतइ मोर नाचइं। नाचइं इसी क्रिया। कउण नाचइ मोर। जे नाचइ ते कर्त्ता। तिहां प्रथमा। किसइ हुतइ नाचइं मेघि। तिहां भावलक्षणि सप्तमी। मेघि किसु करतइ, वरसइं।[3] इसके नाम के सम्बन्ध में श्री दिवेटिया ने काफी विचार किया है और निर्णय दिया है कि ग्रियर्सन ने इसका 'मौक्तिक' नाम अशुद्ध लिखा है, इसे 'औक्तिक होना चाहिए। इसके सम्पादक श्री एच० एच० ध्रुव द्वारा ही 'मौक्तिक' का भ्रम शायद प्रारम्भ हुआ था।

पाटण भण्डार की ग्रंथसूची (भाग १ पृ० १२२) में 'उक्तिव्यक्तिविवृत्ति' का उल्लेख है जो उक्तिव्यक्तिप्रकरण की व्याख्या के रूप में लिखी गई है। इसके लेखक का निश्चित पता नहीं है। किन्तु यह रचना १६वीं शताब्दी से पूर्व की ही है, अतः इसकी भी दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ उद्धृत की जा रही है :—

'धम्मु आथि धर्म्मु कीजइ। दुह गावि दुधु गुवाल। यजमान कापडिया।

---

1. The Language contained in which being undoubtedly the language of its day serves as a beacon-light throwing its flashes before and after. Shri N. B. Divatia—Gujarati Language & Literature Page 16

२. डॉ० शिवप्रसाद सिंह—'सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य पृ० १२४

३. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—पृ० १७७

गंगाए धम्मुं हो पाप जा। पृथ्वी वरति। मेह वरसि। आँखि देखि। नेहाल। आँखि देखत आछ। जीभें चाख। काने सुण। बोलं बोल।'[1]

इसकी भाषा भी पूर्वी अपभ्रंश का परवर्ती विकास प्रतीत होती है क्योंकि इसका आधार 'उक्तिव्यक्ति' है जो 'कोसली' की रचना मानी जाती है।

श्रीजयशेखरसूरि—मरुगुर्जर अथवा आदिकालीन हिन्दी जैन-काव्य-कृतियों में 'त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध' एक उत्तम प्रबन्ध रचना है। आपने संस्कृत में प्रबोधचिन्तामणि नामक महाग्रन्थ लिखा था। त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध उसी का लोकभाषा में किया गया रूपान्तरण है, इसीलिए इसका अपरनाम 'प्रबोधचिन्तामणिचौपइ' प्रसिद्ध है। यह जैनधर्म अभ्युदय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत श्रीलालचन्द भगवान गाँधी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित रचना है। यह सं० १४७० में लिखी गई थी। इसके पद्य के बीच-बीच में गद्य-खण्डों का भी प्रयोग किया गया है। इसकी गद्यभाषा प्रौढ़ एवं प्रसादगुण-सम्पन्न है। अतः यह मरुगुर्जर गद्य के विकासपरम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसकी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जा रही हैं :—

'जे जिकाइं प्रार्थइ तेइ रइं हइ ते वस्तुनुं दान अनिवार,
तत्वकथा भव द्रवद्रइं धज अलंब लहलहइं।
साधुतणा हृदय गहगहइ दुष्ट दोषी तणउ,
दाटण पामिउ पुण्य रंग पाणउ।'[2]

इसकी भाषा को डा० हरीश ने मरुगुर्जर का उत्तम उदाहरण बताया है। इनकी अन्य गद्यरचना 'श्रावकबृहद्तिचार' भी उल्लेखनीय है। यह श्रावकों के उपदेशार्थ सरल गद्य में लिखी गई है।

पद्य भाग के अन्तर्गत आपका परिचय दिया गया है। आप श्री महेन्द्र-प्रभसूरि के शिष्य एवं मेरुतुंगसूरि के गुरुभाई थे। आपकी प्रसिद्ध काव्यकृति 'नेमिनाथफागु' का वर्णन किया जा चुका है। इसके अलावा आपने मरु-गुर्जर में 'धम्मिलचरित्त' और 'जैनकुमारसंभव' नामक प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ रचे हैं। आप संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे और आपने संस्कृत में विपुल साहित्य लिखा है जिनमें कई द्वात्रिंशिकायें, आत्मप्रबोधकुलक और धर्म-

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास - खण्ड ३, पृ० ४३६ (नागरी प्रचारणी सभा—काशी से प्रकाशित)

२. डॉ० हरीश—'आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध'—पृ० ४७३

सर्वस्व आदि हैं। आपने 'उपदेशचिन्तामणि' नामक प्रसिद्ध महाग्रन्थ संस्कृत में लिखा और स्वयं उसपर टीका भी लिखी। उपदेशमाला पर भी आपने अवचूरी लिखी थी। इस प्रकार आप १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध जैनमुनि और प्रमुख साहित्यकार थे।

तरुणप्रभसूरि—मरुगुर्जर के आदिकालीन गद्यकारों में आपका नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आपजिनचन्द्रसूरि और उनके पट्टधर जिनकुशलसूरि के शिष्य थे। आपके विद्यागुरु यशःकीर्ति और राजेन्द्रचन्द्रसूरि थे। आपने सं० १४११ की दीपावली पर अणहिलपत्तन में षडावश्यक पर बालावबोध नामक बृहद् गद्यग्रंथ लिखा। 'प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ' में सम्यक्त्व तथा श्रावकों के १२व्रतों पर दृष्टान्त स्वरूप छोटी-छोटी कई कथायें और श्रावकों के व्रत-अतिचार आदि से सम्बन्धित अन्य अनेक गद्य रचनायें आपकी लिखी हुई संकलित हैं। इनसे तत्कालिन लोक प्रचलित गद्यभाषा का अच्छा परिचय मिलता है। एक अवतरण उदाहरणाथ उद्धृत किया जा रहा है :—
'देवु सम्यक्त्व विषइ निश्चलु जाणी करि नरवर्मंणि रायरहइं प्रणमी करी साक्षात्कारि होई कहइ, महाराज ! धन्यु बउं जेह तूरहइं सभामाहि बइठउ इन्द्र महाराजु सम्यक्त्व वणी स्तुति करइ।' इसउ भणी आपणउ मउडु आपी करी आपणइ थानिक गयउ। नरवम्मुं महाराजु सम्यक्त्व-मूल गृहि-धर्म्मि चिरकालु प्रतिपाली करि पुत्र मित्रादिक सहितु दीक्षा ले करि सुगति पहुतउ।'[1]

आप राजस्थान, गुजरात के अलावा सुदूर सिन्ध आदि प्रदेशों तक विहार करते रहते थे, अतः आपकी भाषा में सरलता और व्यापकता है। षडा-वश्यक बालावबोध की रचना के पश्चात् बालावबोध का खूब प्रचलन हुआ और इनकी एक परम्परा चल पड़ी। षडावश्यक बालावबोध की भाषा में प्रवाह और प्रासादिकता के साथ ही 'उ'कारात्मक प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है जो इसकी प्राचीनता का सूचक है। एक महत्वपूर्ण रचना होने के कारण इसका एक उद्धरण प्रस्तुत है :—

'राजा अनइ महामात्युबे जड़ा अश्वापहारइतउ अटवी माहि गया। भूखिया हूआ। वणफल खाधां। नागरी आविया। राजा सूपकार तेडी करी कहइ, जि के भक्ष्य मेंद संगवइति सणबाइ करउ', सूपकारे कीधा।'[2]

१. प्राचीन गुजराती गद्य गन्दर्भ—पृ० ४
२. श्री अगरचन्द नाहटा—राजस्थान जैन साहित्य पृ० २२७

इसकी भाषा में 'गया', 'हूआ', 'खाधा', 'आविया', 'कीधा' आदि प्राचीन खड़ी हिन्दी के प्रयोग द्रष्टव्य हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि १४वीं-१५वीं शताब्दी तक की मरुगुर्जर भाषा और पुरानी हिन्दी में पर्याप्त एकता थी। जणावण, सणवाइ आदि शब्द इसकी प्राचीनता की सूचना देते हैं, साथ ही मरुभाषा के प्रभाव की शेष स्मृतियाँ हैं।[1]

दयासिंह गणि—आप वृद्धतपागच्छ के भट्टारक जयतिलकसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४९७ (श्रावण सुदि १४ शुक्रवार) में 'संग्रहणी बालावबोध' की रचना की। इसकी सं० १५४८ की लिखित हस्तप्रति से श्री दिवेटिया ने एक उद्धरण दिया है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप यहाँ दी जा रही हैं—"सद्गुरु कहलि पूछि विशेष अर्थनु ग्रहण करिवउं। जे भव्य जीव छइ तेहनइ ए संघयणिनु विचार कहता कर्मक्षय-होइ तह तणइ भव्यतणइ ए विचार जोइवु जाणिवु जिम ते भव्य जीव नई ऋधिवृद्धि होइ।"[2]

आपने इस रचना के प्रायः ३५ वर्ष बाद सं० १५२९ में क्षेत्रसमास पर बालावबोध लिखा। इसके आदि में जो विवरण दिया गया है और रचना के अन्त में जो गुरु परम्परा दी गई है उससे निश्चय होता है कि इन रचनाओं के लेखक दयासिंह गणि एक ही व्यक्ति थे और उनके गुरु जय-तिलक सूरि थे। उस समय वृद्धतपागच्छ के गच्छनायक रत्नसिंह सूरि थे। दोनों बालावबोधों की गद्य भाषा-शैली में समानता है और वे दोनों रचनायें एक ही व्यक्ति की हैं।

"तपागच्छ बड़ी पोसाल श्री रत्नाकर सूरि नइ गच्छि भट्टारक श्री जयतिलक सूरिनइं पाटि गच्छनायक भ० श्री रत्नसिंह सुरि नइं सानिध्यइं प्रतिदिन श्री जयतिलक सूरिनो शिष्य पं० दयासिंह गणि बाला० वार्त्तारूप पणइं लखइ छइ नवो करइ छइ।"[3]

माणिकसुन्दरसूरि—आप मेरुतुंगसूरि के शिष्य थे। आपने 'चन्द्रधवल धर्मदत्त कथा', नेमीश्वरचरितफागबन्ध (सं० १४७८) पद्य में लिखा है। आपकी प्रसिद्ध गद्य कृति 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र' सं० १४७८ की रचना है। यह

१. श्री एन० बी० दिवेटिया—दि हिस्ट्री आफ गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर पृ० ४५

२. मो० द० देसाई—जैन गु० कवि भाग १ पृ० १८०

३. वही भाग ३ खंड २ पृ० १५७६

आदिकालीन मरुगुर्जर गद्य साहित्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस तरह की रचनाओं का एक संग्रह अगरचन्द नाहटा ने नागरी प्रचारणी सभा द्वारा 'सभाश्रृङ्गार' नाम से प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा है "मेरी जानकारी में इतना आलंकारिक साहित्यिक गद्य इतनी प्राचीन किसी प्रान्तीय भाषा में नहीं है।' १५ वीं शताब्दी में तुकान्त साहित्यिक गद्य रचनायें कई मिलती हैं। निस्संदेह यह उनमें श्रेष्ठ है। चमत्कारिक वर्णनों के कारण रचयिता ने इसका अपरनाम 'वाग्विलास' रखा है। इसकी गद्य शैली सानुप्रासिक, पद्याभास एवं तुकात्मक है। इसमें पृथ्वीचन्द्र की राजसभा, सेना, उनका पराक्रम, अयोध्या नगरी, पृथ्वीचन्द्र का समरकेतु से युद्ध, रत्नमञ्जरी का स्वयम्बर, वर्षा, वसन्त आदि ऋतुओं का यथासमय वर्णन बड़ा मनोहर है। ऐसा लगता है कि लेखक इसे ज्ञानकोष का रूप देना चाहता था। विषय की विविधता के साथ अलंकृत गद्य शैली का ऐसा मोहक संभार है कि प्रो० अनन्त राय रावल ने लिखा है कि 'माणिक्यसुन्दर सूरि बाणभट्ट बनना चाहते थे'।[1] लेखक ने नाना समुद्रों, द्वीपों, देशों, प्रदेशों, नगरों, नाना रत्नों, आभूषणों, अस्त्र-शस्त्रों और आयुधों तथा नाना प्रकार के हाथी, घोड़ों आदि का ब्यौरेवार विस्तृत वर्णन किया है।

कथा पांच उल्लासों में विभक्त है। यह अपने ढंग की अद्भुत पद्यानुकारी गद्य रचना है। यह रचना 'प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ' और प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित है। लेखक का नाम माणिक्यसूरि, माणिक्यचंद्रसूरि और माणिक्यसुन्दरसूरि भी मिलता है। प्रथम खण्ड में जम्बूद्वीप, भरतखण्ड, उसकी नदियों, पर्वतों, मरहट्ट देश और पाटण नगर का वर्णन है जहां ८४ प्रकार के चउहटा हैं जिनमें नाना जातियां रहती हैं। बाद में कोशल देश, अयोध्या नगरी और उसके राजा सोमदेव के प्रताप एवं ऐश्वर्य आदि का विशद वर्णन है। उनकी कन्या रत्नमञ्जरी ६४ कलाओं में निपुण थी। इसके रूप-गुण के वर्णन में लेखक ने अद्भुत कविकर्म का परिचय दिया है।

द्वितीय उल्लास में पुराण, स्मृति, कला-विज्ञान आदि का वर्णन किया है। रत्नमञ्जरी के स्वयम्वर में जाते हुए रास्ते में पृथ्वीचन्द्र का समरकेतु से युद्ध, उसकी भीषणता एवं नाना अस्त्र-शस्त्रों का प्रसंगतः वर्णन किया गया है। तृतीय उल्लास में अंगदेशवासी श्रीपति की कथा वर्णित है जिसे परिस्थितिवश लक्ष्मीपति का पुत्र होते हुए भी चौरकर्म करना पड़ा था।

१. अनन्त राय रावल—गुजराती साहित्य पृ० ७५

इसी प्रसंग में लेखक ने क्षमा, अहिंसा आदि का महत्व भी बताया है। पृथ्वीचन्द्र के अयोध्या पहुँचने पर राजसभा की शोभा, राजसी शान-शौकत, राजकन्या का रूप, गुण वर्णन करने के साथ चारणों द्वारा राजकुमारों की विरुदावली का पारंपरिक ढंग से बखान किया गया है। राजकुमारी ने पृथ्वीचन्द्र का वरण किया। आगे रानी का चौदह स्वप्न दर्शन, पुत्रोत्पत्ति आदि का वर्णन करने के बाद पंचम उल्लास में राजा द्वारा अपने पुत्र महीधर को राज्य सौंप कर स्वयं सम्यक्त्व ग्रहण करना वर्णित है।

इनकी भाषा का नमूना नीचे दिया जा रहा है। पुण्य के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, 'एह पुण्य ऊपरि राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र तणउं कथा सम्बन्ध भणीयइ। सा ईणइं राजुप्रमाणि रत्नप्रभा पृथ्वीपीठि असंख्याता द्वीप समुद्र वर्त्तइं। तीह माहि पहिलउ जम्बू द्वीप लक्षयोजन प्रमाण जाणियउ।'[1] आगे मरहट्ठ देश का मनोरम वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

'तीह माहि वषाणीयइ मरहट्ठ देश। जीणइ देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम, भलानगर, जिहां न भागीयइं कर। दुर्ग, जिस्यां हुई स्वर्ग, धान्य न नीपजइ सामान्य, आगर सोनारूपा तणा सागर। जेह देसमांहि नदी वहइं, लोक सुख निर्वहई।'[2]

वर्षा वर्णन सम्बन्धी कुछ पंक्तियां देखिये—

'हिव ते कुमदि, चढ़ी यौवनि भरि, परिवरी परिकरि, क्रीड़ा करइ नवी-नवीपरि। इसिइं अवसरि आविउ आषाढ़ि इतर गुणि संबाढ़। काटइलइ लोह, घामतणउ निरोह घासि पाटि, पाणी वियाइ माटी। विस्तरउ वर्षा काल, जे पंथी तणउ काल, नाठउ दुकाल।'

इस गद्य शैली की तुकात्मकता और लयात्मकता अवलोकनीय है। अतः अलंकृत पद्याभास गद्य रचनाओं की परम्परा में एक श्रेष्ठ एवं प्राचीन रचना होने के कारण यह मरुगुर्जर के गद्य साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना है।

पद्मनाभ—आपने मरुगुर्जर या पुरानी हिन्दी में अपनी प्रसिद्ध रचना 'कान्हडदे प्रबन्ध' १४वीं १५वीं शताब्दी के बीच लिखी है। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके पद्यों के बीच-बीच में गद्यखण्ड प्राप्त होते हैं। इसके वाक्य छोटे, भाषा प्रवाहमय एवं पैनी है। इसकी भाषा को

---

१. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ, पृ० १२७-१३४

२. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ९४

डॉ० हरीश पुरानी राजस्थानी बताते हैं। दूसरे विद्वान् इसे जूनी गुजराती कहते हैं क्योंकि इसमें क्रियान्त 'छइ' शब्द गुजराती 'छे' का पूर्ववर्ती प्रतीत होता है। वस्तुतः यह मरुगुर्जर भाषा है, जिसमें राजस्थानी और गुजराती के प्राचीन प्रयोग और शब्द समूह सम्मिलित हैं, इसकी भाषा का जो उदाहरण आगे दिया गया है उससे उक्त कथन प्रमाणित होता है 'महाराजाधिराज श्री कान्हड़दे सभा पूरी बइठउ छइ। सिंहासनि पाउ परठिउ छइ। मेघवना उलच बाँध्या छइ। परीयउ ढली छइ। केतकीनां गंध गहगहीया छइ। सौरभंना सोउ सांचरिया छइ। सभा मांहि सेरी मेल्हाणी छइ।'[1]

मुनिसुन्दर सूरि—आप तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे। आपने योगशास्त्र-चतुर्थ प्रकाश पर बालावबोध लिखा है। आपके एक अज्ञात शिष्य ने 'कल्याणमन्दिर बालावबोध, लिखा है। यह रचना १५ वीं शताब्दी की है जिसकी हस्तप्रति संघभण्डार, पाटण से प्राप्त हुई है। ये रचनायें अप्रकाशित हैं। मुनि जी के एक अन्य शिष्य विशालराज ने भी गद्य लिखा है। किन्तु इन रचनाओं के नमूने नहीं प्राप्त हो सके हैं अतः उद्धरण नहीं दिया जा सका।

मेरुतुंगसूरि—आपका जन्म सं० १४०३, दीक्षा सं० १४१८, आचार्य पद सं० १४२९, गच्छनायक पद सं० १४४६ और स्वर्गवास सं० १४७१ में हुआ। आप महेन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य और प्रसिद्ध विद्वान् जयशेखर के गुरुभाई थे। आपने 'व्याकरणचतुष्क बालावबोध' और 'तद्धितबालावबोध' नामक दो गद्य रचनायें की हैं। ये दोनों रचनायें भाषा—शिक्षा और व्याकरण से सम्बन्धित हैं। इनकी प्रतियाँ वखत जी शेरी भण्डार, पाटण से उपलब्ध हुई हैं। ये रचनायें भी संभवतः अप्रकाशित हैं अतः इनकी गद्य शैली के नमूने नहीं प्राप्त हो सके।

साधुरत्नसूरि—आप तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १४५६ के आसपास 'नवतत्त्वविवरणबालावबोध' लिखा। देवसुन्दर सूरि के कई शिष्य बड़े विद्वान् थे जैसे ज्ञानसागर, कुलमण्डन, गुणरत्न और सोमसुन्दर। साधुरत्नसूरि इन विद्वानों के गुरुभाई तथा स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् तथा सुलेखक थे। आपने सं० १४५६ में यतिगीतकल्प पर वृत्ति लिखी थी। नवतत्त्व पर आपने जो अवचूरी लिखी है उसके प्रतिलिपिकार ने सोमसुन्दर का सादर स्मरण किया है।

---

१. डॉ० हरीश—आदि कालीन हिन्दी साहित्य शोध पृ० २०१

सोमसुन्दरसूरि—पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को मरुगुर्जर साहित्येतिहास में सोमसुन्दर युग कहा गया है। सोमसुन्दरसूरि इस काल के निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे। आप तपागच्छ के ५० वें पट्टधर थे। आ० जयानन्द सूरि आपके दीक्षागुरु थे। आपका जन्म सं० १४३० और दीक्षा सं० १४३७ में हुई। आपको सूरिपद सं० १४५७ में प्राप्त हुआ। आपका जीवनचरित 'सोमसौभाग्यकाव्य' में वर्णित है। आपने संस्कृत में भाष्यत्रयचूर्णि, कल्याणकस्तव, रत्नकोष, नवस्तवी आदि लिखा। आपकी रचना 'नेमिनाथनवरसफागु' मरुगुर्जर, प्राकृत और संस्कृत मिश्र भाषा की प्रसिद्ध काव्यकृति है। इनके काव्यों का विवरण यथास्थान दिया गया है।

मरुगुर्जर गद्य में आपने उपदेशमाला बाला० सं० १४८५, योगशास्त्र बाला०, षडावश्यक बाला०, नवतत्त्व बाला० और षष्टीशतक बाला० सं० १४९६ में लिखा। आपकी कुछ गद्य कृतियों का संकलन प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ में पृ० ६७ से १२६ तक किया गया है। इनके अतिरिक्त आपने भक्तामरस्तोत्र बाला०, पर्यंताराधना-आराधना पताका बाला०, विचार ग्रंथ बाला० आदि भी लिखा है। आपका लेखन काल सं० १४५७ से सं० १४९९ तक निर्धारित है। आपकी गद्य रचनाओं के कुछ उदाहरण आगे दिए जा रहे हैं। उपदेशमाला बाला० से सनत्कुमारकथा की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

'सनत्कुमार चक्रवर्तिनउं रूप एकबार इंद्रि वखाणिउ। ते जोवा वि देव ब्राह्मणनां रूप करी आव्या। तेह रूप बखाणिउ। चक्रवर्ति गर्वि गयो। तेतलइं चक्रवर्तिनइं शरीरि कर्म लगइ सात महारोग संक्रम्या। तिसिं ते ब्राह्मण रूप जोवा तेड्या। सभामांहि विशेष आभरण शोभा करि चक्रवर्ति गर्विउ वइठउ छइ।'[1]

आगे योगशास्त्र बाला० की रोहीणेयचोर कथा से कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

'राजगृह नगरि, श्रेणिक राजा, अभयकुमारमन्त्रीश्वर, तिसिइ वैभारगिरि पर्वति लोहखरउ चोर रहइ। राजगृह नगरनी सर्वलक्ष्मी स्त्रयादि चोरी आणइ। तेहनइ रोहिणी कलत्रनउ बेटउ रोहिणीउ इसिइ नामिइं छइ।'[2]

---

१. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—पृ० ६८

२. वही, पृ० १०७

इस गद्यखंड के वाक्य छोटे, भाषा प्रवाहमय और प्रसादगुण सम्पन्न है। यह भाषा शैली मरुगुर्जर गद्य भाषा के विकसित अवस्था की सूचक है। लेखक केवल कथा-कहानियाँ ही नहीं अपितु गम्भीर विषयों को भी उतनी ही सरलता एवं स्पष्टता से व्यक्त करने में सक्षम है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। आ० हेमचन्द्र ने गृहस्थधर्म के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है :—

'अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योन्या प्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्।'

आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरि इसकी शब्दशः विवेचना करते हुए लिखते हैं :—

'अजीर्णे—पाछिलइ जिमइ आहरि अणजरिइं परिपाकि आव्या पावइ नवउ आहार न जिमइ, ते कहीइ मांदउ थाइ नही। प्राहिइं जेह भणीइम कहिउं छइ—'अजीर्ण प्रभवा रोगाः 'रोग सघला इ अजीर्णतउ ऊपजइं। नीरोग पणउ ते धर्मनउ आंग। एह भणी ए बात कही।'[1]

आपके नाम पर अनेक रचनायें प्रचलित हैं जैसे नवतत्त्व बाला० आदि। इसका रचनाकाल सं० १५०२ बताया जाता है जबकि आचार्य सोमसुन्दरसूरि का स्वर्गवास सं० १४९९ में ही होना निश्चित माना जाता है अतः यह रचना किसी अन्य सोमसुन्दर की हो सकती है। आपके कई शिष्यों ने भी अनेक गद्यरचनायें की हैं। हो सकता है कि कुछ दूसरे लेखकों या शिष्यों की रचनायें भी आपके नाम से प्रचलित हो गई हों। आपके संबन्ध में विस्तृत सूचना काव्यखंड में दी गयी है। आप मरुगुर्जर के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् और नाना विषयों के गम्भीर अध्येता थे। आपने गद्य और पद्य में कई भाषाओं में प्रभूत साहित्य लिखा है। अतः आप निस्संदेह एक युगनिर्माता साहित्यकार थे और यदि इस कालावधि को सोमसुन्दर युग के नाम से अभिहित किया जाय तो उचित ही होगा। इसी कालावधि में खरतरगच्छ के भी कई महान् आचार्यों ने मरुगुर्जर साहित्य भी महती श्रीवृद्धि की है; अतः इस इतिहासग्रन्थ में किसी कालावधि के लिए किसी व्यक्ति विशेष के आधार पर कोई नामकरण नहीं किया गया है। आपके शिष्यों का समुदाय विस्तृत था जिनमें मुनिसुन्दरसूरि के अलावा जयचन्दसूरि, भुवनसुन्दरसूरि, जिन-

1. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—पृ० १२२

कीर्तिसूरि, रत्नशेखरसूरि आदि सभी उत्तम लेखक थे और इन्होंने प्रचुर साहित्य रचा है।

हेमहंसगणि—प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ में आपकी रचना 'नमस्कार बालावबोध' संकलित है जिसका रचनाकाल सं० १५०० बताया गया है। इसलिए इनके गद्य का विवरण-उदाहरण भी इसी के साथ दिया जा रहा है। 'भरतक्षेत्रि पोत्तनपुर नगर, तिहां सुगुप्त नामिइं व्यवहारिउ श्रावक, तेहनइ श्रीमती नामिइं बेटी धर्मवति छइ। एक बार को एक मिथ्यात्वी श्रेष्ठिनउ बेटउ श्रीमतीनउं रूप देषी व्यामोहिउ। परणिवा वांछइ। पिता कन्हलि मंगावइ। पिता मिथ्यात्वी भणी दिइ नहीं। पछइ कपट श्रावक हुई श्रीमतीनउं पाणिग्रहण कीधउं। आपणइ घरि लेइ गिउ।'[1]

मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने हेमहंसगणि की गणना १६वीं शताब्दी में की है और आपके बालावबोध का रचनाकाल सं० १५०१ बताया है।

प्राचीनगुजरातीगद्यसंदर्भ के सम्पादक मुनि जिनविजय ने इसका रचनाकाल सं० १५०० स्वीकार किया है जो उचित है। इस रचना में लेखक ने 'नमो सिद्धाणं', नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं और नमो सवव्साहूणं महामंत्र की व्याख्या की है जैसे, नमो अरिहंताणं का अर्थ समझाते हुए आप लिखते हैं :—'अरिहंत जे हे रागद्वेष कषायादिक अंतरंग अरिषइरी हणिया छइ। ते श्री अरिहंत चउवीस अतिशय, पांत्रीस वाणीगुणे करी सहित समवसरणि बइठा विहरमाण छइ। तेहं हउं नमो कहीइ माहरउ नमस्कार हओ।'[2] आपकी भाषा विषय के प्रतिपादन में सक्षम और सामान्य जनों के लिए सुबोध थी।

१५वीं शताब्दी के इन ज्ञात गद्यकारों के अलावा कुछ अज्ञात लेखकों की रचनायें भी प्राप्त हैं जैसे 'शीलोपदेशमाला बालावबोध इत्यादि। १५वीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते मरुगुर्जर गद्यसाहित्य ने सोमसुन्दर-सूरि आदि समर्थ गद्यकारों के मार्गदर्शन द्वारा सफलतापूर्वक अपने विकासपथ का एक चरण पूर्ण किया और १६वीं शताब्दी में प्रवेश किया।

---

१. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ—पृ० १६३

२. वही पृ० १६१

मरुगुर्जर जैन गद्य-साहित्य (१६वीं शताब्दी)

अभयधर्म उपाध्याय—आप संभवतः खरतरगच्छीय साधु थे। आपने 'दश दृष्टान्त कथानक बालावबोध'[1] लिखा है। इनके शिष्य मुनि भानुचन्द्र थे जिनके पास प्रसिद्ध कवि बनारसीदास ने शास्त्राभ्यास किया था।

आसचन्द्र—आप मडाहडगच्छ के आचार्य श्री कमलप्रभ के शिष्य थे। आपने सं० १५०१ में कल्पसूत्रबालावबोध लिखा। ग्रन्थ सरस एवं पठनीय है।

उदयधवल—आप कमलप्रभसूरि के प्रशिष्य और मुनिप्रभसूरि के शिष्य थे। आपने षडावश्यकसूत्र पर बालावबोध लिखा। ग्रंथारम्भ में संस्कृत छंदों में गुरुपरम्परा दी गई है फिर गद्य में सूत्रों की व्याख्या की गई है। इसकी कुछ पंक्तियाँ भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत की जा रही हैं:—

'पहिलउं सकल मंगलीकनउं मूल श्री जिनशासननउं सार। इग्यार अंगे चउद पूर्वनु उद्धार। सदैव शास्त्रतउ। श्री पंचपरमेष्ठि महामंत्र नउकार।'

अन्त— 'प्रत्याख्यान बालावबोधः छ। चउहथ अधिकार संपूर्ण हुइ छ। श्री षडावश्यक बालावबोध संपूर्ण हुउ। अेहमांहि च्यारि अधिकार पहिलउ अधिकार देववंदन।'[2]

उदयवल्लभसूरि—आप वृद्धतपागच्छीय विद्वान् संत थे। आपने सं० १५२० के लगभग 'क्षेत्रसमास बालावबोध' लिखा। ज्ञानसागरसूरि आपके योग्य शिष्य थे जिन्होंने सं० १५१७ में विमलनाथचरित्र लिखा था जिसका गुर्जर भाषान्तर हो चुका है।

कमलसंयम उपाध्याय—आप बृहद्खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनहर्षसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५७४ के आसपास लोकाशाह के मंतव्यों के उत्तर में एक हुंडी लिखी जिसका नाम है 'सिद्धान्तसारोद्धार-सम्यक्त्वोल्लास टिप्पनक'। इसकी तीन-चार प्रतिलिपियों का परिचय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने जैनगुर्जर कवियों भाग ३ में दिया है।[3]

कुशलभुवनगणि—आपने सं० १५१७ में 'सत्तरीप्रकरण बालावबोध लिखा।

गुणधीरगणि—आपने मूल संस्कृत रचना पर 'सिद्धहैमआख्यान बालावबोध लिखा है।

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा—राजस्थान का जैन साहित्य

२. श्री मो० द० देसाई—जै० गु० कवि०—भाग ३, खंड २, पृ० १५११

३. वही पृ० १५८२

जयचन्दसूरि—आप तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री रत्नशेखरसूरि के प्रशिष्य और श्रीलक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१८ में 'चउसरण अध्ययन बालावबोध' लिखा। कर्णपुर ग्राम में तिलक कल्याण-गणि द्वारा लिखित इसकी प्रतिलिपि जैसलमेर भद्रसूरि ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है।

जयवल्लभ—आपके काव्य साहित्य का परिचय पद्यखण्ड में दिया जा चुका है। गद्य में भी आपकी एक रचना की सूचना मिलती है। आपने सं० १५३० से पूर्व ही 'शीलोपदेशमाला बालावबोध' लिखा होगा क्योंकि ज्ञान-धीरगणि द्वारा लिखित इसकी इसी संवत् की प्रतिलिपि रत्न ज्ञानभण्डार में उपलब्ध है।[1]

जिनसूरि—आप तपागच्छीय आचार्य साधुभूषण के शिष्य थे। साधुभूषण सुप्रसिद्ध आचार्य सोमसुन्दरसूरि की परम्परा में विशालराज के शिष्य थे। आपने १६वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में ही 'गौतमपृच्छा बालावबोध' लिखा, जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

'श्रीसोमसुन्दराचार्यं मुनिसुन्दर वाग्सुधां,
पीत्वा विशालराजेन्द्र सुधाभूषण सेविना,
श्री गौतमपृच्छाया बालावबोध उत्तमः
लिखितो मुनिविजय गणिनां हर्षपूरेण भावतः
लिखितो जिनसूरेण हर्षपूरेण भावत :।'[2]

विशालराज कृत 'गौतमपृच्छा बालावबोध' का भी उल्लेख मिलता है। शायद यह एक ही बालावबोध हो जिसे विशालराज ने प्रारम्भ किया हो और जिनसूरि ने पूर्ण किया हो। इसकी अन्तिम पंक्तियों से मुनिविजय और जिनसूरि दोनों इसके लेखक मालूम पड़ते हैं। बहुत कुछ संभव है कि गौतम-पृच्छा के ये दोनों संयुक्त लेखक रहे हों।

धर्मदेवगणि—आप कीर्तिरत्न के शिष्य श्रीक्षान्तिरत्न के शिष्य थे। आपने सं० १५१५ में 'षष्टिशतक बालावबोध' लिखा। यह बालावबोध तपोरत्नकृत षष्टिशतक की टीका पर आधारित है। इनके सम्बन्ध में विव-रण पद्यखंड में दिया जा चुका है।

नन्नसूरि—आप कोरंटगच्छ के सावदेवसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५४३ में खंभात नगर में 'उपदेशमाला बालावबोध' लिखा। यह रचना

१. मोहनलाल दलीचन्द देसाई—जैन गुर्जर कवि—भाग ३, खंड १, पृ० १५८५
२. वही पृ० १५७९

रायल एसियाटिक सोसाइटी, लंदन से प्रकाशित हो चुकी है। नन्नसूरि के शिष्य गुणवर्द्धन द्वारा लिखित इसकी प्रति ब्रिटिशम्यूजियम में सुरक्षित है। डॉ० टी० एन० देव ने इसका उपयोग अपनी पुस्तक[1] में किया है। श्रीसूरि के संबन्ध में विवरण पद्यखंड में दिया जा चुका है।

उपदेशमाला बालावबोध के प्रारम्भ में नन्नसूरि ने लिखा है :—

'जिनवरेन्द्र तीर्थङ्कर नमस्करी नै हउं गुरु नै उपदेशु इ उपदेश तणि श्रेणि कहिसु । जिनवरेन्द्र किसिया छइ। इंद्र अनइ नरेन्द्र राजा ने पूजित छइ। वलि किसिया छइं। त्रिभुवन ना गुरु छइ।[2]

रचना के अन्त की कुछ पंक्तिया इस प्रकार हैं:—

"जे मइं अजाणतइ हूतइं। अक्षर मात्राइं उछउं कहिऊं हुइ।
वीतरागना मुंह थकी नीकली वाणी।
श्रुत देवता ते माहरउं सहूखमड।'[3]

इस भाषा में गुर्जर तत्व की प्रधानता है किन्तु भाषा मरुगुर्जर ही है।

आपका विहार दूर-दूर तक होता रहता था अतः आपकी भाषा पूर्व प्रचलित मरुगुर्जर से कथमपि भिन्न नहीं है। आपका जन्म सिरोही राज्य के हमीरपुर नामक स्थान में हुआ था और प्रायः नागौर, जोधपुर आदि राजस्थानी नगरों और अंचलों में आप अधिक विहार करते थे, अतः आपकी भाषा में राजस्थानी का विशेष प्रभाव स्वाभाविक ही है।[4] आपके शिष्यों की संख्या काफी थी जिनमें से कुछ सुलेखक भी थे।

आपके किसी शिष्य ने 'सत्तरीकर्मग्रंथ बालावबोध' लिखा है। इसके प्रारम्भ की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

'गणहर पाय नमेयं, समरी गुरु पासचंद सूरिंद सत्तरि कम्म विचारं,
कहियं रिषि कुंभ सुपसारं'[5]

1. A Study of the Gujarati Language in 16th century.

२. देसाई—जैन गुर्जर कवि—भाग ३, पृ० १५७१-९२

३. वही

४. आप हमीरपुर निवासी पोरवाड श्री वेलगसाह के पुत्र थे। आपकी माता का नाम विमलादेव था। आपका जन्म सं० १५३७ में हुआ था। आपको २८ वर्ष की आयु में आचार्य पद प्राप्त हुआ।

५. एन० बी० दिवेटिया—गुजराती भाषा और साहित्य पृ० ४९

सत्तरी कर्मग्रंथ एक गम्भीर रचना है। प्रस्तुत बालावबोध मात्र टब्बा है। इसके लेखक ऋषि कुंभ हो सकते हैं।

'नवतत्त्व बालावबोध भी इन्हीं की रचना मानी जाती है। एक नवतत्त्वबाला० की चर्चा सोमसुन्दरसूरि के साथ की जा चुकी है। एक अन्य नवतत्त्वबाला० का उदाहरण श्री दिवेटियाजी ने अपने ग्रन्थ में दिया है जिसका लेखनकाल उन्होंने सं० १५८१ बताया है। हो सकता है कि यह रचना भी पार्श्वचन्द की हो। इसकी दो पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

'कितली गोली अजमा पीपली मिरी भारंगी सुंठि प्रमुख द्रव्य करी ऊनी हुइ वात वाय फिडइ।'[1]

उपाध्याय महिमासागर—आप अंचलगच्छीय जयकेशरिसूरि के शिष्य थे। आपने 'षडावश्यकविवरणसंक्षेपार्थ' लिखा है। जयकेशरिसूरि का समय सं० १४९४ से सं० १५४२ तक माना जाता है अतः आपके शिष्य महिमासागर की प्रस्तुत रचना १६वीं शताब्दी में ही किसी समय रची गयी होगी।[2]

महीरत्न—आपने १६वीं शताब्दी में किसी समय 'नवतत्त्वबालावबोध' लिखा। नवतत्त्व पर अनेक बालावबोध लिखे गये। अतः इनके लेखकों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं भ्रम हो गया है। जब तक ये रचनायें प्रकाशित न हों और एक साथ उनके मूल पाठों का मिलान करना संभव न हो जाय तब तक इनके सम्बन्ध में निश्चित विवरण दे पाना कठिन है।[3]

पार्श्वचन्द्र—आप बृहत्तपा नागोरी तपागच्छ के साधु साधुरत्न के शिष्य थे। आप मरुगुर्जर गद्य एवं पद्य साहित्य के महान् स्रष्टा हो गये हैं। आपने धर्म की बड़ी प्रभावना की और आपके नाम पर एक गच्छ चल पड़ा। आपके सम्बन्ध में विवरण एवं काव्यसाहित्य का परिचय काव्यखण्ड में दिया जा चुका है। गद्यसाहित्य के अन्तर्गत भी आपने प्रभूत रचनायें की हैं, उनमें आचारांग बाला०, दशवैकालिकसूत्र बाला०, औपपातिकसूत्र बाला०, सूत्रकृतांग बाला०, साधुप्रतिक्रमणसूत्र बाला०, रायपसेणीसूत्र बाला०, नवतत्त्व बाला०, प्रश्नव्याकरणसूत्र बाला०, भाषा ना ४२ भेदनो बाला०, जंबूचरितबाला०, तंदुलबेयालीयपयन्ना बाला०, चउशरण प्रकीर्णक बाला० के अलावा प्रतिमा, सामाचारी और पाखी पर चर्चा तथा लोका

१. देसाई—जैन गुर्जर कवि—भाग ३, पृ० १५५७-१५९२

२. वही

३. वही

साथे १२२ बोलनी चर्चा आदि आपकी विशेष उल्लेखनीय रचनायें हैं। गद्य और पद्य में आपकी शताधिक रचनायें प्राप्त हैं।

चउशरण प्रकीर्णक बाला० की रचना सं० १५९७ फाल्गुन में हुई। यह १६वीं शताब्दी के परिपक्व गद्यशैली की प्रतिनिधि रचना है, अतः इससे उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं, आदि—

वर्द्धमान जिननत्वा वर्द्धमान गुणालयं स्मृत्वा श्रीसद्गुरोर्नाम वांछितार्थ प्रदायकं। प्रकीर्णके प्रधानार्थे लिख्यते वार्तिक मया। अे श्री चउशरणाध्ययन परमपद प्राप्तिनउ बीजारूप छइ।''[1]

आपकी अधिकांश रचनायें सैद्धान्तिक विषयों से सम्बन्धित हैं। अंग-सूत्रों पर संभवतः सर्वप्रथम भाषा टीकायें आपने ही कीं। आपकी भाषा-टीकायें तत्कालीन गद्यभाषा का स्वरूप समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आपकी मुख्य गादी बीकानेर में है, अतः आपकी भाषा पर राजस्थानी प्रभाव भी पर्याप्त है किन्तु आप नागौर, जोधपुर के अलावा अन्य सुदूर स्थानों तक विहार करते रहते थे, अतः आपकी भाषा मरुगुर्जर के प्रचलित स्वरूप से पर्याप्त समानता रखती है। पार्श्वचन्द्रसूरि की रचनाओं में भी एक 'नवतत्त्व बालावबोध' का उल्लेख मिलता है किन्तु उद्धरण नहीं प्राप्त हुआ। श्री दिवेटियाजी ने 'नवतत्त्व बालावबोध' का एक संक्षिप्त उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिया है और उसका रचनाकाल सं० १५८१ बताया है। हो सकता है कि यह 'नवतत्त्व बालावबोध' पार्श्वचन्द्रसूरि की रचना हो।

एक नवतत्त्व बाला० सोमसुन्दरसूरि कृत (सं० १५०२) बताया गया है। उसके लेखक का भी स्पष्ट निर्धारण नहीं हो सका है। जब तक इन सभी नवतत्त्वबालावबोधों के मूल पाठ का मिलान न किया जाय तब तक इनके लेखकों का निश्चय करना कठिन है।

सत्तरीकर्मग्रन्थबाला० के लेखक को सोमसुन्दर का और कहीं-कहीं पार्श्वचन्द्र का शिष्य कहा गया है।

माणिकसुन्दरसूरि—आप वृद्ध तपागच्छीय भ० रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५०१ कार्तिक शु० १३ बुधवार को देवकुल पाटण में 'भवभावना सूत्र बालावबोध' लिखा। यह सूत्र मूलतः मलधारी हेमचंद-सूरि का रचा हुआ है। इसका रचनाकाल सं० १५६३ भी कहीं-कहीं

1. N. B. Divetia—Gujarati Language and Lit. Vol. II, Page 49
२. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, खंड २ पृ० १५७७-१५९२

उल्लिखित है। आप अच्छे कवि थे। आपके कविकर्म का परिचय पद्यखंड में दिया जा चुका है।[1]

मेरुसुन्दर—आप खरतरगच्छ के वाचनाचार्य श्रीरत्नमूर्ति के शिष्य थे। आप १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। आप गद्य और पद्य लेखन में समानरूप से सिद्धहस्त थे। आपकी पद्य रचनाओं का परिचय पद्यखंड में दिया जा चुका है। आपकी अनेकानेक गद्य रचनायें उपलब्ध हैं; उनमें शत्रुंजयस्तव बालावबोध (सं० १५१८), शीलोपदेश माला बालावबोध (सं० १५२५ मांडवगढ़), षडावश्यकसूत्र श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र बाला० (सं० १५२५) पुष्पमाला बाला० (सं० १५२८), पंच निर्ग्रन्थी बाला० आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आपने भक्तामर पर गद्य में कथा लिखी है। सं० १५३४ से पूर्व आपने कर्पूरप्रकरण बालावबोध' षष्टिशतक विवरण, वृत्तरत्नाकर बालावबोध, भावारिवारण बालावबोध आदि लिखा। आपने संस्कृत के अलंकार ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' और वाग्भट्टालंकार पर भी भाषा-टीका रूप में बालावबोध बनाया। षडावश्यकसूत्र प्रतिक्रमण बाला० की रचना तरुणप्रभाचार्य कृत बालावबोध के अनुसार की गई है। यह रचना खरतरगच्छ के आचार्य जिनचन्द्रसूरि के आदेश पर की गई थी। इसकी अनेक हस्तप्रतियाँ प्राप्त हैं। आनन्दविमलसूरि के शिष्य श्री वीरविमलगणि और अन्य शिष्यों ने इनकी कई रचनाओं जैसे पंचनिर्ग्रन्थी बाला०, योगशास्त्र बाला०, आदि की हस्तप्रतियाँ लिखी हैं।

उन दिनों बालावबोध के प्रारम्भ से संस्कृत में निबद्ध पद्य लिखने की परिपाटी चल पड़ी थी और प्रायः सभी बालावबोधों के प्रारम्भ में संस्कृत-पद्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ शीलोपदेशमाला बालावबोध के प्रारम्भ में निम्नलिखित पद्य दिया गया है :—

'श्री वामेय ममेय श्री सहितं महितं सुरैः,
प्रणिपत्य सत्यभक्त्याऽनन्तातिशय शालिनः।
श्री जिनचन्द्र गुरुणामादेशान मेरुसुन्दर विनेयः,
शीलोपदेशमाला विवृणोति शिशुप्रबोधाय।'

इसके अन्त में मेरुसुन्दरजी लिखते हैं :—

'तत्वव्रत चंद्र मिते वर्षे हर्षेण मेरुणा रचितः,
तावन्नन्दतु सोऽयं यावज्जिनवीर तीर्थमिदं।'[2]

---

१. देसाई—जै० गु० क०, भाग ३, खंड २, पृ० १५७९

२. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, खंड पृ० १५८२

यह रचना संघपति धनराज के आग्रह पर की गई थी।

रंगरत्नोपाध्याय—आपने सं० १५८२ में 'रूपकमाला बाला०' लिखा। इसके मूल लेखक श्री पुण्यनन्दि थे। रूपकमाला मरुगुर्जर भाषा में लिखी ३२ पद्यों की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसपर संस्कृत भाषा में टीकायें लिखी गई हैं। श्री रंगरत्न ने यह टीका मरुगुर्जर गद्य में की है। इसके अलावा सुप्रसिद्ध कवि समयसुन्दर ने भी इस पर सं० १६६३ में संस्कृत भाषा में चूर्णी लिखी है।[1]

राजशील—आप खरतरगच्छीय साधुहर्ष के शिष्य थे। आप उत्तम कवि और सक्षम गद्यकार थे। आपने 'विक्रमचरित चौपइ', हरिबल चौपइ आदि कई पद्यबद्ध रचनायें की हैं जिनका उल्लेख पद्यखंड में किया जा चुका है। गद्य में आपकी प्रसिद्ध रचना 'सिन्दूरप्रकरण बालावबोध' प्राप्त है।[2]

राजहंस—आपने दशवैकालिक बालावबोध और 'प्रवचन सार' नामक गद्य रचनायें प्रवाहपूर्ण मरुगुर्जर भाषा में प्रस्तुत की हैं।[3]

विद्याकीर्ति—आपने सं० १५०५ में हिसारदुर्ग में 'जीवप्रबोधप्रकरण भाषा' नामक गद्य रचना की। अभयचन्द्रगणि द्वारा लिखित इसकी प्रति प्राप्त है।[4]

विशालराज—आप तपागच्छ के प्रसिद्ध साधु मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५०५ के आसपास 'गौतमपृच्छा बाला'० की रचना की। आपकी चर्चा पहले मुनि सुन्दरसूरि के प्रसंग में की जा चुकी है।

शिवसुन्दर—आपने सं० १५६९ में खींवसर नामक स्थान में 'गौतमपृच्छा बालावबोध' लिखा। गौतमपृच्छा महत्वपूर्ण रचना है, अतः उसपर कई बालावबोध लिखे गये हैं। लुंकटमतनिर्लोढनरास (सं० १५९५) के लेखक श्री शिवसुन्दर की चर्चा पद्यखंड में की गई है। प्रस्तुत गौतमपृच्छा के लेखक शिवसुन्दर 'लुंकटमतनिर्लोढनरास' के लेखक शिवसुन्दर एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का रचनाकाल प्रायः समान ही है।[5]

---

१. अगरचन्द नाहटा, राजस्थान का जैन साहित्य—पृ० २२९

२. वही पृ० २२९

३. वही

४. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, पृ० १५८०

५. वही पृ० १५०० और राजस्थान का जैन साहित्य पृ० २२९

समरचन्द्र—आप सुप्रसिद्ध आचार्य पार्श्वचन्द्र के शिष्य थे। आपने पद्य में श्रेणिकरास स्तुति, पार्श्वचन्द्रसूरि, महावीरस्तवन आदि कई रचनायें की हैं जिनका विवरण पद्यखंड में दिया जा चुका है। आपके पिता का नाम भीमाशाह और माता का नाम बालादे था। आपका जन्म सं० १५६० में हुआ। आपको सं० १६०४ में आचार्य पद प्राप्त हुआ। आपका स्वर्गवास सं० १६२६ में हुआ अतः आप १७वीं शताब्दी के प्रथमचरण के लेखक हैं। आपने मरुगुर्जर में कई बालावबोध लिखे हैं, इनमें संस्तारक प्रकीर्णक बालावबोध, षडावश्यक बालावबोध और उत्तराध्ययन बालावबोध प्रसिद्ध गद्य रचनायें हैं।[1]

साधुसुन्दरगणि—आपने उक्तिव्यक्तिप्रकरण की शैली पर अपनी प्रसिद्ध रचना 'उक्तिरत्नाकर' लिखी है। डा० शिवप्रसाद सिंह ने अपने शोधग्रन्थ में इसके अतिरिक्त इस प्रकार की अन्य रचनाओं—'उक्तीयक' और 'औक्तिक पदानि' का भी उल्लेख किया है किन्तु इनके लेखक अज्ञात हैं। ये रचनायें भी १६वीं शताब्दी की बताई गई हैं। इनसे पूर्व रचित 'उक्तिव्यक्तिविवृत्ति की चर्चा पहले की जा चुकी है।[2]

संवेगदेवगणि—आप तपागच्छीय भट्टारक रत्नशेखरसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१३ में पिंडविशुद्धि में शैली पर बालावबोध भाषा टीका की। सं० १५१४ में आपने 'आवश्यकपीठिका बालावबोध' और चउशरण पयन्ना नामक गद्यरचनायें कीं। इनकी लोकप्रियता इससे प्रमाणित होती है कि इन गद्यकृतियों की अनेक प्रतिलिपियाँ जैन शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध हैं।[3]

सुन्दरहंस—आप तपागच्छ के आचार्य सुमतिसाधुसूरि के शिष्य थे। आपने सं० १५१८ से सं० १५५१ के मध्य 'पासत्थाविचार' की रचना की होगी। इसके अन्तर्गत पासत्था के बोल तदुपरान्त १०८ अन्य बोल हैं। इनमें लुंकामतानुयायियों को चुनौती दी गई है। यह साम्प्रदायिक आग्रह से युक्त रचना है। इसका साम्प्रदायिक खंडन-मंडन की दृष्टि से ही कुछ महत्व होगा, साहित्यिक महत्व नहीं हो सकता। एक बात जरूर है कि प्रारम्भ में किसी भाषा के गद्य में ओज प्रधान शैली और अभिव्यन्जना की तीव्रता ऐसी ही खंडन-मण्डनात्मक रचनाओं से निखरती है।[4]

---

१. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, पृ० १५८९-९०

२. शिवप्रसाद सिंह—सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १२४

३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, खंड पृ० १५८०

४. वही, पृ० १५९२

हरिकलश—आप राजगच्छीय श्रीधर्मसूरि द्वारा स्थापित धर्मघोषगच्छ के पाठक श्री जयशेखर के शिष्य थे। आपने सं० १५७२ से पूर्व ही विजयचन्द्रसूरि के समय मरुगुर्जर गद्य में 'भुवनभानुकेवली चरित्रं लिखा जिसकी अनेक प्रतियाँ विभिन्न शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध हैं।[1]

हेमविमलसूरि—आप तपागच्छ के ५५वें आचार्य थे। आपका समय सं० १५४८ से १५६८ तक मान्य है। आप सुप्रसिद्ध कवि एवं साहित्यकार थे। आप श्री सुमतिसाधुसूरि के शिष्य थे। आपकी काव्यकृतियों का उल्लेख पद्यखंड में किया जा चुका है। गद्य में आपकी एकमात्र रचना 'कल्पसूत्र बालावबोध' का उल्लेख श्री देसाई ने किया है।

इन प्रसिद्ध गद्यलेखकों के अतिरिक्त कुछ ऐसी गद्य रचनायें भी प्राप्त हैं जिनके लेखकों का नाम एवं विवरण उपलब्ध नहीं हो पाया है। इनमें से कुछ का रचनाकाल ज्ञात है और वे १६वीं शताब्दी की रचनायें हैं। उनका भी यही उल्लेख करना समीचीन है। ऐसी रचनाओं में योगशास्त्र बालावबोध (सं० १५११ रहवाडा ग्राम), षडावश्यक बालावबोध (सं० १५११ कोटाणक) और पुण्याभ्युदय (सं० १५३५) उल्लेखनीय है।[1] पुण्याभ्युदय संस्कृत मिश्रित मरुगुर्जर भाषा की रचना है। इसमें उपदेशपूर्ण लघुकथायें गद्य में निबद्ध हैं। प्राकृत भाषा में लिखित नन्दिषेणकृत अजितशान्ति स्तवन पर सं० १५१८ में किसी अज्ञात लेखक ने बालावबोध बनाया है। कल्पसूत्रबालावबोध (सं० १५३८), प्रश्नोत्तररत्नमाला बालावबोध (सं० १५४३), उपदेशमाला प्रकरण बालावबोध (सं० १५४६), शीलोपदेशमाला बालावबोध (सं० १५५१) और श्राद्धविधि प्रकरण बालावबोध (सं० १५५६) आदि कुछ अन्य गद्य रचनायें भी १६वीं शताब्दी के अज्ञात लेखकों की प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जंबूस्वामीचरित्र, सिद्धान्तविचार, पांडवचरित्र आदि गद्य रचनायें लिखी गईं। बालावबोध संज्ञक रचनायें अनवरत रूप से लिखी जाती रहीं और योगशास्त्र बालावबोध (सं० १५६२) श्रावकप्रतिक्रमण बालावबोध (सं० १५६९), उपदेश रत्नकोष बालावबोध (सं० १५७५), दंडक बालावबोध कर्मग्रन्थ बालावबोध, आराधना बालावबोध, षडावश्यक बालावबोध आदि लिखे गये।[2]

---

१. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, १५८७

२. वही, पृ० १५९५

श्री देसाई ने समर्थ गद्यकारों का यथासम्भव विवरण दिया है, उनकी रचनाओं का नामोल्लेख किया है किन्तु संभवतः पुस्तक के विस्तारभय से प्रायः उदाहरण नहीं दिया है। श्री दिवेटिया ने ऐसी रचनाओं के कुछ उद्धरण दिए हैं। उनमें से कुछ अवतरणों को इस दृष्टि से यहाँ अवतरित किया जा रहा है कि पाठकों को इनसे तत्कालीन गद्यभाषा और शैली का अनुभव हो सकेगा। ये रचनायें बालावबोध न होकर मौलिक ग्रन्थों के अनुवाद रूप में हैं अतः अधिक समर्थ गद्यशैली के उदाहरण हैं। सर्वप्रथम भुवनदीपक के अनुवाद [सं० १५५७] की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

'हवइ धातु तणूं स्वरूप कहीशइ। जु पृच्छक उपमानातणी पृच्छा करि जु जु शुकचन्द्र पांचमू स्थानकदेखइ तु कहिवूं। पुत्रजन्म हुशइ। अथवा देखइ तु पुत्र नथी। ग्या दीहाडा तणूं फल बोलीशि।'[1]

इस भाषा का विश्लेषण करके श्री दिवेटिया ने लिखा है कि यह आधुनिक गुजराती से पूर्व की भाषा (अर्थात् मरु-गुर्जर) है। दूसरा उदाहरण 'स्वप्नाध्याय' के अनुवाद (सं० १५८२) से दिया जा रहा है, यथा :—

'प्रासाद माहि जमि समुद्रमाहि तरि तु गुलामनि
कुलि जन्म हुइ तुपण राजा हुइ।
नाव्ये चढ़ी अनि चालि तु जे कोइ गमातरि
गीउ हुइ ते आवीऊतावलु ए विचार।'[2]

अन्त में सं० १५७१ में लिखित 'अंबडकथा' का एक अवतरण देकर यह स्मरण कराना चाहता हूँ कि जैन लेखकों द्वारा १६वीं शताब्दी तक पद्य और गद्य में मरु-गुर्जर भाषा का प्रयोग किया जाता रहा, उनकी भाषा में प्रान्तीय विभेद नही पाया जाता, अतः समस्त जैन साहित्य चाहे राजस्थान, गुजरात या अन्य किसी आसपास के स्थान में लिखा गया हो वह मरु गुर्जर भाषा का साहित्य है, यथा—

'हुं करबक। माहरुपिता अंबड जन्मलगइ दरिद्री निर्धन धननइ कीधइ सर्वत्र भमइं। मन्त्र यन्त्र ओषध ते धमनादि घणां करइ ण प काइं धन न पामइ। जातु जातु धनगिरि पर्वति श्री गोरख योगिनी समीप गिउ।'[3]

१. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, खंड २ पृ० १५८७
2. Shri N. B. Divatia—Gujarati Language and Literature Vol. II, Page 46-49
3. Ibid.

इस भाषा में राजस्थानी और गुजराती तथा हिन्दी का प्राचीन रूप, तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति और प्रसादगुण सम्पन्न गद्यभाषा-शैली का आग्रह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अब तक की भाषा-शैली का यही प्रतिनिधि रूप है।

मरु-गुर्जर का गद्यसाहित्य बड़ा प्राचीन एवं समृद्ध है। इस सम्बन्ध में डॉ० अचलशर्मा का शोधप्रबन्ध 'राजस्थानी गद्य का उद्‌भव और विकास' (प्रकाशित) पठनीय है। जैन विद्वानों द्वारा बालावबोध एवं टब्बा संज्ञक गद्य-रचनाओं की परम्परा १४वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १५वीं शताब्दी में विकसित होती हुई १६वीं शताब्दी में पूर्णता को प्राप्त हुई। इस काल में गद्यबद्ध बालावबोध न केवल मूल प्राकृत या संस्कृत ग्रन्थों पर लिखे गये अपितु पद्य रचनाओं की भी गद्यात्मक टीकायें की जाने लगीं क्योंकि अति-संक्षिप्त और काव्य सीमा के कारण सामान्य पाठकों के लिए ये रचनायें दुर्बोध थीं जैसे रूपकमाला की चर्चा पहले की जा चुकी है। उपदेशमाला आदि कई ग्रन्थों में केवल अर्थ ही नहीं समझाया गया है बल्कि दृष्टान्त-स्वरूप अनेक प्रासंगिक कथायें भी अर्थ के विवेचनार्थ दी गई हैं। गद्य में वर्णन कौशल एवं पद्यानुसारी अनुप्रासात्मकता का भी विकास हो गया था जैसे 'मुत्कलानुप्रास' नामक वर्णनसंग्रह के विवरण तुकान्त गद्य में हैं। हेमन्त का वर्णन इस प्रसंग में अवलोकनीय है :—

'अति वसंतु, अवियोरितुहेमन्तु। जिहां सीयनाझर, तुलाइए पुढीइ, भली तुलाइं उढीइ। अति ही मोटी, प्रलंब दोठी, ओटि बेसइं, सीयालहुइ हसइं।' इसकी भाषा मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी है।

जैन साहित्यकार प्रायः मुनि ही रहे हैं, अतः उनके द्वारा रचित साहित्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। इन रचनाओं में आचार्यों की प्रशस्ति, नियम, व्रत-तीर्थ आदि का वर्णन, तीर्थंकरों की स्तुति आदि का बाहुल्य है। इन लेखकों ने अंधश्रद्धा और अतिरंजन—प्रशस्ति के मोह-जाल में फंस कर न तो राजस्थानी चारणों की तरह इतिहास की अनदेखी की है और न ही विशुद्ध कलाबाजी का प्रदर्शन इनका लक्ष्य रहा है बल्कि इन्होंने अभिव्यक्ति की सरलता, सुबोधता, सहजता और विषय की प्रामाणिकता का सदैव ध्यान रखा है। खरतरगच्छीय आचार्य शान्तिसागरसूरि की प्रशस्ति से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'अम्हारा गुरु खरतरगच्छ नायक, आनन्ददायक, श्री क्षान्तिसागरसूरि वर्णिता सांभलि। किसा अेक ते गुरु जोधपुर इसइ नामि करी महास्थान अभिनव देवलोक समान।'

इसमें भी तुकान्त का आग्रह देखा जा सकता है।[1] यह तुकान्त गद्य-शैली प्रारम्भ से ही सभी समवर्ती भाषाओं जैसे मैथिली, व्रज, खड़ीबोली आदि के आदिकालीन गद्य में दिखाई पड़ती है और इसकी चर्चा प्रारम्भ में की जा चुकी है इस प्रकार इस काल तक मरु-गुर्जर गद्य की व्याख्यात्मक बालावबोध शैली और अनुप्रासात्मक झंकारमयी ललित शैली का पर्याप्त विकास हो गया था।

सहायक ग्रन्थ-सूची

प्राचीन ग्रन्थ

अपभ्रंशकाव्यत्रयी (अपभ्रंश)—जिनदत्तसूरि, संपा० पं० लालचंद भगवानदास गांधी, बडोदरा, १९२७ ई०

आइन-ए-अकबरी—अबुज फज़ल, अंग्रेजी अनुवादक एच० ब्लोचमैन, कलकत्ता, १९३९ ई०

आबूरास—पाल्हणपुत्र, राजस्थानी, भाग ३, अंक १ में प्रकाशित

उक्तिव्यक्तिप्रकरण—पं० दामोदर

उपमितिभवप्रपञ्चकथा— सिद्धर्षि, बम्बई १९२० ई०

कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प—जिनप्रभसूरि, संपा० जिनविजय, कलकत्ता १९३४ ई०

कादम्बरी—बाणभट्ट, संपा० काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब, बम्बई १८९० ई०

कान्हडदेप्रबन्ध—पद्मनाभ, संपा० कान्तिलाल बलदेवराम व्यास, जयपुर, १९५३ ई०

काव्यमीमांसा—राजशेखर, हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक-गंगासागर राय वाराणसी, १९६४ ई०

कुमारपालप्रतिबोध—सोमप्रभाचार्य, संपा० जिनविजय, बडोदरा, १९२२ ई०

कुवलयमालाकहा—उद्योतनसूरि, संपा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई, १९५९-७० ई०

गौडवहो—वाक्पतिराज, पूना, १९२७ ई०

जसहरचरिउ—पुष्पदन्त, संपा० पी० एल० वैद्य, कारंजा, १९३१ ई०

जिनदत्तचरिउ—राजसिंह अपरनाम रल्ह, संपा० माताप्रसाद गुप्त एवं कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, १९६६ ई०

णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)—पुष्पदंत, संपा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई०

तिलकमञ्जरी—धनपाल, संपा० मुनि लावण्यविजय, अहमदाबाद, १९५२ ई०

पउमचरिउ—विमलसूरि, संपा० मुनिपुण्यविजय, भाग १-२, वाराणसी, १९६२-६८ ई०

पउमचरिउ—स्वयंभू, संपा० हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी, भाग १-३, बम्बई १९४९-६० ई०

पउमसिरीचरिउ—धाहिल, संपा० मधुसूदन मोदी एवं हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी, बम्बई, १९४८ ई०

परमात्मप्रकाश—योगीन्दु, संपा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई, १९३७ ई०

पाहुडदोहा—मुनिरामसिंह, संपा० डा० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई०

प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुंग, संपा० जिनविजय, शांतिनिकेतन, १९३३ ई०

प्रबन्धकोष—राजशेखर, संपा० जिनविजय, कलकत्ता, १९३५ ई०

प्राकृतपैङ्गलम्—हेमचन्द्र, संपा० भोलाशंकर व्यास, वाराणसी, १९५९ ई०

प्राकृतप्रकाश—वररुचि, संपा० अनुवादक—कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, नवसारी, १९५७ ई०

बृहत्कथाकोश—हरिषेण, संपा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई, १९४३ ई०

महानयप्रकाश—शितिकंठाचार्य, संपा० मुकुन्दरामशास्त्री, श्रीनगर, १९१८ ई०

महापुराण—पुष्पदन्त, संपा० पी० एल० वैद्य, बम्बई १९३७ ई०

महाभाष्य—पतंजलि, संपा० कीलहार्न, बम्बई, १८९२-१९०९ ई०

यशस्तिलकचम्पू—सोमदेवसूरि, संपा० अनुवादक—पं० सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, १९७१ ई०

रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास, संपा० हनुमानप्रसाद पोद्दार, गोरखपुर

लीलावइ—कौतूहल, संपा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई, १९४९ ई०

वर्णरत्नाकर—ज्योतीश्वर ठाकुर, संपा० सुनीतिकुमार चटर्जी, कलकत्ता, १९४० ई०

वज्जालग्गं—प्रवरसेन, हिन्दी अनुवादक—विश्वनाथ पाठक, वाराणसी, १९८४ ई०

वसुदेवहिण्डी—संघदासगणि, अंग्रेजी अनुवादक-जगदीशचन्द्र जैन, अहमदाबाद, १९७७ ई०

वाग्भट्टालंकार—वाग्भट्ट, संपा० उदयवीर शास्त्री, लाहौर, वि० सं० १९९२

समराइच्चकहा—हरिभद्र, संपा० एम० सी० मोदी, पूना, १९३५-३६ ई०

संदेशरासक—अब्दुल रहमान, संपा० जिनविजय एवं हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी, बम्बई, १९४५ ई०

सेतुबन्ध—प्रवरसेन, हिन्दी अनुवादक—डा० रघुवंश, दिल्ली

स्थूलिभद्ररास—धर्मकवि, **हिन्दी साहित्य अनुशीलन**, वर्ष ७, अंक ३ में प्रकाशित

त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध—जयशेखरसूरि, संपा० पं० लालचन्द भगवान गांधी, बडोदरा, १९२१ ई०

ग्रन्थ-भण्डारों के सूचीपत्र

Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS in the Rajasthan Oriental Research Institute, Part I—XXII, Jodhpur.

A Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS at Fort Jodhpur, Part I and II, Jodhpur—1986

Catalogue of Gujarati Manuscripts of Muni Shree Punyavijayaji's Collection, Ahmedabad—1978

आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर की ग्रन्थसूची—जयपुर, वीर सं० २४७५

राजस्थान के जैनशास्त्र भण्डारों का सूचीपत्र—भाग १—५ जयपुर

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—

भाग १—सं० डा० मोतीलाल मेनारिया

भाग २—सं० श्री अगरचन्द नाहटा, जयपुर, १९४२-१९४९ ई०

अर्वाचीन ग्रन्थ

कामिल बुल्के—रामकथा, प्रयाग, १९५० ई०

कासलीवाल, कस्तूरचन्द—कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि, जयपुर, १९७९ ई०

कोछड़, हरिवंश – अपभ्रंश-साहित्य, दिल्ली, वि० सं० २०१३

गुप्त, रमेशचन्द्र—तीर्थङ्कर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन, वाराणसी, १९८७ ई०

चटर्जी, गौरीशंकर—हर्षवर्धन, इलाहाबाद

जगदीश प्रसाद—डिंगल साहित्य

जैन, कामता प्रसाद—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, बनारस, १९४६ ई०

जैन, नेमिचन्द—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (भाग १-२) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जैन, नेमिचन्द—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १-२, वाराणसी

जैन, प्रेमसागर—जैन भक्तिकाव्य और कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जैन, राजाराम—"अपभ्रंश भाषा के संधिकालीन महाकवि रइधू" **आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ**, कलकत्ता, १९६१ ई०

जैन, सागरमल—संपा० 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान स्वर्ण जयन्ती स्मारिका', वाराणसी, १९८७ ई०

जैन, सागरमल—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १-२ जयपुर, १९८२ ई०

जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, १९६२ ई०

नाहटा, अगरचन्द—मध्यकालीन राजस्थानी जैन साहित्य [**परम्परा-विशेषांक**], जोधपुर

टैसीटोरी, एल० पी० – पुरानी राजस्थानी
अनु०—नामवर सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

दलाल, चिमनलाल डाह्याभाई—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, भाग-१, द्वितीय संस्करण, बडोदरा, १९७८ ई०

देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३ ई०

तिवारी, भगवानदास—हिन्दी जैन साहित्य
तोमर, रामसिंह—प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उनका हिन्दी पर प्रभाव, प्रयाग, १९६३ ई०
द्विवेदी, हजारी प्रसाद—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५२ ई०
देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैन गुर्जर कविओ, भाग १-३, बम्बई, १९३१-४४ ई०
नरोत्तम—संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण
नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद, १९५२ ई०
नाहटा, अगरचंद—प्राचीन काव्यरूपों की परम्परा, बीकानेर
नाहटा, अगरचंद—ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, कलकत्ता, सं० १९९४
नाहटा, अगरचंद—जैन मरु-गुर्जर कवि और उनकी रचनायें
नाहटा, अगरचंद—संपा० राजस्थान का जैन साहित्य, प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७ ई०
प्रेमी, नाथूराम—हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, बम्बई
बिहारीलाल—भट्टारक सकलकीर्ति : व्यक्तित्व एवं कृतित्व [शोध प्रबन्ध]
मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद—हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-१, वाराणसी
मुख्तार जुगलकिशोर—जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, दिल्ली, १९५४ ई०
मुनि, जिनविजय—जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय, भावनगर, १९२६ ई०
मुनि, जिनविजय—प्राचीन गुर्जर गद्य संदर्भ, अहमदाबाद, वि० सं० १९८६
मेनारिया, मोतीलाल—राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मेनारिया, मोतीलाल—डिंगल में वीररस
मेहता, चन्द्रकान्त—मध्यकालनो साहित्य प्रकार, बम्बई
राठौर, पृथ्वीचंद—'कसन रुक्मिणीरी बेलि'
हिन्दी साहित्य का इतिहास संपा० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० १५९-१६०

रावल, अनन्तराय—गुजराती साहित्य

रावका, प्रेमचन्द—महाकवि ब्रह्मजिनदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

वर्मा, रामकुमार हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, १९५८ ई०

शर्मा, चन्द्रधर—पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि०सं० २००५

शर्मा, रामविलास—भाषा और समाज, नई दिल्ली, १९६१ ई०

शर्मा, विनयमोहन—हिन्दी को मराठी संतों की देन

शास्त्री, केशवराम—कविचरित

शास्त्री, हरप्रसाद—संपा० बौद्धगानओ दोहा, कलकत्ता, बंगसवत् १३५८

शुक्ल, रामचन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रयाग, वि०सं० १९९७

शुक्ल, हरिप्रसाद गजानन—गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी को देन

सांकृत्यायन, राहुल—हिन्दी काव्य धारा, प्रयाग, १९४५ ई०

श्रीवास्तव, हरिमोहन—मध्यकालीन हिन्दी गद्य, इलाहाबाद

सांडेसरा, भोगीलाल एवं पारेख, सोमाभाई—(संपा०) प्राचीन फागु संग्रह, बडोदरा, १ ५५ ई०

सिंह, वासुदेव—अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में जैन रहस्यवाद, वाराणसी वि० सं० २०२२

सिंह, शिवप्रसाद—सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, वाराणसी

सूरि, विजयधर्म [संपा०]—ऐतिहासिक जैन रास संग्रह—भाग १-४, भावनगर, वि० सं० १९७२-१९७७

हरीश, हरिशंकर—आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य, इलाहाबाद

हरीश, हरिशंकर—आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, इलाहाबाद, १९६६ ई०

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. A discriptive catalogue of Bardic & Hist. Manuscripts See I Part II—L. P. Tessitory

2. The Annals and antiquities of Rajasthan—Col. Tod. London, 1920
3. A study of Gujarati Language—T. N. Deo.
4. Historical Grammar of Apabhramsha—Dr. Gajanan V. Tagare. Deccan College. Poona, 1948
5. History of Jain Monarchism—Dr. S. B. Deo. Poona, 1956
6. Hist of Gujarati language and literature—N. B. Divatia.
7. Linguistic survey of India.—G.A. Grierson, Calcutta, 1928
8. Military memoirs—George Tomas
9. Origin and development of Bengali Language—Dr Suniti Kumar Chattergee, Calcutta, 1926

पत्र-पत्रिकायें

१. अनेकान्त
२. ज्ञानोदय
३. जैन साहित्य संशोधक
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
५. परम्परा
६. ब्रज भारती
७. मरु-भारती
८. माधुरी
९. राजस्थान भारती
१०. शोध पत्रिका
११. हिन्दी अनुशीलन
१२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका
१३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य विवरण, भाग २,६,७ और ९

अनुक्रमणिका

अंचलगच्छनायकगुरुरास २२७, २२८
अंचलमतनिराकरण २९७
अंजनाचरित्र ४४७
अंजनासुन्दरीचरित्र २२३
अंतरंगरास २१२
अंतरंगसन्धि १३३
अंबडरास ४४१
अंबडचरित्र (संस्कृत) ४९८
अक्षयनिधिपूजा ५४७
अगड़दत्तराम ४४६
अचलदासखींचीरी वचनिका ५८२
अचलदासखींचीवचनिका २८६
अजापुत्ररास ४०५, ४३१
अजितजिनेसररास ३८०
अजितशांतिस्तव २३५
अजितशांतिस्तवन २६४, २६७
अजितशांतिस्तवन बालावबोध ६०८
अजितशांतिस्तोत्र ११३
अजियपुराण (अजितपुराण) ४९०
अठारपापस्थानपरिहारभाषा ४३१
अठारहनातरांसम्बन्ध ५६३
अठावीसमूलगुणरास ३८१
अणथमीकथा ५१
अणुवयरयणपईउ १३७
अणुव्रतरत्नप्रदीप १३७
अतिचारचौपाइ ४२३
अतिशयस्तवन ४२३
अनन्तव्रतरास ३८०
अनस्तमितव्रतसंधि ५३८
अनाथीऋषिचौपाइ ५६४
अनाथीकुलक २१०
अनाथीचौपाइ ४२९
अनाथीमुनिचौपाई २११
अनाथीसंधि ८८
अन्तकालआराधना ४३१
अन्तरंगरास ८८
अन्तरीकपार्श्वजिनछन्द ४७८
अभयकुमारश्रेणिकरास ३९५, ५२०
अभिधानचिन्तामणि ५७
अमरकुमाररास ३४४
अमरद्वासप्ततिका ४२३
अमररत्नसूरिफागु ५५९
अमरसेनचरिउ ४५४
अमरसेनवयरसेनचौपाइ ४६८
अमरूशतक ९५
अम्बडचौपाइ ४९७
अम्बिकादेवीपूर्वभवतलहरा २१८
अम्बिकादेवीरास ३८०
अरहंतगीत ४०७
अर्बुदगिरितीर्थबिंबपरिमाण-

संख्यायुतस्तवन ४६४
अर्बुदचैत्यप्रवाडी ४१३
अर्बुदाचलवीनती २३५
अर्बुदाचलहीयाली २८५
अर्बुदालंकारश्रीयुगादिदेवस्तवन २४४
अवंतिसुकुमालसज्झाय ४०८, ४१०
अवस्थाकुलक ११३
अष्टकर्मविचार ४३१
अष्टमीस्तवन २९२
अष्टादशतीर्थबावनी २३८
अष्टापदबावनी २३८
अष्टापदस्तवन २९२
अष्टाह्निकागीत ५६५
अष्टाह्निकापूजा २८८
अर्हन्नकसाधुगीत ४३१
आँख कानसंवाद ५११
आइन-ए-अकबरी १०
आकाशपंचमीकथा ३८०
आगमछत्रीसी ४२३
आगमसार २८८
आचाराङ्ग-बालावबोध ६०३
आठमदनीसज्झाय ४७८
आत्मरागरास ५१०
आत्मसंबोधनकाव्य ५४६
आदिजिनवीनती ४०७
आदिनाथजन्माभिषेक २७१, २७२, ४६६
आदिनाथदेवरासधवल ५२२
आदिनाथधवल २५६, २५७
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ५४०
आदिनाथभास ४७८
आदिनाथरस्त ४८९
आदिनाथरास ३८०
आदिनाथविनती ५२४, ५२५
आदिपुराण (संस्कृत) २८७
आदीश्वरफागु ५४५, ५४६
आदीश्वरवीनती ३०१
आदीश्वरस्तवन ४२३, ४३१, ४६५
आद्रककुमार-धवलसूड़ ३९५
आद्रककुमारविवाहलु ५२२
आध्यात्मगीत ११३
आनन्दतिलक १५९, १६०
आनन्दतिलक (कविता) २६३, २६४
आनन्दप्रथमोपासकसंधि १९८-९९
आनन्दबिमलसूरिरास ४८९, ४९०, ४९६, ५२८, ५७०
आनन्दविमलसूरिसज्झाय ४९६, ५२८
आबूरास १२९, १३०, १३१, १३३
आभाणकरत्नाकर ५७७
आराधनानानी ४२३, ४९१
आराधनाप्रतिबोधसार २८८, २८९
आराधनाबालावबोध ६०८
आराधना मोटी ४२३, ४९१
आराधनारास ४९०
आराधनासंक्षेप ४९१

आरामनन्दनचौपाइ ३६५, ४१०
आरामशोभाचौपाइ ४९७
आरामशोभारास ३४६
आलोयणविनती ४७८, ४८०
आल्हखंड ६२
आवश्यकअक्षरप्रमाणसज्झाय ५०८
आवश्यकटीकाबालावबोध ६०७
आवश्यकसूत्रावचूरि १७६
आषाढ़भूतिप्रबन्ध २९४
आषाढ़भूतिरास ५०८
आषाढ़भूतिसज्झाय ४००
इक्षुकारचौपाइ ३५१
इच्छापरिणामचौपाइ ४४४
इलातीपुत्रसज्झाय ५१०, ५११
इलापुत्रचरित्र ४५०, ४५१
इलापुत्ररास ४९८
इलाप्रकारचैत्यपरिपाटी ३२५
इलायचीपुत्रसज्झाय ९२
उक्तिरत्नाकर ५७६
उक्तिव्यक्तिप्रकरण १५, ७२, १५७, ५७६, ५९०
उक्तिव्यक्तिविवृत्ति ६०७
उत्तमकुमारचरित्र ३६८
उत्तमचरित्रचौपाइ ४५३
उत्तरपुराण ३६, ३८
उत्तरपुराण (संस्कृत) २८७
उत्तराध्ययनछत्रीसी ४२३
उत्तराध्ययनबालावबोध ६०७
उत्तराध्ययनसज्झाय ३५१
उत्तराध्ययननासर्वअध्ययनसज्झाय ४३१
उदयचूलामहत्तराभास ५६४
उदयनकुमारचरित्र ५५९
उदायिराजर्षिसंधि ५३३, ५३४
उद्धरणकथा ५९
उनतीसभावना ४२३
उपदेशकंदली ११८
उपदेशकारकक्को ३८५
उपदेशकुलक ५३
उपदेशगीत ४९२
उपदेशचिन्तामणि २३५
उपदेशमाला १६५
उपदेशमालाकथानक १९९, ३३४
उपदेशमालाप्रकरणबालावबोध ६०८
उपदेशमालाबालावबोध २९८, ५९७, ६०१-२
उपदेशरत्नकोशबालावबोध ६०८
उपदेशरसायन ७६
उपदेशरसायनरास १७, ५२, ११२
उपदेशरहस्यगीत ४२३
उपदेशसप्ततिकास्वोपज्ञवृत्ति ३५०
उपदेशसाररत्नकोश ५०८
उपमितिभवप्रपंचकथा ५८, ८९, ११०
उवएसमालकहाणयछप्पय १६५
ऊएसारास ४०३
ऊषाहरण ४८८
ऋषभदासगीत २९०
ऋषभदेवविवाहलुधवलबंध ५२२
ऋषभदेवस्तवन ३४८
ऋषभनाथ की धूलि ५२४
ऋषभरास २३०

ऋषभस्तव ५०९
ऋषिदत्ताचौपाइ ३९८
ऋषिदत्तारास ५१०, ५६२
ऋषिमण्डलपूजा ५४६
एकादशगणधरनमस्कार ३०८, ३०९
एकादशगणधरस्तवन ३०८, ३०९
एकादशवचनद्वात्रिंशिका ४२३
एषणाशतक ४२३
ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह ९३, १३४
ऐतिहासिक रास संग्रह ९१
ओलभंडाबारहमासा २४६
औपपातिकसूत्रबालावबोध ६०३
कंकसेनराजाचौपाइ ३५०
कच्छुलीरास ८८, १८४-८५
कथाकोष ५९
कथाबत्तीसी ३३४
कथामहोदधि ४६५
कथारत्नाकर ५७७, ५८९
कथासरित्सागर ६६, ९२
कमलसाधु (तपागच्छीय) ३२८
कमलावतीरास २७८, ४७६
कयलवाडपार्श्वस्तोत्र १६४, २२६
कयवन्नाचरित्र ५१६
कयवन्नाचौपाइ ४००, ४१९
कयावेड़ीसज्झाय ३९५
करकंडचरिउ ४४
करकंडुचरिउ १०१
करकंडुचरित ५१
करसंवाद ४७८, ४८१
करुणावज्रायुध (नाटक) ११८
कर्पूरप्रकरणबालावबोध ६०५
कर्मगतिचौपाइ २१३
कर्मग्रन्थबालावबोध ६०८
कर्मविवरणरास ४७५
कर्मविपाक २८८
कर्मविपाकरास ३८१
कलावतीचरित्र ४६७
कलावतीचौपाइ ३४१, ५३३-३४
कलावतीसतीरास २७८, २७९
कलिकालरास ३०३
कल्पप्रदीप १७६
कल्पसूत्रआख्यान ३३०
कल्पसूत्रबालावबोध ६००, ६०८
कल्पसूत्रसंदेहविषौषधिवृत्ति १७६
कल्पान्तरवाच्य ४३९
कल्याणकरास २८१, ४९५
कल्याणकस्तव ५०९
कल्याणमंदिरभाषा २३८
कल्याणस्तवन ४२३
कविचरित २२५
काउसग्गनाउन्नीसदोषसंग्रह ४२३
काकबंधि (रचना) २७२
कातंत्रवृत्तिपंजिका २२४
कातंत्रव्याकरणबालावबोधवृत्ति २६४
कादम्बरी १०९
कान्हडदेप्रबन्ध १५४, ५९५
कामदेवचरित २२३
कामदेवरास ५२६
कामीजनविश्रामतरंगगीत ५५३
कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ५०१
कालकसूरिभास ३३०
कालकाचार्यकथा १५६
कालकाचार्यकथानक १८७
कालस्वरूपकुलक ५३, ११२

कालिकाचार्यकथा २२४, ३४३
कालिकाचार्यसन्तानीय २२४
काव्यप्रकाश ११८
काव्यप्रकाशसंकेत ११८
काव्यमीमांसा २४
काव्यानुशासन ५७, ९०
किसनरुक्मिणीरीबेलि १५
कीर्तिकौमुदी ११७, २९८
कीर्तिरत्नसूरिगीत ३६८, ५१५
कीर्तिरत्नसूरिगीतम २३४, ४७१
कीर्तिरत्नसूरिचउपइ ३४२
कीर्तिलता १५, ६०, १५६, ५७७
कुमारगिरिमंडणश्रीशांतिनाथ-
स्तवन ५२८
कुमारपाल ६४
कुमारपालचरित ३१, ५७
कुमारपालचरित (संस्कृत
भाषामय) २४०
कुमारपालनिबन्ध २९७
कुमारपालप्रतिबोध १४, ५८,
९४, ११९, १२६, १४७
कुमारपालरास २४८, ३५३,
३९९
कुमारिका अभिषेक १५६
कुरगडुमहर्षिगीत ४५०
कुरुदेशतीर्थमालास्तोत्र ३०१
कुलध्वजकुमाररास ३३९, ३४६,
४०८-९
कुलध्वजचौपाइ ५३३
कुवलयमाला १५७
कुवलयमालाकथा १०, २०, २३,
८९, ५८०
कुवलयमालाकहा ५८, ९२
कूर्मशतक ६४
कूर्मापुत्रचरित्र ३२५
कृतकर्मचरितरास ४४३
कृतकर्मराजाधिकाररास ३४२
कृपणछन्द ३९०
कृपणनारीसंवाद ९६
केशिप्रदेशिबन्ध ४२३
केसीसंधि २११
कोचरव्यवहारीरास ३९४
कौतुककथा २२३
क्रमदीश्वर ८९
क्षुल्लककुमाररास ५२८
क्षेत्रपालगीत ५०५
क्षेत्रसमासबालावबोध ६००
क्षेत्रपालद्विपदिका १६९
खंधकचरित्रसज्झाय ४२३
खरतरगच्छपट्टावली ५२५
खरतरगुरुगुणवर्णनछप्पय ३१०
खिमर्षिरास ४७८, ४८१
खुमाणरास ४०१
खेमाहडालियानो रास ३२०
गजसिंहकुमारचौपाइ ४१७, ५२०
गजसिंहकुमाररास ४००
गजसिंहरायचरित्ररास ४१७
गजसिंहरास ४१७
गजसुकुमारचोढालिया ४१२
गजसुकुमारराजर्षिसज्झाय ४११
गजसुकुमालरास ५०७, ५०८
गजसुकुमालसंधि ४५५, ५३३-३४
गणधरवलयपूजा २८८
गणधरसप्ततिका ११३
गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति १४५
गणितसार १८६

गयसुकुमालरास १२५
गर्भबेलि ५११
गर्भवेलि ४७८, ४८३
गर्भविचारस्तोत्र २५३
गाथासप्तशती ९५
गिरनारचैत्यपरिपाटी २३३, ५३९
गिरनारिधवल ३८१
गीत ३७०, ४४३
गीतार्थपदावबोधकुलक ४२३
गुणनिधानसूरिस्तुति ५६५
गुणमालाचौपाइ १००
गुणरत्नसूरिविवाहलउ ४१८
गुणरत्नाकरछन्द ५१०, ५६९
गुणस्थानकविचारचौपाइ २९४
गुरावलीरेलुआ २०३, २०४
गुरु-गुणरत्नाकर ३२१
गुरुगुणरत्नाकरकाव्य ५२७
गुरुछन्द ५०५
गुरुछत्रीसी ४२३
गुर्वावली ५२४
गोरी-सांवलीविवाहगीत ४७८, ४८३, ४८४
गोरी-सांवलीसंवाद ९६
गौतमपृच्छाचौपाइ ४७८, ४७९
गौतमपृच्छाबालावबोध ६०१, ६०६
गौतमरास २३८, २७३
गौतमरास (मरु-गुर्जर की रचना) २८२, २८३
गौतमस्वामीगीत ४१३
गौतमस्वामीछन्द २६४, २६७
गौतमस्वामीरास ३८०
ग्यारहगणधरस्तवन ३२६
चउवीसगीत १६८
चउवीसजिनस्तवन १९३
चउशरणअध्ययनबालावबोध ६०१
चउशरणप्रकीर्णकबालावबोध ६०४
चक्रेश्वरीस्तोत्र ११३
चतुःपर्वीरास २१३, १९९
चतुर्गतिचौपाइ ४२१
चतुर्विंशतिजिनचतुष्पदिका १८९
चतुर्विंशतिजिनतीर्थमाला ३४०
चतुर्विंशतिजिननमस्कार ५०८
चतुर्विंशतिजिनस्तव ४१४
चतुर्विंशतिजिनस्तवन ४७८
चतुर्विंशतिजिनस्तवन (अपभ्रंश) २८२
चतुर्विंशतिनमस्कार २४५
चतुर्विंशतिप्रबन्ध २२३
चतुर्विंशतिस्तव ३७८
चतुर्विधभावनाकुलक १७६
चन्दनबालाचौपाइ ३९५
चन्दनबालारास १२०, १२२, ४९७
चन्दप्पहचरिउ ४९, ५०
चन्दप्पहचरित २६९
चन्द्रधवलधर्मदत्तकथा ४५५, ५९३
चन्द्रप्रभकलश १४१
चन्द्रप्रभचरित ४९, १४७, २००, २७३

चन्द्रप्रभस्वामीधवल ४३१
चन्द्रलेखाचौपाइ ५३७, ५३८
चंद्राउला ४८४
चम्पकमालारास ५३१
चम्पकश्रेष्ठीरास ५२८
चम्पूरामायण ६४
चरित्रमनोरथमाला ४२३
चर्चरी ५३, ७६
चारप्रत्येकबुद्धचौपाइ ४३१
चारित्रमनोरथमाला ३५१
चारुदत्तचरित्र ४२०
चारुदत्तरास ३८०
चित्तनिरोधकथा ५०१, ५०३
चित्तौड़चैत्यपरिपाटी ३५८, ३७७
चित्तौड़रीगजल ९६
चित्रकूटचैत्यपरिपाटीस्तव। ४२३
चित्रसेनपद्मावतीकाव्य ३६३
चित्रसेनपद्मावतीरास ४४०, ४९७
चिन्तामणिजयमाल ३९०
चिहुंगतिचौपाइ २७७
चिहुगतिचौपाइ १९७
चिहुगतिबेलि ४८७
चुपइफागु ५५३
चूनड़ी ४९५
चेतनपुद्गलधमाल ४३४, ४३७
चैत्यपरिपाटी २३८, ४४४-४५
चैत्यप्रवादीरास २२६
चैत्यवंदनकुलक ११३
चैत्रवन्दनकुलक १८०
चैत्यवन्दनदेवनन्दनकुलक १५६
चौदहगुणस्थानकरास ३८१
चौबीसजिनगीत ४१३
चौबीसजिनमस्कार ४६९-७०, ४८४
चौबीसजिनस्तव ४७३
चौबीसजिनस्तवन ३२८
चौबीसजिनस्तोत्र २३८
चौबीसी (काव्य) ३४४
छक्कम्मुवअेसो (ग्रन्थ) ११८
छक्कम्मोवएस ५९
छन्दोनुशासन ५७, ९३
छोतीमिथ्यात्वपरिहारकुलसज्झाय ४२०
जगत्सुन्दरीप्रयोगमाला १३२, २६९, ५८०
जम्बूअंतरंगरास ५१०, ५६९
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णी १५६
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ४३०
जम्बूसामिचरिउ ४३
जम्बूस्वामीगीत ५६४
जम्बूस्वामीचरित १२५
जम्बूस्वामीचरित्र २८८, ६०८
जम्बूस्वामीचौपइ ३९५
जम्बूस्वामीचौपाइ ३९५, ५२०
जम्बूस्वामीफाग २७३
जम्बुस्वामीफागु ९४, ४६७
जम्बुस्वामीबेलि ५०१, ५०२, ५१९
जम्बूस्वामीरास १८१, ३८०, ४४७, ४६४, ४९४, ५६९
जम्बूस्वामीविवाहलो ३०३
जयकल्पलता २७०
जयचन्द-जस-चन्द्रिका ६३
जयणागीत ३५३

जयतिलकसूरिचउपइ २३२
जयतिहुयण ५४
जयतिहुयणस्तोत्र १०४
जयन्तविजय ११९ १२९
जयन्तविजय (काव्य) १२०
जलगालनरास ५४७
जल्पकल्पलता ४६२
जसहरचरिउ ३९, ४०, ११९
जालोरनवफणापार्श्वदसभवस्तोत्र ४१८
जावड़-भावड़रास ३९५, ३९६
जिणदत्तचरित्र ४९
जिणदत्तचरित्र १९०
जिणदत्तसूरिस्तुति १४९
जिणदेवसूरिगीत २१७
जिणवरपूजाहेली ३८
जिणोदयसूरिछन्द २६५
जिनआंतरा ५०१, ५०२
जिनकुशलसूरिचतुष्पदिका २३८
जिनकुशलसूरिरेलुआ १६८, १७१
जिनचउवीसी ३९०
जिनचन्द्रसूरिकाव्याष्टम् १३५
जिनचन्द्रसूरिफागु १७४, २०६
जिनचन्द्रसूरिरेलुआ १६८, १६९, १७१
जिनचन्द्रसूरिवर्णनरास १३७, १९४
जिनचन्द्रसूरिविवाहलउ २०१
जिनदत्तचरिउ ३७
जिनदत्तसूरिअवदातछप्पय ११४
जिनदत्तसूरिस्तुति ११४, ११८
जिननेमिनाथविवाहलु ४३१
जिनपतिसूरिधवलगीत ९३, १३३
जिनपतिसूरिबधामणागीत १४५
जिनपद्मसूरिपट्टाभिषेक २०२
जिनपालजिनरक्षितरास ३२९
जिनपालितजिनरक्षितचौपाइ ३५१
जिनप्रतिमास्थापनप्रबन्ध ४३१
जिनप्रतिमास्थापनविज्ञप्ति ४२३
जिनप्रबोधसूरिचर्चरी २०३, २०४
जिनप्रबोधसूरिबोलिका २०३
जिनप्रबोधसूरिवर्णन १८४
जिनभद्रसूरिगीतम् २६०
जिनभद्रसूरिधुवड २४८
जिनभद्रसूरिपट्टाभिषेकरास २९१
जिनभद्रसूरिपट्टेजिनचन्द्रसूरिगीतम् ५६७
जिनवरवीनती ४०७
जिनवल्लभसूरिगुणवर्णन १०४
जिनवल्लभसूरिगुरुगुणवर्णन १२८
जिनसत्तरी २४३
जिनसिंहसूरिगीत ४३९
जिनस्तवन २४७
जिनेश्वरसूरिसंयमश्रीवर्णनारास ९३
जिनेश्वरसूरिसंयमश्रीविवाहवर्णनारास २०३
जिनोदयसूरिगुणवर्णन २५६
जिनोदयसूरिविवाहलउ २६४
जिनोदयसूरिविवाहलो ९३
जिह्वादंतसंवाद ९५
जीराउलापार्श्वछन्द ४१३
जीराउलापार्श्वनाथविनती ५६४

जीरावलापार्श्वनाथस्तुति ५२७
जीरावलापार्श्वनाथस्तोत्र १६४
जीरावलापार्श्वस्तोत्र २२६
जीरावलारास ३९५
जीरावलास्तवन ३५१, ४३९
जीरावल्लापाश्वनाथफागु २६४, २६६
जीरावल्लापार्श्वनाथरास ३९५, ३९७
जीरावल्लाबीनती ३०१
जीवदयागीत ३५३, ४१३
जीवदयाचोपाइ ५६२
जीवदयारास १२०-२२, १३०, ४४६
जीवन्धरचरित ५१
जीवंधररास ४४७
जीवंधरस्वामीरास ३८०
जीवंधरस्वामीगीत ५०१, ५०२
जीवप्रबोधप्रकरण ६०६
जीवभवस्थितिरास ४८६, ५४७, ५४८
जीवभवस्थिति-सिद्धान्तसार-प्रवचनसाररास ४८६
जीवानुशास्तिसंधि ८८
जैनकुमारसंभव २३५, ५९१
जैनग्रन्थावली ११४
जैनभक्तिकाव्य १०४
जैसलमेरचैत्यपरिपाटी ५४०
जोधपुरनगरवर्णन गजल ९०
ज्ञानचन्द्रोदय ९२
ज्ञानछप्पय २६५
ज्ञानपंचमी २८०
ज्ञानपंचमीस्तवन ३५१
ज्ञानप्रकाश १५६
ज्येष्ठजिनवरपूजनकथा ३८०
डिंगल-पिंगल १०
डिंगलसाहित्य १५
डूंगरबावनी ४१८
ढंढणकुमाररास ४८४
ढोलामारुकीवार्त्ता ३७६
णमोकारफलगीत २८८
णायकुमारचरिउ ३९
णिर्झरपंचमीकहारास २८१
णेमिणाहचरिउ ४९, ११९, १३७, १९४
तत्वज्ञानतरंगिनी ५४५
तत्त्वप्रकाश ६४
तत्त्वविचारप्रकरण ५८७
तत्त्वसार ७३, ७६
तत्त्वसारदूहा ५०५, ५०६
तत्त्वार्थसारदीपक २८८
तद्धितबालावबोध ५९६
तपागच्छगुर्वावली २४४
तपागच्छपट्टावली ५२७
तमोमतकुट्टन १७६
तमालतालीपार्श्वस्तवन २८२
तरंगवती २४, ५८
तरंगवतीकहा ५७५
तिलकमञ्जरी ४२, ४३, ५८, ६४, ११३, ११९, ५८७
तिलकमञ्जरीकथासार ४३
तीनचौबीसीवीनती ३८१
तीर्थमालास्तवन २६८
तीर्थमालास्तवन (अपभ्रंश) २८२

तीर्थयात्रास्तवन २८२
तेजसारचौपाइ ३७३
तेतलीपुत्रचौपाइ ३५१
तेतलीमंत्रीरास ५११, ५१२
तेतलीपुत्ररास ३४४
त्रेपनक्रियागीत ५२४, ५२५
त्रिभुवनदीपक (रूपक) ९२
त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध ८८, २३५, ५९१
त्रिविक्रमरास २४६
त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित ५७
थावच्चाकुमारभास ३९५
थूलिभद्दफाग ७६, १९३
थूलिभद्दफागु १७२, १७५
थूलिभद्रकाव्य ३९५
दंडकगर्भितपार्श्वनाथस्तवन ४२३
दंडकबालावबोध ६०८
दयाधर्मचौपाइ ४४१
दयासागरसूरि २४७
दर्शनसार ७६, ११८
दव्वसहावपयास ११८
दशकुमारचरित ५८
दशदृष्टान्तकथानकबालावबोध ६००
दशदृष्टान्तचरित्र ३२५
दशलक्षणव्रतकथारास ३८०
दशश्रावकबत्तीसी १४३, ४१२
दशवैकालिक बालावबोध ६०६
दशवैकालिकसूत्रबालावबोध ६०३
दशार्णभद्र १२३
दशार्णभद्रकथा १५६
दशार्णभद्ररास ३०३, ३०४
दशश्रुतस्कंधटीका ४३०
दसरूपक ११९
दानकथा ३८०
दान की संझाय ४८३
दानछन्द ५०५, ५०६
दिल्लीमेवातीदेशचैत्यपरिपाटी ३०१
दीवालीरास ४११
दूहामात्रिका १८२, १८३
दूहाशतक ४२३
दृढ़प्रहारीससज्झाय ४७८, ४८३
देवतिलकोपाध्यायचौपाइ ४१८
देवपूजागीत ४८४, ८५
देवरत्नसूरिफागु २४३, २४८
देवराजवच्छराजचउपइ ९
देवराजवच्छराजचौपाइ ४७८
देवराजवत्सराजप्रबन्ध ४५१, ५२
देवसुन्दरसूरिरास २३१
देशीनाममाला ५७
दोहासार ५४
द्रव्यपरीक्षा १८६
द्रव्यस्वभावप्रकाश ११८
द्वयाश्रयमहाकाव्य ५७
द्वयाश्रयवृत्ति (प्राकृत) २७५
द्वादशानुप्रेक्षा २८८, ३८१, ४९३
द्वितीयनेमिनाथफागु २४०
धनदत्तधनदेवचरित ४५१-५२
धनपालकथा ५८७
धनसारपंचशालिरास ४७४
धनासन्धि २१०
धन्नाअणगारनोरास ३७४
धन्नारास ३४३, ३८५, ४४९, ४५०

धन्नाशालिभद्ररास ३९९
धन्नासज्झाय ४७२
धन्यकुमारचरित ५१
धन्यकुमारचरित्र २८८
धन्यकुमाररास ३८०
धम्मपरिक्खा ५८, ५९
धम्मिलचरित्र ५९१
धम्मिलमहाचरितमहाकाव्य २३५
धम्मिलरास ५२८,-२९
धर्मदत्तचरित्र २४७
धर्मपरीक्षा ५९, ५४२
धर्मपरीक्षारास ३८०
धर्मविधिप्रकरण १८५
धर्मशर्माभ्युदय ५३८
धर्माधर्मविचारकुलक १५१
धर्मलक्ष्मीमहत्तराभास ३२९, ३३०
धर्मसूरिबारहनावउं ११७
धर्माभ्युदयमहाकाव्य १३९
धर्मोपदेशश्रावकाचार ४०४
धातुपारायण ५७
धूर्ताख्यान ५९, ११०
ध्वजभुजंगकुमारचौपाइ ४७४
नगरकोट्टमहातीर्थचैत्यपरिपाटी २३८
नन्दनमणिहारसन्धि ३६९
नन्दबत्तीसीचौपइ ५१७
नन्दबत्रीसी ४१४
नन्दीश्वरप्रतिमास्तवन २६३
नमिराजचौपाइ ३५१
नमिराजर्षिसन्धि ४९८
नरवर्मचरित्र २८१
नर्मदासुन्दरी ८८
नलचरित्र २३१
नलदमयन्तीचौपाई ९५
नलदमयन्तीरास २३१, ४९७, ५४२
नलराजचउपइ ५४३
नलदवदन्ती (नलराय रास ५६३
नवकारप्रबन्ध ३९५
नवकारमहामन्त्रगीत ३३६
नवतत्त्वअवचूरी ५९६
नवतत्त्वबालावबोध २९८, ५९७, ६०३
नवतत्त्वरास ४४४
नवतत्त्वविवरणबालावबोध ५९६
नवपल्लवपार्श्वनाथकलश २५६, २५८, ४८७
नवपल्लवपार्श्वनाथगीत ५१४
नवपल्लवपार्श्वस्तवन ४७८, ४८३
नवसारीस्तवन २६८, ६९
नागकुमारचरिउ ४५४
नागकुमारचरित ३९, ४९
नागकुमाररास ३८०
नागपुरगजलवर्णन ९७
नागपुरमंडनशान्तिजिनस्तवन ३४८
नाट्यदर्पण ११६
नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध ५५, १६२
नारीनिरासफाग २६९, ७०, ४६२
न्यायकंदलीपंजिका ७५, २२३
नियतानियतप्रश्नोत्तरदीपिका ४२३
निश्चयव्यवहारस्तवन ४२३

नेमिगीत ४४३
नेमिचरितरास २९२
नेमिचरित्रनेमिस्तवन ५२०
नेमिजिनचरित्र २८७
नेमिदूत ९६
नेमिनाथगीत ४६०
नेमिनाथचतुष्पदिका ८८, ९९, १९८
नेमिनाथचन्द्राउला ५२२, २३
नेमिनाथचरित ९, ११८, १४७
नेमिनाथछंद ५०५, ६
नेमिनाथधवल ९३, २३५
नेमिनाथधुल १८१, २१८
नेमिनाथनवरसफाग २६९, २९८, ४०२
नेमिनाथनवरसफागु २९७
नेमिनाथफाग २३५
नेमिनाथफाग-बारमास २२७
नेमिनाथफागु ९४, १००, १८२, २७५, २९०, ३८९, ५५६, ५९१
नेमिनाथबारहमासा ९२
नेमिनाथयादवरास ४२८, ५६९
नेमिनाथरास १५६, ३८६, ४९१ ५०१, ५०३
नेमिनाथरासो १३०, १३१, १३३
नेमिनाथवसंतफुलडाफाग ४४९
नेमिनाथविनती २७१
नेमिनाथविवाहला २३८
नेमिनाथस्तवन २४४, ३४८, ४६९, ७०
नेमिनाथ हमचड़ी ४७८, ४८०, ५६९
नेमिनाहचरिउ १४७
नेमिपरमानन्दबेलि ३७४
नेमिराजीमतिबेलि ३९०
नेमिरास १४५
नेमिश्वरचरित्र ४५१
नेमिश्वरबारहमासा ४३४, ४३६
नेमिश्वरवसंतु ४३४, ४३७
नेमिस्तव ५०९
नेमिश्वरउरगानो ३६३
नेमीश्वरगीत २८८
नेमीश्वरचरितफागुबन्ध ५९३
नेमीश्वरचरितफागुबंध २६२
नैषधकाव्य १५६
पंचकल्याणक ५३८
पंचतीर्थसज्झाय ४८३
पंचतीर्थस्तवन ४१२
पंचनिर्ग्रन्थीबालावबोध ६०५
पंचपाण्डवरास २८६
पंचपाण्डवसज्झाय ३४४
पंचविंशतिक्रियासज्झाय ५०८
पचविषयसज्झाय ४८३
पंचसहेली ३६९, ३७०
पंचेन्द्रियबेलि ३९०
पंचीगीत ३७०
पउमचरिउ १७, २३, २४, ३६, ४५, ९९
पज्जुणचरिउ ४८
पट्टाभिषेकरास १५६, १८०
पद्मचरित ५१
पद्मचरित्र ४९७
पद्मपुराण ५०
पद्मावतीचौपई १७६
पद्मावतीचौपाई १५६, ५३७

परदेशीराजारास ५१०, ५१२, ५६१
परनिंदाचौपाइ ५६८
परमालरासो ६०, ६३, ९०
परमेष्ठीप्रकाशसार ५४२
परिशिष्टपर्व ५७
पहाड़ियाराग १६९ १७०
परमप्पयासु ५४
परमहंसप्रबन्ध २३५
परमहंसरास ३८१
परमात्मप्रकाश ५४, ५५
पाइयलच्छीनाममाला ४२
पाक्षिकछत्रीसी ४२३
पाटणचैत्यपरिपाटी २९६
पाण्डवचरित्र ६०८
पाण्डवपुराण ३६, १३२
पाण्डवपुराण (अपभ्रंश) २६९
पार्श्वचन्द्रसूरिस्तुतिसज्झाय ५०८
पार्श्वचरित ५१
पार्श्वजिनस्तवन ३५५
पार्श्वजिनस्तवनप्रभाती ४७८
पार्श्वनाथचरित २२४
पार्श्वनाथदसभवविवाहलो ४३०
पार्श्वनाथनाम्नासंवेगरस ४८४
पार्श्वनाथपत्नीप्रभावतीहरण ४१६
पार्श्वनाथशकुनसत्तावीसी ३९०
पार्श्वनाथस्तव ४९७
पार्श्वनाथस्तवन ३९०, ४३१
पार्श्वनाथस्तोत्र ७७, ११३
पार्श्वपुराण ९२
'पार्श्वभवान्तर के छन्द ३७२
पासचरिउ ४६
पासणाहचरिउ ७६, २२५
पासत्थाविचार ६०७
पाहुड़दोहा ५५, २६३
पीहरसासडागीत ४०७
पुण्यकरणीयस्थानकगीत ४१३
पुण्यसागरगुरुगीतम् ५३५
पुण्यसारचरित्र ४१६
पुण्यसाररास ५१२, ५६१
पुण्याढ्यनरेश्वररास ५६०
पुण्याभ्युदय ६०८
पुण्याश्रवकथाकोष ५१
पुरन्दरविधानकथा ३८०
पुरन्दरविहाणकहा ११८
पुराणसंग्रह २८८
पुरातनप्रबन्धसंग्रह ७४
पुरानी राजस्थानी ४
पुरानी हिन्दी २, ५
पुरुषोत्तमपंचपाण्डवरास २८५
पुरुषोत्तमपांचपाण्डवफाग ३०९
पुष्पमालाबालावबोध ६०५
पुष्पांजलिरास ३८०
पूजाष्टकटीका ५४६
पूर्वदक्षिणदेशतीर्थमाला ३०१
पूर्वदेशचैत्यपरिपाटीरास ५८१
पूर्वदेशचैत्यरास ५७०
पूर्वदेशीयतीर्थमाला ५४८
पृथ्वीचन्द्रगुणसागररास ३०८
पृथ्वीचन्द्रचरित ८०
पृथ्वीचन्द्रचरित्र २३८, ५९३
पृथ्वीचन्द्रचरित्र-वाग्विलास ४५५
पृथ्वीराजरासो ६०, ६३, ९०
पेथड़रास ८८, १५३, ५८९, २६९

पोसहरास ५४६
प्रतिमाग्यारह का रास ३८१
प्रत्याख्यानचतु:सप्ततिका ५०८
प्रत्येकबुद्धचरित्र १९५
प्रथमनेमिनाथफागु २४०
प्रद्युम्नचरिउ ४८
प्रद्युम्नचरित ३८८
प्रद्युम्नचरित्र २९०, ५२४
प्रबन्धकोश, ५७, २२३, २७५
प्रबन्धचिन्तामणि ६४, ६९, ९४, ११९, १५६, १८८,
प्रबोधचन्द्रोदय ९२
प्रबोधचिन्तामणि ८८, ९२, २३५
प्रबोधचिन्तामणिचौपाइ ५९१
प्रबोधपंचासिका ९५
प्रबोधबावनी ९५
प्रभवजम्बूस्वामिबेलि ५६७
प्रभाकरगुणाकरचौपाइ ४०८, ४०९
प्रभातगीत ४१३
प्रभातिकनामावलि १६९
प्रभावकचरित ६४
प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार १३९
प्रमुखतीर्थमालास्तोत्र ३०१
प्रवचनसार ६०६
प्रश्नोत्तररत्नमालावबोध ६०८
प्रश्नोत्तरीश्रावकाचार २८७
प्रसन्नचन्द्ररास ५११
प्रसेनजितरास ५०७
प्राकृतप्रकाश १७, २७
प्राकृतपैंगलम १५, ६०, ९३
फलवर्द्धिपार्श्वनाथस्तोत्र १६४-६५
फलवर्द्धिमंडनपार्श्वस्तवन ३४८
फलौधीपार्श्वनाथरासगाथा ३५१
फलौधीपार्श्वस्तोत्र १७२
बंकचूलरास (पवाडउ) ५४३
बलभद्रपुराण ५१
बलभद्रबेलि ५१६
बलिभद्रचौपइ ४६०
बलिभद्ररास ४७८, ४८१
बसंतफागु २२९
बसंतविलास ५५१
बारभावना ४९३, ५६३
बारमास (एक लघु रचना)
बारव्रतचौपाइ ५६९
बारव्रतटीपचौपाइ ३५७
बारव्रतचौपई २०९
बारहव्रतचौपाइ ३९५
बारव्रतरास १९८
बारहनावउ १३१
बारहव्रतगीत ३८१
बारहव्रतसंज्झाय ३२५, ३२६
बारहसैचौतीसोविधान ४९२
बालशिक्षा ४३९
बालावबोधप्रकरण ११२
बावनी ३६९, ३७०, ४४९
बाहुणतु फागु ५५५
बाहुबलिदेवचरिउ २५१
बाहुबलिबेलि ५०१
बीकानेरवर्णन गजल ९७
बीसविहरमानजिनगीत ४८४
बीसीस्तवन ४७३
बुद्धिप्रकाश (काव्य) ३८९
बुद्धिरास ५३, १४३-४४
बृहतकथा २४, ९२
बेलिगीत ३७०

ब्रजभाषा ११
ब्रह्मचर्यदसस्थानसमाधिस्थान ४२३
ब्रह्मचारी (पद्य) ४९८
भक्तामरपूजा ५४६
भद्रबाहुरास ३८०
भरतबाहुबलिपवाड़ा २३०, २३१
भरतबाहुबलिरास २४७, ३८६, ४३१
भरतेश्वरचक्रवर्त्तीफाग ३०६
भरतेश्वरबाहुबलिघोर १४,११५, १३७, १४२
भरतेश्वरबाहुबलिरास १४, ८९, ११४, १३८, १४२-४४,
भर्तृहरिशतक ९५
भवदेवचरित्र ३७२
भवभावनासूत्र ४५५
भवभावनासूत्रबालावबोध ६०४
भविष्यदत्तकथा ९, २००
भविष्यदत्तरास ३८०, ४९२
भविसयत्तकहा ४१, ४७, ९२ ९०, १०४
भव्यचरित ९२
भावनासन्धि ८८, १२५
भावनासंधिप्रकरण १७०
भावपाहुड ५५
भावप्रकाश ९०
भावप्रभसूरिगीत ३११
भावारिवारणबालावबोध ६०५
भाषाछत्रीसी ४२३
भुवनकीर्तिगीत ४३८
भुवनभानुकेवलीचरित्र ६०८
भुवनसुन्दरीकथा १५६
भूगोलपुराण ५७८
भैरवपद्मावतीकल्प १७६
भोजप्रबन्ध ११, ७३
भ्रमरगीता ३६६
मंगलकलशचौपाई २९३
मंगलकलशरास ४५८, ४९४
मंगलकलशविवाहलउ २५१
मंडपाचलचैत्यपरिपाटी ३५१
मंडलाबद्धरास ८९
मत्स्योदरकुमाररास २९४
मत्स्योदरनरेन्द्रचौपाइ ५२१
मत्स्योदररास ४७६, ४७७
मदनपराजय १४८
मदनपराजयचरित १४८
मदनयुद्ध ४३९
मदनरास ४३९, ५६९
मनुष्यभवलाभगीत ३९५
मंदोदरीसंवाद ५६८
मयणजुज्झ ५८, ४३४
मयणपराजय ५८
मयणपराजयचरिउ १४८
मयणरेहा (मदनरेखा) १२८
मयणरेहारास १२७, ३००, ४४९, ४५१
मयणरेहासंधि ८८
मरुवाणी १०
मलयसुन्दरीरास ३३४, ३६९
मल्लिगीत ५२४
मल्लिचरित्र १५६, १७७
मल्लिणाहकव्व २३३, २३४
मल्लिनाथगीत ४६०, ४६१
मल्लिनाथचरित १४७

मल्लिनाथचरित्र २८८
महर्षिरास ४५०
महानयप्रकाश ६१
महापुराण ३६, ३८, ३९, ४९०
महाबलरास ३६९
महाभारत ३६, ९४
महायज्ञविद्याधरकथा ३८०
महावलमलयसुन्दरीचरित २६२
महावीरगीत २४३
महावीरचरिउ ११९
महावीरचरित ४६९, ४७०
महावीरछंद ५०५
महावीरजन्माभिषेक १२४-२५
महावीररास १५७
महावीरविनती ५६४
महावीरसत्तावीसभव ४१३
महावीरस्तवन २५८, २८१, ३४८, ५०८, ६०७
महीपालरास ३२७
मातृकाचउपइ २१४
मातृकाप्रथमाक्षरदोहक २५५
मातृकाप्रथमाक्षरदोहा १२९
मातृकाफाग २२७
मातृकाबावनी ९५, २१५
माधवानल ८८
माधवानलकामकंदला ९५
माधवानलसम्बन्धप्रबन्ध ३५८
मालिणीपूजाकथा ३८०
मिच्छादुक्कड़संज्झाय ४१३
मिलिट्री मेमॉयर्स १०
मिश्रबन्धु विनोद ९
मीणारेगीत ४०७
मुग्धमेधाकरालंकार २७०
मुग्धमेधालंकार ४६२
मुग्धवबोधऔक्तिक ५.६, ५९०
मुञ्जप्रबन्ध ६८
मुञ्जरासो ९०
मुनिचन्द्रगुरुस्तुति १३८, १३९
मुनिपतिचरित्र ५१८
मुनिपतिचौपाइ ३७६
मुहपतिछत्रीसी ४२३
मुनिपतिराजऋषिचरित ५६८
मूलाचारप्रदीप २८७
मृगांकलेखाचरित्र ४८५, ४८६
मृगाङ्कलेखारास २५६, २५७
मृगापुत्रचौपाइ ५३८
मृगापुत्ररास ४९३
मृगापुत्रसंधि ३४३
मृगावतीचौपाइ ४९७
मेघकुमारास ३३८
मेघदूत ६०, ९६, ११८
मेघेश्वरचरित ५१
मेड़तावर्णन गजल ९७
मेतार्यचौपाइ ३५१
मोहराजपराजय(नाटक) ९२
मोहिनीफागु ५५८
यतिगीतकल्पवृत्ति ५९६
यशस्तिलकचम्पू ४०
यशोधरचरित ५१
यशोधरचरित्र ४०, २८८, ३६०, ४७६
यशोधररास ३८०, ५२४
यशोभद्ररास ४७८, ४८१
यादवरास ४१४
युगप्रधानचतुष्पदिका १८६, १८७
योगशास्त्र ५७

योगशास्त्रबालावबोध २९८, ५९७, ६०८
योगसार ५४, ११८
यौवनजरासंवादरास ५११
रंगरत्नाकरनेमिनाथप्रबन्ध ४७८, ४८३, ५६९
रंगसागरफाग २६९
रतिसारकेवलीचौपाइ ३६९
रत्नचूड़रास ४६३, ४६५
रत्नशेखररास २१३
रत्नसारकुमारचौपाइ ५१०, ५१२
रम्भामंजरी (नाटक) २२४
रम्भामंजरी २५२
रयणावली ५६७
रविव्रतकथा ३८०
रसविलास १२९
रसाउलो ४५५
रहनेमिबेलि (रथनेमिबेलि) ५१९
रहनेमिराजीमती (ग्रंथ) १९८
राउरबेल ५६७
राजतंरगिणी १८८
राजस्थानी साहित्य का सामान्य परिचय ५
राजीमतीउपालंभस्तुति २६२
राणकपुरस्तवन २९८
रात्रिभोजन (ग्रन्थ) १९८
रात्रिभोजनचौपाइ ४०८
रात्रिभोजनत्याग ५६९
रात्रिभोजनरास ३८०
रात्रिभोजनसंज्झाय ४५५
रामकथा ३५
रामचंद्रिका ३७
रामरास ३८०
रामसीतारास ३५९
रावणपार्श्वनाथफागु २५४
रावण-पार्श्वनाथविनती १७९
रावणमंदोदरीसंवाद ४७८, ४८१, ४८२, ५१६
रुद्रालंकारसूत्र २७
रिपुदारणरास ८९
रूपकमाला ४२३, ४२७
रूपकमालाबालावबोध ४२८, ६०६
रेवंतगिरिरास १३९
रैवंतगिरिरास ८८
रोहिणीयप्रबन्धरास ५२०
रोहिणीयप्रबन्धरासगाथा ३९५
रोहिणीरास ३८०, ४९७
रोहिणीस्तवन ४३९
लक्ष्मणचौबीसीपद ४९२
लघुक्षेत्रसमासचौपाइ ४४८
लघुजातक ४३९
ललितांगकुमाररास ३५४, ३५५
ललितांगचरित्र ३३२, ३३३
ललितांगरास ३३३
लाहौरगजल ९६
लीलावइकथा ९२
लीलावइकहा ५७४
लीलावती ५६९
लीलावतीचौपाइ ३४०
लीलावतीरास ३३७
लीलावतीसुमतिविलास ४१९
लीलावतीसुमतिविलासरास ३३७

लुंकटमतनिर्लोढ़नरास ५०४,६०६
लुंकावदनचपेटा ४७८
लुब्धदत्तविनयवतीकथा ३८०
वंकचूलरास ३८०, ५६०
वंदनदोष ४२३
वंभणाधीशपार्श्वस्तवन ४३१
वचनावली ४३९
वज्रस्वामीचौपाइ ५२०
वज्रस्वामीरास ५६९
वड्ढमाणकव्व २३३, २३४
वड्ढमाणचरिउ २००
वणियडागीत ४०७
वत्सराजदेवराजरास ४७६
वयरमुनिसंझाय ९२
वयर (वज्र) स्वामीरास ४०५, ४०६
वयरस्वामीगुरुरास २३८
वयरस्वामीचरित्र १५६, १७७
वरकाणापार्श्वस्तोत्र ४१८
वरकाणास्तवन ४३९
वर्णरत्नाकर ५७७, ५८०, ५८९
वर्धमानकथा २५२, २५३
वर्धमानचरित ४९, २३३
वर्धमानचरित्र २८८
वसंतविलास २७०, ४६६
वसन्तविलासफागु २४०
वस्तुपालतेजपालरास ८८, ३०३, ४२३, ४७२, ५७०
वसुदेवचौपाइ ५३५
वसुदेवहिण्डी २४, ५८, ५७५
वाक्यप्रकाश ५३५
वाक्यपदीय २५
वाक्यप्रकाशऔक्तिक १६५, ३३४-३५
वागड़देशतीर्थमाला ३०१
वाग्भट्टालंकार २७
वाग्भट्टालंकारबालावबोध ६०५
वारव्रतचौपाइ ५६२
वासवदत्ता ५८
वासुपूज्यस्वामिधवल ४३१
विक्रमकुमाररास २९४
विक्रमखापरचरित्रचौपाइ ४६८
विक्रमचरित्रचौपाइ ६०६
विक्रमचरितरास ४४२
विक्रमचरित्रपंचदण्डचौपाइ ३८७
विक्रमपंचदंडचौपाइ ४९७
विक्रमपंचदण्डरास ५६९
विक्रमरास ४११
विक्रमसेनरास ५६९
विक्रमसेनरासचौपाइ ३३५
विक्रमादित्यखापरारास ५६९
विघ्नविनाशीस्तोत्र ११३
विचारग्रंथबालावबोध ५९७
विचारचौसठी ४१२
विजयकीर्तिछन्द ४९०, ५०५
विदग्धमुखमण्डनबालावबोध ६०५
विद्याविलासनरेन्द्रचउपइ ४१६
विद्याविलासनरेन्द्रचउपइ(चौपाइ) ३३२
विद्याविलासपवाड़ो ३०३, ३०४
विद्याविलासपावड़ा ९५
विधिप्रपा १७६
विधिविचार ४२३
विधिशतक ४२३
विनोदकथासंग्रह २७५
विभ्रमटीका १७६
विमलनाथस्तवन ३७३

विमलप्रबन्ध ४७८, ४८१
विमलाचलऋषिजिनस्तवन २८२
विरहदेमाउरीफाग ५५१
विराटपर्व २८६
विलासवइकहा ९२
विल्हणचरितचोपाइ ३९२
विल्हणपंचाशिका ५४९
विविधतीर्थकल्प १७६
विवेकमञ्जरी ११८
विवेकशतक ४२३
विशालकीर्तिगीत ३८९
विंशिका ११३
विहारथियेटरपत्रिका १३४
वीतराग विज्ञप्ति (मरुगुर्जर की रचना) २८२
वीतरागस्तवन ४२३
वीतरागस्तोत्र ५१४
वीरकल्प १५६
वीरजिणेसरपारणउ (काव्य) ११७
वीरलघुस्तवन ४२३
वीरविलासफागु ५०१
वीरस्तवन ३५१, ४२३
वीरांकहम्मीरमहाकाव्य २५२
वीसलदेवरासो ६०, ८९
वीसविरहमानरास २७८
वीसविहरमानजिनस्तुति ४२३
वृत्तरत्नाकरबालावबोध ६०५
वेणिवत्सराजरासविवाहलु ३९३
वेतालपंचवीसी ५४३
वैराग्यकुल ३४५
वैराग्यवीनती ४७८, ४८०
वैराग्यसार ५६, १४६
व्याकरणचतुष्कबालावबोध ५९६
व्युत्पत्तिरत्नाकर ५६५
व्रतकथाकोष २८७
शंखवापीपुरमण्डनश्रीमहावीर स्तोत्र १२०
शंखेश्वरस्तव ५०९
शकुनचौपइ ३०८
शकुन्तलारास ४०८, ४०९
शक्रस्तव १०२
शतपदिका १२६
शतार्थकाव्य १४७
शत्रुञ्जयआदीश्वरस्तव ४९८
शत्रुञ्जयचतुर्विंशतिस्तवन १७२, १७५
शत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटी २५४, ३२५, ३५३, ५७०
शत्रुञ्जयभास ५०४
शत्रुञ्जयमण्डनआदिनाथस्तवन ५०८
शत्रुञ्जयवीनती २३५
शत्रुञ्जयस्तवबालावबोध ६०५
शत्रुञ्जयस्तवन ३४८
शत्रुञ्जयस्तोत्र ४२३
शशिकलापंचाशिका ५४९, ५५०
शान्तरास २६४
शान्तिजिनचरित २००
शान्तिजिनविवाहप्रबन्ध ३२८
शांतिजिनस्तवन १७२, २८२, ४२३, ५०८
शांतिजिनस्तोत्र १७२
शांतिनाथकलश १९३
शांतिनाथचरित २२३

शांतिनाथचरित्र २८८
शांतिनाथदेवरास १९५
शांतिनाथफागु २८८
शांतिनाथबेलि १२४
शांतिनाथरास १२०, १२२,
१२४, १५७
शांतिनाथविवाहलु ३२८, ४३१
शांतिनाथस्तवन ४१३. ५०७-८
शालिभद्रकक्क ९५
शालिभद्रचौपाइ ४७१
शालिभद्रफागु ५२१
शालिभद्रमुनिरास ४६७
शालिभद्ररास १९२, २९५, ५१९
शालिभद्रविवाहलु ४६९, ४७१
शालिभद्रसंज्झाय ५११
शाश्वतसर्वजिनद्विपंचाशिका ५३६
शास्त्रमण्डलपूजा ५४६
शिवचूलागणिनीविज्ञप्ति २७४
शीलइकतीसो ५३६
शीलगीत ३९०
शीलतरंगिणी १५६
शीलतरंगिणीवृत्ति २९७
शीलप्रकाशरास ४९१
शीलरक्षाप्रकाशकरास ४९१
शीलरास ४९१, ४९७
शीलसंधि २३५
शीलविषेशिखामणि २७८
शीलोपदेशमाला ११६
शीलोपदेशमालाबालावबोध
५९९, ६०१, ६०५, ६०८
शुकबहोत्तरी ९५
शुकराजसाहेलीचरित्र ५१०,
५१२
शुकसदेश ९६
शेरीषालकारपार्श्वस्तोत्र १७२
श्राद्धप्रतिक्रमण ४६५
श्रावकधर्मदोहा ५४
श्रावकधर्मप्रकरणबृहद्वृत्ति १९५
श्रावकबृहद्दत्तिचार ५९१
श्रावकमनोरथमाला ४२३
श्रावकविधि ४२३
श्रावकविधिचौपाइ ३५१, ५३९
श्रावकविधिरास १६७. १६८
श्रावकविधिसंज्झाय ४८३
श्रावकव्रतरास ३७४
श्रीकीर्तिरत्नसूरिफागु ३११
श्रीकीर्तिरत्नसूरिविवाहलउ ३४१
श्रीकृष्णगोपीविरहमेलापकफागु
३६६
श्रीगुजरातसोरठदेशतीर्थमाला
३०१
श्रीगुरुगुणषट्पट १४९
श्रीचउवीसवटापार्श्वनाथस्तुति
२५३
श्रीजिनचन्द्रसूरिअष्टकम् १३१
श्रीजिनपतिसूरिधवल ९३
श्रीजिनप्रभसूरिगीत १७९
श्रीजिनप्रभसूरिछप्पय ३११
श्रीजिनोदयसूरिपट्टाभिषेकरास
३०५
श्रीपालचरित ५१, २५२-५३
श्रीपालचरित्र २८८
श्रीपालचौपाइ ३३३
श्रीपालप्रबन्ध ४११
श्रीपालरास ३८०, ४७४, ५४७
श्रीपूज्यवाहनगीत ५५५

श्रीमंधरस्तवन ३५१
श्रीमज्जिनपतिसूरिणांगीतम् १३२
श्रीमद्भागवत ८८, ९०
श्रीवर्धनपुरचैत्यपरिपाटीस्तवन २५३
श्रीवासुपूज्यबोलिका १२४
श्रुतपूजा ५४६
श्रुतस्तोत्र ११३
शृङ्गारप्रकाश ६४
शृङ्गारमंजरी ६४
श्रेणिकराजस्तुति ६०७
श्रेणिकरास ३८०, ५०९, ५२९
श्रेणिकरास (सम्यकत्वसाररास) ५२८
षट्कर्मरास ५४७
षट्कर्मोपदेश ११९
षट्कर्मोपदेशरत्नमाला ५९
षट्दर्शनटीका १५६
षट्दर्शनसमुच्चय २७५
षट्दर्शनसूत्रटीका २९७
षट्पंचाशदिक १५६
षडावश्यकबालावबोध २४७, ६००, ६०७-८
षडावश्यकविवरणसंक्षेपार्थ ६०३
षडावश्यकसूत्रश्रावकप्रतिक्रमण-बालावबोध ६०५
षष्टिशतकबालावबोध ६०१
षष्टिशतकविवरण ६०५
षष्ठीशतकबालावबोध ५९७, ६०१
संक्षेपआराधना ४२३
संखवापीपुरमण्डनश्रीमहावीर-स्तोत्र १५९
संगीतरत्नाकार ८९
संगीतोपनिषद् १५६, २०३
संग्रहणीढालबन्ध ४४८
संग्रहणीबालावबोध ५९३
संग्रामसूरिचौपाइ ४९७
संघपतिचरित १३९
संघरंगप्रबन्ध ४२३
संदेशरासक ३१, ५९, ९६
संदेहरत्नावली ११३
संबोधसत्ताणु ५०१
संभवनाथस्तवन ४३१
संयममंजरी १८७
संवेगरंगशाला १७९
संस्तारकप्रकीर्णकबालावबोध-६०७
सगरचक्रवर्तीकथा ३८०
सच्चरिउमहावीरउत्साह ११३, ११५
सत्तरभेदीपूजागर्भितग्यारहबोल-संग्रह ४२३
सत्तरिसयजिनस्तव ५००
सत्तरीकर्मग्रन्थबालावबोध ६०२
सत्तरीप्रकरणबालावबोध ६००
सदयवत्सप्रबन्ध २५६
सद्भाषितावलि २८८
सनत्कुमारकथा ५९७
सनत्कुमारचरित ४८, १४७
सनत्कुमारचौपाइ ३३९, ३४६
सन्मतिगुणणिहाउ ५१
सन्मतिजिनचरित ५१
सन्मतिनाथचरित ५१

सप्तक्षेत्रीरास २०७
सप्तव्यसनकथा ३८८, ५२४
सप्तव्यसनषट्पद ३९०
सप्तशती ९५
समकितअष्टांगकथारास ३८०
समकितगीत ५६२
समराइच्चकहा १७, २३, ५३, ९२, ५७५
समरारास ७५, ८८ ८९, १५५, १६१, ३५१
सम्भवनाथचरित २२३
सम्मेतशिखरतीर्थनमस्कार १८१
सम्यक्त्वकौमुदी ५१
सम्यक्त्वगीत ५६२
सम्यक्त्वमाइचउपइ ९५, १२२
सम्यक्त्वरास ५३२
सम्यक्त्वस्वाध्याय ४२३
सरस्वतीछंद ५११
सरस्वतीपूजा ५४६
सर्वजिनस्तुति ११३
सर्वाधिष्ठायीस्तोत्र ११३
सवत्थवेलिप्रबन्ध २९४
सागरदत्तरास ३३३, ५०३-४
सातवारनीसंज्झाय ४७८
साधुगुणरत्नमालरास ४८९
साधुप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति १७६
साधुवन्दना ४२३, ४९८, ५६२
सारंगधरपद्धति ९४
सारशिखामणरास ५३४
सारसीखामणरास २८८
सारसिखामणरास ५१०
सालिभद्ररेलुआ १६८
सालीभद्रकक्क १८२, १०३
सावयधम्म दोहा १७, ५६
सासरवासाकोरास ३८०
साहित्यदर्पण ९०
सिंघासणबत्तीसीचौपाइ ४५१
सिंहासनबत्तीसी ५४३
सिंहासनबत्तीसीचौपाइ ४९७
सिद्धचक्रचौपाइ ३३३
सिद्धचक्ररास ३३२, ५४७-४८
सिद्धचक्रश्रीपालरास २६१
सिद्धहेमआख्यान ६००
सिद्धहैम २८, ३१
सिद्धान्तचौपाइ ४७८
सिद्धान्तविचार ६०८
सिद्धान्तसार ३७८
सिद्धान्तसारदीपक २८८
सिद्धान्तसारोद्धार-सम्यक्त्वोल्लास टिप्पनक ६००
सिन्दूरप्रकरण १४७
सिन्दूरप्रकरणबालावबोध ६०६
सिरिथूलिभद्दफागु १५६
सिरिपालचरिउ ३९४
सीमंधरस्तत्र ४९८
सीमंधरस्तवन २०१, २६४, २६७, ३९०, ४३९
सीमंधरस्तवन (अपभ्रंश) २८२
सीमंधरस्वामीशोभातरंग ५२२, ५२३
सुअंधदहमीकहा १६७
सुकुमालचरिउ ४७
सुकुमालचरित्र २८८
सुकुमालरास ३८०
सुकुमालस्वामीरास ४०७
सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी ११७

सुकृतसंकीर्तन ११७
सुकृतसागर १९०, २७०
सुकृतसागर (काव्य) ४६२
सुकोशलचरित ५१
सुगुरुपारतंत्र्यस्तोत्र ११३
सुदंमणचरिउ ४४
सुदर्शनचरित ३७
सुदर्शनचरित्र २८८
सुदर्शनरास ३८०, ४०८ १ ४५७ ५२६
सुदर्शनसेठचौपइ ४३१
सुदर्शनश्रेष्ठिरास ५०७
सुदर्शनश्रेष्ठीरास ५२०
सुधर्मगच्छपरीक्षा ४३१
सुन्दरराजारास ३५४
सुभद्राचौपाइ ४९७
सुभद्रासतीचतुष्पदिका १२७
सुमतिनागिलरास ४३१
सुमतिनाथचरित्र १४७
सुअंधदहमीकथा ५९
सुमतिविलासरास ५६९
सुमतिसाधुविवाहलो ४७८,४८२
सुमित्रकुमाररास ४०९, ४१०
सुरंगाभिधाननेमिफाग ४०१
सुरप्रियकुमाररास ४७२
सुरप्रियकेवलीरास ४७८, ४८१
सुलोचनाचरिउ ४७
सूक्तिमुक्तावली १४७
सूडाबहोत्तरी ९५
सूत्रकृताङ्गबालावबोध ६०३
सूरिमंत्रकल्प २४३
सेणिउचरिउ २३३
सेरीशापार्श्वस्तव ४७८, ४८०
सैद्धान्तिकविचार ४३१
सोजतवर्णनगजल ९७
सोमसौभाग्यकाव्य २९८, ४२२, ५९७
सोलहकारणपूजा २८८
सोलहकारणरास २८८
सोलहकारणव्रतरास ३८०
स्कन्दपुराण ६८
स्तम्भतीर्थ २०९
स्तम्भतीर्थअजितस्तवन २०९
स्तम्भनपार्श्वस्तोत्र १७२
स्तम्भनपार्श्वनाथस्तव ४९८
स्वप्नविचारचौपाइ ५१७
स्नात्रपूजा ३९५
स्नात्रपूजासंग्रह ४८७
स्याद्वादकलिका २७५
स्याद्वाददीपिका २७५
स्थूलभद्रअठावीसो ४१९
स्थूलभद्रकथा १७३
स्थूलभद्रफाग २७१
स्थूलभद्रफागु ९४, १००
स्थूलभद्रबासठी ३७४
स्थूलिभद्रअणवीसो ५६९
स्थूलिभद्रएकवीसा ४७८, ४७९
स्थूलिभद्रएकवीसी ५६९
स्थूलिभद्रकथा ५९
स्थूलिभद्रकवित्त २९९
स्थूलिभद्रचरित २४३, २९७
स्थूलिभद्रफागु ३०२
स्थूलिभद्रबारहमासा ३०३, ३०५
स्थूलिभद्रबासठिओ २३४
स्थूलिभद्रबोली २१८
स्थूलिभद्रमुनीन्द्रच्छंद २६४

स्थूलिभद्ररास १२७, ५६९
हंसराजवच्छराज (रचना) २७८
हंसराजवच्छराजचउपइ ८८
हंसराजवत्सराजचरित्र ५१४
हंसवच्छराजकथा २२५
हंसवत्सकथाचौपइ ३३१
हंसाउली-हंस वच्छचौपई २२५
हनुमन्तरास ३८०
हम्मीरमहाकाव्य २२४, २४२
हरिबलचौपाइ ३६८, ६०६
हरिबलमाछीचौपाइ ४६७, ४६९
हरिबलरास ३४७
हरिवंशपुराण ४१, ४९, ५० ९०
 ९२ ५४२
हरिवंशपुराण (अपभ्रंश) २६९
हरिवंशपुराणरास ३८०
हरिश्चन्द्रप्रबन्ध ४४१
हरिश्चन्द्ररास ३६०, ४०१
हर्षचरित ८९
हितशिक्षाप्रबुद्धरास १४३, १४४
हिन्दी साहित्य का अतीत ४
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास
 ४
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त-
इतिहास १३२
हीयाली ५६२
बारहव्रतसंज्झाय ३२५, ३२६
हीयालीगीत ४७०
हरिविजयसूरिनाबारमास ३५६
हेमतिलकसूरिसंधि २११
हेमरत्नफागु ४९५
हेमरत्नसूरिफागु ५५६
हेमविमलफागु ५४०
हेमविमलसूरिफागु ५६९
हेमविमलसूरिविवाहलु ५६७
हेमविमलसूरिस्वाध्याय ५४०

शुद्धि पत्र

पृ०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	भाषाएं	भाषा
३	२९	and one the	one and the
४	२०	मह	जैन
१३	२	बचते	से बचते
१८	८	उद्घटित	उद्घाटित
२३	३१	in	it
२३	१७	मात्रा नहीं छपी है।	
३०	२८	Tagore	Tagare
३०	२१	गुर्जर	साहित्य
३०	२२	में	से
३१	४	परिमाणतः	परिणामतः
३२	२२	मरिया	भरिया
३९	१९	आर्य	आ० आर्य
४१	९	रविवेष	रविषेण
४२	१७	पाइथ	पाइय
५०	२३	अन्तिम	अन्तिम खेवे
५२	२४	धम्मिय	धम्मिल
५३	२८	घंथुका	धंधुका
५८	३१	गोवर्धत	गोवर्धन
५७	२३	द्वाश्रयमहाकाव्य	द्वयाश्रयमहाकाव्य
७३	६	वही	नहीं
७४	२४	चरित्र	चरिउ
८९	९	भारतेश्वर	भरतेश्वर
९४	६	जंबूस्यामी	जंबूस्वामी
९७	२०	वैसा	वै सः
१००		समय	समयसुन्दर

१००	२९	हृदयग्री ही	हृदयग्राही
१०१	१३	संपात	संघात
१०१	२७	इत	इन
११०	९	कौ	को
११६	२३	वस्तुपल	वस्तुपाल
११८	२	करणा	करुणा
१३१	१८	सुप्रन्न	सुप्रसन्न
१३३	४	अतः	इस
१५३	२	रुम	मरु
१५४	६	म्लेच्छ	म्लेच्छ
१५४	२७	का	पर
१७७	१६	३२६	१३२६
१७९	२७	१३७५	१३७७
१८०	५	लिय	रलिय
१८३	२९	दइ	छइ
१८६	३	माण	मण
१९८	२०	भलिवि	गलिवि
२०२	२	नायक	नामक
२०९	७	पयडीकउं	पयडीकउं
२१६	२०	आससेग	आससेण
२१८	७	की	का
२२७	१६	पानिय	पामिय
२३६	४	नासर	सासर
२३६	४	नर	नइ
२४४	२१	यहबोधि	महबोधि
२४५	३	मरुअेवा	मरुदेवा
२४८	१६	देवरत्म	देवरत्न
२४८	२५	नमिन	नमिय
२४९	२५	मोलिम	भोलिम
२५०	२७	हेय	हेव
२५१	६	धनपाली	धनपालों

२५२	१६	नेयचन्द्र	नयचन्द्र
२५७	९	एक	एह
२५७	२६	भिद्दा	मिच्छा
२६०	२६	मणहरुमा	मणहरुभा
२६५	२७	वे	ते
२६७	१९	वगोयरी	वगोयरो
२७४	२२	माहेर सावलि	मोह रसावलि
२७५	१६	सील	सोल
२७७	१९	जिणोसर	जिणेसर
२८३	१४	तसउ	रासउ
२८४	४	रमण	रयण
२८९	२९	कणसण	अणसण
२८९	२९	मूमीय	मूकीय
२९३	१७	भसौय	भणौय
२९४	१६	थाऊ	घाऊ
२९६	१६	तट्टण	पट्टण
३०३	२४	बीरबाह	बीरनाह
३०३	२४	सूरि	पूरि
३०४	२६	पंचासावइ	पंचाणावइ
३०९	४	सोव्रत	सोव्रन
३१०	२	भणि	मणि
३१६	१	को	के
३३८	६	अपने	का
३४६	३	मणइ	भणइ
३६८	२७	अनेकों	अनेक
३६९	२६	का	की
३७७	१४	तरह	Delete
३७८	५	तवगछ	तपगछ
४०५	८	धनधत्व	धनधन्न
४०९	१३	विवेकसंघ	विवेकसिंह
४१२	१४	में	Delete

४१४	१६	तंत्र	नंद
४२१	१०	वरपत	परबत
४६१	२८	चेतावती	चेतावनी
४७९	२५	भाणेक	माणेक
५११	३२	नातटा	नाहटा
५२७	८	वत्तान्त	वृत्तान्त
५३७	१५	शीत	शील
५६३	६	जंब	जंबु
५७९	११	त्यूं	त्यूं
५८६	२७	अन्त	अन्य
५८९	१३	रत्नाकार	रत्नाकर

लेखक नाम-सूची

(गच्छ उल्लेख सहित)

अंबदेव ७५, ८९, १६१
अगरचन्द नाहटा ३, ७, १५
अजयपाल ११६, १३६
अजित (श्रावक) १४१
अद्दहमाण ५९, ६०
अनंत हंष शिष्य (अज्ञात) ३२६
अनंतहंस (तपागच्छीय) ३२५
अनन्तनारायणसूरि ९२
अबुलफजल १०, ६४
अभयचन्द्रगणि ६०६
अभयतिलकगणि ५५७
अभयदेवसूरि ५४, १०४, ११०, ११९, १२०, १७९
अभयदेवसूरि(बृहद्गच्छीय) १४९
अभयदेवसूरि (मलधारगच्छीय) २७५
अभयदेवसूरि (रुद्रपल्लीयगच्छीय) १२९, २५५
अभयधर्मउपाध्याय ६००
अभयमुनि १२३
अभयसिंहसूरि (तपागच्छीय) २३३
अभिनवगुप्त ८९, १००
अमरकीर्ति ११८
अमरचन्द्रसूरि ११७
अमरप्रभसूरि १२०, १५८, १५९, १८१
अमरसिंह ६२
अमरसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) १३९
अमररत्नसूरि (आगमगच्छीय) ३५४, ५५९
अमरसिंहसूरि ४९६, ५५६
अमरहर्ष (तपागच्छीय) ५२८
अमितगति ५९
अमीपाल (श्रावक, कवि) ३२७
अमीरखुसरो ९५
अरिसिंह (कवि) ११७
अलबेरुनी ६४
अलाउद्दीन खिलजी १५४, १८६ ३२१
असवाल (कवि) २२५
आंबड (दण्डनायक) १४०
आगममाणिक्य (तपागच्छीय) ३२७
आज्ञासुन्दर (खरतरगच्छीय) ३३२
आणंद ३२८
आणंदसूरि (तपागच्छीय) ३२८
आनन्दघन १०४, १०५
आनन्दतिलक १५९
आनन्दप्रमोद (तपागच्छीय) ३२८
आनन्दमुनि (रत्नाकरगच्छीय) ३२९
आनन्दमेरु (पिप्पलकगच्छीय) ३३०
आनन्दवर्धन (खरतरगच्छीय) ३२८
आनन्दविमलसूरि ४९६

आनन्दविमलसूरि (तपागच्छीय) ३२१, ३७६, ४११, ४९०, ५२७
आनन्दसूरि १८१
आनन्दसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) १३९
आमदेवसूरि (संडेरगच्छीय) ५०३
आर्यभट्ट ६२
आसचन्द्र (मड्डाहडगच्छीय) ६००
आसड (कवि) ११७, ११८
आसड (निवृत्तिगच्छीय) १६४
आसायत ३३१
आसायत (जैनेतर कवि) २२५
आसिग (ग्रन्थकार) १२०
आसिगु १२०, १२१
ईश्वरसूरि (संडेरगच्छीय) ३३२, ४१०
उदयकरण २२६
उदयकरण (कवि) १६४
उदयचन्द्र (दिगम्बर मुनि) २८०
उदयधर्म १६५
उदयधर्मसूरि (आगमगच्छीय) ३३४
उदयधर्म (तपागच्छीय) १६५-६७
उदयधर्म (रत्नाकरगच्छीय) ४५८
उदयधर्मसूरि (तपागच्छीय) ४७५
उदयधवल ६००
उदयनन्दि २९८
उदयनन्दिसूरि (तपागच्छीय) ५३२
उदयपद्म (खरतरगच्छीय) ४८४
उदयप्रभसूरि ११७, १३९
उदयभानु (कवि) ५६९
उदयभानु (पूर्णिमागच्छीय) ३३५
उदयरत्न (आगमगच्छीय) ४४८
उदयवल्लभसूरि(रत्नाकरगच्छीय) ३२९, ४५८
उदयवंत २२६
उदयवंत (तपागच्छीय) ३३६
उदयवल्लभसूरि (बृहद्‌तपागच्छीय) ६००
उदयसिंहसूरि १८५
उद्योतनसूरि १०, १५, २०, ५८, ८९
ऋषभदास (कवि) ३५३
ऋषभदेव ७०
ऋषभदेव (१७ वीं शताब्दी के कवि) ४८४
ऋषिवर्धनसूरि (अंचलगच्छीय) ५४२
कक्कसूरि १५४, १६३, ४११
कक्कसूरि (उपकेशगच्छीय) ३३९
कक्कसूरि (कोरंटगच्छीय) ३४०, ४४७
कक्कसूरि शिष्य I, ३३९
कक्कसूरि शिष्य II, ३४०
कण्ण ६१
कडुआ (मुनि) (कडुआगच्छ के संस्थापक) ३३७
कनककवि (खरतरगच्छीय) ३३८
कनकामर (मुनि) २१
कनकामर १०१
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ११५
कबीर ९४, १०५, ३२१

कमलचन्द्र (खरतरगच्छीय) ४५३
कमलधर्म ३४०
कमलधर्म (तपागच्छीय) ५४१
कमलप्रभसूरि ६००
कमलमेरु ५३३
कमलमेरु (अंचलगच्छीय) ३४१
कमलसंयमउपाध्याय (बृहद्खरतरगच्छीय) ६००
कमलसूरि १८६
करमसी ३४५
कर्णसिंह २२६
कर्माशाह ३२१
कल्याणचन्द्र (खरतरगच्छीय) ३४१
कल्याणजय (तपागच्छीय) ३४२
कल्याणतिलकउपाध्याय (खरतरगच्छीय) ३४३
कल्याणमुनि (देवराजवच्छराज चउपई) ९
कल्याणराज (आगमगच्छीय) ३५४
कवियण २२७, ३४४
कान्ह (कवि) २२७
कान्हणदेव १५४
कामता प्रसाद जैन ६
कामराज (कवि) ४९०
कामिल बुल्के (फादर) ३५
कालकसूरि ५३७
कालिदास ५२, ६२, १८८
कालीपदमिश्र ३५
कीरति (पूर्णिमागच्छीय) ३४६
कीर्तिधर ५१
कीर्तिरत्न ६०१
कीर्तिरत्नसूरि (खरतरगच्छीय) ४१८
कीर्तिसिंह ५०
कीर्तिहर्ष (उपकेशगच्छीय) ३४६
कुक्कुरी ६१
कुतुबुद्दीन ऐबक ६३, ६४
कुतुबुद्दीन (सुलतान) १८०
कुन्दकुन्द ५९
कुन्दकुन्दाचार्य २३, १०३, १०४
कुमारपाल ३०, ११४, ११६, १३३, १४०, १४१
कुमुदचन्द्र ११४
कुमुदचन्द्र (दिगम्बर मुनि) १३८
कुलचन्द्र ११९
कुलचरण (तपागच्छीय) ५३५
कुलमण्डन (तपागच्छीय) २२४, ५९६
कुलमण्डनसूरि २५१, ५९०
कुशलकीर्ति १७९
कुशलभुवनगणि ६००
कुशललाभ (कवि) ५५५
कुशलसंयम (तपागच्छीय) ३४७
कुशलहर्ष (तपागच्छीय) ३४८
कृष्ण (चौलुक्य नृपति) ५९
कृष्णमिश्र ९२
केशवदास ३७
केशव (कवि) ५७०
केशवलाल ध्रुव ११६
कोउहल (कौतूहल) ५७४
कोल्हि ३५०
कोशा १२७
कौतूहल २४

क्षमाकलश (आगमगच्छीय) ३५४
क्षमाचन्द्रसूरि (सोरठगच्छीय) ५४३
क्षांतिरंगगणि ३५५
क्षांतिरत्न ६०१
क्षेमचन्द्र (दिगम्बर मुनि) ५०५
क्षेमराज (खरतरगच्छीय) ३५०
खीमा कवि ३५३, ५७०
खेंगार ६४
खेता (कवि) ९६
खेमचन्द्र १००
खेमराज (खरतरगच्छीय) ३५०
गजराज (कवि) ३५६
गजराज (पं०) ३५६
गजलाभ (अंचलगच्छीय) ३५६
गजलाभ (कवि) ५६९
गजसागर (अंचलगच्छीय) ४२८
गजेन्द्रप्रमोद (तपागच्छीय) ३५८
गणपति ३५८
गणपति (ग्रन्थकार) ९५
गयसुकुमाल (मुनि) १२५
गुणकीर्ति ३५९
गुणचन्द्रसूरि २२९
गुणदेव (नाइलगच्छीय) ५४७
गुणदेवसूरि २३०
गुणदेवसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) ५२६
गुणधीरगणि ६००
गुणधीरसूरि (पौर्णमिकगच्छीय) ४०५
गुणनिधान (अंचलगच्छीय) ५६५
गुणनिधान (आगमगच्छीय) ४४८
गुणनिधानसूरि (अंचलगच्छीय) ५२२
गुणभद्रसूरि (बृहद्गच्छीय) २२३
गुणमाणिक्य (ब्रह्माणगच्छीय) ३६०, ४४१
गुणमाणिक्यशिष्य ३६०
गुणमेरु (आगमगच्छीय) ४४८
गुणमेरुसूरि (पौर्णमिकगच्छीय) ४०६
गुणरत्न (तपागच्छीय) २२४, ५९६
गुणरत्नसूरि २३०
गुणरत्नसूरि (आगमगच्छीय) ४००
गुणरत्नसूरि (खरतरगच्छीय) ४१८
गुणरत्नसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) ५२६
गुणरत्नसूरि (नाइलगच्छीय) २३०
गुणरत्नसूरि (पिप्पलकगच्छीय) ३३०
गुणवर्धन (कोरंटगच्छीय) ६०२
गुणसमुद्रसूरि २३०
गुणसमुद्रसूरि (नाइलगच्छीय) ५४७
गुणसमुद्रसूरि (नागिलगच्छीय) ३०८
गुणसमृद्धि महत्तरा २२३
गुणसागरसूरि (पिप्पलकगच्छीय) ४१६
गुणसुन्दरसूरि (मलधारगच्छीय) ५१४

गुणाकरसूरि १६७
गुणाढ्य २४
गुरुनानक ३२१
गेसूदराज वंदानवाज (सूफीसंत-कवि) ५७९
गोरखनाथ (नाथपंथीसाधु) ५७८
गोविन्दचन्द्र (गहड़वाल नृपति) ५७६
गोरवदास (कवि) ३६०
घणचन्द ३६३
घनआनन्द १०४
घेल्ह (कवि) १६८
चउहथ (संडेरगच्छीय) ३६५
चतरुमल (कवि) ३६३
चतुर्भुज ३६६
चण्ड २७
चन्दवरदायी ६३
चन्द्रकीर्ति ३६८
चन्द्रतिलक १५६
चन्द्रधरशर्मा 'गुलेरी' २, ५, १३, १४
चन्द्रप्रभ (नागेन्द्रगच्छीय) १५६
चन्द्रप्रभसूरि ३६७
चन्द्रप्रभसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) १८७, २६४
चन्द्रप्रभसूरि (पूर्णिमागच्छ के संस्थापक) ४९८
चन्द्रलाभ ५६९
चन्द्रलाभ (अंचलगच्छीय) ३६८
चरणप्रमोद (तपागच्छीय) ३२८
चरपटनाथ (नाथपंथीसाधु) ५७८
चांप-चंप (कवि) २३१
चारित्रगणि १६८
चारित्ररत्न २९८, ४६५
चारित्रहंस ५२७
चारुचन्द्र (खरतरगच्छीय) ३६८
चिमनलालदलाल १७
चौरङ्गीनाथ (नाथपंथीसाधु) ५७८
छल्हु (कवि) १६९
छीहल (श्रावक, कवि) ३६९
जगचन्द्रसूरि १५४
जगडू (कवि) ९५
जगडू (श्रावक) १२२, १२३
जगडूशाह १५३
जटमल (कवि) ९६
जम्बूस्वामी १२३
जयकीर्ति १५६, २९७
जयकीर्ति (भट्टारक) ३७२
जयकीर्तिसूरि (अंचलगच्छीय) ५४२
जयकेशरमुनि २३२
जयकेशरसूरि (अंचलगच्छीय) ४२९, ६०३
जयचन्द ६२
जयचन्द्रसूरि २५२, २९८
जयचन्दसूरि (तपागच्छीय) ५३२, ६०१
जयतिलकसूरि (तपागच्छीय) २३२, २३३
जयतिलकसूरि (बृहद्गच्छीय) ५९३
जयतिलकसूरि (रत्नाकरगच्छीय) ४५८
जयदेव (तपागच्छीय) ४७५
जयदेवगणि ८८, १२५

जयदेवमुनि १७०
जयदेवसूरि (खरतरगच्छीय) १४९
जयधर्म (खरतरगच्छीय) १७०
जयधीर (वडतपागच्छीय) ४६४
जयमंगलसूरि १२५
जयमंदिर (वडतपागच्छीय) ३७३
जयमित्रहल्ल २३३
जयमूर्तिगणि २३४
जयराज (पूर्णिमागच्छीय) ३७४
जयराम ५९
जयलाल (मुनि) ३७३
जयवल्लभ ६०१
जयवल्लभगणि २३४
जयवल्लभ (पूर्णिमागच्छीय) ३७४
जयवल्लभ २४
जयविजय (तपागच्छीय) ३७६
जयशेखर ९३
जयशेखरसूरि ९२, ५९१
जयशेखरसूरि (अंचलगच्छीय) २३५, २६४
जयशेखरसूरि (वडतपागच्छीय) ५१०
जयसागरउपाध्याय (खरतरगच्छीय) २३५
जयसागर (खरतरगच्छीय) ४३९
जयसिंह (गहड़वालनृपति) २५२
जयसिंहसिद्धराज ६४, १४०
जयसिंहसूरि ११८, २५४
जयसिंहसूरि (कृष्णर्षिगच्छीय) २४०
जयसुन्दर उपाध्याय ५३४
जयसुन्दरसूरि (वडतपागच्छीय) ५१०
जयहेम (तपागच्छीय) ३७७
जयहेमशिष्य ३७७
जयानन्द ३७६
जयानन्दसूरि २४२
जयानन्दसूरि (तपागच्छीय) २९७
जिनकीर्तिसूरि २९८
जिनकुशलसूरि ५९२ २०२
जिनकुशलसूरि (खरतरगच्छीय) १५६, १७०, १७१, १७२, १७९
जिनचन्द्र (भट्टारक) ३७७
जिनचन्द्रसूरि ५९२
जिनचन्द्रसूरि (बृहद्गच्छीय) १४७
जिनचन्द्रसूरि १४९
जिनदत्तसूरि (खरतरगच्छीय) १४९, १७९
जिनचन्द्रसूरि (खरतरगच्छीय-पिप्पलक शाखा) ४०८, ४०९
जिनचन्द्रसूरि (खरतरगच्छीय) १३५
जिनचन्द्रसूरि १११, १३१, १६८ १७१, १७२, १७९
जिनचन्द्र भट्टा० ३७८
जिनदत्तसूरि ५२, ५३, ९३, ११२, ११७
जिनदत्तसूरि (तपागच्छीय) २९४
जिनदास(ब्रह्म) २८८, ३७८-७९, ३८२-८४, ४४७
जिनधर्मसूरि १३१
जिनपतिसूरि १२४, १३२, १४१, १७९

जिनपतिसूरि (खरतरगच्छीय) १३३, १३५, १४५, १४९
जिनपद्म ९४, ९५
जिनपद्मसूरि ७६, ८८, १७२, १७८, २०२
जिनपद्मसूरि (खरतरगच्छीय) १५६
जिनप्रबोधसूरि १९२
जिनप्रबोधसूरि (खरतरगच्छीय) १७९
जिनप्रभसूरि ८८
जिनप्रभसूरि (खरतरगच्छीय) ४५३
जिनप्रभसूरि (लघुखरतरगच्छीय) १५५, १७५, १७७, १७८
जिनप्रभाचार्य ९२
जिनभद्रसूरि २६०
जिनभद्रसूरि (खरतरगच्छीय) २४३, २९८
जिनमण्डन २९८
जिनमाणिक्यगणि (तपागच्छीय) ३२५
जिनमाणिक्यसूरि (खरतरगच्छीय) ३३८, ५०४
जिनरक्षित ११३
जिनरत्नसूरि ५१०
जिनरत्नसूरि (खरतरगच्छीय) २४४
जिनरत्नसूरि (तपगच्छीय) २४४, २९५
जिनरत्नसूरि (बृहद्तपागच्छीय) ३८६, ४५८, ४५९
जिनराजसूरि २४३
जिनराजसूरि (खरतरगच्छीय) २३८
जिनवर्द्धन ३८५
जिनवर्धनसूरि २४४
जिनवर्धनसूरि (खरतरगच्छीय) २३८, २९८, ४१६
जिनवर्धनसूरि (खरतरगच्छ की पिप्पलक शाखा के प्रवर्तक) ३३२
जिनवर्द्धमानसूरि २४४
जिनवल्लभ १२३
जिनवल्लभसूरि ५२, १११, १२०
जिनवल्लभसूरि (खरतरगच्छीय) १७९
जिनवल्लभसूरि (बृहद्गच्छीय) १४९
जिनविजय (मुनि) ७, १७, १२१
जिनशेखर २४५
जिनशेखरसूरि (तपागच्छीय) २४४, २९५
जिनसमुद्रसूरि (खरतरगच्छीय) ३४३
जिनसागरसूरि (खरतर-पिप्पलक शाखा) ४०८, ४०९
जिनसाधुसूरि (बृहद्तपागच्छीय) ३८६
जिनसिंहसूरि (खरतरगच्छीय) ४३९
जिनसिंहसूरि (लघुखरतरगच्छीय) १५५, १७५, १७७
जिनसुन्दरसूरि (वडतपागच्छीय) ५१०
जिनसूरि (तपागच्छीय) ६१०
जिनसेन (दिग० यशःकीर्ति के शिष्य) ३८६

जिनहर -? ३८७
जिनहर (कवि) ५६९
जिनहर्षसूरि (खरतरगच्छीय-
पिप्पलक शाखा)४०८, ४०९
जिनहंसगणि (तपागच्छीय) ३२७
जिनेश्वरसूरि ११०, १११, १४९
१५१, २२४
जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) १२४
जिनेश्वरसूरि (खरतरगच्छीय)
१२८, १७९
जिनोदयसूरि २४६
जिनोदयसूरि (खरतरगच्छीय)
२५५
जीवंधरब्रह्म (दिगम्बर) ३८८
जीवराज ३८९
ज्ञानकलश मुनि ३०५
ज्ञानकीर्ति २९८
ज्ञानचन्द्र (सोरठगच्छीय) ५४३
ज्ञानशील (तपागच्छीय) ५१७
ज्ञानसागर (तपागच्छीय) २२४,
५९६
ज्ञानसागर (नाइलगच्छीय) ५४७
ज्ञानसागरसूरि ४८६
ज्ञानसागरसूरि (रत्नाकरगच्छीय)
३२९, ४५८
ज्ञानसागरसूरि (वडतपगच्छीय
मुनि) ४८५ ४८६
ज्ञानहर्ष ११४
ज्ञानाचार्य ५४९, ५५०
ज्योतिरीश्वरठाकुर ५७७
टाड, (कर्नल) राजस्थान का
इतिहास १०
टामस (जार्ज) १०
टेसीटोरी [विदेशी विद्वान्] ७२
ठक्कुर फेरु १८६
ठकुरसी [दिगम्बर श्रावक कवि]
३८९
डामर [कवि] ३९३
डुगर ३८९
डूंगर ३८९
डूंगर [कवि] २४६
डूंगरसिंह ५०
तारानाथ २७
तरुणप्रभसूरि १५६, २०२,
२४६-४७, ५९२
तिलकसूरि २७३
तिलकसूरि[मलधारगच्छीय]२७५
तिलोत्तमा [अप्सरा] १२४
तुलसीदास ३७, ४०२
तेजपाल [दिगम्बर मुनि] ५०५
तेजवर्द्धन २४७
तैलप ५७
त्रिभुवनपाल [नृपति] ११६
त्रिभुवनपाल १५३
थूलिभद्र ९९
दण्डी २७, ५७४
दयासागर ४१९
दयासागरसूरि २४७
दयासिंहगणि (बृहद्तपागच्छीय)
५९३
दल्ह ३९२
दशरथ (नृपति) १२०
दानवर्धनसूरि (तपागच्छीय)
५४०
दामोदर ३९४
दामोदर (कवि) ३९३-९४, ५७६

दामोदरभट्ट (उक्तिव्यक्ति प्रकरण) १५, १९
दामोदर मिश्र ६४
दिवाकर (बौद्ध विद्वान्) १०९
दुर्लभराज (चौलुक्य नृपति) ११०
देपाल ३९४
देपाल कवि ४६६, ४८७
देल्हड़ १२५
देवकलश (उपकेशगच्छीय) ३९८
देवकीर्ति ३९९
देवगुप्तसूरि (उपकेशगच्छीय) १६३, ४४९
देवगुप्तसूरि (द्विवंदणीकगच्छ) ५१८
देवचन्द्र ५४
देवचन्द्रसूरि १७९
देवदत्त २४८
देवपाल ९५
देवप्रभगणि ३९९
देवप्रभगणि (हर्षपुरीयगच्छीय) २४८
देवरत्न (आगमगच्छीय) ४००
देवरत्नसूरि २४३
देवरत्नसूरि (शिष्य) २४८
देवसागर ५६५
देवसुन्दर २५०
देवसुन्दर (जीराउलागच्छीय) ४००
देवसुन्दरसूरि (तपागच्छीय) २२४, २९७, ५९६
देवसुन्दरसूरिशिष्य २५०
देवसूरि ११४
देवसूरि (बृहद्गच्छीय) १३९, ४९७
देवसेन ५६, ७६, ११८
देवसेनगणि ४७
देवेन्द्रकीर्ति ४९०
देवेन्द्रकीर्ति (कवि) ४९०
देवेन्द्रकीर्ति (भट्टारक) ५०१
देवेन्द्रसूरि १२५, १५४
दौलतविजय (तपागच्छीय) ४०१
धनंजय ६४, ११९
धनदेवगणि ४०१, ४०२
धनदेव (तपागच्छीय) ५२१
धनपाल ५८, ९९, १०४, ११४, ११९, १६८, २५१
धनपाल I, ४१, ४२, ४३
धनपाल II, ४१, ४२, ४३
धनपाल III, ४१, ४९
धनपाल (कवि) ६४, ९२, ५८७
धनप्रभ २५०
धनरत्नसूरि (वडतपागच्छीय) ४१४, ४७३, ५३१
धनराज २५१
धनसारपाठक (उपकेशगच्छीय) ४०३
धनिक ६४
धनसेन २७
धरणाशाह (श्रेष्ठी) ५५७
धर्म १२५
धर्म (कवि) १२५, १८१
धर्मकलश १७९
धर्मघोषसूरि १५५
धर्मघोषसूरि (अंचलगच्छीय) १२६

धर्मघोषसूरि (पूर्णिमागच्छीय) ४९८
धर्मदास ४०४
धर्मदासगणि १६५
धर्मदेव (कवि) ५६९
धर्मदेव (पौर्णमिकगच्छीय) ४०५
धर्मदेवगणि ६०१
धर्मप्रभाचार्य १३३
धर्मरुचि (उपकेशगच्छीय) ४०६
धर्मसमुद्र ५६९
धर्मसमुद्र (वाचक) ४०८
धर्मसागर (संडेरगच्छीय) ४१०
धर्मसागरसूरि (संडेरगच्छीय) ३६५
धर्मसिंहगणि (तपागच्छीय) ४११
धर्मसुन्दर ४११
धर्मसुन्दर वाचक (खरतरगच्छीय-पिप्पलकशाखा) ४०८
धर्मसूरि १३३, १८१
धर्महंस (उपकेशगच्छीय) ४०६
धवलदेव १४०
धारिसिंह १८१, २१८
नंदिरत्न ४६५
नंदिरत्न (तपागच्छीय) २६९
नन्द (नृपति) १२७
नन्दिवर्द्धनसूरि ४१४
नन्नसूरि ६०२
नन्नसूरि (कोरंटगच्छीय) ४११, ६०१
नमिसाधु २७
नयचन्द्र २५२
नयचन्द्रसूरि २२४, २४२, ५८९
नयनन्दि ४४
नयसिंहगणि (वडतपागच्छीय) ४१४
नरपति ४१४
नरशेखर (पिप्पलकगच्छीय) ४१६
नरसिंह मेहता ५७०
नरसीमेहता २३५
नरसेन २५२
नरोत्तमस्वामी ८१
नर्मद (कवि) १५५
नल (नृपति) १२१
नाथूराम प्रेमी ७, ८
नानाक पण्डित ११७
नामदेव ३२१
नामवरसिंह २५
नेमिकुञ्जर ४१७
नेमिचन्द्र भण्डारी १२८, १४९
नेमिचन्द्र भण्डारी (कवि) १०४
न्यायसुन्दर उपा० ४१६
न्यायसुन्दरउपा० (खरतरगच्छीय) ४१६
पउम (कवि) १८२
पतंजलि २५
पद्म (कवि) १८२
पद्मकीर्ति ४६, ९२
पद्मगुप्त ६४
पद्मतिलक २५३
पद्मदेव ७६
पद्मनंदि २३४, ४५४
पद्मनन्दि (सरस्वतीगच्छ के भट्टारक) २८७
पद्मनाथ १५४, ४१८, ५९५
पद्ममन्दिरगणि (खरतरगच्छीय) ४१८

पद्मरत्न १८४
पद्मश्री ४२०
पद्मसागर ५६९
पद्मसागर (मम्माहड़गच्छीय) ४१९
पद्मसुन्दर ९२
पद्माणंदसूरि १६७
पद्मानन्दसूरि २५३
पद्मानन्दसूरि (धर्मघोषगच्छीय) ३०१
परबतभावसार ४२१
परबतसिद्ध (कवि) ५७८
परमानन्द २५४
परमर्दिदेव (चंदेलनृपति) ६३
पल्ह (कवि) ११३
पल्ह कवि ११८
पहुराज (खरतरगच्छीयश्रावक) २५५
पाणिनि २२
पातो (परबत या पातु) ४२०
पादलिप्तसूरि ५८
पादलिप्ताचार्य २४, ५७५
पार्श्वचन्द्र ४३०, ४११, ६०३
पार्श्वचन्द्र (नागोरीतपागच्छीय) ६०३
पार्श्वचन्द्रसूरि ४२२, ४९०, ४९१, ५६९, ५७०,
पार्श्वचन्द्र (पार्श्वचन्द्रगच्छ के संस्थापक) ४२२, ५०८
पाल्हण (कवि) १२९, १३०, १३१, १३३
पिशेल ३०
पी० डी० गुणे १७
पुण्यनन्दि ४२७, ६०६
पुण्यनंदि (खरतरगच्छीय) ४२७, ४२८
पुण्यरत्न ४२८, ४९१, ५६९
पुण्यरत्न (अंचलगच्छीय) ४२८
पुण्यरत्नसूरि ५१५
पुण्यराज २९८
पुण्यलब्धि ४२९
पुण्यसागर १३१, ४१७, ५३५
पुलकेशिन (चालुक्य नृपति) ६२
पुष्पदंत (कवि) ७५
पुष्पदन्त १७, ३८
पृथ्वीचन्द्रसूरि (रुद्रपल्लीयगच्छीय) १२९, २५५
पृथ्वीधर १५३
पृथ्वीपाल (अमात्य) १४७
पृथ्वीराज (चाहमाननृपति) १४९, २५२
पृथ्वीराजचौहान ६३
पेथड़कुमार १५३
पेथो (अंचलगच्छीय) ४२९
प्रज्ञातिलक १८४, १८५, १८६
प्रज्ञातिलक (कवि) ८८
प्रतिष्ठासोम (तपागच्छीय) ४२२
प्रद्युम्नसूरि १११
प्रद्युम्नसूरि (बृहद्गच्छीय) १२७
प्रबोधचन्द्र बागची ७०
प्रभाचन्द्र (भट्टारक) ३१९, ४३०
प्रसन्नचन्द्र २५४
प्रसन्नचन्द्रसूरि २४२, २५२
प्राणशंकर उपाध्याय १२

फार्बस १२
फिरोजशाह २२४
फिरोजशाहतुगलक २४७, ३१९
फेरू (ठक्कर) १८६
बनारसीदास (कवि) ९८, १००, १०४, ३१७
बप्पभट्टिसूरि ५४
बाण ८९
बाणभट्ट ५३८
बाबूरामसक्सेना १७
बालचन्द्र (माथुरसंघीयभट्टारक) २८०
बालचन्द्रसूरि ११८
बाहड़ (मंत्री) २४७
बुद्धिसागरसूरि ११०
बुद्धिसागरसूरि (ब्रह्माणगच्छीय) ३६०, ४४१
बुधराज ४३९
बुधराज (कवि) ५६९
बूचराज (कवि) ४९०
ब्रह्मऋषि ४९१
ब्रह्म (कवि) ४९०
ब्रह्मचन्द्रगणि ११३
ब्रह्मजयसागर (कवि) १०५
ब्रह्मधर्मरुचि ४०७
ब्रह्मबूचा ४३४
ब्रह्ममुनि (विनयदेवसूरि, सौधर्मगच्छ के प्रवर्तक) ४३०
भक्तिलाभ (खरतरगच्छीय) ४३९
भक्तिविजय ४४०
भगवानदास १००
भट्टारकज्ञानभूषण ५४५
भट्टारकभुवनकीर्ति ५४५
भत्तउ १३२
भत्तउ (कवि) १३४, १३५
भत्तु १३२
भरत ५२
भरतेश्वर (नृपति) १२०
भर्तृहरि २७, १८८
भवभूति ३१
भानुचन्द्र (लोंकागच्छीय) ४४१
भामह २७
भारतेन्दु ९५
भारवि ५२
भालण (कवि) ५७०
भावउपाध्याय (ब्रह्माणगच्छीय) ४४१
भावकलश ४४३
भावदेवसूरि(खंडिल्लगच्छीय) २२४
भावप्रभ ४४४
भावसागरसूरि (अंचलगच्छीय) ४४४-४५, ५६४,५६६,४७४
भावसागरसूरि शिष्य ४४४
भावसुन्दर (तपागच्छीय) २५८
भावो (भावड) ४४३
भास्करवर्मा ६५
भीम २५९
भीम (कवि) २५९, ५७०
भीम (श्रावक, कवि) ४४६
भीमदेव (द्वितीय) ११६
भीमराज ४४६
भीमसेन [नन्दीतटशाखा के मुनि] ५२३
भुवनकीर्ति [कोरंटगच्छीय] ४४७
भुवनकीर्ति [भट्टारक] ४३४, ४४७

भुवनसुन्दरसूरि २९८
भुसुक ६१
भूधरदास [कवि] ९८
भैयाभगवतीदास १०४, ३१७
भैरद्दास [कवि] २६०
भोज [परमार नृपति] ६४
मंगलधर्म [रत्नाकरगच्छीय] ४५४
मंडलिक १८९, २६९
मतिशेखर [उपकेशगच्छीय] ४४९
मतिसागर [आगमगच्छीय] ३३४, ४४८
मदनमोहनमालवीय २०
मनरूप [कवि] ९७
मम्मट १००, ११८
मलयचन्द[पूर्णिमागच्छीय] ४५१
महमूदगजनवी ६२, ११४
महानन्दि [मुनि] २६३
महावीर १०९
महिंदसूरि १२६
महिंदु [महाचन्द खरतरगच्छीय] ४५३
महिमराज ४१९
महिमासागर [खरतरगच्छीय] ३२८
महिमासागरउपाध्याय [अंचलगच्छीय] ६०३
महीचन्द्र ४५३
महीरतन [वडगच्छीय] ४९७
महीरत्न ६०३
महेन्द्रप्रभसूरि ५९१, ५९६
महेन्द्रप्रभसूरि[अंचलगच्छीय] २६४
महेन्द्रसूरि १२५, १२६, १८१
महेन्द्रसूरि [अंचलगच्छीय] १२६
महेन्द्रसूरि [कृष्णर्षिगच्छीय] २२२, २२४
महेन्द्रसूरि [नागेन्द्रगच्छीय] १३९
महेन्द्रसूरि [बृहद्गच्छीय] १२६
महेश्वरसूरि ११७, ११८, १५६, १८७
मांडण [कवि] २३२
मांडणसेठ [कवि] २१६
मांधाता [नृपति] १२१
मांडणसेठ २६१
माइल्ल धवल ११८
माघ ५२
माणिक्यचन्द्रसूरि ११८, ५९४
माणिक्यचन्द्रसूरि [अंचलगच्छीय] २६१
माणिक्यचन्द्रसूरि [पूर्णिमागच्छीय] ३७४
माणिकप्रभसूरि १८५
माणिक्यराज ४५४
माणिक्यसुन्दरगणि[बृहद्गच्छीय] ४५५
माणिक्यसुन्दरसूरि २३४, ५९३, ९४, ५९६
माणिक्यसुन्दरसूरि[अंचलगच्छीय] २६१, २६३
माणिक्यसुन्दरसूरि[वृद्धतपागच्छीय रत्नसिंह के शिष्य] ६०४
माणिक्यसूरि २६२, ५९४
माघ ३९
मायाविजय ९२
मार्कण्डेय २७
मालदेव [कवि] १००
मालदेव [श्रावककवि] २६३

मिश्रबन्धु ९
मीराबाई २३५
मुञ्ज [परमार नृपति] ६४,१७०
मुनिचन्द्रसूरि [पूर्णिमागच्छीय भीमपल्लीशाखा] ३७४,४५५
मुनिदेवसूरि २२३
मुनिदेवसूरि [वडगच्छीय] ४९७
मुनिप्रभसूरि ६००
मुनिभद्रसूरि [बृहद्गच्छीय] २२३
मुनि (मति) सुन्दरसूरि [मम्माहडगच्छीय] ४१९
मुनिरत्नसूरि [पूर्णिमागच्छीय] ४९८
मुनिसार [वडगच्छीय] ४९७
मुनिसिंहसूरि [आगमगच्छीय] ३३४
मुनिसिंहसूरि [वडतपागच्छीय] ४१४
मुनिसुन्दरसूरि २९८
मुनिसुन्दरसूरि [तपागच्छीय] २६४, ४५७, ४७६, ५०७, ५२०, ५३२, ५९६
मुनीश्वरसूरि [वडगच्छीय] ४९७
मुहम्मद गोरी ६३
मुहम्मद तुगलक १७५, ५७९
मुहम्मदशाह २१७
मूलप्रभसाधु [भावप्रभ] ४५५
मूलराज ६४
मूलराज [चौलुक्यनृपति] ५९
मेघराज [कवि] ५१४
मेघो [कवि] २६८
मेरुगणि [आगमगच्छीय] ४५६
मेरुतुंग ६४,९४,११९,२२३,४५५
मेरुतुंग [नागेन्द्रगच्छीय] १५६,१८७
मेरुतुंगसूरि ५९१, ५९३, ५९५, ५९६
मेरुतुंगसूरि [अंचलगच्छीय] २३५, २६१, २६४
मेरुनन्दन ७३
मेरुनन्दन [कवि] ९३
मेरुनन्दनगणि [खरतरगच्छीय] २६४
मेरुप्रभ [वडगच्छीय] ४९७
मेरुसुन्दर उपाध्याय [खरतरगच्छीय] ४५७
मेरुसुन्दर [खरतरगच्छीय वाचनाचार्य रत्नमूर्ति के शिष्य] ६०५
मेलिग(कवि)[तपागच्छीय] ४५७
डा० मोतीलाल मेनारिया ९, १५
मोदमंदिर [कवि] १८९
मोहनलाल दलीचंद देसाई १, ७, ८
यक्षदेवसूरि [उपकेशगच्छीय] १६३
यशःकीर्ति ४९, २६९, ५९२
यशःकीर्ति [प्रथम] १३२
यशःकीर्ति [भट्टारक] ५२४
यशोधर [कवि] ४९०
यशोधर [काष्ठासंघीय मुनि] ४५९
यशोधर [भट्टारक] ५२४
यशोभद्रसूरि ५४
योगीन्दु ५४, ५६, १०३, १४६
योगीन्दु [रचनाकार] ११८
रंगरत्नोपाध्याय ६०६
रणमल्ल ५१
रत्नकीर्ति १००

रत्नकीर्ति [खरतरगच्छीय] ४२७
रत्नपाल १७७
रत्नप्रभ ८८
रत्नप्रभसूरि ११७, ११८, १३३
रत्नप्रभसूरि [उपकेशगच्छीय] १६३
रत्न [श्रावक] १४१
रत्नमंडनगणि १९०
रत्नमंडनगणि [तपागच्छीय] २६९, ४६२
रत्नमूर्ति वाचनाचार्य [खरतर-गच्छीय] ४५८
रत्नरंगउपाध्याय ४२८
रत्नवल्लभ २७१
रत्नशेखर ४६५
रत्नशेखरसूरि २७३, २९८, ३१९
रत्नशेखर [तपागच्छीय] ३२५, ३२७, ४७६, ५२९, ५३२ ५३९, ६०१
रत्नसमुद्र [वडतपागच्छीय] ५१०
रत्नसिंह [रत्नाकरगच्छ के संस्थापक] ३२९
रत्नसिंह [रत्नाकरगच्छीय] ४५८
रत्नसिंहसूरि १३३, ४६३, ४६५
रत्नसिंहसूरि [तपगच्छीय] १६५, १६६-६७, ४९५
रत्नसिंहसूरि [बृहद्तपागच्छीय] ४५५
रत्नसिंहसूरि शिष्य ४६३
रत्नसुन्दर ४६४
रत्नसुन्दर [बडतपगच्छीय] ४६४
रत्नाकरमुनि २७१
रत्नाकरसूरि २७२, ४६६
रयणशाह [श्रावक कवि] १३३
रयघू ५०
रल्ह १९०
रवीन्द्रनाथ ठाकुर २०
राजकीर्ति १९३
राजतिलक [कवि २७३
राजतिलक [मुनि] १९२, १९३
राजतिलकगणि [पूर्णिमागच्छीय] ४६७
राजरत्नसूरि[खरतरगच्छीय] ४६७
राजरत्न [वडगच्छीय] ४९७
राजलक्ष्मी [तपागच्छीय साध्वी] २७४
राजवल्लभ १९३
राजशील [कवि] ५६९
राजशील [खरतरगच्छीय] ४६८
राजशील [खरतरगच्छीय साधुहर्ष के शिष्य] ६०६
राजशेखर २४, २६
राजशेखरसूरि ९४
राजशेखरसूरि [मलधारगच्छीय] २०३, २२३, २७५
राजशेखरसूरि [मलधारी] १५६
राजसुन्दर ४१७
राजहंस ६०६
राजहेमगणि ४२९
राजाराम जैन, डा० ५१
राजेन्द्रचन्द्रसूरि ५९२
राणासांगा ३२१
रामकलशसूरि[जीराउलागच्छीय] ४००

रामचन्द्र १४६
रामचन्द्र-गुणचन्द्र ११६
रामचन्द्र शुक्ल आचार्य १६, १०७, १०८
रामचन्द्रसूरि १२५
रामभद्र १९३
रामसिंह [मुनि] १७, ५५
रामसिंह तोमर डा०, ३८, ४१
रामसेन [नन्दीतटगच्छीयआचार्य] ४९३
राहुल सांकृत्यायन ३७, ५४
रुद्रट २६, २७
लक्खण १३५
लक्ष्मीकल्लोल ४७२
लक्ष्मीचंद [कवि] ४९०
लक्ष्मीचन्द ५६
लक्ष्मीचन्द्र [भट्टारक] ५०१
लक्ष्मीतिलक १५७
लक्ष्मीतिलक उपाध्याय १९५
लक्ष्मीधर २७, ७२
लक्ष्मीरत्नसूरि ४७२
लक्ष्मीसागर २९८, ४७२
लक्ष्मीसागर (तपागच्छीय) ३२१, ३२५, ५२१, ५२९
लक्ष्मीसागरसूरि [तपागच्छीय] ३२७, ४७६, ५२७, ५३५, ६०१
लक्ष्मीसागरसूरि शिष्य ४७२
लक्ष्मीसेन [काष्ठासंघ के नन्दीतट शाखा के आचार्य] ५२३
लखमण [लक्ष्मण] ४६९
लखमसी १३५, ३७, १९४, ३२१
लखमसी १३७, १९४
लखमसीह ४७१
लब्धिसागरसूरि [वडतपागच्छीय] ४१४, ४७३-७४, ५३१
ललितकीर्ति ४७१
लाखमदेव १३७
लाखम [लक्ष्मणदेव] १९४
पं०लाखू या लक्खण ४९, १३६
लाखू १३५
लाभ मंडन [आंचलिकगच्छीय] ४७४
लालचन्द ९७
पं० लालचंद भगवानदास गांधी ५३
लावण्यदेव [तपागच्छीय] ४७५
लावण्य प्रसाद ११६
लावण्यरत्न [आगमगच्छीय] २७८
लावण्यरत्न [तपागच्छीय] ४७६, ४९३, ५२१
लावण्यसमय ३१७, ३१९, ५६९
लावण्यसमय [तपागच्छीय] ४७७
लावण्यसिंह [खरतरगच्छीय] ४८४
लीधो ४८४
लुइपा ६१
लुडविग् प्रो० १४६
लोंकाशाह ३२१
वच्छभण्डारी [कवि] २५६
वच्छभण्डारी [श्रावक, कवि] ४८७, ४८८
वच्छ (वाछो) [वडतपगच्छीय श्रावक] ४८५
वज्रसेन १३८

वज्रसेनसूरि ११५, १३७
वज्रसेनसूरि [राजगच्छीय] १४२
वरदत्त १३७
वरसिंह ४८८
वररुचि १७, २७
वर्द्धमानसूरि ११७
वल्लभभाई पटेल ११
वसंताचार्य ६४
वस्तिग [कवि] ११६, २७७
वस्तिभ ११६
वस्तुपाल ११६
वस्तुपाल-तेजपाल ११६
वस्तुपाल [महामात्य] ११४, १३९
वाक्पतिराज २४
वाग्भट्ट २७, १८८
वाण [महाकवि] १०९
वादिदेवसूरि ११२, ११४, ११५, ११८, १२७
वादिदेवसूरि [बृहद्गच्छीय] १३८
वासण [कवि] ४९६, ५७०
वासण [तपागच्छीय] ४८९
वास्तुसार १८६
विक्रमादित्य [नृपति] ५९९
विजयकीर्ति भट्टारक ४९०, ५०५, ५८६
विजयगणि ४९०
विजयचन्द्रसूरि [पूर्णिमागच्छीय] ३४६
विजयदानसूरि ४९६, ५००
विजयदानसूरि [तपागच्छीय] ५२८
विजयदेवसूरि ४३०, ४९१
विजयभद्र [आगमगच्छीय] २७८
विजयसिंह ४९०
विजयसिंहसूरि [बृहद्गच्छीय] १४७
विजयसेन [काष्ठासंघीय] ४५९
विजयसेनसूरि ८८, १३९
विट्ठलनाथ ५७९
विद्धणु [श्रावक कवि] २८०
विद्याकीर्ति ६०६
विद्यातिलकसूरि १५६
विद्याधर [कवि] ४९३
विद्यापति १०७, १५६
विद्यापति १
विद्यापति ठाकुर ५७७
विद्याभूषण भट्टारक ४९२
विद्यारत्न [तपागच्छीय] ४९३
विद्यासागरउपाध्याय [तपागच्छीय] ५२८
विनयचंद भट्टारक ४९५
विनयचंद [तपागच्छीय रत्नसिंह सूरि-शिष्य] ४९४, ४९५
विनयचन्द्र ९४, १६५, १६६
विनयचन्द्र [माथुरसंघीयभट्टारक] २८०
विनयचन्द्रसूरि ९९, १९८
विनयचूलागणिनी ४९५
विनयचूला [साध्वी] ५५६
विनयतिलक ३३५
विनयदेवसूरि [ब्रह्ममुनि] ४३०
विनयप्रभ [खरतरगच्छीय] २८१
विनयभाव ४९६
विनयमूर्ति ५३३

विनयरत्न [वडगच्छीय] ४९७
विनयसमुद्रवाचक [उपकेशगच्छीय] ४९७
विमलगणि ४४२
विमलधर्मसूरि ५६४
विमलभाव [तपागच्छीय] ५२८
विमलसूरि २३, २४
विमलसेन [नन्दीतटगच्छीय] ४९३
विमलसूरि [ब्रह्माणगच्छीय] ३६०, ४४२
विमलेन्द्रकीर्ति ५४५
विल्हण ५४९
विवेकरत्नसूरि [खरतरगच्छीय] ४६७
विवेकसमुद्र १५६
विवेकसागर २९८
विवेकसिंह [खरतगच्छीय-पिप्पलकशाखा] ४०८,४०९
विशालराज [तपागच्छीय] ५३२, ६०१
विशालराज तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य] ६०६
विशालसुन्दर [तपागच्छीय] ५००
विशालसुन्दर-शिष्य ५००
विश्वनाथप्रसाद मिश्र ४
विश्वसेन [नन्दीतटगच्छीय] ४९३
विश्वसेन भट्टारक ४९३
वीरचद ५९, २६३
वीरचंद भट्टारक ५०१
वीरचंद्रसूरि [सोरठगच्छीय] ५४३
वीरधवल ११६ ११७, २८५
वीरनंदन २८५
वीरप्रभ १४१, १९९
वीरप्रभ [मुनि] १२४
वीरप्रभसूरि [पिप्पलगच्छीय] ३०३
वीरसिंह ४८८
वीरसेन [भट्टारक सोमकीर्ति के शिष्य] ५२४
वीसलदेव १५३
वीसलदेव [नृपति] ११६
वुच्चराय ५८
शंकराचार्य ६३
शबर ६१
शशांक ६५
शान्तिपद ६१
शान्तिभद्र २००, २०१
शान्तिमंदिर [खरतरगच्छीय] ५३६
शान्तिविजय [तपागच्छीय] ४०१
शान्तिसूरि ११४, २०१, २८५
शान्तिसूरि [नागेन्द्रगच्छीय] १३९
शांतिसूरि [पिप्पलकगच्छीय] ४१६
शांतिसूरि [संडेरगच्छीय] ३३३, ५०३, ५०४
शामलभट्ट ५१७
शार्ङ्गदेव ९०
शालिभद्र [सालिभद्र] १४२
शालिभद्रसूरि ११५
शालिभद्रसूरि [पूर्णिमागच्छीय] २८६
शालिभद्रसूरि [बृहद्गच्छीय] १३८

शालिभद्रसूरि [राजगच्छीय] १४२
शालिसूरि २८६
शितिकण्ठाचार्य ६१
शिवचूलामहत्तरा [तपागच्छीय] २७४, २७५
शिवदास २८६
शिवदेवसूरि १२५, १७०
शिवसुन्दर ६०६
शिवसुन्दर [खरतरगच्छीय] ५०४
शिवसुन्दरगणि ३२७
शीलसुन्दरसूरि [उपकेशगच्छीय] ४४९
शीलांकाचार्य ५१०
शुभचन्द्र २८८
शुभचन्द्र [कवि] ४९०
शुभचन्द्र भट्टारक ५०१, ५०५
शुभरत्न २९८
शुभवर्धन ५०७
शुभवर्द्धन-शिष्य ५०७
शुभवर्धनसूरि ५६९
शुभशीलगणि [तपागच्छीय] ५०७
श्रीचन्द्र ७५
श्रीचन्द्र कवि ५९
श्रीचन्द्रसूरि [बृहद्गच्छीय] १४७
श्रीधर ४६. २००, ५१६
श्रीधर (कवि) २२३
श्रीप्रभसूरि १८५
श्रुतकीर्ति ५४२
सग्रामसिंह ५८६
संघकलश [तपागच्छीय] ५३२
संघदासगणि २५, ५८
संघमाणिक्य ५३३
संघविमल ५३२
संतोषजयतिलक ४३४
संयममूर्ति ५३३
संवेगदेवगणि [तपागच्छीय रत्नशेखर के शिष्य] ६०७
संवेगसुन्दर उपाध्याय ५३४
सकलकीर्ति [भट्टारक] ३७८, ४४७
सकलकीर्ति (सरस्वतीगच्छ के भट्टारक) २८७, २८८
सकलभूषण २८८
सकलभूषण (दिगम्बरमुनि) ५०५
सगर ५२
सगर नृपति] १२१
सत्यशेखर २९८
सधारु [दिगम्बर श्रावक कवि] २९०
समधर २९०
समयप्रभ [खरतरगच्छीय] २९१
समयभक्त [खरतरगच्छीय] ४२७
समयसुन्दर ९५, ३१७
समरचन्द्र [पार्श्वचन्द्र के शिष्य] ६०७
समरचन्द्र [पार्श्वचन्द्रगच्छीय] ५०८
समरचन्द्र [लोकागच्छीय] ५०९
समरचन्द्र-शिष्य ५०९
समरसिंह १५५
समरसिंह [महामात्य] १६१
समरा [कवि] २९२
समराशाह ३२१, ३९४
समुद्रगुप्त २४

समुद्रघोषसूरि [पूर्णिमागच्छीय] ४९८
सरह ६१
सर्वदेवसूरि (कोरंटगच्छीय) ४११
सर्वसुन्दरसूरि (मलधारगच्छीय) ५१४
सर्वाङ्गसुन्दर (वडतपागच्छीय) ५१०
सर्वानन्दसूरि २९३
सहजज्ञान २०१
सहजसुन्दर (उपकेशगच्छीय) ५१०
सहजसुन्दर (मुनि) ५६९
सागरचन्द्रसूरि ४१९
सागरचन्द्रसूरि (खरतरगच्छीय) ४२७
साधुकीर्ति ५१५
साधुकीर्ति (कवि) १०५
साधुकीर्ति (तपागच्छीय) २९४
साधुभूषण (तपागच्छीय आचार्य) ६०१
साधुमेरु (आगमगच्छीय) ५१५
साधुमेरुगणि ४२६
साधुरत्न २२४, ४३०
साधुरत्नसूरि ५१५
साधुरत्नसूरि (तपागच्छीय) ५९६
साधुरत्नसूरि (पूर्णिमापक्षीय) ४५१
साधुविजय (तपागच्छीय) ३२८
साधुसुन्दरगणि ५७६, ६०७
साधुहंस २९५
साधुहंस (तपागच्छीय) २९५
साधुहर्ष (खरतरगच्छीय) ४६७, ४६८
सारमूर्ति २०२
सारविजय (कवि) ५१४
सालिग ५१६
सालिसूरि २८६
सावदेवसूरि (कोरंटगच्छीय) ६०१
सिंहकुल (विवंदणीकगच्छीय) ५१८
सिंहकुशल ५१८
सिंहकुशलसूरि (तपागच्छीय) ११७
सिंहदत्तसूरि (आगमगच्छीय) ५१९
सिंहप्रभसूरि (अंचलगच्छीय) १२६
सिरिमा महत्तरा १४५
सिद्धर (कवि) ५१६
सिद्धराज (चौलुक्य नरेश) ११४
सिद्धराज जयसिंह ३०
सिद्धसूरि १६३, २९६
सिद्धसूरि (उपकेशगच्छीय) ४०६
सिद्धर्षि ५८, ११०
सिद्धसेन दिवाकर १०९, १११, १८८
सिद्धसेनसूरि ५९
सिद्धान्तसागरसूरि (अंचलगच्छीय) ५६५, ५६६
सीयक (परमार नृपति) ६४
सीहा ५१९
सुकोशल ५१
सुधर्मरुचि ५०७
सुधाकलश (मलधारी) १५६, २०३
सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ३, ४, २०
सुन्दरराज ४१७, ५२०
सुन्दरहंस ६०७
सुन्दरहंस (तपागच्छीय सुमति-साधु के शिष्य) ६०७

सुप्रभाचार्य ५६, १४६
सुभद्रा १२७
सुमतिकीर्ति (दिगम्बरमुनि) ५०५
सुमतिगणि १४५
सुमतिसागर (अंचलगच्छीय) ४२८
सुमतिसागरसूरि ५३९
सुमतिसाधु (तपागच्छीय) ४०१, ५२९, ५३५
सुमतिसाधुसूरि (तपागच्छीय) ४७६
सुरहंस (तपागच्छीय) ५२१
सुरहंससूरि (तपागच्छीय) ४७६
सूरदास ४
सेवक (अंचलगच्छीय) ५२२
सेवक (तपागच्छीयश्रावक) ५२१
सोमकीर्ति २२४
सोमकीर्ति (काष्ठासंघीय) ४५९
सोमकीर्ति (काष्ठासंघीय भट्टारक) ५२३
सोमकुंजर (खरतरगच्छीय) २९६, ५२५
सोमचन्द्र ११२
सोमचन्द्र (नागेन्द्रगच्छीय) ५२६
सोमचरित्रगणि (तपागच्छीय) ५२७
सोमजय (तपागच्छीय) ५२७
सोमतिलकसूरि (रुद्रपल्लीय गच्छीय) १५६, २५७
सोमदेव ४६५
सोमदेव कवि १०४
सोमदेव (तपागच्छीय) ५२७
सोमदेवसूरि (आगमगच्छीय) ५१९
सोमदेवसूरि (तपागच्छीय) ४६२
सोमप्रभ ९४, १२६, १४६
सोमप्रभसूरि ११९, २९७
सोमप्रभाचार्य ५८, ५९, १४६, १४७
सोममूर्ति २०३
सोममूर्ति (खरतरगच्छीय) २०३
सोममूर्तिगणि ९३
सोमरत्नसूरि (आगमगच्छीय) ४४८
सोमविमलसूरि (तपागच्छीय) ५२७
सोमसुन्दरसूरि २९७
सोमसुन्दरसूरि-आदिशिष्य २९९
सोमसुन्दरसूरि (तपागच्छीय) २२३, २२४, २५८, २९७, ३२७ ४०२, ४६२, ४७६, ५३२, ५५७, ५९७
सोमेश्वर ११६
सोलणु (कवि) २०५
सौभाग्यतिलक ३३५
सौभाग्यमंडनगणि २२५
सौभाग्यसागर (वडतपागच्छीय) ५३१
सौभाग्यसागरसूरि (तपागच्छीय) ४७५
सौभाग्यसागरसूरि (वडतपागच्छीय) ४७३
सौभाग्यसागरसूरि-शिष्य ५३१
सौभाग्यसूरि (पौर्णमिकगच्छीय) ४०५, ४०६
सौभाग्यहर्ष (तपागच्छीय) ५२९
सौभाग्यहर्षसूरि (तपागच्छीय) ३४२, ५२७
स्थूलभद्र १२३, १२७
स्वयंभू १७, ३६, ३७, ७५, ९२

एस०बी०देव ७०
हंसधीर ५६९
हंसधीर [तपागच्छीय] ५४०
हंससोम ५६९
हंससोम [तपागच्छीय] ५४१
हजारीप्रसाद द्विवेदी (आचार्य) ६, १६
हम्मीर १५४
हरप्रसाद शास्त्री १७
हरसेवक ३००
हरिकलश ३०१
हरिकलश (धर्मघोषगच्छीय जयशेखरपाठक के शिष्य)३०१,६०८
हरिदेव ५८, १४८
हरिभद्रसूरि २३,४८, ५३, ५८, ५९, ११०, १५७, ५७५
हरिभद्रसूरि [नागेन्द्रगच्छीय] १३९
हरिभद्रसूरि [बृहद्गच्छीय] १४७
हरिवंश कोछड़ ३९,४१,५०,५४
हरिवल्लभ भयाणी १७
हरिषेण ५८, ५४२
हरिश्चन्द्र ५३८
हरीश (डा०) ७
हर्मन जैकोबी ९. १७
हर्षकलश [तपागच्छीय]५३५
हर्षकीर्ति ३३९
हर्षकुल द्वितीय ५३५
हर्षकुल कवि १६७
हर्षप्रमोद [तपागच्छीय] ३२८
हर्षप्रियउपाध्याय [खरतरगच्छीय] ५३६
हर्षमूर्ति [भावडारगच्छीय] ५३७
हर्षवर्धन ६२
हर्षसमुद्र (उपकेशगच्छीय) ४९७
हलराज ३०२
हलायुध ११९
हाल (सातवाहन) २४
हीरविजय १७
हीरविजयसूरि ३१७
हीराणदे ९५
हीरानन्दसूरि ३०३
हीरानन्दसूरि [पिप्पलगच्छीय] ३०३
हीरालाल जैन १७
हीरालाल माहेश्वरी ५, १५
हुमायूं [मुगलसम्राट] ४५३
हेम कवि ९७
हेमकान्ति ५३९
हेमचन्द्र ६४, ९३. १०३. ११५, १२५, १२६
हेमचंद्र मलधारी ४५५
हेमचंद्रसूरि १५८
हेमतिलकसूरि २११, २१२
हेमचंद्राचार्य ११, २०
हेमध्वज ५४०
हेमभूषणगणि २०६
हेमरत्नसूरि ४९५
हेमरत्नसूरि(आगमगच्छीय)५१५, ५५९
हेमविमल [तपागच्छीय] ५२९
हेमविमलसूरि [आगमगच्छीय] २७८
हेमविमलसूरि[तपागच्छीय]३२५, ३२८, ३४२, ३७६-३७७, ४७६, ४९०, ४९३, ५१७ ५२१, ५२७, ५३८

हेमविमलसूरि [तपागच्छीय
सुमतिसाधु के शिष्य] ६०८
हेमहंस २९८
हेमहंसगणि ५९९
हेमहंसगणि [तपागच्छीय] ५३९
हेमाचार्य १२६
ह्वानच्वांग, १२, ७०,
१०९

ग्रन्थ में उल्लिखित गच्छों की सूची

अंचलगच्छ १२६, १४९, ५६१
उपकेशगच्छ १६३, ४०३, ४०६,
४४९, ४९७
कडुआगच्छ ३३७
काष्ठासंघ १५२
कोटिकगण ५३
कोरट १८६
कोरंटगच्छ ३४०
कृष्णर्षिगच्छ २२२, २२४
खरतरगच्छ ११०, १११, १२८,
१४९, १५२, १७७, १७८,
१७९
खंडिल्लगच्छ २२४
तपागच्छ ११४, १४९, १५२
दिगम्बर सम्प्रदाय ८
द्राविणसंघ १५२
द्विवंदणीकगच्छ ५१८
नंदीतटगच्छ ४९३
नागेन्द्रगच्छ १३९, १५६
नायलगच्छ ५४७
निवृत्तिगच्छ १६१, १६४
पूर्णिमागच्छ ४०६, ४९८
पल्लीवालगच्छ १५६
वडगच्छ ४८६, ४९७
बलात्कारगण ५०१, ५४५
बल्लभसम्प्रदाय ५६९
मडाहडगच्छ ६००
मलधारीगच्छ ५१४
माथुरसंघ १५२
मूलसंघ १५२
रत्नाकरगच्छ २७२
राजगच्छ १४२
रुद्रपल्लीयगच्छ १२०,१२९,१५६
लोंकागच्छ १४९
संडेरगच्छ ५०३
सोरठगच्छ ५४३
हर्षपुरीयगच्छ २७५

ग्रन्थ में उल्लिखित स्थानों की सूची

अचलपुर ५८
अणहिलपाटण १४७
अणहिलपुर ५९
अजमेर (नगर) ११३
अरुणनगर ४९१
आजादपुर (नगर) ४७८
आबू ११

उज्जयिनी २५१
उजलगिरि ४१३
उदयगिरि २१७
एलिफैण्टा ६८
कच्छुलीपुरी १८५
कन्नाडपुर २१७
कन्नाणा (नगर) १८६
कश्मीर ६५
काशी ६२
कान्यकुब्ज ६२
कुमारगिरि ५२८
कुमारगिरिनगर ५३०
कुमारविहार १२१
कौड़ीडग्राना ११
खंभात ४९१, ५०८
खंभायतपुर ४१३
खयनगर ४११
खींवसर (स्थानविशेष) ६०६
खेड़नगर १२४, १४५, १४९
गोणंद (नगर) १९५
चंपानेर ३१९
जबलपुर ६८
जांगल १०
जालोर (नगर) १२१, १२४, ४९१
जावणपुर (जौनपुर) ४५३
जूनागढ़ ५१६
जैसलमेर १२२, १२४
तहनगढ़ १३६
त्रिभुवनगिरि ११३, १३६, २८१
दहीउद्रापुर ४१३
द्वारावती (नगरी) १२५
देवगिरि १५४, १६१, १७७
देवगिरि (नगर) ४७७, ५२१
देवपाटण ५१४
धंधुका (ग्राम) ५१५
धारानगरी ६४
धोलका ११२, १४०
नवसारी ५०१
नागद्रह (नगर) १२१
पंजाब ६५
प्रह्लादनपुर २९७
पाटण ११४, १३३, १५५, १७२, २६०
पाटलिपुत्र १२७
पालणपुर १५८
पाल्हणपुर १४९
पीरवाड़ा ५६३
फलवर्धि (नगर) १२१
बागड़ ४९६
भद्रेश्वर १५३
भीनमाल (नगर) १०९

भीमपल्ली १४९, १५७
मंगरोल ४८७, ५४३
मंगलपुर ४८७
मंजुलेश्वरमहादेव ११५
मत्स्य १०
मथुरा (नगर) १०९
मानुष्यपुरी (नगरी) ५१०
मरुकोट १४९
मरुकोट (नगर) १२४
मरोठ (नगर) १२४
माण्डवगढ १५३, ३२१
माण्डू ५८२
मालवा (प्रदेश) १०९, ११६,
    २५१ ४९६
मुल्तान ६५
मेदपाट १०
मोहिलवाड़ी (ग्राम)
    १७७
रणथम्भोर १५४
राजगृह (नगरी) १२६
राणकपुर ५५७
रावणि (ग्राम) २५४
रेवंतगिरि १४१
वर्धमानपुर १८७
वरकाणा (नगरी) ३७६
वलभी (नगर) १०९
बसंतपुर १३६,
    १९२
वाराणसी ४८७
विक्रमपुर (नगर) ११३
विजयनगर ४९१
शत्रुञ्जय ४१३
स्कन्धनगर ४६०
सच्चउर (सांचौर) २४३
सपादलक्ष १०
सहजिगपुर (नगर) १२१
सांचौर (नगर) १२१
सांचुरी (सांचौर) ४१३
सादड़ी ५५७
सिंहलद्वीप १३९
सिन्ध ६५
सिरिउजपुर ५८
सोजंत्रानगर ४९२
सोरठ (प्रदेश) १४०
सोहागपुर ६८
श्रीमालपुर ११
हस्तिनापुर ३०९